हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला — ५८

सुदूरपूर्व में भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास

लेखक
डा० बैजनाथ पुरी
एम ए बी लिट डी फिल (आक्सन)

हिन्दी समिति
सूचना विभाग उत्तर प्रदेश

प्रथम संस्करण १९६२

मूल्य १५ रुपये

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय प्रयाग

प्रकाशकीय

प्राचीन काल में भारत अपने धन-धान्य विद्या और सभ्यता-संस्कृति के लिए सुख्यात था। उसके निवासी व्यापार-वाणिज्य की समृद्धि तथा ज्ञान-विज्ञान के आदान-प्रदान पर्यटन आदि की दृष्टि से विदेशों को आया-जाया करते थे। "सुदूर पूर्व" अर्थात् दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों से तो उनका चिर काल तक घनिष्ठ सम्पर्क रहा। जावा सुमात्रा बाली कम्बोडिया अनम आदि में वे दूर दूर तक फैल गये थे। वहां उन्होंने अपने उपनिवेश ही स्थापित नहीं कर लिये थे वरन् शताब्दियों तक वे वहां शासन भी करते रहे। अपने रीति-रिवाज संस्कृति और धार्मिक विश्वास उन्होंने बहुत कुछ सुरक्षित रखे और अनेक स्थानों पर मन्दिरों तथा अन्य भव्य भवनों का निर्माण कराया जिनके अवशेष आज भी वहां यथेष्ट संख्या मे विद्यमान है। इस पुस्तक में इन्हीं अवशेषों शिला-लेखों तथा अन्य स्रोतों के आधार पर वहां के उक्त प्राचीन भारतीय शासन तथा संस्कृति का वर्णन किया गया है।

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला की यह ५८ वी पुस्तक है। इसके रचयिता डाक्टर बैजनाथ पुरी नैशनल ऐकेडमी आफ ऐडमिनिस्ट्रेशन' मसूरी में भारतीय इतिहास और संस्कृति क प्राध्यापक हैं। आपने इस विषय का गम्भीर अध्ययन किया है और अंग्रेजी तथा हिन्दी में अनेक पुस्तकें लिखी हैं। भारतीय संस्कृति के परिचायक अवशेषों सम्बन्धी २ चित्र तथा ४ मानचित्र भी पुस्तक के अन्त में दिये गये हैं जिससे पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गयी है।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'
सचिव हिन्दी समिति

विषय-सूची

भाग १ मलाया-कम्बुज

भाग २ चम्पा

भाग ३ कम्बुज देश

भाग ४ शैलेन्द्र साम्राज्य

चित्रों की सूची

मानचित्र

अन्य चित्र

प्रस्तावना

सुवर्णभूमि में भारतीय संस्कृति और इतिहास के विषय का श्रेय मुख्यतया फ्रांसीसी और डच विद्वानों का है। उन्होंने लगभग ८० वर्ष की खोज के फलस्वरूप हिन्द-चीन और हिन्देशिया में भारतीय संस्कृति और कला को प्रदर्शित किया है। उन देशों के शासकों—जिनका नाम भारतीय था—ने लगभग एक सहस्र वर्ष तक उस विशाल क्षेत्र में राज्य किया जो वर्तमान टांकिन से लेकर दक्षिण में बटाविया तक फैला था। यह क्षेत्र चार भागों में बाँटा जा सकता है—चम्पा (अनाम) कम्बुज (कम्बोडिया) जावा सुमात्रा तथा अन्य द्वीप (हिन्देशिया) और मलाया तथा स्याम। प्रस्तुत ग्रन्थ में इन चारों भागों का अलग अलग इतिहास दिया गया है। भारतीयों ने वहाँ जाकर पहिले अपने छोटे छोटे उपनिवेश स्थापित किये जिन्होंने आगे चलकर विशाल साम्राज्यों का रूप धारण किया। भारतीय होते हुए भी वे भारत का अंग न थे।

इतिहास के अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति—शासनव्यवस्था सामाजिक आर्थिक तथा धार्मिक जीवन शिक्षा साहित्य और कला—के विभिन्न अवयवों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। मूल भारतीय और पाश्चात्य ग्रंथों तथा प्राप्त सामग्री का पूर्णतया उपयोग किया गया है। इस सम्बन्ध में मैं डा० रमेशचन्द्र मजूमदार का विशेषरूप से आभारी हूँ। उन्होंने स्वयं भी इस विषय पर कई ग्रन्थ आंग्लभाषा में लिखे—'चम्पा' 'सुवर्णद्वीप' (दो भाग) तथा 'कम्बुज देश'। इनके अतिरिक्त प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् सिदो के ग्रन्थों से भी मुझे विशेष सहायता मिली है।

चित्रों की प्राप्ति और प्रकाशन अनुमति के लिए सुवर्णभूमि के फ्रांसीसी स्कूल तथा कर्न इन्स्टिट्यूट हालैंड का भी आभारी हूँ।

आशा है यह ग्रन्थ विश्वविद्यालयों में उन विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा जो इस विषय का अध्ययन करते हैं पर जिन्हें हिन्दी में इस पर कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं है।

बैजनाथ पुरी

प्रथम भाग—मलाया-कम्बुज

अध्याय १

भौगोलिक परिचय

भारतीय संस्कृति का प्रवाह आदिकाल से ही विभिन्न क्षेत्रों में हुआ। ईसवी पूर्व १४वीं शताब्दी में मेसोपोटामिया के हिट्टाइटी और मितानी सम्राटों ने अपनी मैत्री की संधि को स्थायी रूप देने के लिए भारतीय देवताओं—इन्द्र, मित्र वरुण और नासत्य का आवाहन किया था। इस उदाहरण से इन देवताओं के प्रति उनकी आस्था ही नहीं प्रतीत होती वरन् इससे विदेशों में भारतीय वैदिक धर्म और संस्कृति का प्रवेश भी प्रमाणित होता है। भारत ने कभी भी तलवार के जोर से विदेशों को जीतने और वहाँ अपना धर्म तथा संस्कृति फैलाने का प्रयास नहीं किया फिर भी यहाँ की संस्कृति की गहरी छाप पश्चिमी एशिया मिस्र और रोम से लेकर पूर्व में चीन तक तथा मध्य एशिया के चीनी तुर्किस्तान से लेकर दक्षिण-पूर्वी एशिया के हिन्द चीन हिन्देशिया तथा अन्य द्वीपसमूहों तक पड़ी। इस सफलता का श्रेय उन व्यापारियों धर्म प्रवर्तकों सांस्कृतिक शिष्ट मंडलों तथा ऐसे वीरों को है जिन्होंने भौगोलिक शृंखलाओं को तोड़कर यातायात की असुविधाओं को झेलते हुए विदेशों में जाकर अपनी संस्कृति का बीज बोया। इस प्रयास ने उस महान् वृक्ष का रूप शीघ्र ही धारण कर लिया जिसकी छत्रछाया में अनेकों राज्य फूले-फले और भारतीय संस्कृति अपने अतीत गौरव का आंचल ओढ़े मध्य युग के उस समय में अपने सौन्दर्य को लुटने से बचा सकी जबकि भारत में विदेशियों के निरन्तर आक्रमणों से राजनीतिक अशान्ति फैली हुई थी।

१ स्टेनकोनो के मतानुसार इस लेख में द्वन्द्व समास का प्रयोग इन देवताओं के भारतीय होने का प्रमाण है। आर्थोस्टाइन ने गुप्पिमय्यूम और मत्तिवज की संधिसम्बन्धी ई० पू० १४वीं शताब्दी के इस लेख में वैदिक देवता अग्नि का नाम भी ढूँढ़ा है और इन देवताओं को भारतीय माना है। इंडियन कल्चर (इ० क०) भाग ४ पृष्ठ १ ।

सुदूरपूर्व का प्राचीन इतिहास वास्तव में इसी भारतीय संस्कृति का एक अंग है। वहाँ के नरेशों के नाम भारतीय थे और उनके रक्त में भारतीयता की मात्रा प्रधान थी। उनके पूर्वज भारत से ही जाकर वहाँ बस गये थे और उन्होंने अपने छोटे-छोटे राज्यों का निर्माण किया था। उन्होंने वहाँ के देशवासियों को भारतीय संस्कृति के रंग में रँगा भारत से समय-समय पर वहाँ विद्वान् तथा वीर पुरुष गये जिनका स्वागत ही नहीं हुआ वरन् उन्हे समाज और राज्य में विशिष्ट स्थान दिया गया। भारत के साथ उनका सम्पर्क भी रहा पर उन्होने अपना स्वतंत्र अस्तित्व कभी नहीं खोया और न वे भारत का उपनिवेश ही बनकर रहे। चोल और शैलेन्द्र राजाओ के बीच लम्बे काल के युद्ध से यह बात भलीभाँति विदित है कि अपने को भारतीय समझते हुए भी श्रीविजय के शासक अपने राष्ट्रीय गर्व का बलिदान नहीं कर सके। दक्षिण एशिया के सुदूरपूर्व देशों में अनेक वंशों के राजाओं ने राज्य किया उनका आपस मे सघर्ष भी हुआ पर उनकी संस्कृति को ठेस नही पहुँची और वह पूर्णतया भारतीय रही। सामाजिक आर्थिक धार्मिक साहित्यिक और शिक्षा तथा कला के क्षेत्रों में भारतीय अनुदान प्रधान था पर समय की गति के साथ-साथ स्थानीय प्रवृत्तियाँ भी प्रत्येक क्षेत्र मे उठने लगी। न तो वे भारतीय संस्कृति मे स्वतः लुप्त हो गयी और न उन्होंने इस संस्कृति का स्थान ही ले लिया। इन दोनों के सम्मिश्रण से कुछ आकृति अवश्य हुई, जिसका आभास मुख्यतया हमको उन स्थानों के प्राचीन मन्दिरो की कला व र शैली मे मिलता है। सुदूरपूर्व के देशो मे भारतीय संस्कृति और इतिहास का पूर्णतया ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनका भौगोलिक परिचय वहाँ के निवासी तथा उनका भारतीयों से सम्बन्ध यातायात के मार्ग और साधन तथा अन्य सम्बन्धित विषयों पर सूक्ष्म रूप से सर्वप्रथम प्रकाश डालना आवश्यक है।

भौगोलिक परिचय

सुदूरपूर्व अथवा दक्षिण-पूर्वी एशिया को 'बृहत्तर भारत' के नाम से भी सम्बोधित किया गया है। इस विशाल क्षेत्र मे ब्रह्मा थाईलैंड हिन्दचीन मलाया

२ जयचन्द्र वेदालंकार 'बृहत्तर भारत' वेल्स, 'दी मेकिंग आफ ग्रेटर इंडिया (मे े ई) हाल ने अपने दक्षिण-पूर्व एशिया के इतिहास में इन विद्वानों के इस

तथा जावा सुमात्रा बोर्नियो बालि और सेलिबीज इत्यादि छोटे-बड़े हिन्द और प्रशान्त महासागर के बीच के वे द्वीप भी सम्मिलित हैं जहां भारतीय संस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए हैं। भारत से निकट होने के कारण तथा इससे सम्पर्क स्थापित रखने के फलस्वरूप इस देशों पर केवल भारतीय प्रभाव पड़ सका। चीनी प्रभाव अनाम अथवा चम्पा के उत्तर में केवल टौंकिन प्रान्त तक ही सीमित रहा। उसके आगे यह न बढ़ सका यद्यपि प्रायः सभी देशों का चीन के साथ राजनीतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध बराबर बना रहा। अरब व्यापारियों तथा इस्लाम और यूरोपियन औपनिवेशिकों के प्रवेश से पहले सम्पूर्ण क्षेत्र में भारतीय राज्य थे। हिन्दचीन में तो इस्लाम धर्म का प्रवेश ही न हो सका पर मलाया और हिन्दनेशिया में अरब व्यापारियों ने राज्य-वंशों में अपना धर्म फैलाकर, वहां इस्लामी राज्य स्थापित कर दिये। यूरोपियन शक्तियों में अंग्रेज डच और फांसीसियों ने क्रमशः मलाया हिन्दनेशिया और हिन्दचीन पर अपना अधिकार स्थापित किया। थोड़े ही दिन हुए, अब ये देश पाश्चात्य औपनिवेशिक सत्ता से मुक्त हुए और इन्होंने स्वतन्त्रता की सांस ली।

भारत के सबसे निकट ब्रह्मा देश है जहाँ स्थल और सामुद्रिक मार्ग से प्रवेश करना सरल था। याम नामक उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाली पहाड़ियां इसे घेरे हुए हैं और इरावदी चिन्दविन सितंग तथा साल्वीन नदियों ने इसकी भूमि बहुत उपजाऊ बना रखी है। इसीलिए भारतीय यहां सबसे पहले पहुँचकर अपने पैर जमा सके। उत्तरी ब्रह्मा में भारतीयों ने स्थल मार्ग से प्रवेश किया अन्य क्षेत्रों में वे समुद्री मार्ग से आकर आगे बढ़े। ब्रह्मा में जिन हिन्दू राज्यों की स्थापना हुई उनमें धन्यावती वथीन रामावती हंसावती और सुधम्मावती उल्लेखनीय

क्षेत्र के देशों को 'बृहत्तर भारत' नाम से सम्बोधित करने पर आपत्ति प्रकट की है। इस रूप में उनका स्वतंत्र अस्तित्व नष्ट हो जाता है और वे केवल भारत का एक अंग बनकर ही रह जाते हैं। सिडो ने हिन्दचीन और हिन्दनेशिया के प्राचीन हिन्दू राज्यों का विस्तृत रूप से इतिहास लिखा है। राजनीतिक दृष्टिकोण से हम इन देशों को 'बृहत्तर भारत' के नाम से सम्बोधित न भी करें, पर वहां के प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति को मेटा नहीं जा सकता। इस ग्रन्थ में 'बृहत्तर भारत' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है।

है। इसकी समानता क्रमशः अराकान बसीन रंगून पेगू और बरान से की जाती है। उत्तरी ब्रह्मा में प्यू का राज्य सबसे प्राचीन था। ब्रह्मा के पूर्व में स्याम या थाइलैंड का उत्तरी भाग सालवीन और उत्तरी मेकांग के बीच छोटी छोटी पहाड़ियों से घिरा है। मध्य स्याम की भूमि मीनम तथा अन्य छोटी नदियों के कारण बड़ी उपजाऊ है। दक्षिणी स्याम में क-भूडमरूमध्य से लेकर मलाया प्रायद्वीप का उत्तरी भाग सम्मिलित है। स्याम देश पहले फूनान राज्य का अंग था पर उसके पतन के बाद यहाँ द्वारावती राज्य स्थापित हुआ। आगे चलकर बृहद् कम्बुज देश के शासकों का इस पर अधिकार हो गया।

दक्षिण में मलाया प्रायद्वीप जिह्वा की भाँति ११ मील तक की लम्बाई में स्याम की खाड़ी से लेकर सिंगापुर तक विस्तृत है। इसकी चौड़ाई बहुत कम है और पहाड़ियाँ दूर-दूर तक फैली हैं जिनमें बीच में घने जंगल हैं। यहाँ पर बहुत सी छोटी-छोटी नदियाँ हैं। समुद्री मार्ग से भारतीयों ने तकुआ-पा (वर्तमान तकोला) में उतरकर मलाया में प्रवेश किया और उन्होंने कई छोटे छोटे राज्य स्थापित किये जिनका विस्तृत उल्लेख आगे किया जायेगा।

हिन्द चीन में सबसे उत्तर-पूर्व में अनम देश है यहाँ पर प्राचीन काल में चम्पा राज्य था। यह उत्तर में टोंकिन और दक्षिण में कोचीन-चीन के बीच में है। इसके पूर्व में चीन सागर है और पश्चिम की पहाड़ियाँ इसे दक्षिणी लाओस तथा कम्बोडिया से पृथक करती हैं। कहीं पर चम्पा राज्य की सीमा ७ मील से अधिक चौड़ी नहीं रही। इस विशाल क्षेत्र की छोटी-छोटी नदियों पर स्थित कई केन्द्र थे जिन्हें बीच की पहाड़ियाँ एक दूसरे से पृथक करती हैं और यातायात की असुविधाओं के कारण यहाँ के छोटे-छोटे राज्य अपना अस्तित्व बनाये रहे।

ब्रह्मा तथा स्याम और पूर्व में टोंकिन तथा अनम के बीच के क्षेत्र में लाओस कम्बोडिया तथा कोचीन चीन है जो प्राचीन काल में विस्तृत कम्बुज साम्राज्य के अंग थे। इस क्षेत्र की समृद्धि में मेकांग नदी का वैसा ही हाथ रहा है जैसा कि भारत में गंगा और मिस्र में नील नदी का रहा है। इसी नदी पर कम्बुज की राजधानी नोम-पेन्ह स्थित है। कम्बुज देश की तोनले-सप नामक विशाल झील ने भी जो नोम-पेन्ह से उत्तर-पश्चिम में मेकांग नदी में मिलती है इस देश के इतिहास और इसकी समृद्धि में अंशदान किया है।

हिन्द चीन के अतिरिक्त पूर्वी द्वीपसमूह में भी भारतीयों ने जाकर राज्य किया और अपनी संस्कृति फैलायी। द्वीपों में प्रवेश के लिए मलाया ही सबसे

निकट पड़ता है। मलाका की पतली खाड़ी मलाया और सुमात्रा द्वीप के बीच में है और सुन्द की खाड़ी इस द्वीप को जावा से पृथक करती है। जावा के दक्षिण पूर्व में बहुत-से छोटे-बड़े द्वीप हैं। सबसे निकट में बालि है जो आज भी हिन्दू सभ्यता और संस्कृति का प्रतीक है। इसके उत्तर में बोर्नियो तथा सेलिबीज सबसे बड़े और प्रमुख द्वीप हैं और ये भी प्राचीन भारतीय सभ्यता के केन्द्र रहे, तथा उनका राज्य भी रहा। सुदूरपूर्व के लगभग १   द्वीपों के समूह को कई नामों से सम्बोधित किया गया है। पर हिन्दनेशिया से उन सब द्वीपों का संकेत होता है जिन पर इस देश का अधिकार है और वहाँ के भग्नावशेष अपनी कहानी सुनाने के लिए आज भी मौजूद हैं। सिदो महोदय ने इस विशाल भौगोलिक क्षेत्र को हिन्द-चीन और हिन्दनेशिया नामक दो भागों में बाँटा है और इसी आधार पर उनका इतिहास लिखा है।

आदि निवासी

सुदूरपूर्व के निवासियों और उनकी संस्कृतियों के विषय में विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है। जावा में प्राप्त किसी आदि निवासी के कपाल (खोपड़ी) को जिसे पिथीकैन्थ्रपस नाम से सम्बोधित किया गया है, समानता पीकिंग मे मिले सिनानथ्रोपस से दिखाकर इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया है कि ये दोनों एक ही वर्ग के थे और मंगोल जाति इन्हीं से निकली थी।[1] स्मिट के मतानुसार[2] हिन्दचीन और हिन्दनेशिया के आदि निवासी भारतीय आदि निवासियों से मिलते जुलते थे। इसीलिए मों ख्मेर, चम तथा मलय भारत के मुण्ड और खस जातियों

१ हाल 'ए हिस्ट्री आफ साउथ-ईस्ट एशिया' (हि सा ई ए) पृ ५।

२ बु इ फ्रा ७ पृ २११। प्राच्य मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से इस विस्तृत क्षेत्र की जातियों का सुन्दर अध्ययन किया गया है। इन्हें तिब्बती बर्मन् तथा मों ख्मेर वर्गों में बाँटा गया है। प्रथम वर्ग की समानता भारत की असम और मिश्मि जातियों से की गयी है तथा द्वितीय वर्ग की जातियाँ मुंड और खस से मिलती-जुलती हैं। मों दक्षिण-ब्रह्मा में बस गये और वहाँ से मीनम की घाटी को पार कर स्याम पहुँचे। ख्मेर कम्बोडिया में बस गये और वहाँ से पश्चिम की ओर बढ़ कर ये स्याम में मों से मिले। चम्पा के निवासी चम और मलाया के मलय कहलाये।

से मिलते-जुलते है। इस विद्वान् ने इन सब जातियों का उद्गम-स्थान भारत ही माना है। भाषा-वैज्ञानिकों के मतानुसार भारत की मुंड भाषा के कुछ शब्द सुदूर पूर्व की मों तथा ख्मेर भाषाओं के शब्दों की तरह है। फ्रांसीसी विद्वान् लेवी[5] ने भी इस मत को माना। आगे बढ़कर स्मिट ने आस्ट्रोएशियाटिक वर्ग का सम्बन्ध आस्ट्रोनेशियन वर्ग से दिखाकर, आस्ट्रिक नामक एक बृहत् क्षेत्र का अनुमान किया जिसमे उसने हिन्दचीन और हिन्दनेशिया के आदि निवासियों तथा उत्तरी पूर्वी भारत के खस मुंड और मध्य भारत की अन्य जंगली जातियों को रखा।[6] यह प्रतीत होता है कि भारत से ही आदिकाल मे कोई जनसमूह सुदूरपूर्व गया और वहाँ जाकर बस गया। इस विचारधारा के विपक्ष मे डच पुरातत्त्व वैज्ञानिक क्राम[7] का कथन है कि पहले जावा के आदि निवासियों का एक समूह भारत में आकर बसा और बाद मे भारतीयों का उस ओर प्रस्थान हुआ।

५ लेवी प्रिलुस्की तथा ब्लॉक के उपर्युक्त विषय पर लिखित लेखों का संकलन बागची ने अपने ग्रन्थ 'प्री-आर्यन और प्री-ड्रवीडियन इंडिया' में किया है (कलकत्ता, १९२९)। भाषा-विज्ञान के आधार पर इन देशों के भारत के साथ सम्बन्ध पर इस पुस्तक में प्रकाश डाला गया है।

६. इस वर्ग में मों-ख्मेर, मलाक्का की सेमोई (सकेई) सेमांग निकोबारी मुंड, तथा कोल इत्यादि भाषा वर्गों को रखा गया है (बागची पृ १) स्मिट के विचारों पर कई विद्वानों ने टीका-टिप्पणी की है। विम्स के मतानुसार स्मिट के विचार अवैज्ञानिक तथा रूढ़िवादी हैं। फ्रांसीसी विद्वानों तथा अन्य पुरातात्त्विक वैज्ञानिकों की खोज से पता चलता है कि उपर्युक्त जातियों के अतिरिक्त प्रोटो-आस्ट्रेलियन पपुअन प्रोटो-मेलानेसियन नेग्रिटो तथा प्रोटो-इंडोनेसियन वर्ग के थे। नेग्रिटो को छोड़कर अन्य जातियाँ डोलीकोसिफे स है। जरनल अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी (ज अ ओ सो) भाग ६, (१९४५) पृ ५५-५७।

७ हिन्दू-जावानीज-गेसकाइडेनिस (हि जा) पृ १८ से। हार्लेक के मतानुसार पोलिनेशियन प्रभाव पड़ा। उनके विचार में मलाया के निवासी भारत आये और अपने साथ में कोला लेते आये। जरनल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल। (ज ए सो बं) ७, (१९२) पृ १७।

हैनेम वेल्स स्टार्म ने भारत और मलाया के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध को तीन युगों में रखा है। पहले युग में मलाया की सभ्यता का भारत पर प्रभाव पड़ा दूसरे में दोनों का एक दूसरे से कोई सम्बन्ध न रहा और तीसरे युग में मलाया की संस्कृति और सभ्यता पर भारतीय प्रभाव पड़ा। इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है पर भाषा की समानता भारत की मुड तथा खस और अन्य जंगली जातियों व सुदूरपूर्व के मों ख्मेर आदि निवासियों के साथ एकीकरण का अवश्य संकेत करती है।

वेल्स ने सुदूरपूर्व को दो क्षेत्रों में बाँटा है। उन्होंने पश्चिमी क्षेत्र में सीलोन बर्मा मध्य स्याम मलाया तथा सुमात्रा को और पूर्वी क्षेत्र में जावा चम्पा तथा कम्बोडिया को रखा है। प्रथम क्षेत्र मे स्थानीय संस्कृति भारतीय में ही मिलकर नष्ट हो गयी पर दूसरे मे वहां की संस्कृति ने भारतीय को तो अपना लिया किन्तु अपना अस्तित्व नहीं नष्ट होने दिया। इन दोनों क्षेत्रों के निवासी भी इसी आधार पर दो वर्गों में बँटे थे। भारतीयों के आगमन से पहले पश्चिमी क्षेत्र वाले उतने आगे नहीं बढ़े थे जितना कि पूर्वी क्षेत्र वाले और इसीलिए पश्चिमी क्षेत्र की स्थानीय संस्कृति भारतीय संस्कृति के प्रवाह में लुप्त हो गयी। यह धारणा विवादास्पद है तथा यह कहना कठिन है कि दोनों क्षेत्रों के निवासियों की संस्कृति एक दूसरे से भिन्न थी। किवदन्तियों के अनुसार भारतीय कौण्डिन्य ने फूनान (कम्बुज

८ एनुअल बिब्लियोग्राफी आफ इंडियन आर्कियोलाजी (ए० बि० इ० आ० १९३६) टाइम्स आफ इंडिया जनवरी २९, १९३५।

९ मे पे ई० पृ १८।

१ पेंगवाई ने जिसे चीनी मेगास्थनीज कहा गया है ईसवी की तीसरी शताब्दी की राजनीतिक स्थिति का वर्णन किया है। इसने फूनान स्थान सम्बन्धी वृत्तान्त को भी वामोयुगन ने (जिसकी तिथि ईसवी की पाँचवीं शताब्दी के अंतिम और छठवीं के आरम्भिक भाग में रखी गई है) अपनी पुस्तक वाकोशिन चाऊ में उद्धृत किया है। जनरल एशियाटिक (ज ए) मई-जून १९१९ पृ ४५८। कम्बुज के लेखों में कौण्डिन्य के भारत से आगमन और फूनान की रानी सोमा को हरा कर उसके साथ विवाह तथा नवीन वंश स्थापना का उल्लेख मिलता है। देखिए, मजुमदार 'कम्बुज इंस्क्रिप्शंस' (क इ) नं १११ पृ २८४।

के दक्षिणी भाग) की रानी सोमा को अन्न पहनना सिखाया था। यदि यह बात मान ली जाय तो यह कहना गलत होगा कि पूर्वी क्षेत्र के निवासियों का सांस्कृतिक स्तर किसी प्रकार भी पश्चिमी क्षेत्र वालों से ऊँचा था। सिडो महोदय का कथन है कि सुदूरपूर्व म भारतीयों के आगमन से पहले पाषाणयुग निवासी रहते थे। इस बात की पुष्टि स्याम की खाड़ी से कोई १६ मील अन्दर ओसियो नामक स्थान में एक प्राचीन नगर के अवशेष से भी होती है जो पाषाणकालीन है।[११] पाषाण युग से भारतीय युग में स्थानीय संस्कृति का प्रवाह आमियो के अतिरिक्त अनम के दक्षुमह, कम्बोडिया के समराग स्यू और सकिदौव के सेंपावा के भग्नावशेषों से भी प्रतीत होता है।[१२] अतः यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि भारतीयों के आगमन से पहले सुदूरपूर्व के निवासी उत्तरार्द्ध पाषाणकालीन युग से गुजर रहे थे।

यातायात के मार्ग

यद्यपि भारतीय उपनिवेशों की स्थापना ईसवी की पहली शताब्दी में निश्चित की जाती है, पर भारत का सुदूरपूर्व से व्यापारिक सम्बन्ध कई सौ वर्ष पहले ही आरम्भ हो चुका था। चीनी स्रोतों से पता चलता है कि ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी में चीनी व्यापारी उत्तर भारत और अफगानिस्तान से भारे बैक्ट्रिया तक जाते थे।[१३] एक चीनी लेखक चिम्रमतान का कथन है कि अनम और भारत के बीच यातायात का एक स्पष्ट मार्ग था।[१४] यह मार्ग पूर्वी बंगाल मनीपुर और असम होकर अनम जाता था और इसी से भारतीयों ने जाकर उत्तरी बर्मा इरावदी सालवीन मेकांग नदी की घाटियों तथा युनान तक म जिसका नाम उन्होंने गांधार रखा

११ ए हि पृ १४।

१२ देखिए, स्यू मैलेरे का ओसियो तथा कोचीन-चीन के अन्य पुरानी नगर पर लेख जो 'एनवल बिब्लियोग्राफी आव इंडियन आर्कियोलाजी' में छपा (१९४०-४७) पृ ५१।

१३ सिडो, ए हि पृ १४।

१४ पिलियो वु ए फ्रा ४ पृ १४२ ४३।

१५ जू ए ९:१२ (१९१९) पृ ४६।

अपने उपनिवेश स्थापित किये। इत्सिंह के मतानुसार स्थलमार्ग से कोई २ चीनी भिक्षु भारत आये थे जिनके लिए एक भारतीय सम्राट् ने एक मन्दिर का निर्माण कराया था। मुख्य स्थल मार्ग पर स्थित कई केन्द्रों से दक्षिण ब्रह्मा और हिन्दचीन में प्रवेश करने की सुविधाएँ थीं। ओसियो नामक हिन्दचीन के एक प्राचीन स्थान में मिली बहुत-सी भारतीय मोहरें तथा कुछ रोमन पदार्थ जिनमें सोने का एक पदक भी है जिस पर १५२ ई० के अंतोनिस की मूर्ति अंकित है, संकेत करते हैं कि विदेशियों का भारत होकर सुदूरपूर्व के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था। इस व्यापार में जल के अतिरिक्त स्थल मार्ग का भी प्रयोग होता था।[१६] रोम के मिले पदार्थों म पौंग टुग से प्राप्त उसी काल का एक दीप भी उल्लेखनीय है। कहा जाता है कि रोम से चीन की ओर ब्रह्मा के मार्ग से जाते हुए संगीतज्ञों और नटों का एक दल ईसवी के १२० वर्ष में गया था तथा १६६ ई० में मारकस अरीलियस ने भी एक दूत चीन भेजा था।[१७] भारत से ब्रह्मा होकर चीन आने का मार्ग प्राचीन प्रतीत होता है। जलमार्ग से भी भारतीय ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में यहाँ से अनम तक जाने लगे थे। ये जहाज समुद्रतट के किनारे-किनारे ही चलते थे और भारतीय नाविक उस क्षेत्र से पूर्णतया परिचित थे।

भारतीय व्यापारियों के बड़-बड़े बेड़ों को लेकर साहसिक नाविक पश्चिमी तट के सूरपारक (सोपारा) तथा भरुकच्छ (भ्रोच) और पूर्वी तट पर बंगाल की खाड़ी के बन्दरगाह ताम्रलिप्ति (तामलुक) तथा अन्य बन्दरगाहों से विदेशों के लिए प्रस्थान करते थे। इनके अतिरिक्त पूर्वी और पश्चिमी तट पर बहुत-से बन्दरगाह थे जिनका उल्लेख अज्ञात यूनानी लेखक के ग्रन्थ 'पेरीप्लस'[१८] तथा टालमी

१६ सिग्रो ए हि पृ १८।

१७. मजूमदार, एंशण्ट इंडियन कालोनिजेशन इन साउथ ईस्ट एशिया बरौदा लेक्चर (ए इ क) पृ १२।

१८. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली (इ ह क) १४ पृ १८।

१९. शाफ नोट ६ सिग्रो ए हि पृ ५६।

पेरीप्लस के अज्ञात लेखक के अनुसार चोल देश के व्यापारिक केन्द्रों और बन्दरगाहों में तीन स्थान मुख्य थे जो क्रमशः उत्तर से कमार (टालमी के अनुसार खबेरिस) जिसकी समानता कावेरी नदी के मुहाने पर स्थित कावेरी पट्टनम से

के 'भूगोल' में मिलता है। तालमी के मतानुसार[२०] मलाया प्रायद्वीप और उससे आगे जाने वाले जहाज बंगाल की खाड़ी में स्थित पलौरा नामक बन्दरगाह तक समुद्र तट के किनारे-किनारे जाते थे। यह प्राचीन बन्दरगाह गंजाम जिले के गोपालपुर के निकट है। यहाँ से वे मलाया की ओर सीधे जाते थे और वहाँ से फिर मलाका की खाड़ी होते हुए हिन्दनेशिया के विभिन्न टापुओं तथा हिन्दचीन की ओर प्रस्थान करते थे। इस लम्बी यात्रा को कम करने के लिए दूसरे मार्ग भी थे। माली तकुआ-पा तथा केडा से भी उत्तर सकते थे। इस क्षेत्र में मिले बहुत-से प्राचीन अवशेष इस बात की पुष्टि करते हैं।[२१] तकुआ-पा से सीधे छैया जा सकते थे और केडा से पूर्व में सिंगोरा तथा इन दोनों के बीच में भव से पटलम प्राचीन लिगोर तथा बंडो और चुमपो जाने के सरल मार्ग थे। वेल्स के मतानुसार[२२] भारतीय आकृति के ५रुप तकुआ-पा के पश्चिम की ओर बहुतायत में पाये जाते हैं और बंडों की खाड़ी के निकट भी ऐसे व्यक्ति इसी मार्ग से आये हुए अपने भारतीय पूर्वजों

की गयी है; पोदुके (पांडिचेरी) जिसके निकट अरिकमेडु में की गयी खुदाई से इसके प्राचीन व्यापारिक केन्द्र होने का पता चलता है, तथा सोपत्म (मरकरम, पहले इसे सोपट्टिनम कहा जाता था) थे। इन स्थानों से छोटे और बड़े जहाज व्यापारिक सामान लेकर विदेशों को जाते थे। छोटे जहाज 'सगर' और बड़े 'कालंडिया' कहलाते थे जो उत्तर में गंगा के मुहाने तथा पूर्व में क्रीसे देश की ओर जाते थे। इस देश को अज्ञात लेखक ने पूर्व में रखा था और इसकी समानता मलाया से की गयी है। देखिए, शास्त्री इंडो-एशियन कल्चर (इ ए क) भाग १ पृ ४५; मजूमदार 'सुवर्ण द्वीप' भाग १ पृ ६।

२० तालमी के मतानुसार इस स्थान के दक्षिण से जहाज गहरे समुद्र में प्रवेश कर मलाया की ओर जाते थे (मैकक्रंडल 'तालमी' पृ ६६-६९) लेवी ने इसकी समानता कलिंग के दंतपुर से की है (ज ए जनवरी-मार्च, १९२५, पृ ४६-५१) जिसका उल्लेख बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। दीघनिकाय २, पृ० २३५। महावस्तु ३ पृ ३६१।

२१ वेल्स : 'ए न्यूली एक्सप्लोर्ड रूट' इंडियन आर्ट्स एण्ड लेटर्स (इ आ ले) ९, पृ ११३१।

२२ सिडो ए हि पृ ५४।

को याद दिलाते हैं। वेल्स का मत चाहे विवादास्पद प्रतीत हो पर इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि भारतीय नाविक गहरे समुद्र की लहरों के थपेड़े सहते हुए अपने यानों में सुदूरपूर्व जाते थे और पलौरा से वे सीधे मलाया प्रायद्वीप पहुँच जाते थे। वहाँ से वे थल तथा स्थल मार्गों से अन्य क्षेत्रों की ओर प्रस्थान करते थे।

हिन्द-चीन की ओर जाने वाले उत्तरी भारत के वे नाविक जो तट के किनारे ही चलते थे तवॉय में उतरकर तीन पगोडा के मार्ग से मीनम के मोहाने तक[23] पहुँचते थे। इस क्षेत्र में पोंग-तुक तथा प्र-पथोम नामक प्राचीन स्थान हैं। उत्तर में मूलमिन बन्दरगाह से मीनम नदी की एक शाखा पर स्थित रहेंग नगर तक भी एक मार्ग था। मीनम तथा मैकांग के बीच कोरत के समस्थल से होकर तथा मून नदी की घाटी पार कर मैकांग के मोहाने तक जाने का स्थल मार्ग था। इस मार्ग पर मि-सप नामक स्थान में प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए हैं।

दक्षिण भारत से भी व्यापारी या तो अंडमन और निकोबार द्वीप के बीच से होकर अथवा निकोबार और सुमात्रा के अचिन के बीच सामुद्रिक मार्ग से मलाया की ओर जाते थे और तकुआ-पा अथवा केडा पहुँचकर उतरते थे। आंध्र प्रदेश से पूर्व की ओर जाने वाले व्यक्ति भी सीधे तकुआ-पा ही जाते थे। ये व्यापारी प्राचीन कलिंग के पालूरपुर अथवा मसूलीपट्टम के निकट बन्दरगाहों से चलते थे। टालमी ने तकोला[24] का उल्लेख किया है जिसकी समानता तकुआ-पा से की जाती है। इस स्थान पर टिन का उत्पादन खूब होता था। यहीं से दक्षिण की ओर मलाया की खाड़ी को पार कर हिन्देसिया के द्वीपों में अथवा पूर्व की ओर, हिन्द चीन की ओर प्रस्थान किया जाता था। दक्षिण भारत से सुदूरपूर्व जाने के लिए पेरीप्लस में कमार (टालमी का खबेरिस कावेरीपट्टम) पाडुके (पांडिचेरी) तथा सोपत्म नामक तीन बन्दरगाहों का उल्लेख है जो एक दूसरे के निकट थे और यहाँ से कोलन्डिया नामक जहाज विदेशों के लिए जाते थे। दक्षिण भारतीय संगम साहित्य में भी बन्दरगाहों का उल्लेख है।[25]

२३ सिडो, वही पृ ५५।
२४ वेल्स 'ब्रूवर्तर मंगोरा', पृ १११ सिडो पृ ५५।
२५ ऐंशण्ट इंडिया (मजूमदार शास्त्री) पृ १९७।
२६ उपर्युक्त उल्लिखित (उ उ) देखिए नोट १९।
२७ सिडो ए हि पृ ५६, नोट ४।

औपनिवेशिकों ने सुदूरपूर्व पहुँचकर अपने देश तथा प्रान्त के आधार पर वहाँ के स्थानों के नाम रखे और इसी से उनके उद्गम स्थान का भी पता चलता है। चम्पा द्वारावती अयोध्या इत्यादि नामों से उत्तर भारतीय व्यक्तियों का वहाँ पहुँचने का संकेत मिलता है। उत्र (ओड्र—उड़ीसा) मोयेग (पुरी) ब्रह्मा के पेगु और प्रोम में उड़ीसा निवासियों का प्रवेश संकेत करता है और इनका जावा तक पहुँचकर वहाँ राज्य स्थापित करना चीनी नाम हो-लिंग (कलिंग) से प्रतीत होता है।[28] स्टटरहाइम का कथन है[29] कि जावा के चंगल के लेख में कुंजर कुंज का उल्लेख दक्षिण भारत के किसी स्थान का द्योतक है। भारतीय विद्वानों ने सुदूरपूर्व में पाये गये लेखों की लिपि को लेकर उनके उद्गम स्थान पर अपने विचार प्रकट किये हैं। प्रो. नीलकण्ठ शास्त्री के मतानुसार[30] हिन्दू औपनिवेशिक दक्षिण भारत के पांड्य देश से सीधे जावा गये और इसलिए वहाँ के लेख पल्लव लिपि में हैं। डा. मजुमदार का कथन है[31] कि हिन्द चीन का सबसे प्राचीन लेख कुषाणकालीन ब्राह्मी लिपि में है। अतः यह उत्तर भारतीय व्यक्तियों का वहाँ सबसे पहिले पहुँचने का संकेत करता है। इस वाद-विवाद में सिडो[32] ने इसे उत्तरी भारतीय तथा दक्षिणी भारतीय प्रश्न का रूप देना चाहा है। पोसेम ने ठीक ही कहा है[33] कि सुदूरपूर्व की ओर प्रस्थान करने और वहाँ राज्य स्थापित करने का श्रेय सम्पूर्ण भारतीय वर्ग को है जो मार्ग की असुविधाएँ झेलते हुए वहाँ पहुँचे पर इस प्रयास में दक्षिण भारतीय औपनिवेशिकों का हाथ अधिक था। इस सम्बन्ध में दोनों देशों के प्राचीन साहित्य का भी पूर्णतया अध्ययन करना आवश्यक है जिससे यह प्रतीत हो सके कि ईसा से कई शताब्दी पूर्व भारत का सुदूरपूर्व के देशों से सम्बन्ध स्थापित हो चुका था।

२८ वही पृ ५८।
२९ ए वि इ आ १९१८ पृ ३२।
३० बु इ का १६ पृ २११ से।
३१ वही ३९, पृ १२७ से।
३२ ए हि पृ ५९।
३३ 'इस्तुवायस्तो चैक टेम्पु कमिक्स' पृ २१३।

अध्याय २

प्राचीन साहित्य में सुवर्णभूमि

प्राचीन भारतीय तथा विदेशी साहित्य में 'सुवर्ण भूमि' और 'सुवर्ण द्वीप' का उल्लेख बराबर मिलता है जिससे विदित होता है कि भारतीयों को इन स्थानों का पूरा ज्ञान था और वे व्यापार के सम्बन्ध में वहाँ जाते थे। मार्ग की कठिनाइयाँ तथा विदेश की असुविधाएँ उनका साहस न तोड़ सकीं। उनके अनुभवों ने कथा कहानियों के रूप में भारतीय साहित्य में स्थान पा लिया। जातक कथाएँ, 'कथा कोष' तथा 'बृहत् कथा' के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी इनको स्थान मिला हाँ यह सच है कि वैदिक साहित्य में सुवर्णभूमि का उल्लेख कहीं नहीं है। सर्वप्रथम हमको जातकों में ही सुवर्ण द्वीप अथवा भूमि सम्बन्धी कथाएँ मिलती हैं। सीलोन के 'महावंश' तथा 'दीपवंश' के अनुसार सोण और उत्तर नामक बौद्ध थेरो (भिक्षुओं) ने सुवर्ण भूमि में जाकर अपना धर्म फैलाया था। भारत के भरुकच्छ (भ्रोच) शूर्पारक (सोपारा) बनारस मिथिला श्रावस्ती (श्रावस्ती) पाटलिपुत्र इत्यादि नगरों से सुवर्ण भूमि की ओर व्यापारियों के प्रस्थान करने का भी उल्लेख मिलता है। भारतीय साहित्य में संस्कृत पालि प्राकृत तथा दक्षिणी भाषाओं के ग्रन्थों के अतिरिक्त तिब्बती तथा बर्मी स्रोतों से भी हमको भारतीयों के सुवर्णभूमि के देशों की ओर जाने का वृत्तान्त मिलता है। इनके अतिरिक्त यूनानी लैटिन अरबी तथा चीनी ग्रन्थों से भी इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त होती है। अतः इनका क्रमरूप से उल्लेख कर मूल्यांकन करना आवश्यक है।

पालि साहित्य

पालि साहित्य में जातक की कथाएँ प्रसिद्ध और प्राचीन हैं। इनमें से कई एक में सुवर्ण द्वीप अथवा सुवर्णभूमि का उल्लेख मिलता है। सुस्सोन्दी जातक

१ कावेल ३ १२४।

में सम्म नामक व्यक्ति का मरुकच्छ बन्दरगाह से सुवर्ण भूमि की ओर जहाज में जाने का उल्लेख है। बीच में जहाज के टूट जाने पर वह एक तख्ते पर बैठकर सामद्वीप के किनारे रुका। वहाँ बनारस के राजा तम्ब की रानी सुस्सोंदी बन्दी के रूप में थी और उसने इसका स्वागत किया। बनारस के कुछ व्यापारी लकड़ी और पानी लेने इस द्वीप में उतरे और उन्हीं के साथ यह वापस आ गया। इस जातक कथा से यह बात विदित होती है कि बनारस से व्यापारी सुदूरपूर्व जाते थे और प्रायः मरुकच्छ से सुवर्ण भूमि के लिए जहाज में यात्रा करते थे।

सुप्पारक जातक में भी मरुकच्छ बन्दरगाह से सुवर्णभूमि की ओर प्रस्थान का उल्लेख है। सुप्पारक कुमार नामक एक अन्धा नाविक एक बड़े जहाज में ७ व्यक्तियों को लेकर सुवर्ण द्वीप की ओर चला। ७ दिनों तक तो यात्रा सकुशल रही पर उसके बाद चार महीने तक जहाज अनिश्चित रूप से चलता रहा। इस बीच में वह क्रमशः खुरमाल सागर, अग्गीमालि सागर, दधिमाली नीलस्सम कुसमाला कुसमालि नलमालि तथा वलभामुख सागर पहुँचा जहाँ से लौटना दुष्कर था। इस कथा में सत्यता का आभास न भी मिले पर मरुकच्छ से सुदूरपूर्व की ओर प्रस्थान और सामुद्रिक कठिनाइयों का संकेत अवश्य मिलता है। अग्गि मालि सागर में सोने की खान थी।

महाजनक जातक में मिथिला के राजकुमार महाजनक की सुवर्ण भूमि की यात्रा का उल्लेख है। उसकी माँ मिथिला के राजा अरिट्ठजनक के पोलजनक द्वारा वध करने पर चम्पा आ गयी थी जहाँ एक ब्राह्मण विद्वान् ने उसे शरण दी। अपनी माँ से संचित धन का आधा भाग लेकर वह सुवर्णभूमि के लिए कुछ व्यापारियों के साथ प्रस्तुत हुआ। उस जहाज पर अपने सामान सहित सात सार्थवाह (व्यापारी) थे और जहाज ने सात दिनों में ७ सौ योजना का मार्ग तय किया। इसके बाद का वृत्तान्त विषय से कोई सम्बन्ध नहीं रखता।

पालि धार्मिक ग्रन्थ 'निद्देस' में भी जो 'सुत्तनिपात' पर की गयी व्याख्या

२ जातक ४.८६।
३ हार्डी 'मैनुअल आफ बुद्धिज्म' पृ १२ से
४ ६.१२
५. विंटरनित्ज हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, भाग २ पृ १५६ से

है, सुवर्ण भूमि तथा अन्य देशों की ओर सामुद्रिक यात्राओं का उल्लेख है। सुत्त निपात में क्लेशों की व्याख्या करते हुए नाविकों के कष्टों का उल्लेख है जो उन्हें धन की खोज में जाने के लिए झेलने पड़ते थे। इसमें २४ स्थानों और १ कठिन मार्गों का उल्लेख है जहाँ व्यापारी समुद्र मार्ग से जाते थे। लेवी महोदय ने यह

१ 'निद्देस' में जिन स्थानों का उल्लेख है वे क्रमशः निम्नलिखित हैं—

(१) गुम्ब (२) तक्कोला, (३) तक्कसिला, (४) कालमुख (५) मरणपार, (६) वेसुंग (७) वेरापथ (८) जावा (९) तमली (१) वंग, (११) एलवद्धन (१२) सुवण्णकूट, (१३) सुवर्णभूमि (१४) तम्बपण्णि, (१५) सुप्पारा, (१६) भरुकच्छ, (१७) सुरट्ठ, (१८) अंगणेक, (१९) गंगण (२) परमगंगण (२१) यौन (२२) परमयोन (२३) अल्लसन्द (२४) मरुकन्तार (२५) जण्णुपथ (२६) अजपथ (२७) मेण्ढपथ (२८) संकुपथ (२९) छत्तपथ (३) वंसपथ (३१) सकुणपथ (३२) मूसिकपथ (३३) दरिपथ (३४) वेत्तचार। इन स्थानों में १५-२४ पश्चिमी भारत में स्थित हैं और उनका सुवर्णभूमि से कोई सम्बन्ध नहीं है। सुवण्णभूमि (सुवर्णभूमि) के विषय में प्राचीन साहित्य में विशेष रूप से विवेचना की गयी है। इसकी समानता तालमी के ख्रीरेस ख्रोरा से की जाती है तथा वेसुंग (६) वेरापथ (७) और तक्कोला को इस भौगोलिक शास्त्रज्ञ ने बेसिंगाइटै बराबाई और तक्कोला के नाम से सम्बोधित किया है। इन पर विशेष रूप से आगे प्रकाश डाला जायेगा। मिलिन्दपञ्हो में भी सुवण्णभूमि तक्कोला से सम्बन्धित है और इसीलिए इसे ब्रह्मा में रखा गया है। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' भाग १ पृ ५१। कालमुख (४) का उल्लेख रामायण तथा महाभारत में एक विशेष जाति के पुरुषों के सम्बन्ध में है (२ ११७१) जावा के विषय में कोई संदेह नहीं है। तमली अथवा ताम्रलिंग (चीनी तन-माई-लिओ) जिसका स्थान मलाया या उसकी सीमाओं के एक क्षेत्र में है लिगोर के निकट था (बु इ फ्र १८।६ पृ १७) सिडो (ए हि पृ ७२); सुवण्णकूट (१२) और सुवर्णकुड्य एक ही है जो बिरमनी अथवा मलाया प्रायद्वीप में होगा। तम्बपण्णि-ताम्रपर्णि लंका है। 'निद्देस' में उल्लिखित गुम्ब (१) मरणपार (५) तथा एलवद्धन (११) की समानता किसी स्थान से नहीं की जा सकती।

प्रमाणित करना चाहा है कि निद्देश में जिन २४ स्थानों का उल्लेख है वे सब सुवर्णभूमि अथवा सुवर्णद्वीप के अन्तर्गत थे और इनमें से कुछ स्थानों का उल्लेख टाल्मी ने भी किया है। इस आधार पर यह ईसवी की प्रथम शताब्दी की व्यापारिक परिस्थिति चित्रित करता है।

सीलोन के प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ 'महावंश' और 'दीपवंश' में थेर उत्तर और थेर सोण के सुवर्णभूमि में जाकर बौद्ध धर्म फैलाने का उल्लेख है। अशोक के समय में तीसरी बौद्ध संगति के उपरान्त सोण और उत्तर इस देश में बौद्ध धर्म का सन्देश पहुँचाने के लिए चले। उस समय समुद्र में एक राक्षसी रहती थी जो सम्राट् की सन्तान का भक्षण कर लेती थी। इन थेरों के आने पर वहाँ पर सम्राट् के एक पुत्र हुआ। इन्होंने ब्रह्मजाल सुत्त पढ़कर उस राक्षसी की शक्ति का नाश किया और तब ६ व्यक्तियों ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया तथा १५ युवक और इतनी युवतियों ने भिक्षु बनकर संघ में प्रवेश किया। उसी समय से राज्य बालक सोणुत्तर कहलाये। 'महाकर्म विभंग' (पृ ६२) के अनुसार सुवर्णभूमि में बौद्ध धर्म फैलाने का श्रेय गवाम्पति को है। इसकी यात्रा का उल्लेख 'सासनवंश' (पृ ११) में मिलता है।

इसके अतिरिक्त 'पेतवत्थु व्याख्या' (पृ ४७ २७१) में क्रमश सावत्थी (श्रावस्ती) और पाटलिपुर तथा सुवर्णभूमि के बीच व्यापार का उल्लेख मिलता है। 'अंगुत्तरनिकाय' पर की गयी व्याख्या 'मनोरथपूरणी' (पृ १ २६५) में लंका और सुवर्ण भूमि के बीच ७ योजन की दूरी का उल्लेख है और वहाँ पहुँचने के लिए ७ दिन और ७ रातें लगती थीं।

'मिलिन्दपञ्हो' नामक पालि ग्रन्थ में भी सुवर्णभूमि का उल्लेख मिलता है।

७ एईशिये एशियाटिक, भाग २, पृ १-५५।

८ वायु ७४४ से

९ भाग १९, समन्तपासादिका १ ६४। सुवर्णभूमि की समानता रामञ्ञदेश या थटोन से की गयी है जो उस देश के मुख्य नगर सुधम्मपुर का अपभ्रंश रूप है। सुधम्म < सथोन < सटन या थटन < थटोन बना। इलियट 'हिन्दूइज्म एंड बुद्धिज्म' भाग ३ पृ ५ । सुधम्मनगर के विषय में देखिए, सासनवंश, पृ ४ और नोट ३।

१ ५।५९, एस बी ई ११, पृ २६९

इसमें विदेशों के कुछ व्यापारिक केन्द्रों का विवरण है। बन्दरगाहों पर जहाजों के मालिक शुल्क लेकर धनी हो जाते थे और वे तक्कोला चीन तथा सुवर्ण भूमि की ओर प्रस्थान करते थे।

संस्कृत और प्राकृत साहित्य

संस्कृत साहित्य में सर्वप्रथम कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र'[11] में सुदूरपूर्व के देशों का उल्लेख मिलता है। मणि की परीक्षा के सम्बन्ध में कौटिल्य ने कूट से प्राप्त कौट, मूल्य से मौलेयक और इसी सम्बन्ध में समुद्र पार से प्राप्त मणियों को 'पारसमुद्रक' कहकर सम्बोधित किया है। इसी अध्याय में सुवर्णकुड्य से प्राप्त लाल पीले रंग के अगुरु, और पूर्णद्वीप का भी उल्लेख है। वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि कौटिल्य के समय में मलाया, सुवर्णद्वीप तथा अन्य निकटवर्ती द्वीपों के साथ भारतीय व्यापार होता था। 'बृहत्कथा' तो लुप्त हो चुकी है पर आधारित 'कथासरित्सागर' 'बृहत्कथा मंजरी' और 'बृहत्श्लोक संग्रह' में सुवर्णद्वीप सम्बन्धी बहुत-सी कथाएँ मिलती हैं। अन्तिम ग्रन्थ में सानुदास का अपने अन्य साथियों के साथ समुद्र पार कर स्थल मार्ग की ओर पुनः प्रस्थान का उल्लेख है। इस यात्रा का वर्णन बड़ा ही रोचक है। आचरा नामक एक यात्री के मुख के साथ सानुदास सुवर्णभूमि की ओर चल पड़ा। उन्होंने समुद्र पार कर पुनः स्थल मार्ग का अनुसरण किया। पहाड़ पर चढ़ने के लिए वेत्रपथ और नदी को पार करने के लिए 'वेत्रपथ' (बाँस) का सहारा लिया। दो पहाड़ियों के बीच में उन्हें बकरियों के मार्ग से चलना पड़ा जो बहुत तंग था और किरातों से इन बकरियों को लेकर वे आगे बढ़े यहाँ उनका सम्पर्क दूसरी ओर से आने वाले व्यक्तियों से हुआ। सुवर्ण की खोज में जाने वाले इन व्यक्तियों के नेता आचरा की आज्ञा से बकरियों को मारकर उनकी खाल पहन ली। सानुदास को एक पक्षी उठाकर ऊपर ले गया तथा इसे जंगल के बीच में एक तालाब में छोड़ दिया। दूसरे दिन वह एक नदी के किनारे आया जिसकी बालू सुनहरी थी। इस वृत्तान्त से स्पष्ट पता मालूम पड़ता है कि सुवर्ण की यात्रा के लिए जल और

११ २.११ मणि ३ कूटो मौलेयक पारसमुद्रकश्च २९।

१२ लाकोट 'गुणाढ्य एण्ड बृहत्कथा' (पृ. १७१) तवार्द द्वारा अनूदित, पृ. १११ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' भाग १ पृ. ५८

स्थल मार्ग से भौगोलिक कठिनाइयों को पार करते हुए भारत से बहुत-से व्यक्ति सुदूरपूर्व जाते थे। कठिन मार्गों और असुविधाओं का उल्लेख बालक मिलिन्द पञ्हो वायुपुराण मत्स्यपुराण कात्यायन के वार्त्तिकों और गणपाठ में मिलता है। कात्यायन ने व्यापारियों द्वारा इन कठिन मार्गों के अनुसरण का उल्लेख किया है और मिलिन्दपञ्हो में व्यापारियों के स्थान पर सुवर्ण खोजने वालों का संकेत है। 'निमानवत्थु' तथा पुराणों में इनका सम्बन्ध बाहर से बाहर के देशों से है।

'कथासरित्सागर' में भी ऐसी बहुत-सी कथाओं का उल्लेख है। समुद्रशूर नामक एक व्यापारी का जहाज में सुवर्णद्वीप की ओर प्रस्थान तथा वहाँ के मुख्य नगर कलशपुर का उल्लेख इस ग्रन्थ में है।[14] सुवर्णद्वीप से लौटते समय रुद्र नामक एक व्यापारी का जहाज समुद्र में नष्ट हो गया था।[15] इसी प्रकार से कटाह की राजकुमारी का जहाज भी भारत आते समय सुवर्णद्वीप के निकट नष्ट हो गया था और राजकुमारी ने उस द्वीप में शरण ली। उसकी मा सुवर्णद्वीप की रहने वाली थी। कटाह द्वीप बड़ा समृद्धिशाली था और सुवर्णद्वीप के निकट होने के कारण दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध था।[16] इस द्वीप के सम्बन्ध में 'कथासरित्सागर' में और भी कथाएँ मिलती हैं। देवस्मिता का अपने पति गुहसेन नामक व्यापारी के पीछे ताम्रलिप्ति से कटाह जाने का विवरण भी इसी ग्रन्थ में मिलता है।[17] एक अन्य स्थान पर एक मूर्ख व्यापारी की कथा उल्लिखित है जो कटाह की ओर गया था।[18] यशकेतु की रहस्यमयी यात्रा में सुवर्णद्वीप की ओर प्रस्थान का विवरण है।

१३ मजूमदार 'स्वर्णद्वीप' भाग १ पृ १ 'एतूदियो एशियातिक' (प ए) भाग २ पृ ४५ से ५ । मिलिन्दपञ्हो (पृ २८) वायुपुराण (अ ४७ ५ ५४) मत्स्यपुराण (अ १२१ ५ ५६) पतंजलि ५ १ ७७, गणपाठ ५.१ १ ।

१४ तरंग ५४ श्लोक ९७ से।

१५ वही ५४.८६ से।

१६ वही १२५ १ ५ से।

१७ वही १३ ७ से।

१८ वही ६१ १।

१९ वही ८६.३३ ६२।

सुवर्णभूमि जाते हुए ईश्वरवर्मन् नामक एक व्यापारी कनेनपुर में उतरा था जिसकी समानता सुवर्णपुर से की जाती है।[२०]

'कथाकोश' में नागदत्त का पाँच सौ जहाजों को लेकर धन पैदा करने के लिए विदेश जाने का विवरण है। घूमे हुए सर्पाकार पहाड़ के कोटर में जहाज नष्ट हो गये और सुवर्णद्वीप के सुन्दर नामक सम्राट् के प्रयास से वे बच सके। नागदत्त पर आयी हुई विपत्ति का ज्ञान उसे उस पत्र से प्राप्त हुआ जो एक तोते के पैर में बाँध दिया गया था।[२१]

पुराणों में भी भारतवर्ष के बाहर एक देश का उल्लेख है जिसकी भूमि और पहाड़ सोने के थे। 'दिव्यावदान' में सुवर्णभूमि तक पहुँचने के लिए कठिनाइयों का उल्लेख है।[२२] सुवर्णभूमि से कदाचित् उस स्थान का संकेत रहा होगा जहाँ सोना मिलता था। लेवी महोदय ने नेपाल के एक हस्तलिखित ग्रन्थ में सुवर्णपुर के विजयपुर नामक नगर का उल्लेख पाया[२३] जहाँ लोकनाथ (अवलोकितेश्वर) की मूर्ति मिली। सुवर्णपुर के विषय में बाण ने भी लिखा है कि यह पूर्वी समुद्र और किरातों के निवासस्थान से दूर न था।[२४]

सुवर्णभूमि और निकटवर्ती द्वीपों तथा उनके भौगोलिक सम्बन्ध के विषय में 'कथासरित्सागर' और पुराणों से विशेष रूप से सामग्री मिल सकती है। 'कथा सरित्सागर' में चन्द्रस्वामिन् का अपने पुत्र और छोटी बहिन की खोज में द्वीपों की ओर प्रस्थान का वृत्तान्त है। कनकवर्मन् नामक एक व्यापारी ने उनको बचाया था। उसके नारिकेल द्वीप की ओर जाने की बात सुनकर चन्द्रस्वामिन् एक जहाज में समुद्र पार कर उस द्वीप की ओर गया। वहाँ उसे पता चला कि कनकवर्मन् कटाह द्वीप चला गया है। चन्द्रस्वामिन् ने उस ओर प्रस्थान किया पर व्यापारी

२० वही ५७-७९।
२१ टानी द्वारा अनूदित पृ २८-२९।
२२ मत्स्य ११३ १२ ४२ देखिए: मत्स्य ५६, श्लोक ५; वामन १३ ७ १ ।
२३ कावेल और नील पृ १ ७।
२४ जू ए (२२) पृ ४२-४३।
२५ रेडिंग द्वारा अनूदित 'कादम्बरी' पृ ९०-९१।
२६ तरंग ५६, श्लोक ५४ से।

वहाँ से कर्पूरद्वीप जा चुके थे। इस प्रकार चन्द्रस्वामिन् क्रम से नारिकेल द्वीप कटाहद्वीप कर्पूरद्वीप सुवर्णद्वीप और सिंहलद्वीप गया।[27] नारिकेल द्वीप की समानता वर्तमान निकोबार कटाह की केड़ा (मलाया का भाग) कर्पूर की सुमात्रा के उत्तरी पश्चिमी भाग से की गयी है। सुवर्णद्वीप के विषय में विस्तृत रूप से आगे चलकर विचार होगा। सिंहलद्वीप सीलोन है।

पुराणों में भी सुदूरपूर्व के द्वीपों का उल्लेख है। वायुपुराण (अध्याय ४८) में भारत के दक्षिण की ओर स्थित द्वीपों का उल्लेख है। कुछ विद्वानों ने इनकी समानता बताने का प्रयास किया है और अन्य ने इन्हें केवल काल्पनिक ठहराया[28] है। इसमें जम्बूद्वीप के अंगद्वीप यमद्वीप मलयद्वीप शंखद्वीप कुशद्वीप और वराह द्वीप निकटवर्ती थे। मलयद्वीप की समानता मलाया से की जा सकती है जिसमें सोना कीमती पत्थर और चन्दन पैदा होता था और इसके प्रसिद्ध नगर लंका की समानता लेंकासुक से की जा सकती है।[29] वायुपुराण में लिखा है[1] कि यहाँ पर सुनहरे तोरण और मठ की दीवारें थी। शंखद्वीप की समानता सर्विद्वीप से की जाती है जिसके विषय में अरब लेखकों ने भी लिखा है[31] और उनके मतानुसार मलय

२७. नारिकेल द्वीप का उल्लेख ह्वानच्वांग ने भी किया है। बील : भाग २, पृ २५२ इब्नसैद (१३वीं शताब्दी) ने इसे लंका के अधीन रखा है। इस विषय में देखिए यूल-मारकोपोलो २ अध्याय १२। बील ने इसे मालद्वीप माना है, पर यह ठीक नहीं है। कर्पूरद्वीप के विषय में अरबी लेखकों ने भी लिखा है। देखिए, फेरेंड जू ए (उपर्युक्त) पृ १५७, ४२२, ५७ ५७३। गर्नेसेन के मतानुसार सुमात्रा का यह उत्तरी पश्चिमी भाग है जहाँ बरस का बन्दरगाह है और यहाँ के असली कपूर को कपूरबरस कहते हैं। देखिए, पेंजर...द्वारा 'कथासरित्सागर' का अंग्रेजी अनुवाद भाग ४ पृ २२४ नोट १।

२८. जे आर ए एस १८९४पृ २३१ रायचौधरी-एसेज इन इंडियन एन्टीक्वीटिज पृ ६२।

२९. मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप' भाग १ पृ ५३ ७१।

३ ४८ २७ २

३१ फेरण्ड (उपर्युक्त उल्लिखित) पृ ५८३-४। मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ५३।

से यह तीन दिन यात्रा की दूरी पर था और यह श्रीविजय राज्य के अन्तर्गत था। भगद्वीप की समानता अरब लेखकों के जंमबिय से की जाती है। यह बंगाल की खाड़ी में था और स्याम तट पर स्थित एक स्थान के बाद इसका उल्लेख है। अरब लेखकों द्वारा उल्लिखित बरबाद्वीप की समानता वायुपुराण के वराहद्वीप से की जा सकती है। यमद्वीप कदाचित् यमकोटि है। अलबेरुनी के मतानुसार लंका से यह ९ पूर्व में था।[12]

वायुपुराण के अतिरिक्त अन्य पुराणों में बृहत्तर भारत के अन्य द्वीपों का उल्लेख मिलता है। इनमें भारतवर्ष के नवभागों का विवरण है। 'महाभारत' तथा भास्कराचार्य ने भी इनका उल्लेख किया है। यह क्रमशः इन्द्र कसेरुमन ताम्रपर्ण गभस्तिमन् नागद्वीप सौम्य कुमारिक वरुण और गान्धर्व है।[13] अलबरूनी ने भी इनकी चर्चा की है। मजूमदार शास्त्री[14] ने इन्द्रद्वीप की बर्मा और कसेरुमन् की मलाया से समानता दिखायी है। एक अन्य विद्वान् ने इस पर शंका प्रकट की है पर 'गरुड़' और 'वामन' में सौम्य और गान्धर्व के स्थान पर कटाह और सिंहल को रखा है। कटाह की समानता मलाया के वर्तमान केदाह से मानी गयी है। डा० मजूमदार के मतानुसार कटाहद्वीप से प्राचीन सुवर्णद्वीप का संकेत था और यह भारतवर्ष का एक अंग था। पहले ये दोनों एक थे पर आगे चलकर कटाह और सुवर्णद्वीप से विभिन्न स्थानों का संकेत था जैसा कि 'कथासरित्सागर' में कटाह देश कुमारी की कहानी से प्रतीत होता है। इसका उल्लेख पहले हो चुका है।

१२ भाग १ पृ ३ ३।

१३ भारतस्यास्य वर्षस्य नव भेदान् निबोध मे।
समुद्रान्तरिता ज्ञेयास्ते त्वगम्याः परस्परम्॥
इन्द्रद्वीपः कसेरुमान् ताम्रपर्णो गभस्तिमान्।
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गान्धर्वो वारुणस्तथा॥
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः।
योजनानां सहस्रं वै द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरम्॥

१४ कनिंघम एंशण्ट ज्याग्रफी आफ इण्डिया पृष्ठ ७४९।

१५. इ ए ११ पृ २४।

१६ सुवर्णद्वीप, भाग १ पृ ५१।

रामायण में भी सुवर्णपूर्व के द्वीपों का उल्लेख मिलता है और इन पर विचार करना आवश्यक है। लेवी महोदय[38] ने इस ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है। इसी पर 'हरिवंश' और बौद्धसूत्र 'सधर्म समृत्युपस्थान' का भी भौगोलिक वृत्तान्त आधारित है। इसमें यवद्वीप का उल्लेख है। (यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्त राज्योपशोभितम् सुवर्ण रूप्यकद्वीपं सुवर्णाकरमण्डितम्) इनका उल्लेख उपर्युक्त ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न रूप से हुआ है। सुवर्णरूप्यक द्वीप के स्थान पर 'रामायण मंजरी' और 'हरिवंश' में सुवर्णकुड्य है जिसका उल्लेख अर्थशास्त्र में भी है। (२ ११)। लेवी के अनुसार इसकी समानता चीनी किन-लिन से की जा सकती है जो फूनान (कम्बुज) से २ ली की दूरी पर था।[14] यह मलाया में होगा।

डा मजुमदार के मतानुसार[1] सुवर्ण-रूप्यक द्वीप से यूनानी रोमन क्रैसे (सुवर्ण) और अर्ग्यरे (रूप्यक-चांदी) द्वीप का संकेत है। इसकी भूमि में सोना था। यह प्रतीत होता है कि रामायण में सुवर्ण और सुवर्ण-रूप्यक द्वीपों का संकेत है। इसके आगे क्षेमेन्द्र की 'रामायणमंजरी' में समुद्र द्वीप का उल्लेख है। (जलतर्जनवराम् कोराम् समुद्रद्वीप संश्रयाम्।) जिसकी समानता कौटिल्य के 'पारसमुद्र' से की जा सकती है और इसके अपभ्रंश के रूप 'सुमुद्र' से सुमात्रा पड़ा। अतः रामायण में यव अथवा जावा और सुमात्रा का उल्लेख मिलता है।

यूनानी रोम वृत्तान्त

यूनानी और रोम स्रोतों से भी सुवर्णपूर्व के द्वीपो और उनके भारत के साथ सम्बन्ध पर प्रकाश डाला गया है। पामपोनियस मला ने सम्राट क्लाडियस (ई ४१–५४) के राज्यकाल में अपने ग्रन्थ 'दि कोरोग्राफिया' में क्रैसे (सुवर्णद्वीप) का सर्वप्रथम उल्लेख किया है।[19] पेरीप्लस में भी इस द्वीप का उल्लेख है[20] और

१७ ज ए (२ ११) पृ ५ १६। यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम् सुवर्णरूप्यक द्वीपं सुवर्णाकरमण्डितम्।

१८ ए ए भाग २, पृ ३६।

१९ सुवर्णद्वीप पृ ५५।

४ सिडो—पृ ११।

४१ शाफ, पेरीप्लस पृ ४५—४८।

प्लिनी ने भी इसका वर्णन किया है।[42] इनके अतिरिक्त डियोनिसस पेरी एटिस (ई० दूसरी शताब्दी) सोलिनस (ई० तृतीय शताब्दी) मार्शियानस कैपेला (ई० पांचवीं शताब्दी) सेविल के इसीडोर (ई० सातवीं शताब्दी) कास्मोग्राफी के लेखक (ई० सातवीं शताब्दी) थियोडल्फ (आठवीं शताब्दी) और निसे-फोरस (१३ वीं शताब्दी) तथा अन्य लेखकों ने इसका उल्लेख किया है।[43]

टालमी ने क्रैसे के स्थान पर क्रैसे-छोरा लिया है जो 'सुवर्णभूमि' का मूल अनुवाद है और क्रैसे-करसोनिसस का उल्लेख किया है। जिसमें 'सुवर्णद्वीप' का संकेत है। इसका उल्लेख टैयर के मरीनस (ई० प्रथम शताब्दी) मारसियम (ई० पांचवीं शताब्दी) तथा कई अन्य लेखकों ने किया है।[44] इनके अतिरिक्त अरबी और चीनी लेखकों ने भी इस द्वीप का उल्लेख किया है।

अरबी और चीनी वृत्तान्त

अरबी लेखकों में अलबेरूनी (१ पृ० २१०) ने सुवर्णद्वीप और सुवर्णभूमि का उल्लेख किया है। उसका कथन है कि हिन्दुओं के मतानुसार जाबाज के द्वीप सुवर्णद्वीप कहलाते हैं। अन्य स्थान पर उसने कहा है कि इसे इसलिए सुवर्णद्वीप कहा जाता है (२ पृ० १०६) कि यहां पर मिट्टी को धोने से सोना प्राप्त होता है। 'बृहत्संहिता' में वर्णित उत्तरी पूर्वी देशों की श्रेणी में इसने सुवर्णभूमि को रखा है (१ पृ० ३०३)। अन्य अरबी लेखकों में इदरीसी (ई० ११३८) याकूत (११७९-१२२९) शीराजी (मृत्यु ई० १३११) तथा बुजुर्ग बिनशहरियार ने 'जाबाज'

४२ सिडो, पृ० १५, मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ० ५९।

४३ मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ० ४०।

४४ टालमी के भूगोल में सुमात्रा द्वीप का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। उसने पांच द्वीपों के समूह को बरासो से और अन्य तीन को सबदाइबे के नाम से सम्बोधित किया है। इसके निकट उसने इबादिओस अथवा सबादिओस का द्वीप को रखा जिसकी समानता निश्चय ही जावा से की जाती है। मजूमदार शास्त्री टालमी, पृ० ३३९।

४५ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ० ४०।

अथवा सुवर्णभूमि का उल्लेख किया है।[४६] मुवामरी (मृत्यु ११६२ ई०) के मतानुसार सुमात्रा के पश्चिमी भाग का फनसूर (पनसूर अथवा बरोस) ही 'सोने की भूमि' था।[४७]

चीनी यात्री भी सुवर्ण-भूमि से अनभिज्ञ न थे। इत्सिंग ने किन्-मू (सुवर्ण द्वीप) का उल्लेख किया है जिसकी समानता उसने चे-लि-फो-चे अथवा श्रीविजय से की है।[४८] चीनी और अरब लेखकों ने नारिकेल द्वीप का उल्लेख किया है। ब्लाग भाग के अनुसार यहाँ के निवासी केवल नारियल पर आश्रित थे। लंका से यह १ की भी दूरी पर था। इब्न-सैद ने इसका उल्लेख करते हुए इसे लंका के अधीन लिखा है। इस द्वीप की समानता निकोबार से की जाती है। कर्पूरद्वीप का भी अरबी लेखकों ने उल्लेख किया है।[४९] इसकी समानता बोर्नियो अथवा सुमात्रा के उत्तर-पश्चिमी भाग से की गयी है। तिब्बती स्रोतों के अनुसार धर्मपाल और दीपांकर अतीश क्रमशः १०वीं ११वीं शताब्दी में सुवर्णद्वीप गये थे।[५०]

दक्षिण भारतीय स्रोत

लिपि भाषा तथा कला के क्षेत्र में दक्षिण भारत का मलाया तथा सुदूरपूर्व के द्वीपों पर गहरा प्रभाव पड़ा पर दक्षिण के प्राचीन साहित्य में इस विषय पर विशेष सामग्री नहीं मिलती। पट्टिनप्पालै में पुहार अथवा कावेरीपट्टिनम् में 'कालगत्तु आक्कमुम' अथवा कालगम से आये हुए सामान का उल्लेख है। जिसकी

४६. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' भाग १ पृ० ४१।
४७. ज० ए० भै २ २ पृ० ९।
४८. मेमोयर' पृ० १८१ १८७।
४९. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ० ५२ इस पर पहले व्याख्या की जा चुकी है।
५. शरतचन्द्रदास 'इण्डियन पंडितस' पृ० ५ ।
५१ प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री के मतानुसार यह ग्रन्थ चोलिकारिकाल के समय में लिखा गया और इसका काल ईसा की दूसरी शताब्दी अथवा तृतीय का प्रथम भाग रखा जा सकता है। जरनल ग्रेटर इण्डिया सोसायटी (ज० ग्रे० इं० सो०) ११ पृ० २६।

समानता सिन्धु से कडारम से की है।[1] कडारम और कालकम के एकीकरण का तामिल उपन्यास 'दिवाकरम्' में भी उल्लेख है। 'सिलप्पदिकारम्'[2] में टक्कोली निवासियों द्वारा बड़े-बड़े जहाजों में अगर, रेशम, चन्दन, मसाले और कपूर को मदुरा भेजने का उल्लेख है। इन सब पदार्थों की उपज का स्थान पूर्वी देश था और पूर्वी हवा (कोंडल) के प्रवाह के साथ ये जहाज पूर्व से मदुरा की ओर आते थे। इस ग्रन्थ पर की गयी दो टीकाओं में प्रथम में वासम (मसाले) के अन्तर्गत *तक्कोलम्, जातिफल और अन्य पदार्थों का उल्लेख है।* दूसरे टीकाकार अडियार्क्कु नल्लार ने इस पर विस्तृत रूप से टीका की है। उसने टोक्की को पूर्व का एक नगर माना है और वहाँ के राजा भेंट के रूप में मदुरा के सम्राट् को उपयुक्त पदार्थ भेजते थे। उसने इन पदार्थों की विभिन्नताओं का भी उल्लेख किया है। अगर लकड़ी तीन प्रकार की होती थी — अक्कारम्, तक्कोली और किडारम् जो क्रमशः कामरू, तक्कोला और किडार (कडार) से प्राप्त होती थी। कालकम अथवा कडारम के कई प्रकार के रेशम (दुकूल) का उल्लेख भी है। आरम (चन्दन) में हरिचन्दन सबसे प्रसिद्ध था जिससे अगस्त्य की मूर्तियाँ जावा में बनती थीं। वासम के अन्तर्गत लवंगम् (लौंग) तक्कोलम और अन्य पदार्थ भी तक्कोला और जातिफल से आते थे। कपूर भी १४ प्रकार का होता था जिसमें चीन सूडम् सबसे प्रसिद्ध था। टक्की नाम का स्थान सुदूरपूर्व में मलाया में कहीं रहा होगा और यहीं से दक्षिण भारत में दुर्लभ-सा सामान आता था। कालिदास ने भी अपने रघुवंश (६. ७) में इन्दुमती के स्वयंवर के अवसर पर सुनन्दा के मुख से कलिंग राजा हेमांगद के सम्बन्ध में द्वीपान्तर (मलाया) से आती हुई लौंग के सुगन्धित वायु के चलने का उल्लेख किया है।

भारतीय तथा चैनिक साहित्य से प्राप्त सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत का सुदूरपूर्व के साथ घनिष्ट व्यापारिक सम्बन्ध था तथा यहाँ से बहुत से व्यापारी वहाँ जाया करते थे। भारतीय इस क्षेत्र के सुवर्ण से अनभिज्ञ

१ बु इ का रा सों ८६५ १ से मु इ ८ ८१६१ १० से।

२ १४ १ १ १ ।

३ हैंगिए शास्त्री म दे ई २।

न थे। हो सकता है कि वृत्तान्त कहीं पर बढ़ा चढ़ा कर दिया गया हो पर उसमें सत्यता की मात्रा कम नहीं है। विद्वानों ने साहित्य में उल्लिखित बहुत-से प्राचीन स्थानों की समानता दिखाने का प्रयास किया है। इस विशाल क्षेत्र में भारतीयों ने छोटे-बड़े राज्य भी स्थापित किये जिनके इतिहास पर आगे चलकर कम रूप से प्रकाश डाला जायेगा।

अध्याय ३

सुदूर पूर्व का आदि भारतीय उपनिवेश—मलाया

सुदूरपूर्व के देशों में भारतीय संस्कृति का प्रवेश सर्वप्रथम मलाया में ही हुआ जहाँ से औपनिवेशिक दक्षिण तथा पश्चिम की ओर बढ़े। इस देश में उन्होंने छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिये। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण मलाया में ही उन राज्यों का निर्माण हुआ जिनका उल्लेख हमें चीनी साहित्य में मिलता है। मलय द्वीप तथा यवद्वीप का उल्लेख पुराणों में मिलता है। और टालमी[1] ने भी इस क्षेत्र को क्रायसे खेरसोनिसस के नाम से सम्बोधित किया है जिसमें सुवर्ण द्वीप का संकेत है। मलाया के विभिन्न स्थानों का उल्लेख भी इस लेखक के 'भूगोल' में मिलता है पर उनकी समानता किसी वर्तमान स्थान से दिखाना कठिन है। गेरीनी महाशय ने तकोला, ... तामलिंग तथा कोकानगर आदि नामों को भारतीय प्रमाणित किया है। उनके मतानुसार तकोला भारतीय शब्द है। ईसवी

१ मैकक्रिंडल पृ १९७—८, २२१।

इससे मलाया का संकेत होता है। मजुमदार शास्त्री के अनुसार इरावदी के मोहाने तथा पेगू क्षेत्र को प्राचीन काल में सुवर्ण भूमि के नाम से सम्बोधित किया जाता था। बर्मा के अक्याब के उत्तरी भाग को आज भी 'सोनपरान्त' कहा जाता है। (कोरक्लोम गजेटियर आफ इण्डिया—बर्मा उपर्युक्त पृ १९९, नोट २६)। मलाया प्रायद्वीप क्रा-स्थलडमरूमध्य से आरम्भ होकर ७५ मील दक्षिण तक सिंगापुर के पूर्व में कम्बोडिया की खाड़ी तक फैला है। इसके उत्तर में स्याम तथा अन्य तीन ओर समुद्र है। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप'।

२ स्टूडियो—एशियाटिका (ए ए) भाग २, पृ ५ से तथा 'टालमी' *'गिरेस एट का 'बृहत् कथा' पृ २१। तकोला का उल्लेख 'मिलिन्दपञ्हो' में भी है।* इसकी समानता तकुआ-पा से की गयी है और यहाँ से ईसवी की तृतीय शताब्दी में

की दूसरी शताब्दी में भारत और चीन के बीच क-स्थलडमरूमध्य अथवा मलक्का की खाड़ी होकर आवागमन का मार्ग था। उस समय तक मलाया में भारतीय राज्य स्थापित हो चुके थे। इन छोटे-छोटे राज्यों का उल्लेख हमें चीनी वृत्तान्तों तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त होता है।

लंग-या-सु अथवा लंग-गा-सु

मलाया का सबसे प्राचीन हिन्दू राज्य लंग-या-सु के नाम से प्रसिद्ध था जिसका उल्लेख 'लियाङ्ग वंश के इतिहास' (ई ५ २-५५६) में मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार इस राज्य की स्थापना ४ वर्ष पहले हुई थी। वहाँ का राजा चीनी सम्राट् को आदर की दृष्टि से देखता था और वहाँ संस्कृत भाषा प्रचलित थी। धीरे-धीरे यह राज्य कमजोर होता गया। उस समय राजा के सम्बन्धियों में एक अति सज्जन व्यक्ति था जिससे प्रजा प्रभावित थी। सम्राट् ने उसे बन्दी कर लिया और फिर उसे देश से बहिष्कृत कर दिया। वह व्यक्ति भारत आ गया और यहाँ पर उसने एक राजवंश में अपना विवाह किया। लंग-या-सु के राजा की मृत्यु पर उसे भारत से बुलाकर वहाँ का नृप घोषित किया गया। उसने २ वर्ष तक राज्य किया और उसके बाद उसका पुत्र भगदत्त सिंहासन पर बैठा। ई० ५१५ में उसने आदित्य नामक एक दूत को चीन भेजा। उसके बाद क्रमशः ५२३ और ५३१ ई में इस सम्राट् की ओर से राजदूत चीन भेजे गये। लिपियों के अनुसार[2] अन्तिम दूत ५६८ ई में भेजा गया। लंग-या-सु के भारतीय उपनिवेश के

फूनान का राजदूत भारत के लिए जहाज पर चढ़ा था। इसे त्यो-क्यू-सी कहा गया है (शिको ए हि पृ ७१)। तकुआ-पा से बहुत-से प्राचीन शिल्पकला के प्रतीक तथा अवशेष मिले हैं और एक तामिल लेख भी मिला है। शास्त्री के ए नीलकण्ठ जरनल आफ ओरियंटल रिसर्च (ज ओ रि) ६, पृ २९९—३११ राजराज चोल के लेख में इसे तलैत्तक्कोलम् कहा गया है। शिको पृ २४१।

२ शिको ब ए फा ४ पृ १२ जेरिनि : ज ू ए जुलाई-अगस्त १९१८ पृ ११९, शिको, ए हि पृ १२० मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' भाग १ पृ ७

३ ले ब्लेगस दूंग-सामो ९, पृ १११—२ ।

४ इ ए फा ४ पृ ४५।

होने में कोई सन्देह नहीं जैसा कि नामपत्त तथा आदित्य नामकरणों तथा संस्कृत भाषा के प्रयोग से प्रतीत होता है। इस राज्य का ठीक-ठीक-निर्णय करना कठिन है। पर यह मलाया में होगा जैसा कि अन्य स्रोतों से प्रतीत होता है। ईसिह और च्वान चांग ने क्रमश कंग किया-सु और काम-स्यंक नामों से इसे सम्बोधित किया और श्रीक्षेत्र (प्राम) तथा द्वारावती (स्याम) के बीच में रखा है। पिलिमा ने ह्यू बर के मत को मानते हुए इसकी समानता टनासेरिम से की है यद्यपि इस मन-मूरमवसम्य के निकट भी रखा गया है।[५] फ्रांसीसी विद्वान सिदो का कथन[६] है कि दूसरी शताब्दी का लंग-या-सू जो ७वीं शताब्दी में पुन लंग-किया सू और १२वीं लग या-स्युकिआ के नाम से प्रसिद्ध था मलाया और जावा मूल स्रोतों का लंक-सुक था और यह पेरक की एक सहायक नदी के नाम मे आज भी मिलता है।

लंग-या-सु की समानता पिलिमय ने टनासिरम से की है क्योंकि इसका प्राचीन नाम गैन-कासी था जो चीनी नाम लंग-या-सु से मिलता जुलता है। श्रीक्षेत्र (प्रोम) और द्वारावती (स्याम) के बीच में होने के कारण इसका व्यापारिक महत्त्व अधिक था। इस सम्बन्ध मे विसलेड का कथन है[७] कि प्राचीन काल में केडा को लंक-सुक कहा जाता था और बाद म यह भी विजय साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया। यह पूर्व का प्रवेश-द्वार था और यहीं से सुंड और मलाका की खाड़ियो पर नियंत्रण रखा जाता था। चीनी ग्रन्थों मे इसे लग-या-सुय लंक का-सु और लंग-या-सि नामों से सम्बोधित किया गया है जिनसे कदाचित् एक ही स्थान का संकेत है। इसकी स्थापना ईसवी की प्रथम शताब्दी म हुई थी और इसके नगरों के चारों ओर दीवारें थी। यहाँ पर चन्दन और कपूर पैदा होता था। यहाँ के निवासियो की वेश

५. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ७१।

६ ए हि पृ ७२, ९ । 'नागरकृतागम' में मजपहित साम्राज्य का मलाया के जिन प्रान्तों पर अधिकार था उनमें लेंगकसुक भी था। कर्न पृ २४१ २७८—७९ चौम हि का पे पृ ४११—१७, सिदो, ए हि पृ ४ ५। इस राज्य के नाम विभिन्न लेखकों ने अपने ग्रन्थों में अलग-अलग दिये हैं। यहाँ इसका साधारण नाम लंग-यस-सु दिया गया है।

७. दू इ म्य १८१६ पृ ११—१३।

८. जे मार ए स अक्टूबर १९४४ पृ १८२।

भूपा का ज्ञान सुमात्रा के उपमुसी नामक स्थान में प्राप्त एक कोरी मूर्ति से हो सकता है। आठवी शताब्दी के बाद यहा पर पल्लव के स्थान पर पाल प्रभाव पड़ा जिसमे नयी संस्कृत भाषा और लिपि का प्रवेश किया। वास्तव मे लंग-या-सु अथवा लंग-या-सु एक ही स्थान का संकेत करते है जिसकी सीमाएँ सदा एक-सी नही रही। जावानी और मलय वृत्तान्तों के अनुसार इसी को लेक-सुक कहा गया है और आज भी पेरक की एक सहायक नदी का यही नाम है। मलाया प्रायद्वीप के दक्षिण की ओर इसकी पश्चिमी पूर्वी सीमाएँ क्रमश बगाल की खाड़ी और स्याम की खाड़ी थी।

लेवी महोदय ने लंग-किया-सु की लंग-का-सु अथवा लेग-का सु से मिलता दिखाया है और इस सम्बन्ध मे उन्होने भारतीय स्रोतो से भी सहायता ली है। उक्त विद्वान् ने लंग-किया सु की समानता काम-लंक से की है[9] जिसका उल्लेख स्वान-चांग ने किया है। राजेन्द्र चोल के लेख मे इसी का "मेविलिंगम नाम से उल्लेख किया गया है। भारतीय साहित्य में काम लंक को कर्मरंग नाम से सम्बोधित किया गया है। मजुश्री मूलकल्प में कर्मरंग द्वीप में नारी कर बारुस (बरोस सुमात्रा) और निकोबार बालि तथा जावा का उल्लेख है जहा की भाषा शुद्ध न थी। इस द्वीप के साथ में एक स्थान पर हरिकेल कामरूप और कलस का भी उल्लेख है। आप ने भी कामरंग का उल्लेख किया है और शकर ने इसपर व्याख्या करते हुए यहाँ के निवासियों के धर्म का उल्लेख किया है। तारानाथ ने भी 'लेम्गाई जाति के व्यक्तियों के विषय मे लिखा है जो कामरग के निकट रहते थे। कर्मरग देश से भारत में कामरगा नामक फल आता था जो मलाया मे बलिबिंग अथवा बलिबिंग नाम से प्रसिद्ध है और दक्षिण के राजेन्द्र चोल के तंजोर के लेख मे उल्लिखित बिलिंगुनम से बेलिबिंग अथवा कर्मरग का सकेत है। इस प्रकार से लेवी के मतानुसार लग किया-सु और कर्मरंग एक ही स्थान का सकेत करते है और यह लंक-सुक

९ बु इ का ४ (१९४) तस्वीर ६।
१ ज्यू ए न २ २, पृ ४५।
११ 'मजुश्रीमूलकल्प' पृ ११२।
१२ वही पृ ६४८।

(लंग-या सु) से भिन्न था।[14] डा मजुमदार के मतानुसार ये दोनों एक दूसरे के निकट थे।[1]

को-लो-छो-फेन (कलसपुर)

तांग वंश के नवीन इतिहास मे को-लो-छो-फेन नामक एक राज्य का उल्लेख है।[15] उसी ग्रन्थ मे इसे किया-लो-छो-फाऊ अथवा किया-लो-छो-फू नामों से भी सम्बोधित किया गया है। यह राज्य पन-पन[16] से ऊपर ट-हो-लो से उत्तरी दिशा में स्थित था। टू-हो-लो की समानता द्वारावती से की गयी है जो मीनम की घाटी में एक राज्य था। कलसपुर का उल्लेख हमको कथासरित्सागर में भी मिलता है जिसमें लिखा है कि समुद्रसूर नामक एक व्यापारी का जहाज यहाँ टूट गया था

१३ विन्स्टेड ने अपने लेख में ख्मेर साम्राज्य और मलय प्रायद्वीप में स्थित उन भारतीय उपनिवेशों की समानता दिखाने का प्रयास किया है जिनका उल्लेख चीनी ग्रन्थों में है। लंग-या-स्यु लिआंग-शु के अनुसार सबसे प्राचीन भारतीय केन्द्र था। सिडो ने अपने ग्रन्थ में (पृ ७२) इसकी समानता चाओ-जु-कुआ उल्लिखित लिंग-या-स्सु-चिआ तथा मलाया और जावा के वृत्तान्तों के लंका-सुक से की है और इसे प्रायद्वीप के पश्चिम भाग में रखा है। इसके पहले उसने इन दोनों को अलग मानकर लंग-या-सु और लंग-चिआ (काम लंका) को बिलकुल नीचे रखा था। विन्स के मतानुसार लंग-चिआ की राजधानी मेरपुई-केनासेरिम क्षेत्र में रखी जानी चाहिए (ज्ञा इ क्वा ९, १९४९—५ पृ २५७)।

१४ 'सुवर्णद्वीप' पृ ७५, ब्लेगडन का कथन है कि मलाया में लंक-सुक की स्मृति मात्र भी बाकी है (जे आर ए स १९ ६, पृ ११९)।

१५ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ७१ जु इ ज्ञा ४ पृ ४१।

१६. विन्स ने अपने लेख में पन-पन और फूनान के साथ उसके सम्बन्ध का विवरण दिया है। उनके मतानुसार यह कदाचित् पहले वृत्तान्तों का पु-नि है और इसमें तकोला और तकोला-बड़ौ मार्ग भी था। यह उत्तर में क-अलअमकाम्प्य तक फैला था। सबसे पहले इसका फूनान के इतिहास में उल्लेख मिलता है और यहीं से होकर कौडिन्य द्वितीय फूनान आया था। (ज्ञा इ क्वा ९, १९४९—५ पृ २६१)।

१

और वह उस स्थान पर पहुँचा था पर यदि चीनी वृत्तान्त को सत्य माना जाय तो किया-लो को अथवा कलसपुर समुद्र से बहुत दूर था। इस सम्बन्ध में पिलियो का कथन है कि चीनी ग्रन्थ में दिशाओं का संकेत ठीक नहीं है और इसलिए उत्तर के स्थान पर यह पश्चिम की ओर था और इसे सिटांग नदी के मुहाने पर स्याम से पश्चिम की ओर रखना चाहिए। पन-पन के विषय में यह कहा जाता है कि उसकी समानता बैडो अथवा मलाया में किगोर से करनी चाहिए। कर्न ने कलसपुर के स्थान पर कमलपुर पढ़ना चाहा तथा इसे द्वारावती माना। पर यह ठीक नहीं है क्योंकि चीनी ग्रन्थों में इसका किया-लो-को-फू अथवा कलसपुर नाम ही मिलता है।"

कल अथवा कोरा-फू-स-रा

पन-पन के दक्षिण-पूर्व में कोरा-फू-स-रा नामक एक राज्य था जिसका उल्लेख लाग वंश के नवीन इतिहास में मिलता है। यहां के शासक के वंश का नाम श्रीपोर तथा उसका नाम मि-सि-पो-रा था। ईसवी ६५०—६५६ के बीच में यहां से चीन-सम्राट् के यहां दूत भेजा गया। चीनी ग्रन्थ में इसका कुछ वृत्तान्त मिलता है। राजधानी के चारों ओर पत्थर की दीवारें थीं पर इमारतें फूस की बनी थीं। देश २४ भागों में विभाजित था। इस राज्य की समानता केडा अथवा क से की जाती है" जो कि पूर्व और पश्चिम के बीच व्यापार का बड़ा केन्द्र था और जिसका उल्लेख अरब यात्रियों ने भी किया है।

पो-हो-आंग

मलाया में पो-हो-आंग नामक एक और हिन्दू राज्य था जिसका उल्लेख 'सान-चि' और प्रथम सुंग वंश के इतिहास" में मिलता है। इन स्रोतों से पता चलता है कि ४४९ में पो-हो आंग अथवा पहंग राज्य में शरिपाल-वर्मा नामक राजा राज्य करता था

१७ देखिए फेरण्ड का लेख जू ए सितम्बर-अक्तूबर, १९१९।

१८. मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ७६।

१९. सिडो ए हि पृ १५९, नोट ५।

२ टूंग-पाओ १ (१८९९) पृ ३९ से मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ११।

और उसने चीनी सम्राट् को बहुत-सी वस्तुएँ भेंट में भेजा। इस स्थान से व-नपाति नामक इतिहासज्ञ भेंट की वस्तुएँ और एक पत्र लेकर ई० ४५१ ४५६ में चीन गया और चीनी सम्राट् ने उसे 'वीर सेनापति' की पदवी से विभूषित किया। ४५९ ई० में यहाँ के राजा ने लाल और सफेद तोते चीन भेजे तथा ४६४ और ४६६ में पुनः भेंट भेजी। मिंग-टी सम्राट् ने इस बार द-सूरमान नामक इतिहासज्ञ दूत तथा प्रथम सेनापति व-नपाति को चीनी उपाधि प्रदान की। यह प्रतीत होता है कि मलाया के इस राज्य की सभ्यता बढ़ी-चढ़ी थी। श्लेगल ने पो-हो-वांग की समानता पहांग से की है।[२१] पर पेलियो इससे सहमत नहीं है।

कन-टो-ली

'लियांग वंश' तथा 'प्रथम सुंग वंश' के इतिहास में कन-टो ली अथवा किन-टो-ली नामक एक और राज्य का उल्लेख है[२२] जो दक्षिण सागर के एक द्वीप में था। तंग तथा सुंग वंश के वृत्तान्तों में इसका उल्लेख नहीं है, पर मिंग वंश के इतिहास में इस राज्य का पुनः विवरण मिलता है और इसकी समानता प्राचीन सन-फो-त्सि से की गयी है। कुछ विद्वानों ने कन-टो-ली को वर्तमान पलमबंग माना है पर जेरिनी के मतानुसार चीनी मिंग वंश के इतिहास में उल्लिखित इस स्थान की सन-फो त्सि से समानता विवादास्पद है और आज भी मलाया में कनटूली अथवा कन्तुरी नामक स्थान प्राचीन कन-टो-ली का द्योतक है। मजुमदार के मतानुसार[२३] इसकी समानता प्राचीन कडार से करनी चाहिए। लियांग वंश के इतिहास में

२१ वही।

२२ बु० इ० फ्रा० ४ पृ० २७९।

२३ कन-टो-ली सम्बन्धी चीनी वृत्तान्त तथा इसके वर्तमान स्थान-निर्णय के उल्लेख के लिए देखिए —ग्रोएनवेल्डट-नोट्स पृ० ६ ६२ फेरण्ड जू० ए० २—१४ (१९१९) पृ० २३८—४१। जेरिनी, रिसर्चेज पृ० ६ १—४ ६, पेलियो बु० इ० फ्रा० ४ पृ० ४ १ श्लेगल टूंग-पाओ २ २ पृ० १२२ ४। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' ७७ ८, सिडो, ए० हि० पृ० ९५ तथा मिजूसुस्की बु० ऐ० इ० सौ० १ (१९३४) पृ० ९९—१०१।

२४ 'सुवर्णद्वीप' पृ० ७९।

कन-टो-ली राज्य का जो विवरण मिलता है उसके आधार पर यहाँ के आचार विचार कम्बुज और चम्पा निवासियों के जैसे थे और वे तरह-तरह के सुन्दर सूती कपड़े बनाते थे। सुंग वंश के सम्राट् हिम बू (४५४-४६५ ई०) के समय में यहाँ के राजा शि-पो-लो-न-लिन-त-टो (श्रीवर नरेन्द्र) ने चाओ-किओ-टा (एक भारतीय) द्वारा चीनी सम्राट् के पास सोने-चाँदी के बहुमूल्य पदार्थ भेजे। ५०२ ई० में क्यू-टन-सिउ-प-ट-लो (गौतम सुभद्र) ने चीनी सम्राट् के पास दूत भेजे और उसके पुत्र पि-य-प-मा (विजयवर्मन् अथवा प्रियवर्मन्) ने ५१९ और ५२० ई० में दूत तथा भेंट भेजी। चिन वंश के इतिहास के अनुसार ५६३ ई० में एक और दूत यहाँ से चीन भेजा गया था। इन वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि मलाया में कन-टो ली का हिन्दू राज्य ईसा की पांचवीं शताब्दी में स्थापित हो चुका था और छठी शताब्दी में यह वैभव प्राप्त कर चुका था। यहां से चीनी सम्राट् के पास दूत भेजे जाते थे।

पुरातात्त्विक अवशेष प्रमाण

चीनी वृत्तान्तों के आधार पर मलाया के कुछ प्राचीन हिन्दू राज्यों के अस्तित्व का पता चलता है और इनकी पुष्टि इस देश में मिले पुरातात्त्विक अवशेषों से होती है। गुनोंग-जेरी (केडा) के नीचे सुन्गेई-बतु राज्य में एक हिन्दू मंदिर के अवशेष मिले हैं। दुर्गा गणेश नन्दी की केडा में मिली मूर्तियां प्राचीन काल के हिन्दुओं की याद दिलाती हैं। इनकी तिथि निर्धारित करना कठिन है पर निकट ही केडा में स्थित इंटों के बने बौद्ध विहार, जहां संस्कृत भाषा में चौथी अथवा पांचवीं शताब्दी का एक लेख भी मिला है यह संकेत करते हैं कि इस समय तक यहां हिन्दू राज्य स्थापित हो चुके थे। इसी काल के वेलेजली प्रान्त में मिले कुछ स्तम्भ भी हैं जिन पर लेख खुदे हुए हैं।[२५] सलिंगसिंग-परक में गरुड़ पर सवार विष्णु एक सुवर्ण आभूषण पर अंकित मिले तथा एक स्थान पर एक मोहर मिली जिस पर पांचवीं शताब्दी के अंकों में श्री विष्णुवर्मन् का नाम अंकित है।[२६]

२५ वही पृ० ८।
२६ प० हि० पृ० ८८—८९।
२७ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ० ८१। देखिए, इण्डियन आर्ट एण्ड लेटर्स ९, पृ० ८ से।

पश्चिमी तट पर तकुआ-पा में भी प्राचीन अवशेष मिले तथा काओ-नो-रिक में एक प्राचीन मन्दिर तथा विष्णु की एक मूर्ति भी मिली जो कदाचित् ९-वीं शताब्दी की है। यहां पर एक मन्दिर के अवशेष भी मिले हैं जिसकी समानता सुंगई-बतु (केडा) के मन्दिर से की जा सकती है। थो-प्र-नराई में ७-८ ई० की ब्राह्मण देवताओं की कई मूर्तियां मिली और यहां एक तामिल लेख भी मिला। पूर्वी तट पर बंडन की खाड़ी के निकट भी चाया, नखोन श्रीधम्मरट (नखोन श्री धर्मराट्) और विएङ्स में भी प्राचीन काल के अवशेष मिले। लिगोर और तकुआ-पा तथा चाया के स्तम्भ पर अंकित एक संस्कृत लेख से प्रतीत होता है कि यहां पर भारतीय ईसवी चौथी-पांचवी शताब्दी तक अपने राज्य बना चुके थे।

पुरातात्विक अवशेषों के अतिरिक्त मलाया के विभिन्न स्थानों से प्राप्त लेख भी इस विषय पर प्रकाश डालते हैं। ये संस्कृत भाषा में हैं और ईसा की चौथी-पांचवी शताब्दी की लिपि में अंकित हैं। इनमें से ७ वेलेजली प्रान्त के टोकून में ४ इसी प्रान्त के उत्तरी भाग में १ केडा में १ तकुआ-पा में पाच लिगोर तथा दो चाया में पाये गये हैं। दो लेख बौद्ध धर्म से सम्बन्धित हैं। एक में महानाविक बुद्ध गुप्त का उल्लेख है जो रक्त-मृत्तिका निवासी था। इस महानाविक का नाम और स्थान उसके भारतीय होने का संकेत करते हैं।[29] इस स्थान की समानता मुर्शिदाबाद से १२ मील दक्षिण में रंगामाटी नामक स्थान से की गयी है।[30] जिस पत्थर पर यह लेख लिखा है उसी पर एक स्तूप का आकार और सात छत्र भी अंकित हैं। मजूमदार के मतानुसार[31] मलाया में भारतीयों के उपनिवेश भूमध्योन चाया बैडो नदी की घाटी नखोन-श्री धम्मरट (लिगोर) पतानी (पटनी) और सेलेन्सिंग (पहंग) मलाका में थे। यही प्रान्त

२८. मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ० ८१।

२९. यह लेख इस समय भारतीय संग्रहालय कलकत्ता में है। देखिए, छाबरा, जरनल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल (ज० ए० सो० बं०) १ (१९३५) पृ० १५। सिदो ए० हि० पृ० ८८—८९, मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ० ८२।

३०. 'सुवर्णद्वीप' पृ० ८१। मजूमदार ने ताकुआ के 'रक्तमृत्तिका' नामक स्थान का उल्लेख किया है। मार्टिन ने इसकी समानता एक प्राचीन राजधानी रंगमती से की है और कर्न ने इससे सहमत होकर इसका संस्कृत नाम 'रक्तमृत्तिका' दिया है।

३१. मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ० ८१।

तकुआ-पा तथा स्नया और टेनासिरम के मुहाने पर थे। इन सबमें लिगोर का नखोन श्री-धम्मरट सबसे प्रसिद्ध था जो अन्य उपनिवेशों का केन्द्र था और यहां एक बड़ा स्तूप तथा पचास मन्दिर थे। यह बौद्ध धर्म का केन्द्र था पर बाद में पहले ब्राह्मणों का प्रभाव था और फिर यह भी बौद्ध धर्म के प्रभाव में आ गया। वेल्स महोदय ने प्राचीन भारतीय उपनिवेशों के अवशेषों को ढूंढने का वृहद् प्रयास किया और इस सम्बन्ध में उन्होंने उन मार्गों को भी ढूंढना चाहा जिनका भारतीयों ने अनुसरण किया था। भारतीय पहले तकुआ-पा नामक स्थान में उतरते थे और यहीं से दक्षिण तथा पूर्व की ओर बढ़ते थे। पूर्व में बंडे की खाड़ी से वे सुदूरपूर्व की ओर जा सकते थे और इसी लिए इस तट पर कई उपनिवेश स्थापित हुए। विशेष था चाया तथा नखोन श्री धर्म्मरट मुख्य केन्द्र थे। वेल्स ने अन्य मार्गों का भी उल्लेख किया है जिनका अनुसरण बाद में किया गया। इनमें से एक भंग से नखोन श्री-धम्मरट को जाता था।

उपर्युक्त वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम तकुआ-पा में ही भारतीय उपनिवेश की स्थापना हुई और यहीं से पूर्व तथा दक्षिण की ओर भारतीयों का प्रवेश हुआ। नखोन-श्री धर्म्मरट में भारतीय ब्राह्मणों के वंशज मिलते हैं। सिवास्-सू के अनुसार द्वितीय कौडिन्य ने बडो की खाड़ी के निकट पन-पन नामक स्थान को भारतीय संस्कृति प्रदान की थी। जिन भारतीयों ने मलाया में प्रवेश किया वे उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के निवासी थे। पुरातात्त्विक अवशेषों से पता चलता है कि यहां की प्राचीन वास्तुकला आदि ख्मेर, चम और भारतीय बागानी कला से मिलती-जुलती है। शिल्प कला में जो प्रतीक हैं वे पूर्णतया भारतीय हैं।

१२ इण्डियन आर्ट्स एण्ड लेटर्स ९ पृ १—११।

अध्याय ४

जावा के प्राचीन हिंदू उपनिवेश

मलाया के अतिरिक्त हिन्देशिया के जावा, सुमात्रा, बोर्नियो तथा बालि इत्यादि द्वीपों में भी ईसा की प्रथम शताब्दी में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना हुई, जिनका उल्लेख उक्त स्थानों में मिले कुछ लेखों, चीनी वृत्तान्तों तथा अन्य पुरातात्त्विक खोजों में मिलता है। इसके अतिरिक्त किंवदन्तियाँ भी इस विषय में प्रमाण सामग्री हैं। जावा की भौगोलिक स्थिति मलाया से विपरीत है और यहाँ औपनिवेशिक केवल जलमार्ग से ही आ सकते थे। ५१   वर्ग-मील क्षेत्र का यह द्वीप उत्तर में जावा-सागर, दक्षिण में विशाल हिन्द महासागर, पूर्व में बालि द्वीप से पृथक करनेवाली दो मील चौड़ी एक खाड़ी तथा उत्तरपश्चिम में सुमात्रा से अलग करनेवाली सुंडा खाड़ी से घिरा हुआ है। इस द्वीप की लम्बाई ६२२ मील और चौड़ाई ५५ और २१ मील के अन्तर है। इसकी प्राकृतिक सुन्दरता और विशाल घाटियाँ आदिकाल से विदेशियों को आकर्षित करती आयी हैं और इसी लिए यहाँ हिन्देशिया के अन्य द्वीपों की अपेक्षा घनी बस्ती है। इसके इतिहास का प्रथम अध्याय भारतीय उपनिवेशों की स्थापना से ही आरम्भ होता है।

किंवदन्तियाँ

किंवदन्तियों के आधार पर यह कहा जाता है कि सबसे पहले महाभारत युग में कुछ वीरों ने अग्नि नाम के नेतृत्व में यहाँ प्रवेश किया। ये अग्निन् अथवा हस्तिनापुर में राज्य कर रहे थे। बाद की किंवदन्ती के अनुसार औपनिवेशिकों का

१ रैफेल्स ने अपने जावा के इतिहास-ग्रन्थ में किंवदन्तियों का आश्रय लिया है (१८१ लन्दन)। उपर्युक्त वृत्तान्त इसी ग्रन्थ पर आधारित डा० मजुमदार के 'सुवर्णद्वीप' में मिलता है जिसमें इसका पूर्णतया उल्लेख है (पृ० ९४ से)।

अपग्रह गुजरात से जावा में आया था।[1] इसके अतिरिक्त कलिंग से भी कोई २ कुटुम्ब यहाँ आये थे।[1] बहुत काल तक वे असभ्य अवस्था में रहे, पर जावानी अथवा शक संवत् २८९ में कानो नामक एक कुमार हुआ। ४ वर्ष तक तीन वर्षों में राज्य किया। उसके बाद मस्तिन् प्रान्त में पुरूसर नामक एक राजा हुआ जिसके बाद उसके पुत्र अविवास और पौत्र पांडु देवनाथ ने १ वर्ष तक राज्य किया। इनके उपरान्त जयमय ने मस्तिन् से उठाकर अपनी राजधानी केदिरी में बनायी और उसी ने यह वृत्तान्त भी लिखा। उपर्युक्त नामों से प्रतीत होता है कि पुरूसर (पराशर) अविवास (व्यास) तथा पांडु भारतीय थे। जयमय अथवा जयमाइ ईसा की १२वीं शताब्दी में हुआ और उसने 'रामक-भारत युद्ध' नामक काव्य की रचना की।

इन किंवदन्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जावा में भारतीय संस्कृति और उपनिवेश की स्थापना का श्रेय अजिशक को था जिसने इसका नाम यव द्वीप रखा। इसने जावा में शक संवत् के प्रथम वर्ष में प्रवेश किया। कुछ वृत्तान्तों के आधार पर कहा जाता है कि त्रितस्त नामक ब्राह्मण को सर्वप्रथम जावा में भारतीय संस्कृति और धर्म की स्थापना का श्रेय है और उसी ने यह संवत् भी चलाया। भारतीयों के प्रवेश से पहले यह द्वीप नुस कॅंडग कहलाता था और यहाँ के निवासी रसस अथवा राक्षस थे। इन वृत्तान्तों से यह प्रतीत होता है कि पहले जावा असभ्य स्थिति में था और भारतीयों ने यहाँ संस्कृति धर्म साहित्य तथा शासन व्यवस्था चलायी। अजि शक अथवा त्रितेस्त के ऐतिहासिक अस्तित्व पर प्रकाश डालना कठिन है पर यह मानना पड़ेगा कि इन किंवदन्तियों में वास्तविकता का आभास अवश्य है। यहाँ आनेवाले औपनिवेशिक कदाचित् उत्तर-भारतीय थे और उन्होंने पूर्वी तथा पश्चिमी तट से जावा के लिए प्रस्थान किया। इनके जावा में प्रवेश करने का समय ईसवी प्रथम शताब्दी था जैसा कि किंवदन्ती के अतिरिक्त हमें भारतीय साहित्य ताल्मी के वृत्तान्त तथा चीनी स्रोतों से भी पता चलता है।

२ रैफेल्स 'हिस्ट्री आफ जावा' पृ ८७ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ९४।
३ वही पृ १३ से मजुमदार, पृ ९५ से।
४ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ९५।
५. वही।

भारतीय साहित्य में रामायण में जावा को यवद्वीप कहा गया है। लेवी महोदय ने सर्वप्रथम इसका उल्लेख किया। रामायण के आधार पर हरिवंश क्षेमेन्द्र की 'रामायण-मंजरी' और 'सधर्म सम्पुण्डस्थान' में भी इसे उद्धृत किया गया। यह श्लोक इस प्रकार है—

> यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्त राज्योपशोभितम्।
> सुवर्णरूप्यकद्वीपं सुवर्णाकरमण्डितम्॥
> वाल्मीकि-रामायण काण्ड २, अध्याय ११

इस सम्बन्ध में पूर्ण रूप से पीछे विवेचना की जा चुकी है।

यूनानी भौगोलिक टालमी ने भी यवद्वीप का उल्लेख 'इबादिउ' अथवा 'सबादियो' के रूप में किया है। टालमी के मतानुसार इस द्वीप की भूमि बहुत उपजाऊ थी और यहाँ सोना पैदा होता था। इसकी राजधानी सुदूर पश्चिम में अर्गिरे अथवा रजत-नगर थी। रामायण में भी इस द्वीप में सुवर्ण और रूप्य (सोना-चांदी) प्राप्त होने का वृत्तान्त मिलता है। टालमी ने अपना भूगोल ईसा की द्वितीय शताब्दी में लिखा और उसका इस द्वीप का ज्ञान कदाचित् रामायण के आधार पर था। इसमें किसी राजवंश का उल्लेख नहीं है पर ईसा की दूसरी शताब्दी तक यहाँ भारतीय संस्कृति ने अपना स्थान बना लिया था और कदाचित् हिन्दू राज्य स्थापित हो चुके थे।

चीनी वृत्तान्त

१५वीं शताब्दी में फाइ-शिन द्वारा लिखित चीनी ग्रन्थ सिंग-चा-शेंग-लन[१] के अनुसार मिंग वंश के सप्तम वर्ष (अर्थात् १४१२ ई०) से १३७६ वर्ष पहले हान वंश के समय में जावा में राज्य युग का प्रादुर्भाव हुआ। इससे यह प्रतीत होता है कि ५६ ई० में भारतीय उपनिवेश की स्थापना हुई और अजिशक द्वारा ७८ ई० का संवत् चलाना सन्देहात्मक नहीं प्रतीत होता है। जावा का एक ओर भारत से और दूसरी ओर पूर्वी द्वीपों से सम्बन्ध स्थापित हो चुका था और ईसा की द्वितीय शताब्दी में यहाँ से चीन देश में दूत भेजे जाने लगे। चीनी वृत्तान्तों में यहाँ के भारतीय राजाओं का

१. टूंग-पाओ १६ (१९१५) पृ० २४६—७ नोट १।

मरदन गुजरात से जावा में आया था।[1] इसके अतिरिक्त कलिंग से भी कोई २ ० कुटुम्ब यहाँ आये थे।[2] बहुत काल तक वे असभ्य अवस्था में रहे, पर जावानी अथवा शक संवत् २८९ में कानो नामक एक कुमार हुआ। ४ वर्ष तक तीन भक्तों ने राज्य किया। उसके बाद अस्तिन् प्रान्त में पुलसर नामक एक राजा हुआ जिसके बाद उसके पुत्र अविआस और पौत्र पांडु देवनाथ ने १ वर्ष तक राज्य किया। इसके उपरान्त जयभय ने अस्तिन् से उठाकर अपनी राजधानी केदिरी में बनायी और उसी ने यह वृत्तान्त भी लिखा। उपर्युक्त नामों से प्रतीत होता है कि पुलसर (पराशर) अविआस (व्यास) तथा पांडु भारतीय थे। जयभय अथवा जयभय ईसा की १२वीं शताब्दी में हुआ और उसने 'रामप भारत युद्ध' नामक काव्य की रचना की।

इन किंवदन्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जावा में भारतीय संस्कृति और उपनिवेश की स्थापना का श्रेय अजिशक को था जिसने इसका नाम यव द्वीप रखा। इसने जावा में शक संवत् के प्रथम वर्ष में प्रवेश किया। कुछ वृत्तान्तों के आधार पर कहा जाता है कि त्रितरेत नामक ब्राह्मण को सर्वप्रथम जावा में भारतीय संस्कृति और धर्म की स्थापना का श्रेय है और उसी ने यह संवत् भी चलाया। भारतीयों के प्रवेश से पहले यह द्वीप नुस कैंदन कहलाता था और यहाँ के निवासी राक्षस अथवा राक्षस थे। इन वृत्तान्तों से यह प्रतीत होता है कि पहले जावा असभ्य स्थिति में था और भारतीयों ने यहाँ संस्कृति धर्म साहित्य तथा शासन व्यवस्था चलायी। अजि शक अथवा त्रितरेत के ऐतिहासिक अस्तित्व पर प्रकाश डालना कठिन है पर यह मानना पड़ेगा कि इन किंवदन्तियों में वास्तविकता का आभास अवश्य है। यहाँ आनेवाले औपनिवेशिक कदाचित् उत्तर-भारतीय थे और उन्होंने पूर्वी तथा पश्चिमी तट से जावा के लिए प्रस्थान किया। इनके जावा में प्रवेश करने का समय ईसवी प्रथम शताब्दी था जैसा कि किंवदन्ती के अतिरिक्त हमें भारतीय साहित्य सामग्री के वृत्तान्त तथा चीनी स्रोतों से भी पता चलता है।

२ रैफ़्लेस, 'हिस्ट्री ऑफ़ जावा' पृ ८७ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ९४।
३ वही पृ ११ से मजुमदार, पृ ९९ से।
४ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ९५।
५ वही।

मतानुसार[11] जाओ-पो अथवा जो-पो की समानता जावा और म-चू (मुख चप म-सि) की समानता बालि से की जा सकती है। फरेंड के अनुसार जाओ-पो वास्तव में सुमात्रा द्वीप का संकेत करता है।

चीनी यात्री फाह्यान ने भी इस द्वीप का उल्लेख किया है।[12] लंका से चीन की ओर प्रस्थान करते समय फाहियान का जहाज समुद्री तूफान के कारण ये-पो-ठी (यव द्वीप) पहुंचा जहां पर वह ४१४ १५८ ई में पांच महीने रहा। उसका कथन है कि *उस समय वहां ब्राह्मण धर्म की वृद्धि थी और बौद्ध धर्म का तो उल्लेख मात्र* भी न था। इससे प्रतीत होता है कि उक्त द्वीप में ब्राह्मण धर्म केवल कुछ औपनिवेशिकों तक ही सीमित न था वरन् उसका सम्पूर्ण जावा में बोल-बाला था। पर थोड़े ही समय बाद वहां बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ और इसका श्रेय कश्मीर अथवा कापिस के राजकुमार गुणवर्मन् को था जो एक बौद्ध भिक्षु के वेष मे वहां आया। इसका उल्लेख ५१९ ई में सम्पादित काओ-सग-च्युमान अथवा 'प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुओं की जीवनी' में मिलता है। सघनाद (सैम किअ-नत) का पुत्र तथा हरिभद्र (हो-लि-पिअ-तो) का पौत्र *गुणवर्मन (किउआनो-न-प-मो) किपिन का राजकुमार* था। ३० वर्ष की अवस्था म उसे पिता की मृत्यु के बाद सिंहासन पर बैठने का आमंत्रण दिया गया पर इसे अस्वीकार कर वह पहले लंका और फिर वहां से जावा (चो-पो) गया। वहां पहुँचकर उसने वहां की राजमाता को सर्वप्रथम बौद्ध धर्म की दीक्षा दी और फिर सम्राट् को भी अपनी ओर प्रभावित किया। ४२४ ई में चीनी बौद्ध भिक्षुओं के आग्रह पर चीनी सम्राट् ने जावा के सम्राट् पो-टी-किअ के पास गुणवर्मन को चीन भेजने का संदेश भजा। नन्दिन (नन-टी) नामक एक हिन्दू व्यापारी के जहाज मे सवार होकर गुणवर्मन ४३१ ई में नानकिंग पहु चा।

११ बु इ फ्र ४ (१९ ४) पृ २७ ; मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ १ १।

१२ ज़ू ए २ १ (१९२२) पृ १७५ से; मजुमदार, 'सुवर्ण द्वीप' पृ १ १।

१३ लेग्गे फाहियान पृ ११३।

१४ पिलिओ बु सं पृ २७४—५।

उल्लेख है। चीनी ग्रन्थ[7] हु-हन्-शु में ये-टिआ-ओ के सम्राट् टिआओ-पिअन द्वारा ई० १३२ में एक दूत भेजने का उल्लेख है। पिलियो[8] के मतानुसार ये-टिआ-ओ की समानता यव द्वीप अथवा जावा से की जा सकती है। फेरन्ड ने टिआ-ओ पिअन का संस्कृत नाम देववर्मन् माना है। इस वृत्तान्त से यह प्रतीत होता है कि भारतीय उपनिवेश यहां स्थापित हो चुका था और सम्राट् का सम्पूर्ण क्षेत्र पर अधिकार था। उस समय बालि और मदुरा द्वीप भी जावा के अंग थे जैसा कि किंवदन्ती से ज्ञात होता है और २०२ ई० तक ये दोनों द्वीप उसी के अधिकार में थे। 'नगरकृतागम' में मदुरा के पृथक अस्तित्व का उल्लेख है और बालि की एक किंवदन्ती के अनुसार बालि भी उसी समय जावा से अलग हो गया था।[9] इससे यह प्रतीत होता है कि पूर्वी जावा में भी सभ्य व्यक्तियों का अभाव न था और कदाचित् भारतीयों ने यहां पर अपना एक और उपनिवेश स्थापित कर लिया था। तृतीय शताब्दी में भी जावा का चीन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित रहा। इसके प्रथम भाग में दो चीनी कैंग-ताई और चाओ-चिंग फूनान आये। लौटकर उन्होंने दो ग्रन्थ लिखे। कैंग-ताई के ग्रन्थ 'फूनान टाओ-सू-चोआन' में चाओ-पो नामक देश का कई जगह उल्लेख है। यह फूनान के पूर्व में चीन-सागर में है-नान और मलाका की खाड़ी में स्थित था। इसके पूर्व में मन्यू का द्वीप था। पिलियो के

७ पिलियो, बु० इ० फ्रा० ४ (१९०४) पृ० २६६; फेरन्ड, जू० ए० ९ ८ १९१६, पृ० ५२१ से। मजुमदार, सुवर्णद्वीप' पृ० १०० । स्टाइन ने इसको सन्देह जनक माना है। सिडो ए० हि० पृ० ९२।

८ बु० इ० फ्रा० ४ (१९०४) पृ० २६६, इस सम्बन्ध में यह भी धारणा है कि जावा, यवद्वीप, ये-पो-ति (ये-टि-ओ) तथा छा-पो इत्यादि नामों से जावा के अतिरिक्त सुमात्रा का भी संकेत था और मार्कोपोलो ने सुमात्रा का ही उल्लेख किया है। कभी-कभी सुमात्रा के अतिरिक्त बोर्नियो तथा मलाया प्रायद्वीप का भी संकेत माना जाता था। सिडो ए० हि० पृ० ९३। वास्तव में केवल जावा का ही संकेत प्रतीत होता है।

९ पूर्व संकेतित (पृ० सं०)।

१ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ० ९७, इन द्वीपों का इतिवृत्त विस्तृत रूप से आगे चलकर दिया जायेगा।

मतानुसार[11] जामो-पो अथवा चो-पो की समानता जावा और मन्भू (भुट्ठ नप म-कि) की समानता वासि से की जा सकती है। फेरॅड के अनुसार चाम्र-पो वास्तव में सुमात्रा द्वीप का संकेत करता है।[12]

चीनी यात्री फाह्यान ने भी इस द्वीप का उल्लेख किया है।[13] लंका से चीन की ओर प्रस्थान करते समय फाह्यान का जहाज समुद्री तूफान के कारण ये-पो-ती (यव द्वीप) पहुंचा जहां पर वह ४१४ १५८ ई में पांच महीने रहा। उसका कथन है कि उस समय वहां ब्राह्मण धर्म की वृद्धि थी और बौद्ध धर्म का तो उल्लेख मात्र भी न था। इससे प्रतीत होता है कि उक्त द्वीप में ब्राह्मण धर्म केवल कुछ औपनिवेशिकों तक ही सीमित न था वरन् उसका सम्पूर्ण जावा में बोल-बाला था। पर थोड़े ही समय बाद वहां बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ और इसका श्रेय कश्मीर अथवा कापिश के राजकुमार गुणवर्मन् को था जो एक बौद्ध भिक्षु के वेष में वहां आया। इसका उल्लेख ५१९ ई० में सम्पादित काओ-सग-च्युआन अथवा 'प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुओं की जीवनी' में मिलता है। सघनाद (सेन किअ-नन) का पुत्र तथा हरिभद्र (हो-लि-पिअ-टो) का पौत्र गुणवर्मन (किउ-ना-प-मो) किपिन का राजकुमार था। ३ वर्ष की अवस्था म उसे पिता की मृत्यु के बाद सिंहासन पर बैठने का आमंत्रण दिया गया पर इसे अस्वीकार कर वह पहले लंका और फिर वहां से जावा (चो-पो) गया। वहां पहुंचकर उसने वहां की राजमाता को सर्वप्रथम बौद्ध धर्म की दीक्षा दी और फिर सम्राट को भी अपनी ओर प्रभावित किया। ४२४ ई म चीनी बौद्ध भिक्षुओं के आग्रह पर चीनी सम्राट ने जावा के सम्राट पो-टी-किअ के पास गुणवर्मन को चीन भ्रमण का संदेश भेजा। नन्दिन (नन-टी) नामक एक हिन्दू व्यापारी के जहाज म सवार होकर गुणवर्मन ४३१ ई में नानकिंग पहुंचा।

११ ज्यू इ का ४ (१९ ४) पृ २७ ; मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ १ १।

१२ ज्यू ए २ २ (१९२९) पृ० १७५ सि; मजुमदार, 'सुवर्ण द्वीप' पृ १ १।

१३ लैग्गे फाह्यान पृ ११३।

१४ सिलिग्री, पृ सं पृ २७४—५।

उपर्युक्त वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि ईसा की पांचवीं शताब्दी में चीन और जावा के बीच राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्पर्क पूर्णतया स्थापित हो चुका था। प्रथम 'सुंग वंश के इतिहास' में जावा द्वीप (टो-पो) के हो-लो-टन नामक राज्य से चीनी सम्राट् के पास चार अथवा पांच बार भेंट के साथ राजदूत भेजे गये। य क्रमशः ई० ४३३, ४३६, ४४९ तथा ४५२ में गये पर एक अन्य स्रोत के अनुसार ई० ४३३, ४३४, ४३७, ४४ और ४५२ में गये।[15] इन दो के अतिरिक्त ४३३ तथा ४३५ ई० में टो-पो से दो राजदूत भेंट के साथ चीनी सम्राट् के पास गये। टो-पो अथवा जावा में उस समय श्री-लि-पो-ट-टो-अ-ल-प-मा फेरान्ड के अनुसार श्रीपाद धर्मवर्मन् और पेल्ट के अनुसार भट्टार द्वारवर्मन् राज्य कर रहा था। पर फेरान्ड ने इसे श्रीपाद-पूर्णवर्मन् पढ़ा है। सिल्वा लेवी के मतानुसार चीनी इतिहासकारों ने टो-पो और पो-ट को भूल से एक ही माना है।[16] 'प्रथम सुंग वंश के इतिहास' में एक अन्य स्थान पर लिखा है कि ४३३ में हो-लो-टन के सम्राट् पाल्दा (अथवा वाइल्दा) वर्मन् ने चीनी सम्राट् के पास एक पत्र भेजा। ४३६ ई० में उसने पुनः एक पत्र भेजा जिसमें अपने पुत्र द्वारा राज्य हरण करने का उल्लेख किया है।[17] टो-पो में उस समय श्री-लि-पो-ट-टो-अ-ल-पो अर्थात् श्रीपाद धर्मवर्मन अथवा भट्टार द्वारवर्मन् या श्रीपाद पूर्णवर्मन् नामक राजा राज्य कर रहा था। उससे यह प्रतीत होता है कि ये दोनों राज्य एक दूसरे से भिन्न थे यद्यपि हो-लो टन जावा में ही कोई राज्य रहा होगा। इस सम्बन्ध में जावा में मिले कुछ प्राचीन लेखों का भी आश्रय लेना पड़ेगा।

१५ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ० १ २ सिको ए० हि० पृ० ९५।

१६ तुंग-पाओ ९, पृ० ९५१।

१७ जू० ए० २ ८ (१९११) पृ० ५२९।

१८ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ० १ २। नोट—पूर्णवर्मन का नाम लेखों में भी मिलता है।

१९ पूर्व उल्लिखित पृ० २७१। मजुमदार, पृ० १ २। सेल्वेल का कथन है कि यह राजदूत को-पो-स-त से आया था और यह टो-पो से भिन्न था।

२० मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ० १ ३।

२१ ब्लेगडन और मीएन के मतानुसार हो-लो-टन की समानता केलन्तन से

जावा के प्राचीन लेख

जावा के चार प्राचीन लेख[22] बटाविया प्रान्त की राजधानी के निकट चि-अरटों जम्बू तथा केबोंकाली में पाये गये और चौथा इस प्रान्त के बन्दरगाह तजोंग प्रियोक के निकट टूगू में मिला। प्रथम तीन लेखों में पूर्ण-वर्मन नामक सम्राट् का उल्लेख है जिसकी राजधानी तारुमा अथवा तारूमा थी। प्रथम दो लेखों में पूर्णवर्मन के पदचिह्नों का विवरण और उनकी तुलना विष्णु के चरणों से की गयी है (तारुम नेन्द्रस्य विष्णोरिव पदद्वयम्। लं १) तीसरे लेख में उसके गज-चिह्नों का उल्लेख है और चौथे में एक नहर के खुदवाने का विवरण है। पूर्णवर्मन को 'विक्रान्त' कहा गया है जिससे यह प्रतीत होता है कि कदाचित् उसने भूमि पर विजय प्राप्त की होगी। सम्राट् के पदचिह्नों की विष्णु के चरणों से तुलना करना उसके विष्णु का 'त्रिविक्रम' अवतार होनेका संकेत करता है, जिसका रामायणमें उसी स्थान पर विवरण है जहां जावा का उल्लेख आया है। अतः पूर्णवर्मन के ब्राह्मण धर्मावलम्बी होने में कोई सन्देह नहीं। यह नहीं कहा जा सकता है कि वह वहीं के औपनिवेशिक भारतीय

की गयी है और इसे मलाया में रखा गया है। लि० ब० मे० ७७, १९३७, पृ० ३१७—४८६ तथा जरनल मलाया ब्रांच आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी १७, १९४४ ११। इस मत के विपक्ष में प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री ने मलाया और हिन्दचीनिया के भौगोलिक स्थानों का उल्लेख करते हुए मोएन के मत पर आपत्ति प्रकट की है। ब० ए० इ० सो० ७ १९४४ पृ० २७—२९।

२२ कोयेल ने इन लेखों का सबसे पहले सम्पादन किया (१९२५)। बाद में तथा चक्रवर्ती ने 'इण्डिया एण्ड जावा' नामक पुस्तक में इन्हें पुनः सम्पादित और अनूदित किया (भाग २ पृ० २०—२७)। शासक पूर्णवर्मन् की राजधानी तरुमा थी। कदाचित् जावा में यह राज्य ५वीं शताब्दी में भी था और ६८६ ई० में श्री विजय की ओर से एक सेना इसे जीतने गयी थी। लिटो ए० हि० पृ० १४५। आज भी चि-तरुम के रूप में डाडुम की एक नदी का नाम प्राचीन राजधानी का स्मृति-चिह्न है तथा दक्षिण भारत में कन्याकुमारी से उत्तर में २ किलोमीटर की दूरी पर भी इस नाम का एक स्थान है। 'तांग वंश के नवीन इतिहास' में तो-लो-मो नामक एक राज्य का उल्लेख है जिसकी समानता तरुमा से की जा सकती है और यहां से ६६६ ६६९ ई० में राजदूत चीन भेजे गये। लिटो ए० हि० पृ० ९४।

उपर्युक्त वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी में चीन और जावा के बीच राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्पर्क पूर्णतया स्थापित हो चुका था। प्रथम 'सुंग वंश के इतिहास' में जावा द्वीप (छो-पो) के हो-लो-टन नामक राज्य से चीनी सम्राट् के पास चार अथवा पाँच बार भेंट के साथ राजदूत भेजे गये। वे क्रमशः ई ४३३ ४३६ ४४९ तथा ४५२ में गये पर एक अन्य स्रोत के अनुसार ई ४३३ ४३४ ४३७ ४४९ और ४५२ में गये।[15] हो-लो-टन के अतिरिक्त ४३३ तथा ४३५ ई में छो-पो से दो राजदूत भेंट के साथ चीनी सम्राट् के पास गये। छो-पो अथवा जावा में उस समय छ-लि-पो-ट-टो-अ-ल-प-मो डमयस के अनुसार श्रीपाद धर्मवर्मन्[16] और फेरड के अनुसार भट्टार द्वारवर्मन्[17] राज्य कर रहा था। पर फेर ने इसे श्रीपाद-पूर्णवर्मन् कहा है।[18] पेलियो के मतानुसार चीनी ग्रन्थकारों ने छो-पो और पो-ट को भूल से एक ही माना है।[19] 'प्रथम सुंग वंश के इतिहास' में एक अन्य स्थान पर लिखा है कि ४३१ में हो-लो-टन के सम्राट् वारध (अथवा वारम्बा) वर्मन् ने चीनी सम्राट् के पास एक पत्र भेजा। ४३६ ई में उसने पुनः एक पत्र भेजा जिसमें अपने पुत्र द्वारा राज्य हरण करने का उल्लेख किया है।[20] छो-पो में उस समय छे-लि-पो-ट-टो-अ-ल-प-मो अर्थात् श्रीपाद धर्मवर्मन अथवा भट्टार द्वारवर्मन् या श्रीपाद पूर्णवर्मन् नामक राजा राज्य कर रहा था। उससे यह प्रतीत होता है कि ये दोनों राज्य एक दूसरे से भिन्न थे यद्यपि हो-लो-टन जावा में ही कोई राज्य रहा होगा।[21] इस सम्बन्ध में जावा में मिले कुछ प्राचीन लेखों का भी आश्रय लेना पड़ेगा।

१५ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ १ २; सिडो ए हि पृ ९५।

१६ तुंग-पाओ ९, पृ २५१।

१७ जू ए २ ८ (१९१९) पृ ५२१।

१८ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ १ २। नोट—पूर्णवर्मन का नाम लेखों में भी मिलता है।

१९ पूर्व लिखित, पृ २७१। मजुमदार, पृ १ २। स्टैपल का कथन है कि यह राजदूत शी-पो-त-त से आया था और यह छो-पो से भिन्न था।

२० मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ १ १।

२१ स्टैपल और मोयन के मतानुसार हो-लो-टन की समानता केलन्तन से

जावा के प्राचीन लेख

जावा के चार प्राचीन लेख[२१] बटाविया प्रान्त की राजधानी के निकट चि-अरुटों जम्बू तथा केबों-कोपी में पाये गये और चौथा इस प्रान्त के बन्दरगाह तजोंग प्रियोक के निकट तुगु में मिला। प्रथम तीन लेखों में पूर्ण-वर्मन नामक सम्राट् का उल्लेख है जिसकी राजधानी तारुमा अथवा तारुमा थी। प्रथम दो लेखों में पूर्णवर्मन के पदचिह्नों का विवरण और उनकी तुलना विष्णु के चरणों से की गयी है (तारुमन गेनास्य विष्णोरिव पदद्वयम्। नं १) तीसरे लेख में उसके गज-चिह्नों का उल्लेख है और चौथे में एक नहर के खुदवाने का विवरण है। पूर्णवर्मन को 'विक्रान्त' कहा गया है, जिससे यह प्रतीत होता है कि कदाचित् उसने शत्रुओं पर विजय प्राप्त की होगी। सम्राट् के पदचिह्नों की विष्णु के चरणों से तुलना करना उसके विष्णु का 'त्रिविक्रम' अवतार होनेका संकेत करता है जिसका रामायणमें उसी स्थान पर विवरण है जहा जावा का उल्लेख आया है। अतः पूर्णवर्मन के ब्राह्मण धर्मावलम्बी होने में कोई सन्देह नही। यह नही कहा जा सकता है कि वह यहीं के औपनिवेशिक भारतीय

की गयी है और इस मलाया में रखा गया है। त्रि ब पे ७७ १९३७ पृ ११७—४८९ तथा जरनल मलाया ब्रांच आफ रायल एशियाटिक सोसायटी १७ १९४ ११। इस मत के विपक्ष में प्रो नीलकण्ठ शास्त्री ने मलाया और हिन्देनेसिया के भौगोलिक स्थानो का उल्लेख करते हुए मोएन्स के मत पर आपत्ति प्रकट की है। ब पे इ सो ७ १९४ पृ २७—२९।

२१ वोगेल ने इन लेखों का सबसे पहले सम्पादन किया (१९२५)। बरुर्गी तथा चक्रवर्ती ने 'इण्डिया एण्ड जावा' नामक पुस्तक में इन्हें पुनः सम्पादित और अनूदित किया (भाग २, पृ २०—२७)। शासक पूर्णवर्मन् की राजधानी तरुमा थी। कदाचित् जावा में यह राज्य ७वीं शताब्दी में भी था और ६८६ ई में श्री विजय की ओर से एक सेना इसी कारणसे गयी थी। सिदो, ए हि पृ १४५। आज भी चि-तरुम के रूप में डाकुम की एक नदी का नाम प्राचीन राजधानी का स्मृति-चिह्न है तथा दक्षिण भारत में कन्याकुमारी से उत्तर में २ किलोमीटर की दूरी पर भी इस नाम का एक स्थान है। 'तंग वंश के नवीन इतिहास' में तो-लो-मो नामक एक राज्य का उल्लेख है जिसकी समानता तरुमा से की जा सकती है और यहां से ६६६, ६६९ ई में राजदूत चीन भेजे गये। सिदो, ए हि पृ ९४।

की सन्तान या अथवा वहाँ का आदि निवासी या जिसने हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया था। उसकी राजधानी तारुमा अथवा तारुम्मा के विषय में क्रोम का मत है[२३] कि यह हिन्द-नेसी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ 'नील' है। दक्षिण भारत के एक लेख में तारमपुर नगर का उल्लेख पाया जाता है।[२४] नहर का नाम दो भारतीय नदियों चन्द्रभागा और गोमती पर आधारित है। इस लेख में पूर्णवर्मन के पितामह को राजर्षि कहा गया है और उसने चन्द्रभागा नहर का निर्माण किया था जो राजधानी से जाकर समुद्र में मिलती थी। पूर्णवर्मन ने अपने राज्यकाल के २२वें वर्ष में गोमती नहर का निर्माण कराया था जो ६,१२२ धनुष लम्बी थी और उसने एक सहस्र धर्म ब्राह्मणों का इस उत्सव में दान कर दी थी। ये चारों लेख संस्कृत में हैं और इसकी शैली से प्रतीत होता है कि इस भाषा ने पूर्णतया जावा में अपना स्थान बना लिया था। ब्राह्मणों का आदरणीय स्थान था तथा सम्राट् की ओर से दी गयी दक्षिणा लेखों की तिथि मान का प्रयोग और भारतीय नदियों के नाम यह संकेत करते हैं कि पूर्णवर्मन के पितामह जिन्हें राजर्षि कहा गया है या तो स्वयं भारत से आये थे अथवा उनके पूर्वज पहले यहाँ आये थे और वे यहाँ के निवासियों के साथ मिल-जुल चुके थे।

पूर्णवर्मन् की तिथि के विषय में इन चारों लेखों की लिपि के अध्ययन से ही कुछ सहायता मिल सकती है। फोगेल ने इन लेखों के अक्षरों की बोर्नियो के कुटेई स्थान में मिले मूलवर्मन् के लेखों से समानता दिखाते हुए कहा है कि इनकी तिथि ईसा की चौथी शताब्दी रही होगी।[२५] पर इस विषय पर बोर्नियो के लेखों की तिथि का प्रश्न

२३ हि आ ने पृ ७८।

२४ साउथ इण्डियन इंस्क्रप्शंस, भाग ३, पृ १५९।
प्रो शास्त्री के मतानुसार तरुमा दक्षिण भारतीय शब्द नहीं है। क्रोम का सुझाव कि यह हिन्दनेसी शब्द है जिसका अर्थ नील है, ठीक प्रतीत होता है। 'साउथ इण्डियन इन्फ्लुएंस इन दी फार ईस्ट (स उ इ फ) पृ १ ७ नोट ६।

२५ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ११। सिडो के मतानुसार उपर्युक्त लेखों के अक्षर मूलवर्मन के लेखों के बाद के प्रतीत होते हैं और उनकी तिथि ४५ ई के निकट रखनी चाहिए (ए हि पृ ९१)। चक्रवर्ती का भी यही मत प्रतीत होता है। 'इण्डिया एण्ड जावा' भाग २, पृ २१।

भी विवादास्पद है। डा० मजुमदार ने पूर्णवर्मन् के इन लेखों की समानता चम्पा के भद्रवर्मन् और शम्भुवर्मन् के लेखों से दिखाने का प्रयास किया है[२६] और पूर्णवर्मन् को शम्भुवर्मन् का समकालीन माना है जिसने ५६५ ई० से ६२९ ई० तक राज्य किया। पूर्णवर्मन् ने २२ वर्ष तक राज्य किया जैसा कि उसके टुगु के लेख से प्रतीत होता है जिसमें इस वर्ष गोमती नहर के बनवाने का उल्लेख है। उसका राज्य पश्चिमी जावा तक ही सीमित था। उसके लेख बटाविया और निकटवर्ती क्षेत्र में ही मिले हैं। हो सकता है कि उसका राज्य पूर्व की ओर बटाविया से भी आगे हो पर सम्पूर्ण जावा पर पूर्णवर्मन् का अधिकार न था जैसा कि चीनी स्रोत से ज्ञात होता है।

हो-लो-टन

हो-लो-टन नामक राज्य का उल्लेख पहले ही हो चुका है। यहाँ से ४३१ ई० और ४५२ ई० के बीच मे चार-पाँच राजदूत चीनी सम्राट् के पास भेंट लेकर गये। यहाँ के सम्राट् का नाम श्रीपाद धर्मवर्मन् था जिसे कुछ विद्वानो ने भट्टार द्वारवर्मन् अथवा श्रीपाद पूर्णवर्मन् भी माना है। पर इस सम्राट् की समानता लेखों में मिले पूर्णवर्मन् से नहीं की जा सकती है। 'तंग काल के इतिहास' में[२७] (ई० ६१८-९०६) हो-लिंग नामक एक राज्य का उल्लेख है। हो सकता है कि हो-लो-टन और हो-लिंग एक ही राज्य हो और उससे चीनी लेखको का सम्पूर्ण जावा के लिए संकेत हो। पर यह विषय विवादास्पद है और प्रतीत होता है कि जावा के अन्य राज्यो में यही सबसे बड़ा था और इसके अधीन अन्य छोटे राज्य रहे होंगे। सुई काल (५८९-६१८ ई०) के दो ऐतिहासिक ग्रन्थों में टाओ-पो नामक देश का विवरण है जिसकी समानता पिलियो[२८] ने जावा से दिखायी है। इसके अनुसार देश में १० राजधानियाँ थी और उनके अपने शासक थे। इस वृत्तान्त से यह प्रतीत होता है कि जावा कई छोटे-छोटे राज्यो मे बँटा हुआ था और चीनी लेखकों ने सुई काल अथवा उसके पहले

२६. 'सुवर्णद्वीप' पृ० ११। डा० मजुमदार ने विस्तृत रूप से चम्पा के लेखों की लिपि का अध्ययन किया है और पूर्णवर्मन् के लेखों की समानता वहाँ के भद्रवर्मन् और शंभुवर्मन् के लेखों से दिखायी है (ज० इ० ह० १२, पृ० १२० से)।
२७. पिलियो बु० इ० फ्रा० ४ पृ० २८६; सिल्वे० ए० हि० पृ० १३६-७।
२८. पिलियो बु० इ० फ्रा० ४ पृ० २७५—७६।

की राजनीतिक स्थिति का वर्णन किया हो। उस काल (११८९ ई) में भी एक साम्राज्य के अन्तर्गत यहाँ २८ अधीन राज्य थे।[९]

हो-लिंग के विषय में कहा जाता है कि इसका नामकरण कलिंग के आधार पर किया गया था और इसका श्रेय कलिंग से आये नये औपनिवेशिक दलों को था। यह भी हो सकता है कि कलिंग से औपनिवेशिक बहुत पहले इस द्वीप में आये हों और उन्होंने अपने स्थापित किये राज्य का अपनी मातृभूमि के आधार पर नामकरण किया हो। जावा का नाम सातवीं शताब्दी में भी नहीं बदला था जैसा कि ल्याङ्-वाग के वृत्तान्त से पता चलता है। उसका येन-मो-ना वास्तव में यवद्वीप है।[१०] 'तंग-वंश के नवीन इतिहास' में सीमा नामक एक सम्राज्ञी का उल्लेख है जिसे ६७४-५ ई में जनता द्वारा निर्वाचित किया गया था।[११] उसका राज्यकाल सम्पन्नता का युग था। इस वृत्तान्त में यद्यपि ऐतिहासिकता का अभाव हो पर इतना अवश्य ज्ञात होता है कि सम्राट् अथवा सम्राज्ञी चुने जाते थे।

पश्चिमी जावा के अतिरिक्त मध्य जावा में भी कई छोटे राज्य थे। कई मेरबु पहाड़ी के निकट टुक मुग नामक झरने के पास एक बड़े पत्थर पर एक लेख मिला है जो केवल एक पंक्ति में है। इसमें गंगा का उल्लेख है। इसके अक्षर पूर्णवर्मन् के लेख के बाद के काल के प्रतीत होते हैं पर न तो इस पर तिथि है और न किसी नृप का नाम लिखा है। यह पद्य पंक्ति उपजाति छन्द में है। कर्न ने पल्लव ग्रन्थ-अक्षरों की लिपि के आधार पर इसकी तिथि ईसवी की पाँचवीं शताब्दी निर्धारित की है पर क्रोम इसे ७वीं शताब्दी के मध्य भाग में रखते हैं। चंपक में मिले लेख में यह पहला था है और इससे मध्य जावा में हिन्दू राज्य स्थापना का पता चलता है। मध्य जावा के डिअन पठार में लगभग इसी काल की पल्लव ग्रन्थ-लिपि का एक और लेख मिला है जो ठीक से पढ़ा नहीं जा सकता है। यहाँ पर और पुरातात्विक अवशेष

९. मजुमदार 'सुवर्णद्वीप' पृ १११।
१० के आर ए स १९२ पृ ४८७ से। बु इ फा ४ पृ २०८।
११ बु इ फा ४ पृ २८७। ज ए २ २२। १९२२ पृ १७ मजुमदार सुवर्णद्वीप पृ १११।
१२ के ए एम बी बंगाल २ पृ ११ से। कर्न के मतानुसार इसकी तिथि ईसवी पाँचवीं शताब्दी है पर क्रोम ने इसे ७वीं शताब्दी में रखा है।

मिले हैं। टुक-मुस का लेख जिस पत्थर पर खुदा है उसी पर कुछ चित्र भी अंकित हैं, जिनमें एक ओर चक्र शंख गदा इत्यादि अस्त्र प्रतीत होते हैं। दूसरी ओर कमल परशु, माला तथा कुम्भ दिखाये गये हैं। त्रिशूल से शिव तथा चक्र और शंख चिह्नों से विष्णु की उपासना का संकेत होता है। कुम्भ से कदाचित् अगस्त्य परशु से परशुराम अथवा यम तथा अन्य चिह्नों से दूसरे देवताओं का संकेत होता है। टुक-मुस लेख और पत्थर पर अंकित चिह्न मध्य जावा पर भारतीय धर्म और संस्कृति की गहरी छाप के प्रतीक हैं। वास्तव में पश्चिम जावा की भांति मध्य जावा में भी हिन्दू राज्य स्थापित हो चुके थे।

अध्याय ५

सुमात्रा, बोर्नियो और बालि के प्राचीन हिन्दू उपनिवेश

भौगोलिक दृष्टिकोण से सुमात्रा द्वीप क्षेत्रफल में बोर्नियो के बाद सबसे बड़ा होते हुए भी जावा की भाँति घना नहीं बसा है। मलक्का बाँका और सुंडा की खाड़ियाँ इसे उत्तर-पूर्व और दक्षिण-पूर्व में क्रमशः मलाया बाँका द्वीप और जावा से पृथक करती हैं। इसके किनारे पर छोटे-छोटे बहुत-से द्वीप हैं। इस द्वीप की लम्बाई कोई १ ६ मील और चौड़ाई २४८ मील है। इसका क्षेत्रफल जावा से चौगुना है पर जनसंख्या कम है। खनिज पदार्थों की यहाँ बहुतायत है और भूमि भी उपजाऊ है। देश में बहुत सी नदियाँ हैं जिनमें जाम्बी प्रमुख है। भौगोलिक साधनों के कारण यहाँ पर विदेशियों का विभिन्न कालों में आगमन हुआ और इसी लिए यहाँ की जन-संख्या में सभी जाति के लोगों का सम्मिश्रण मिलता है—इनमें से मुख्यतया लम्पान हैं जो सुमात्रा के सुदूर दक्षिणी भाग में सूडा की खाड़ी के निकट रहते हैं, रेजांग जो मुसी नदी के ऊपरी भाग में रहते हैं और एक प्रकार की भारतीय लिपि का प्रयोग करते हैं, मलय जो पलेमबंग के निकटवर्ती क्षेत्र में अधिकतर रहते हैं और मलक्का के मलय के समान हैं तथा बटाक जो उत्तरी भाग में रहते हैं और मलय से मिलते जुलते हैं। भारतीय संस्कृति ने इस द्वीप में ईसा से एक सौ शताब्दी पहले प्रवेश

१ सुमात्रा का भौगोलिक वृत्तान्त कलर्स और कर्कोर्ड के ग्रन्थों पर आधारित डा० मजुमदार के 'सुवर्णद्वीप' से उद्धृत है (पृ० ११६)। इस सम्बन्ध में इमनिस्कर का ग्रन्थ 'दी आर्केयोलाजी आफ हिन्दू सुमात्रा' लेडेन १९३७, बोश का 'एनवल बिब्लियोग्राफी आफ इण्डियन आर्क्योलाजी' में पलेमबंग से प्राप्त प्राचीन सामग्री पर लेख (१९३१ पृ० २९—३३) तथा प्रिजुलेस्की का लाम्बी शताब्दी से पहले सुमात्रा में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना सम्बन्धी लेख जिओर्नल एशियाटिक नीय है। ज० ए० ई० सो० १ १९३४ पृ० ९२—१ १।

किया क्योंकि यह भारत और चीन के बीच सामुद्रिक यात्रा के मार्ग पर पड़ता था। फैरेंड के मतानुसार भारतीयों के इस द्वीप में प्रवेश को ईसा से कुछ शताब्दी पहले रखा जा सकता है। इसी विद्वान् का यह भी विचार है कि रामायण में उल्लिखित यव द्वीप का संकेत जावा से नहीं वरन् सुमात्रा से है और इसी लिए ताल्मी का इवाबादियो फाहियान का ये-पो-ति आर्यभटीय और सूर्यसिद्धान्त का यवकोटि तथा चीनी ग्रन्थों का ये-टि-ओ याओ-पो टाऊ-पो और को-पो वास्तव में सुमात्रा के ही संकेत हैं। इस विषय में पहले ही विचार हो चुका है और विद्वान् इस मत से सहमत हैं कि उपर्युक्त सूत्रों से केवल जावा का ही संकेत है। ताल्मी[3] ने इवाबादियों के अतिरिक्त बरूसार और सबदेबए का भी उल्लेख किया है जिससे फोम के मतानुसार[4] सुमात्रा के पश्चिमी और दक्षिणी भाग का संकेत होता है।

सुमात्रा में श्रीविजय साम्राज्य के उत्कर्ष के पहले की कुछ सामग्री मिली है तथा भारतीय कला के अवशेष और चीनी वृत्तान्त ईसवी चौथी से सातवीं शताब्दी तक के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। इससे यह प्रतीत होगा कि सुमात्रा में भी छोटे-छोटे कई राज्य थे[5] और भारतीय धर्म तथा संस्कृति ने वहाँ प्रभाव स्थापित कर

२ ज्रू ए २ १ (१९२२) पृ २ ४। प्रो नीलकण्ठ शास्त्री के मतानुसार ताल्मी तथा अन्य भौगोलिकों के लिए 'यव' से जावा-सुमात्रा दोनों ही का संकेत है। जु इ का ४ पृ २४।

३ एंशियण्ट इण्डिया, मजुमदार शास्त्री पृ ३१६, ३१८—१९।

४ हिं का पेम पृ ५५—६।

५. सुमात्रा के एक राज्य का उल्लेख ४४४ या ४४५ ई में चीन भेजे गये राजदूत के सम्बन्ध में मिलता है। इस राज्य का नाम मो-लो-यू था जो मलयु से मिलता-जुलता है। इसका उल्लेख छठीं शताब्दी के एक चीनी ग्रन्थ में मो-लो-यू के रूप में मिलता है। इसकी समानता सुमात्रा के वर्तमान जाम्बी से की जा सकती है। चीनी यात्री इत्सिंग भारत आते तथा लौटते समय यहाँ ठहरा था। उसके मतानुसार ६८९ और ६९२ ई के बीच में यह से लि फो दे (श्रीविजय) के अधिकार में आ गया था। तककुसु, ए रिकार्ड बाई इत्सिंग पृ ३४; सिडो ए हि पृ १३८, १४२; विलिजो जू इ का ४ पृ १२४। दक्षिण-पूर्वी सुमात्रा के एक और राज्य ता लेंग पो हुअंग की समानता तुलंगवंग से की गयी है। जु इ का ४ पृ १२४—५। जू ए २ ११ १९१८, पृ ४७७ से।

अध्याय ५

सुमात्रा, बोर्नियो और बालि के प्राचीन हिन्दू उपनिवेश

भौगोलिक दृष्टिकोण से सुमात्रा द्वीप क्षेत्रफल में बोर्नियो के बाद सबसे बड़ा होते हुए भी जावा की भांति घना नहीं बसा है। मलाक्का बांका और सुंडा की खाड़ियां इसे उत्तर-पूर्व और दक्षिण-पूर्व में क्रमश मलाया बांका द्वीप और जावा से पृथक करती हैं। इसके किनारों पर छोटे-छोटे बहुत-से द्वीप हैं। इस द्वीप की लम्बाई कोई १ १ मील और चौड़ाई २४८ मील है। इसका क्षेत्रफल जावा के चौगुना है पर जनसंख्या कम है। खनिज पदार्थों की यहां बहुतायत है और भूमि भी उपजाऊ है। देश में बहुत सी नदियां हैं जिनमे जाम्बी प्रमुख है। भौगोलिक कारणो के कारण यहां पर विदेशियों का विभिन्न कालों मे आगमन हुआ और इसी लिए यहां की जनसख्या मे सभी जाति के लोगों का सम्मिश्रण मिलता है—इनमें से मुख्यतया लम्पोंग हैं जो सुमात्रा के सुदूर दक्षिणी भाग में सुंडा की खाड़ी के निकट रहते हैं रेजग जो मूसी नदी के ऊपरी भाग मे रहते हैं और एक प्रकार की भारतीय लिपि का प्रयोग करते हैं, मलय जो पलमबंग के निकटवर्ती क्षेत्र में अधिकतर रहते हैं और मलाका के मलय के समान हैं तथा बटाक जो उत्तरी भाग मे रहते हैं और मलय से मिलते जुलते हैं। भारतीय संस्कृति ने इस द्वीप में ईसा से एक दो शताब्दी पहले प्रवेश

१ सुमात्रा का भौगोलिक वृत्तान्त क्रफर्ड और मर्सडेन के ग्रन्थों पर आधारित, डा मजुमदार के 'सुवर्णद्वीप' से उद्धृत है (पृ ११६)। इस सम्बन्ध में श्नीत्सर का ग्रन्थ 'दी आर्कियोलाजी आफ हिन्दू सुमात्रा' लेडेन १९३७ बोश का 'एनुअल बिब्लियोग्राफी आफ इण्डियन आर्कियोलाजी' में पलेमबंग से प्राप्त प्राचीन सामग्री पर लेख (१९३१ पृ २९—३१) तथा प्रिजुलुस्की का दूसरी शताब्दी से पहले सुमात्रा में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना सम्बन्धी लेख विशेषतया उल्लेखनीय हैं। ज ग्रे इं सो १ १९३४ पृ ९२—१ १।

किया क्योंकि यह भारत और चीन के बीच सामुद्रिक यात्रा के मार्ग पर पड़ता था। फैरंड के मतानुसार भारतीयों के इस द्वीप में प्रवेश को ईसा से कुछ शताब्दी पहले रखा जा सकता है। इसी विद्वान् का यह भी विचार है कि रामायण में उल्लिखित यव द्वीप का संकेत जावा से नहीं वरन् सुमात्रा से है और इसी लिए ताल्मी का इआबादियो फाह्यान का ये-पो-ति आर्यभटीय और सूर्यसिद्धान्त का यवकोटि तथा चीनी ग्रन्थों का ये-टि-ओ याबो-पो टाऊ-पो और शे-पो वास्तव में सुमात्रा के ही संकेत हैं। इस विषय में पहले ही विचार हो चुका है और विद्वान् इस मत से सहमत हैं कि उपर्युक्त सूत्रों से केवल जावा का ही संकेत है। ताल्मी[३] ने इआबादियों के अतिरिक्त बरसाए और समरेबए का भी उल्लेख किया है जिससे क्रोम के मतानुसार[४] सुमात्रा के पश्चिमी और दक्षिणी भाग का संकेत होता है।

सुमात्रा में श्रीविजय साम्राज्य के उत्कर्ष के पहले की कुछ सामग्री मिली है तथा भारतीय कला के अवशेष और चीनी वृत्तान्त ईसवी चौथी से सातवीं शताब्दी तक के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। इससे यह प्रतीत होता कि सुमात्रा में भी छोटे-छोटे कई राज्य थे और भारतीय धर्म तथा संस्कृति ने वहाँ प्रभाव स्थापित कर

२ जू ए २ २ (१९२२) पृ २४। प्रो नीलकण्ठ शास्त्री के मतानुसार ताल्मी तथा अन्य भौगोलिकों के लिए 'यव' से जावा-सुमात्रा दोनों ही का संकेत है। बु इ का ४ पृ २४।

३ ऐंशियण्ट इण्डिया, मजुमदार शास्त्री पृ २१६, २१८—१९।

४ हि जा पेज पृ ५५—६।

५. सुमात्रा के एक राज्य का उल्लेख ६४४ या ६४५ ई में चीन भेजे गये राजदूत के सम्बन्ध में मिलता है। इस राज्य का नाम मो-लो-यू था जो मलयु से मिलता-जुलता है। इसका उल्लेख ७वीं शताब्दी के एक चीनी ग्रन्थ में मो-लो-यू के रूप में मिलता है। उसकी समानता सुमात्रा के वर्तमान जाम्बी से की जा सकती है। चीनी यात्री इत्सिंग भारत जाते तथा लौटते समय यहाँ ठहरा था। उसके मतानुसार ६८९ और ६९२ ई के बीच में यह श्री वि जो ये (श्रीविजय) के अधिकार में आ गया था। तकाकुसु, ए रिकार्ड बाई इत्सिंग पृ १४ सिदो ए हि पृ १३८, १४२ पिलिओ ब इ का ४ पृ ३२४। दक्षिण-पूर्वी सुमात्रा के एक और राज्य ता लँग पो हुअंग की समानता तुलंगवांग से की गयी है। बु इ का ४ पृ ३२४—६। जू ए ९ ११ १९१८ पृ ४७७ से।

किया था। इनमें से कदाचित् श्रीविजय नामक एक स्वतन्त्र राज्य भी था जिसने आगे चलकर एक विशाल साम्राज्य का रूप धारण किया और उसका चीनी अरबी तथा स्थानीय स्रोतों से वृत्तान्त मिलता है। इस अध्याय में केवल आदि श्रीविजय काल के इतिहास पर ही प्रकाश डाला जायगा।

आदि श्रीविजय युग

यद्यपि श्रीविजय के उत्कर्ष का काल ईसवी ७वीं शताब्दी से आरम्भ होता है, पर फेरंड ने चीनी स्रोतों से इसका उल्लेख और पहले दिखाने का प्रयास किया है। कालोदक नामक बौद्ध भिक्षु द्वारा ई ३९२ में अनूदित छे-पुअन-युको किंग अथवा बुद्ध की उत्पत्ति अवस्थाओं के सूत्र में जम्बू द्वीप का उल्लेख है जिसे ५१६ में लिखित किंग लियू-सि-सियांग में भी उद्धृत किया गया है। इसमें लिखा है कि समुद्र में २५ राज्य (द्वीप) थे। प्रथम राजा स्यो-लि बौद्ध था और वहाँ नास्तिक नहीं रहते थे। चौथा राजा छो-ये कहलाता था और वहां लम्बी मिर्च (पि-भ) और साधारण मिर्च (हुओ-तियो) पैदा होती थी। इस ग्रन्थ की टीका फन-फान-यू में जिसकी रचना छठी शताब्दी में हुई थी छो-ये को यव लिखा है। इस लेवी ने जावा का उचित समझा, पर फेरंड उसे यव अथवा विजय मानता है। यदि फैरंड के मत को स्वीकार कर लिया जाय तो श्रीविजय राज्य की स्थापना ईसवी चतुर्थ शताब्दी में माननी चाहिए पर ७वीं शताब्दी तक इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। हो सकता है कि श्रीविजय राज्य का उल्लेख चीनी ग्रन्थों में अन्य नामों से हो।

लियु वंश के इतिहास में कन-टो-ली की जिसे पहले कनतोली कहा जाता था, ओर से सर्वप्रथम सुंग वंश के सम्राट् हियाओ-वू के समय में भेंट लेकर राजदूत के आने का उल्लेख है। उसके बाद के एक सम्राट वू के राज्यकाल (५ २-५ ९) में भी कई बार उस देश के राजदूत चीन आये और बिना रोकटोक के द्वितीय सुंग काल (९ १२७९) के समय में भी वे आते रहे। लियांग-वंश के इतिहास में

६. जरनल जू ए २ २ (१९२२) पृ १ ८ से।

७. वही पृ २१; मजुमदार 'सुवर्णद्वीप' पृ १११।

८. बो॰ हि॰ आ॰ मी॰ पृ ५२—३।

९. बिजुलेरवी ज ग्रे इ स भाग १ पृ ९२ से। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ७९—८ पीटर्स के मार ए स वी बताबा १९३८ पृ ४१।

भी कन-टो-ली से भेजे गये बहुत से राजदूतों का उल्लेख है। कन-टो-ली की समानता मिंग वंश के वृत्तान्त सैन-फो-त्सी अथवा श्रीविजय पलेमबग से करते हैं।[9] फेरेंड ने इब्न मजीद के वृत्तान्त के आधार पर कन-टो-ली से सम्पूर्ण सुमात्रा का संकेत किया है।[10] किन्तु प्रिज़्लुस्की और क्रोम इस मत से सहमत नहीं हैं। ये दोनों इस बात को मानते हैं कि कन-टो-ली से कदाचित् सुमात्रा के किसी छोटे राज्य का संकेत होगा पर डा मजुमदार ने गेरिनी के मत को मानते हुए इसे मलय द्वीप में रखा है।[11] *सिडो ने इस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि इसे सुमात्रा में ही* रखना चाहिए जिससे अधिकतर विद्वान् सहमत हैं। ४५४ ४६४ ई के आन्तरिक काल में श्रीवरनरेन्द्र नामक सम्राट् ने रुद्र नामक एक दूत चीन भेजा। ५ २ ई में गौतम सुभद्र नामक राजा यहाँ राज्य करता था जिसके पुत्र विजयवर्मन् ने ५१९ ई में एक दूत चीन भेजा। चीनी से उद्धृत संस्कृत नामों से प्रतीत होता है कि सुमात्रा में श्रीविजय के उत्कर्ष से पहले भी कुछ हिन्दू राज्य अपना अस्तित्व बनाये हुए थे। इस सम्बन्ध में ६४४ अथवा ६४५ ई के एक चीनी वृत्तान्त में सुमात्रा से चीन भेजे गये एक राजदूत का उल्लेख है। इस राज्य का नाम मो-ला-यू था जिसकी समानता इत्सिंग के वृत्तान्त के आधार पर सुमात्रा के जाम्बी से की गयी है। यह भारतीय मलयु था जिसका उल्लेख मो लं छे के रूप में एक ७वीं शताब्दी के चीनी ग्रन्थ में भी मिलता है। इसी सूची में टो-लंग-पो-होआंग नामक एक और राज्य का

[9] कन-टो-ली राज्य सम्बन्धी वृत्तान्त को मलाया के प्राचीन उपनिवेश के अध्याय में दिया जा चुका है। गेरिनी के मत को मानते हुए डा मजुमदार ने इसे मलाया में रखा है। कुछ विद्वान् इसकी समानता श्रीविजय पलेमबंग से करते हैं। प्रो नीलकण्ठ शास्त्री, बु इ फ्रा ४ पृ २४२। विषय विवादास्पद है अतः क्रम से दोनों मतों का उल्लेख दे दिया गया है।

[10] ज ए १९१९, पृ २३८—२४१ उपर्युक्त संकेतित।

[11] 'सुवर्णद्वीप' पृ २११। डा मजुमदार ने रिचि के वर्ण (१७वीं शताब्दी) का उल्लेख करते हुए किओ-किअंग और कन-टो-ली को मायद्वीप के मध्य में रखा है, पर सिडो ने इस १७वीं शताब्दी के प्रमाण को अमान्य कहा है।

[12] ए हि पृ ९५।

भी उल्लेख है जिसकी समानता दक्षिण-पूर्व सुमात्रा के तुलंगबवंग से की गयी है।[14] इन दोनों राज्यों का अस्तित्व अधिक समय तक नहीं रहा। इनकी भग्न-शिला पर एक नवीन राज्य फो-ये चे-लि-फो य अथवा श्रीविजय की स्थापना हुई जो आगे चलकर श्रीविजय कहलाया और जिसका उल्लेख चीनी अरबी और भारतीय स्रोतों में मिलता है तथा लेख प्रमाण[15] भी मिलते हैं।

पुरातात्विक अवशेष

सुमात्रा के कुछ स्थानों के अवशेष गुप्त अथवा पल्लव प्रभाव के प्रतीक हैं। गुप्त कला की ईसवी ५वीं अथवा ६ठी शताब्दी की एक कांसे की बुद्ध-मूर्ति सेमुन टोम पर्वत नामक स्थान पर मिली और एक पत्थर की बुद्ध-मूर्ति जाम्बी में

१४ जु द प्रा ४ पृ १२५ ६ फरांड ज ए २ ११। १९१८ पृ ७० से। मजुमदार 'सुवर्णद्वीप' पृ १२। इस पर टिप्पणी पहले ही की जा चुकी है (नं ५)।

१५ इन लेखों में चार मलय और एक संस्कृत भाषा में है। चार मलय लेखों में तीन सुमात्रा (१—२ पलेमबंग के निकट तथा नं ३ जाम्बी मलयु) में और चौथा बांका द्वीप के कोता कपुर नामक स्थान में मिला। ५वां लेख संस्कृत में है और यह मलाया प्रायद्वीप के लिगोर में मिला। प्रथम लेख शक सं ६ ५ (६८३ ई) का है और इसमें श्रीविजय के एक शासक का उल्लेख है। दूसरा लेख शक सं ६ ६ (६८४ ई) का जयनाश नामक शासक का है। तीसरा और चौथा समान है और इनमें श्रीविजय राज्य और उसके अधीन राज्यों के प्रति व्यवहार का उल्लेख है। चौथे में शक सं ६ ८ (६८६ ई) के बाद का लिखा वृत्तान्त उस समय का है जब कि श्रीविजय की सेना जावा के विरुद्ध प्रयत्न कर रही थी जिसने अब तक श्रीविजय का आधिपत्य नहीं स्वीकार किया था। पाँचवें लेख में, जो शक सं ६९७ (७७५ ई) का है श्रीविजय की विशाल शक्ति का उल्लेख है। उपर्युक्त लेखों से प्रतीत होता है कि सातवीं शताब्दी के अन्तिम भाग तक श्रीविजय राज्य की सुमात्रा में पूर्णरूपेण स्थापना हो चुकी थी। देखिए मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ १२१—१२४। शास्त्री बु इ फा ४ पृ २४१ से। श्रीविजय राज्य के उत्कर्ष तथा इतिहास पर विस्तृत रूप से आगे चलकर विचार किया जायगा।

मिली।[१६] विष्णु की एक ७वीं शताब्दी की केवल चेहरे की मूर्ति निकटवर्ती बांका द्वीप में मिली जिसकी समानता वेल्स ने मध्य स्याम के सी-तेप में मिली मूर्तियों[१७] से की है और उनके विचार में यह गुप्त कला की प्रतीक है। यहाँ पर पल्लव प्रभाव भी पड़ा जो एक पत्थर की बोधिसत्व की मूर्ति तथा एक दूसरी मूर्ति के कंधे द्वारा प्रतीत होता है। ये लंका के एक बोधिसत्व की मूर्ति से मिलते-जुलते हैं।[१८] इनसे यह ज्ञात होता है कि सुमात्रा मे उत्तरी तथा दक्षिण भारत से पुरुषार्थी व्यक्तियों ने आकर अपने उपनिवेश स्थापित किये। उनकी सभ्यता बढ़ी-चढ़ी थी और जो कुछ थोड़-बहुत अवशेष मिले हैं उनसे इसकी पुष्टि होती है। इन राज्यों का अस्तित्व अधिक समय तक नहीं कायम रहा। ७वीं शताब्दी में श्रीविजय नामक हिन्दू राज्य का उत्कर्ष हुआ और सम्पूर्ण जावा तथा निकटवर्ती द्वीप एवं मलाया पर भी उसने अधिकार कर लिया। इसी लिए इत्सिंग ने भी कहा है कि मलय देश श्रीविजय कहलाता है अथवा वह श्रीविजय राज्य का अंग बन गया है।[१९] इस सम्बन्ध में कुछ लेख भी मिले हैं जो श्रीविजय के निकटवर्ती द्वीप पर अधिकार तथा संघर्ष की भावना का संकेत करते हैं। श्रीविजय के प्रमुख तथा सामुद्रिक शक्ति का उल्लेख इस चीनी यात्री ने भी किया है और इस पर हम विस्तृत रूप से आगे प्रकाश डालेंगे।

बोर्नियो में भारतीय संस्कृति

बोर्नियो द्वीप क्षेत्रफल के दृष्टिकोण से सबसे बड़ा है। जावा से यह सात-आठ गुना है पर इसकी जनसंख्या क्षेत्रफल के अनुसार बहुत कम है। इसका कारण इसके घने जंगल और पहाड़ी क्षेत्र हैं। पर भूमि बड़ी ही उपजाऊ है। इस द्वीप मे भी भारतीयों ने प्रवेश किया। या तो वे जावा से यहाँ आये अथवा सीधे भारत से उन्होंने प्रवेश किया। यह प्रश्न विवादास्पद है क्योंकि कुछ मूर्तियों पर जावा का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा है।[२०] १८७९ ई० में दक्षिण-पूर्व में कोटि अथवा कुटेई प्रान्त

१६. श्निट्गर आर्कियोलाजी आफ सुमात्रा, प्लेट ६ तथा ११।
१७. जे० आर० ए० एस० १९४८, पृ० ५१।
१८. श्निट्गर प्लेट १; ज० ग्रे० इ० सो० ४, पृ० १२५ से; वेल्स जे० आर० ए० एस० १९४८, पृ० ९।
१९. तत्रैव पृ० १।
१ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ० १२९।

के मुआर कमान नामक स्थान में चार लेख मिले। यह स्थान पेलराम से उत्तर में मरकम नदी पर स्थित है। यहीं पर एक टूटी हुई चीनी नाव के अवशेष से पता चलता है कि किसी समय में सामुद्रिक यातायात का यह एक महत्वपूर्ण बन्दरगाह रहा होगा। कदाचित् भारतीय हिन्दू भी यहां इसी मार्ग से आये। कई ६ फुट ऊंचे पत्थर के स्तम्भों पर लेख खुदे हैं जिनमें वहां पर किये गये यज्ञ और ब्राह्मणों को दिये गये दानोंका उल्लेख है। इनमें मूलवर्मन् नामक राजा का उल्लेख है जिसने बहुत से दान कृत्य किये थे। पहले लेख में उपर्युक्त सम्राट् द्वारा पशु, भूमि कल्पवृक्ष तथा अन्य वस्तुओं के दान का उल्लेख है और ब्राह्मणों ने इस स्तम्भ की स्थापना की थी। दूसरे लेख में मूलवर्मन् के पूर्वजों का नाम भी मिलता है। इसके पितामह का नाम राजा कुन्डुग था और इसके पिता अश्ववर्मन् ने सूर्य (अंशुमान्) की भांति अपने वंश को चलाया था। अश्ववर्मन् के तीन पुत्रों में भी मूलवर्मन् सबसे बड़ा था और वह साधु प्रकृति का था। इसने बहुसुवर्णक यज्ञ किया जिसके उपलक्ष्य में दूसरा यूप खड़ा किया गया था। तृतीय लेख में मूलवर्मन् को मुख्य राजा कहा गया है और इसने वप्रकेश्वर की पुण्यभूमि मे ब्राह्मणों को २ गायें दान मे दी थी। इस पुण्य कृत्य की स्मृति में तीसरा यूप स्थापित किया गया था। चौथा लेख पूर्णतया पढ़ा नहीं जा सका पर इसमें मूलवर्मन् की तुलना भगीरथ से की गयी है। ये चारों लेख संस्कृत में है और अनुष्टुप् तथा आर्या छन्दों में इनकी रचना हुई है। इनकी लिखावट प्राचीन पल्लव ग्रन्थ-लिपि मे है और इसी आधार पर इन्हें ४ ईसवी में रखा गया है। इन लेखो से यह पूर्णतया प्रमाणित है कि भारतीय संस्कृति साहित्य तथा धर्म ने बोर्नियो मे ईसवी चौथी शताब्दी मे अपना स्थान बना लिया था। राजा कुन्डुग और उसके पुत्र अश्ववर्मन् के विषय मे विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किये है। कर्न तथा क्रोम के मतानुसार यह व्यक्ति यहीं का निवासी था क्योकि कुन्डुग शब्द संस्कृत में नहीं मिलता है और कदाचित् बोर्नियो की भाषा से यह लिया गया है। इसके पुत्र अश्ववर्मन् ने हिन्दू धर्म अंगीकार किया हो और इसी लिए इसे वंशकर्त् कहा गया है और इसकी तुलना सूर्य (अंशुमन्त) से की

२१ मजूमदार, 'स्वर्णद्वीप' पृ १२६ से आगे; बी ए एल बी १९१५,पृ ११। ज ग्रे इ सो १२ (१९२९) पृ १४-१७; फोगेल; बिजद्रागेन ७४ १९१८,१६७ से। सिडो,ए हि पृ ९१।

गयी है जिसे सूर्यवंश बसाने का श्रेय दिया गया है। डा छावड़ा के मतानुसार[23] इसका कदाचित् दक्षिण भारत से सम्बन्ध था और कुण्डुंग तामिल नाम रहा हो। इसी प्रकार का एक और नाम कुण्डुकार एक पल्लव लेख में मिलता है। छावड़ा के मतानुसार यह व्यक्ति कदाचित् दक्षिण भारत का रहनेवाला था और उसने वहाँ जाकर अपना राज्य बनाया। डा मजुमदार ने कुण्डुंग और अश्ववर्मन् की समानता कम्बुज देश के स्थापक कौण्डिन्य तथा अश्वत्थामा से की है जिसका उल्लेख चम्पा के एक लेख मे मिलता है।

इन चार लेखों के अतिरिक्त पश्चिमी बोर्नियो में ८ छोटे-छोटे लेख मिले हैं जिनकी तिथि बाद की है और वे एक चट्टान पर खुदे हुए हैं। यह सोएनसी टेकारेक सोते के निकट बटो पहत में मिले है। इनके ऊपर छत्र और स्तूप अंकित हैं। १, ३, ६, ८ तथा २, ५, ७ लेखों म वही सूत्र अंकित हैं जो मलाया के केदा तथा बुद्ध गुप्त नामक नाविक के लेख में क्रमश मिलते हैं।[24] इन सबों का सारांश नहीं पढ़ा जा सका क्योंकि उसका भाग मिट गया था पर इनके बौद्ध मत होने म कोई सन्देह नहीं है।

पुरातात्त्विक अवशेष

बोर्नियो मे भारतीय देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी मिली। पत्थर की बहुत सी मूर्तियाँ गाएनोएम कामबेंग की एक गुफा में गहराई पर मिली। इनमें से कुछ टूटी हुई थी और उनका मस्तिष्क नही था। कदाचित् मूर्ति तोड़ने वालों से रक्षा के हेतु ये किसी समय में वहा लायी गयी होगी। इनका ब्राह्मण तथा बौद्ध धर्मों

२२ जे ए एस बी १ १९३५, पृ ३९।

२३ चम्पा भाग ३ पृ २३।

२४ छाबड़ा जे ए एस बी बंगाल १ (१९३५) पृ १७।
केदा के लेख में जो बौद्ध सूत्र अंकित हैं वे निम्नलिखित हैं—

> ये धर्मा हेतु प्रभवा तेषां हेतुं तथागतो (ह्यवदत्)।
> तेषां च यो निरोध एवं वादी महाश्रमण ॥
> अज्ञानाच्चीयते कर्म जन्मन कर्म कारणम्।
> ज्ञानान्न चियते कर्म कर्माभावान्न जायते ॥

से सम्बन्ध है। ब्राह्मण मूर्तियों में शिव नन्दीश्वर, अगस्त्य महाकाल (खड़ी मूर्तियाँ) कार्तिकेय तथा गणेश (बैठी हुई मूर्तियाँ) तथा एक बैठी नन्दी और चतुर्मुखी ब्रह्मा की मूर्ति के कुछ अंश मिले।[२५] बौद्ध मूर्तियाँ पद्मासन में कमल पर बैठी मिली है जिनमें अधिकांश देवियाँ है और इनको अभी पहचाना नहीं जा सका है। क्रोम के मतानुसार इनमें एक वज्रपाणि की भी मूर्ति[२६] है। इन दोनों श्रेणियों की मूर्तियाँ कलात्मक दृष्टि से एक ही काल की है। बौद्ध मूर्तियों के मस्तिष्क पर स्तूपाकार मुकुट है, पर प्रतिमा-लक्षण केवल बौद्ध ही नहीं है। काँसे की एक बुद्ध की खड़ी अवस्था में कोई दो फुट से कम ऊँची मूर्ति भी बोर्नियो द्वीप में मिली। विष्णु की एक चतुर्भुजी छोटी सुवर्णमूर्ति विशेषतया उल्लेखनीय है जिसके पीछे दो मोर खड़े हैं। यह अन्य सुवर्ण आभूषित मूर्तियों म से एक है और इसकी कारीगरी सुन्दर है। कोम बेंग मे मिली मूर्तियाँ कला की दृष्टि से सबसे प्राचीन है। वहाँ पर मिले कुछ लकड़ी के खम्भे कदाचित् यह संकेत करते हैं कि वहाँ कोई लकड़ी का मन्दिर रहा होगा वहाँ से ये मूर्तियाँ प्राप्त हुई। इसी लिए कोई पत्थर के बने मन्दिरों के अवशेष नहीं प्राप्त हुए हैं। पश्चिमी बोर्नियो में कपुआस नदी के किनारे भी कहीं-कहीं प्राचीन अवशेष मिले हैं। इनमें सेपाक में मिला मुखलिंग धम्पी में दो पक्तियों का एक लेख सात और लेख जिनका उल्लेख पहले हो चुका है जो बटु पहात में मिले बहुत-सी सोने की पत्तियाँ तथा सैग देकिरग का एक लेख उल्लेखनीय है।[२७] बोर्नियो में भारत से औपनिवेशिक सीधे जाकर बस गये। इसकी समानता वायु पुराण[२८] में उल्लिखित बर्हिण् द्वीप से की गयी है और प्राचीन पुरातात्त्विक अवशेष संकेत करते हैं कि यहाँ पर जावा का प्रभाव नहीं पड़ा था। जिन लेखो म प्रसिद्ध बौद्ध धार्मिक सूत्र 'अज्ञाना-च्चीयते कर्म' तथा 'ये धर्मा हेतुप्रभवा' का उल्लेख है[२९] वे मलाया के केड़ा लेख मे भी मिलते है जिनसे इन दोनों क्षेत्रों के बीच संसर्ग प्रतीत होता है। वास्तव में

२५ पंचोसी के प्रे इ सो (१९३६) पृ ९७; मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ १२८।

२६ ए बि इ आ १९२६ चित्र ११ क्राफ्ट ज सं पृ १८।

२७. मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ १३।

२८. ४८, १२ शिशो, ए हि पृ ९२ 'क्रम' १९२६ पृ १४।

२९. देखिए नोट २४

ईसवी १ली शताब्दी में इस द्वीप के विभिन्न भागों में भारतीय आकर बस गये और उन्होंने अपने राज्य स्थापित कर धर्म और संस्कृति का यहाँ प्रसरण किया। भारतीय औपनिवेशिकों की लहर सुवर्णपूर्व में यहाँ तक पहुँची।

बालि और सलिम्बोज द्वीपों में भारतीय संस्कृति

यह खेद का विषय है कि बालि में जहाँ आज भी हिन्दू धर्म और संस्कृति अपना स्थान बनाये हुए है *प्राचीन पुरातात्त्विक अवशेष नहीं मिले हैं जो प्राचीन भारतीय* संस्कृति और उसके इस द्वीप में प्रवेश पर प्रकाश डाल सकें। भारतीय साहित्य में भी इस द्वीप का कहीं पर उल्लेख नहीं मिलता है। चीनी इतिहास ग्रन्थों में पो-ली नामक द्वीप का उल्लेख है जो बालि से मिलता-जुलता नाम है और इसे हो-लिंग अथवा जावा के पूर्व में भी रखा गया है। पर कुछ विद्वान् चीनी वृत्तान्तों में वर्णित द्वीप के क्षेत्रफल को दृष्टि में रखते हुए इस पो-लि की समानता सुमात्रा के उत्तरी-पश्चिमी भाग से करते हैं।[१०] पिलियो का कथन है[११] कि चीनी वृत्तान्तों में क्षेत्रफल की अपेक्षा *दिशा संकेत अधिक माननीय है और इसलिए पो-ली को बालि मानना ही ठीक होगा।* यद्यपि निश्चित रूप से इस समानता को न भी माना जाय[१२] पर अन्य द्वीपों की अपेक्षा बालि चीनी पो-ली के अधिक निकट है। सुवर्णपूर्व के सबसे छोटे इस द्वीप की लम्बाई ९३ मील और चौड़ाई केवल ५ मील है और प्राकृतिक दृष्टिकोण से यह बहुत सुन्दर है तथा यहाँ की भूमि उपजाऊ है। चीनी[१३] स्रोतों में सर्वप्रथम लियंगवंश के

१० पीएल वेल्स; नोट्स पृ ८४; क्लेगल टूंगपाओ १८९८, पृ २७१ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ११३।

११ बु इ फ्रा ४ पृ २७९ से।

१२ लिवो के मतानुसार यदि पो-ली की समानता बालि से न मानी जाय तो इसे बोर्नियो माना जाना चाहिए (ए हि पृ ९२) पर बोर्नियो जावा के उत्तर या उत्तर-पूर्व में है, किन्तु पो-ली को हो-लिंग के पूर्व में रखा गया है। तेमर वंश के नवीन इतिहास में पो-ली को मा-ली कहा गया है। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ११४ नोट।

१३ चीनी वृत्तान्तों का अनुवाद ग्रोएनवेल्ट (नोट्स पृ ८०-८४ क्लेगल) टूंग-पाओ ९९ १ पृ १२८, १३७ तथा पिलियो ने किया (बु इ फ्रा ४

इतिहास (५ २-५९९ ई) में पो-ली का उल्लेख मिलता है। इसके विषय में लिखा है कि यहां का राजा कौण्डिन्य वंश का था किन्तु उसे अपने पूर्वजों अथवा उनके समय का ज्ञान न था। कहा जाता है कि शुद्धोदन की रानी इसी देश की थी। इस देश का चीन के साथ कोई सम्बन्ध न था। इस ग्रन्थ में राजा के रेशमी वस्त्र सुनहरे मुकुट उसके सिंहासन तथा अनुचरों इत्यादि का भी विवरण दिया गया है। ५१८ ई में यहां से चीनी सम्राट् के पास बहुमूल्य भेंट लेकर एक दूत गया। ५२३ ई में पिन-क (फ्लेयक के मतानुसार कलविङ्क) नामक राजा ने एक और दूत चीन भेजा। इसके बाद सुई वंश के इतिहास (५८१ ६१७ ई) में कुछ अधिक विवरण प्राप्त होता है। इसके अनुसार कुल का नाम क्षत्रिय जिससे कदाचित् क्षत्रिय का तात्पर्य प्रतीत होता है और राजा का नाम हुमन-क्स-मो था। यही वृत्तान्त तांग वंश के नवीन इतिहास (ई ६१८ ९ ६) में भी मिलता है। इसमें राजा का नाम हुन्न पो लिखा है। सुई काल मे (६१६ ई में) पो-ली से एक और राजदूत चीन गया था। इस वंश के इतिहास में वज्र की भाँति के एक शस्त्र का उल्लेख है तथा धारी (भारतीय धारिका मैना) का भी विवरण है और लिखा है कि यह बोल भी लेती थी। यहां से ६१ में एक और दूत चीन भेजा गया। इसके बाद कोई राजदूत चीन नहीं गया। 'तांग वंश के प्राचीन इतिहास' में ह्रा-प-तन नामक एक देश का उल्लेख है जो कलिंग अथवा जावा के पूर्व में था। इसकी समानता भी बालि से की गयी है और यहां से ६४० में एक दूत चीन भेजा गया। चीनी यात्री इत्सिंग भी लौटते समय यहीं ठहरा था। उसने लिखा है कि दक्षिण समुद्र के द्वीपों में से यह एक था और यहां पर मूल सर्वास्तिवाद निकाय की मनोनीत था।[१४] इससे प्रतीत होता है कि उस समय म यहां बौद्ध धर्म का अधिक प्रभाव था। इसके बाद का बालि का वृत्तान्त जावा के इतिहास के साथ आगे चलकर लिखा जायगा।

सेलिबीज

सुदूरपूर्व मे भारतीय संस्कृति के अवशेष सेलिबीज नामक द्वीप के सेमपागा नामक

पृ २८१-८५)। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ १३४ से। इनमें भिन्नता भी पायी जाती है।

१४ 'सुवर्णद्वीप' पृ १३५ से।

१५ रेकर्ड्स पृ १ ।

अध्याय ६

मलाया तथा हिन्देशिया में भारतीय संस्कृति की प्रारम्भिक रूपरेखा

ईसवी सातवीं शताब्दी तक मलाया तथा हिन्दएशिया में भारतीय उपनिवेशों की जड़ें दृढ़ता से जम चुकी थीं। भारतीय संस्कृति नव तरु की भाँति विकसित हो रही थी और सामाजिक आर्थिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में इसकी शाखाएं फैलने लगी थी। पुरातात्विक अवशेषों प्राप्त लेखों तथा चीनी स्रोतों से उद्धृत वृत्तान्तों के आधार पर हम केवल इस संस्कृति की रूपरेखा ही खींच सकते हैं। विस्तृत रूप से सांस्कृतिक इतिहास के लिए सामग्री पर्याप्त नहीं है। धार्मिक दृष्टिकोण से यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मण धर्म ने अपने वैदिक तथा पौराणिक रूप से इन द्वीपों में प्रभाव स्थापित कर लिया था पर बौद्ध धर्म भी पीछे न था और हीनयान तथा महायान धर्म के अनुयायी यहां पाये जाते थे। जो बौद्ध सूत्रों का विभिन्न द्वीपों के लेखों पर अंकित होना यह संकेत करता है कि दोनों विचारों में बौद्ध भिक्षु एक ही केन्द्र से आये होंगे अथवा एक का दूसरे पर प्रभाव स्थापित हो चुका होगा। पर राजनीतिक क्षेत्र में उनका स्वतंत्र अस्तित्व पहली विचारधारा की पुष्टि करता है। जो मूर्तियां मिली हैं उनसे तो केवल धार्मिक परम्परा तथा विष्णु अथवा शैव या बौद्ध मत का फैलना ही संकेतित होता है। केवल चीनी स्रोत सामाजिक दशा पर सूक्ष्म रूप से प्रकाश डालते हैं। इन सब के आधार पर हम ईसा की सातवीं शताब्दी तक भारतीय संस्कृति के विभिन्न अंगों का मूल्यांकन करने का प्रयास करेंगे।

सामाजिक रूपरेखा

मलाया के लंग-या-सु राज्य का विवरण देनेवाले चीनी स्रोत में लिखा है कि यहां के पुरुष और स्त्रियां अपने शरीर का ऊपरी भाग नग्न रखते थे उनके बाल पीछे फैले रहते थे और वे एक प्रकार का सूती वस्त्र पहनते थे। राजा तथा अन्य

दरबारी अपने अंग के ऊपरी भाग को भी ढक लेते थे। वे कमर में सोने की करधनी तथा कानों में सोने के कुंडल पहनते थे। नवयुवतियाँ एक प्रकार के सूती कपड़े से अपने ऊपरी भाग को ढकती थीं और जड़ाऊ करधनी पहनती थीं। नगर की दीवारें पक्की ईंटों की बनी थीं और उनमें दोहरे फाटक और ऊँचे दुर्ग बने हुए थे। यहाँ के राजा की सवारी के साथ पताकाओं और झंडों सहित दुन्दुभी बजाते हुए सैनिक जाते थे। इसी प्रकार से टान-टान नामक एक राज्य के विषय में भी चीनी स्रोत में वृत्तान्त मिलता है। यद्यपि इसका स्थान निर्धारित करना कठिन है पर यहाँ से ५३ ५३५ और ६६६ ई० में चीन में राजदूत भेजे गये थे। यहाँ के राजा का नाम शिलिसिजि (सिगा) था और वह क्षत्रिय था। वह स्वयं राज्य कार्य देखता था और उसके आठ मंत्री थे जो केवल ब्राह्मण ही थे। राजा सुगंधित तेल का प्रयोग करता था। वह मणियों की मालाएँ और एक ऊँचा मुकुट पहनता था। उसके वस्त्र मलमल के थे और वह चर्म-उपानह (चप्पल) का प्रयोग करता था। थोड़ी दूर के लिए वह गाड़ी पर और ज्यादा दूर के लिए हाथी पर जाता था।

'लिअंग-वंश' के इतिहास में पो-ली के राजा और उसकी राजसभा के विषय में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। वह मणियों से जड़ा ऊँचा मुकुट पहनता था तथा सोने के सिंहासन पर बैठता था। उसकी दासियाँ सुनहरे पुष्पों और मणियों से अलंकृत थीं। वे उसके पीछे कुछ सफेद पंखों के चमर और कुछ मोरछली लिये खड़ी रहती थीं। बाहर जाते समय राजा एक सुसज्जित लकड़ी की गाड़ी में जाते थे जिसे एक हाथी खींचता था। गाड़ी के ऊपर पताका फहराती थी और दोनों ओर सुनहरे पर्दे थे। आगे-पीछे दुन्दुभी नगाड़े बजाते लोग चलते थे।

उपर्युक्त वृत्तान्त से यह प्रतीत होता है कि वर्णव्यवस्था ने भी सुवर्णद्वीप में अपना स्थान बना लिया था। ब्राह्मण ही मंत्री पद को सुशोभित कर सकते थे। राजा क्षत्रिय थे। वैश्यों का उल्लेख अन्य स्रोतों में मिलता है। भारतीय वेश-भूषा तथा आभूषणों का प्रभाव होने लगा था और शरीर को अलंकृत करने के लिए सुगन्धित तेल तथा लेप से लोग परिचित थे। सामाजिक जीवन से सम्बन्धित

१ मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ० १४६। व्हीटले, गोल्डन खेरसोनीज पृ० [illegible]।
२ [illegible] पृ० [illegible], मजूमदार 'सुवर्णद्वीप' पृ० १४९।
३ वही [illegible] पृ० [illegible]।

अध्याय ६

मलाया तथा हिन्दनेशिया में भारतीय संस्कृति की प्रारम्भिक रूपरेखा

ईसवी सातवीं शताब्दी तक मलाया तथा हिन्दनेशिया में भारतीय उपनिवेशों की जड़ें दृढ़ता से जम चुकी थीं। भारतीय संस्कृति मय तरु की भांति विकसित हो रही थी और सामाजिक आर्थिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में इसकी शाखाएं फैलने लगी थीं। पुरातात्त्विक अवशेषों प्राप्त लेखों तथा चीनी स्रोतों से उद्धृत वृत्तान्तों के आधार पर हम केवल इस संस्कृति की रूपरेखा ही खींच सकते हैं। विस्तृत रूप से सांस्कृतिक इतिहास के लिए सामग्री पर्याप्त नहीं है। धार्मिक दृष्टिकोण से यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मण धर्म ने अपने वैदिक तथा पौराणिक रूप से इन द्वीपों में प्रभाव स्थापित कर लिया था पर बौद्ध धर्म भी पीछे न था और हीनयान तथा महायान धर्म के अनुयायी यहां पाये जाते थे। दो बौद्ध सूत्रों का विभिन्न द्वीपों के लेखों पर अंकित होना यह संकेत करता है कि दोनों दिशाओं में बौद्ध भिक्षु एक ही केन्द्र से गये होंगे अथवा एक का दूसरे पर प्रभाव स्थापित हो चुका होगा। पर राजनीतिक क्षेत्र में उनका स्वतंत्र अस्तित्व पहली विचारधारा की पुष्टि करता है। जो मूर्तियां मिली हैं उनसे तो केवल धार्मिक परम्परा तथा विष्णु अथवा शैव या बौद्ध मत का फैलना ही संकेतित होता है। केवल चीनी स्रोत सामाजिक दशा पर सूक्ष्म रूप से प्रकाश डालते हैं। इन सब के आधार पर हम ईसा की सातवीं शताब्दी तक भारतीय संस्कृति के विभिन्न अंगों का मूल्यांकन करने का प्रयास करेंगे।

सामाजिक रूपरेखा

मलाया के लंग-या-सु राज्य का विवरण देनेवाले चीनी स्रोत में लिखा है कि यहां के पुरुष और स्त्रियां अपने शरीर का ऊपरी भाग नग्न रखते थे उनके बाल पीछे फैले रहते थे और वे एक प्रकार का सूती वस्त्र पहनते थे। राजा तथा अन्य

का प्रादुर्भाव ईसवी की सातवीं शताब्दी में बंगाल में हुआ और जिस तेजी से यह श्रीविजय पहुँच गया उसका मुख्य कारण भारत से विचारधारा का प्रसार था। जिन बौद्ध विद्वानों ने सुवर्णद्वीप में प्रवेश किया उनमें से सातवीं शताब्दी के नालन्दा विश्वविद्यालय के धर्मपाल तथा आठवीं शताब्दी के दक्षिणी भिक्षु वज्रबोधि उल्लेखनीय हैं।[15] वज्रबोधि और उसके शिष्य अमोघवज्र को तांत्रिक मत फैलाने का श्रेय है और वे श्रीविजय होकर चीन पहुँचे।[16]

व्यापारिक सम्पर्क तथा साहित्यिक प्रभाव

भारत मलय और इन्डोनेशिया के बीच व्यापारिक सम्पर्क बराबर कायम रहा। तुन-सुन के विषय में लिखा है कि यहाँ गंगा से पूर्व में स्थित विभिन्न देशों से व्यापारी आते थे। प्रतिदिन लगभग १ ० व्यक्ति पूर्व और पश्चिम से यहाँ की मंडी में आते थे और सब प्रकार के कीमती सामान की यहाँ बिक्री होती थी।[17] मलाया के वेलेजली प्रान्त में मिला महानाविक बुद्धगुप्त का लेख इस सम्बन्ध में विशेष महत्व रखता है। इसमें सिद्धयात्रा[18] की कामना की गयी है। भारतीय व्यापार से सम्बन्धित शब्दों का भी प्रयोग होने लगा था। पूर्णवर्मन् के चतुर्थ वर्ष में गोमती नामक नहर की लम्बाई ६ १२२ धनु[19] थी। ईत्सिंग के साथ में भारत से आ २ व्यक्ति आ रहे थे जिनका ध्येय व्यापार करना था। यातायात की असुविधाओं की उपेक्षा कर भारत और सुदूरपूर्व के इन देशों में व्यापारिक संपर्क के साथ-साथ सामाजिक सम्बन्ध भी स्थापित हो चुके थे। लंग-या-सु के

१५ बर्न, मैनवल आफ बुद्धिज्म पृ ११ ।

१६ ज इ हि ४ पृ ११६। जू ए ए ४ (१९२) पृ २७२।

१७ व्हीटलेन्ट गोल्डन पृ ११९। मजुमदार; 'सुवर्णद्वीप' पृ० १०५।

१८ जे ए स बी० १ (१९३५) पृ १४ से।

१९ सिद्धयात्रा से केवल सकुशल यात्रा होने का ही संकेत है। इसके अन्तर्गत किसी तांत्रिक भावना का समावेश नहीं है। इंडियन कल्चर (इ क) १४ पृ २ १ से।

धनु की लम्बाई ४ हस्त (हाथ) थी। मोनियर विलियम्स संस्कृत डिक्शनरी, पृ ५ ८।

से जहां बौद्धमत के अनुयायी थे वे क्रमशः पो-लु-षि मो-स-पु जो उस समय में (सुमात्रा) का श्रीविजय कहलाता था मो-हो-सिन (महासिन) हो-लिंग (जावा में) टन-टन (नट्टन-द्वीप) पन-पन पो-ली (बालि) कु-लन फो-षि पु-लो (भोजपुर) ओ-शन और मो-किअ-मन द्वीप थे। इनके अतिरिक्त कुछ और छोटे-छोटे द्वीपों का भी इत्सिंग ने उल्लेख किया है और वहां पर बौद्ध धर्म के हीनयान सम्प्रदाय के लोग रहते थे पर मलयु अथवा श्री भोज में महायान मत के मानने वाले भी थे।[12] भारत जाते समय श्री विजय में इत्सिंग ने ६ मास ठहर कर शब्दविद्या अथवा संस्कृत व्याकरण का ज्ञान प्राप्त किया था। लौटते समय वह यहां अधिक समय तक ठहरा और भारत से लाये हुए बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों की इसने प्रतिलिपि की तथा उनका चीनी में अनुवाद किया। उस समय वहां पर १ से ऊपर बौद्ध भिक्षु रहते थे और वे सदैव ही ज्ञान उपार्जन तथा अध्ययन में संलग्न रहते थे। वे उन सब विषयों का अध्ययन करते थे जो भारत के मध्यदेश में पढ़ाये जाते थे। इस चीनी यात्री का कथन है कि भारत में अध्ययन और ज्ञान के लिए जाने से पहले उस स्थान पर एक-दो वर्ष अध्ययन के कार्य में बिताना आवश्यक है। यहां पर युन-कि ता सिन चेन काऊ, ताओ हॉंग तथा अन्य चीनी यात्रियों ने स्थानीय भाषा (कवेन-लुएन) तथा संस्कृत का अध्ययन किया था। भारत जाते हुए चीनी यात्री हुई-निंग हो-लिंग में ठहरा था और ज्ञानभद्र नामक स्थानीय भिक्षु के सहयोग से उसने बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया।

श्रीविजय बौद्ध धर्म के महायान मत का प्रसिद्ध केन्द्र था। पेलेमबाग के निकट से प्राप्त श्री जयनाग (जयनाश) के ६८४ ई के लेख में कुछ महायान मत के सिद्धान्तों का उल्लेख है। इसमें प्रणिधान और क्रमिक रूप से बौद्धिक ज्ञान के साधनों का उल्लेख है जो क्रम से बोधि ज्ञान के विचार का पैदा होना ६ पार मिता का पालन अलौकिक शक्ति की प्राप्ति जन्म कर्म और क्लेशों पर विजय और अन्त में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है (अनुत्तरा सियक संबोधि)[13]। इसी लेख में 'वज्रशरीर' का उल्लेख महायान मत के वज्रायन स्वरूप का संकेतित है। इस मत

१२ मैमामार, पृ १०-११।
१३ वही देखिए, पृ ६ ६१ १५६, १८२, १८७।
१४ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ १२२ १४३।

चिह्नों शंख तथा उनके ऐरावत हाथी के उत्कीर्ण से प्रतीत होता है कि भारतीय देवताओं से सम्बन्धित कथाएं भी इन द्वीपों में पहुँच चुकी थीं। गोमती और चन्द्रभागा भारतीय नदियों के नाम हैं और इनका उल्लेख जावा के पूर्णवर्मन् के लेख में है। वहाँ के तुक-मुस नामक स्थान में भी संस्कृत के एक लेख में जो उपजाति छन्द में है एक झरने की तुलना गंगा से की गयी है। वहीं पर लेख के एक ओर शंख चक्र गदा तथा कुछ अन्य चिह्न तथा दूसरी ओर कमल परशु माला तथा कुम्भ अंकित हैं। मध्य जावा भी पश्चिमी जावा की भाँति ब्राह्मण धर्म से प्रभावित हो चुका था और यह चिह्न वैष्णव तथा शैव सम्प्रदायों से संबंधित हैं। ६५२ शक संवत् के जिंगो में मिले एक लेख में एक लिंग स्थापना का उल्लेख है तथा शिव ब्रह्मा विष्णु और सम्राट् की विद्वत्ता तथा जावा की प्रशंसा की गयी है। इस सम्बन्ध में चीनी वृत्तान्त भी महत्त्वपूर्ण है।

ब्राह्मण धर्म के अतिरिक्त इन द्वीपों में बौद्ध धर्म का भी प्रवेश बाद में हुआ। फाहियान के समय में जावा में ब्राह्मणधर्म फलफूल रहा था और बौद्ध मत के बहुत कम अनुयायी थे। चीनी यात्री के साथ में २०० और यात्री जावा आ रहे थे और वे सब ब्राह्मण मत के अनुयायी थे। जावा में बौद्ध धर्म फैलाने का श्रेय गुणवर्मन् को है जो मूल सरवास्तिवाद मत का अनुयायी था और उसने धर्म गुप्त सम्प्रदाय से संबंधित एक ग्रन्थ का अनुवाद किया था। मलाया के वलजली प्रान्त में मिले नाविक बुद्धगुप्त के लेख में प्रसिद्ध बौद्ध मन्त्र का उल्लेख है जो केडा के लेख में भी है। ईत्सिंग के समय तक बौद्ध धर्म इन द्वीपों में दूर-दूर तक फैल चुका था। उसके मतानुसार दक्षिणी सागर के १० से अधिक देशों में मूल सरवास्तिवाद निकाय सर्वथा मान्य था और कहीं-कहीं दूसरे बौद्ध मत के अनुयायी भी पाये जाते थे। इनमें से सम्मितिनिकाय रूपा था और मत के मानने वाले थे। पश्चिम की ओर

७. चटर्जी और चक्रवर्ती 'इंडिया एंड जावा' पृ २ से। तुगु के लेख। (पृ २६-२७) में चन्द्रभागा और गोमती का उल्लेख है।

८. छावड़ा ३ सं पृ ११।

९. इलियट, हिन्दूइज्म एंड बुद्धिज्म भाग ३ पृ १५४।

१० लेगि; फाहियान पृ १११ से।

११ बु ए २८ (१९११) पृ ४९।

भोजन पेय विचार इत्यादि तथा अन्य विषयों पर प्रकाश डालने के लिए सामग्री नहीं मिलती है।

धार्मिक व्यवस्था

पुरातात्त्विक अवशेष तथा लेख भारतीय धार्मिक परम्पराओं के पूर्णतया द्योतक है। ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित यज्ञ तथा उसमें स्थापित किये यूप स्तूपों का उल्लेख हमें बोर्नियो के मूलवर्मन् के लेखों तथा वहाँ पर प्राप्त स्तम्भों से मिलता है। तीन लेखों में से दूसरे मे मूलवर्मन् द्वारा बहुसुवर्णक यज्ञ का उल्लेख है। एक मे २ (अथवा १ २) गायों का दान तथा तीसरे में बहुदान जीवदान कल्पवृक्षदान तथा भूमिदान आदि का विवरण है जो ब्राह्मणों को दिये गये थे। ये सब दान सम्राट् ने वप्रकेश्वर के पुण्यतीर्थ पर दिये थे। यज्ञ तथा ब्राह्मणों को दिया हुआ दान संकेत करता है कि बोर्नियो ऐसे द्वीप में ब्राह्मण धार्मिक परम्परा का वैदिक अंग फल-फूल रहा था। जावा में पूर्णवर्मन् ने १ गायें ब्राह्मणों को दान मे दी। बोर्नियो में ब्रह्मा शिव गणेश नन्दी स्कन्द तथा महाकाल की मूर्तियाँ मिली।[6] साकार रूप में विष्णु शिव तथा अन्य देवी-देवताओं की उपासना के संकेत से प्रतीत होता है कि हिन्दू धर्म के पौराणिक अंग ने भी वहाँ स्थान बना लिया था। मलाया मे भी दुर्गा गणेश नन्दी तथा योनि की मूर्तियाँ मिली। विष्णु के पद

४ श्रीमूलवर्म्मा राजेन्द्रो यष्ट्वा बहुसुवर्णकम्।
तस्य यज्ञस्य यूपोऽयम् द्विजेन्द्रैस्सम्प्रकल्पितः ॥

कर्न ने इसकी समानता 'बहुहिरण्य-यज्ञ' से की है। (वी जी ७५ पृ ५५से) जो एक प्रकार का सोमयज्ञ था और जिसका उल्लेख रामायण में भी इसी नाम से है।

नित्यं प्रमुदिताः सर्वे यथा कृतयुगे तथा।
अश्वमेधशतैरिष्ट्वा तथा बहुसुवर्णकैः ॥ (बालकांड १ ९५)। तथा
अग्निष्टोमोऽश्वमेधश्च यज्ञो बहुसुवर्णकः।
राजसूयस्तथा यज्ञो गोमेधो वैष्णवस्तथा ॥

५ जावा के ए सो व २ (१९३५) पृ १९। 'अरिमिया एशियाटिका पृ ८९।

६ इसका उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है।

थे। यहाँ बौद्धमत के अनुयायी थे। वे क्रमशः पो-कु-लि, मो-ल-यु जो उस समय में (सुमात्रा) का श्रीविजय कहलाता था, मो-हो-सिन (महासिन), हो-लिंग (जावा में), टन-टन (मदुन-द्वीप), पन-पन, पा-ली (बालि), कु-लन, फो-शि पु-लो (भोजपुर), ओ-शान और मो-छिय-मन द्वीप थे। इनके अतिरिक्त कुछ और छोटे-छोटे द्वीपों का भी ईत्सिंग ने उल्लेख किया है और यहाँ पर बौद्ध धर्म के हीनयान सम्प्रदाय के लोग रहते थे, पर मलयु अथवा श्री भोज में महायान मत के मानने वाले भी थे। भारत जाते समय श्री विजय में ईत्सिंग ने ६ मास रह कर शब्दविद्या अथवा संस्कृत व्याकरण का ज्ञान प्राप्त किया था। लौटते समय वह यहाँ अधिक समय तक ठहरा और भारत से लाये हुए बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों की इसने प्रतिलिपि की तथा उनका चीनी में अनुवाद किया। उस समय यहाँ पर १ से ऊपर बौद्ध भिक्षु रहते थे और वे सदैव ही ज्ञान उपार्जन तथा अध्ययन में संलग्न रहते थे। वे उन सब विषयों का अध्ययन करते थे जो भारत के मध्यदेश में पढ़ाये जाते थे। इस चीनी यात्री का कथन है कि भारत में अध्ययन और खोज के लिए जाने से पहले उस स्थान पर एक-दो वर्ष अध्ययन के कार्य में बिताना आवश्यक है। यहाँ पर युन-कि, ता त्सिन, चन काऊ, ताओ हुंग तथा अन्य चीनी यात्रियों ने स्थानीय भाषा (कुवेन-लुएन) तथा संस्कृत का अध्ययन किया था। भारत जाते हुए चीनी यात्री हुई निंग हो-लिंग में ठहरा था और ज्ञानभद्र नामक स्थानीय भिक्षु के सहयोग से उसने बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया।

श्रीविजय बौद्ध धर्म के महायान मत का प्रसिद्ध केन्द्र था। पालेमबांग के निकट से प्राप्त श्री जयनाश (जयनाग) के ६८४ ई० के लेख में कुछ महायान मत के सिद्धान्तों का उल्लेख है। इसमें प्रणिधान और क्रमिक रूप से बौद्धिक ज्ञान के साधनों का उल्लेख है जो क्रम से बोधि ज्ञान के विचार का पैदा होना, ६ पारमिता का पालन, अलौकिक शक्ति की प्राप्ति, जन्म, कर्म और क्लेशों पर विजय और अन्त में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है (अनुत्तर विषयक संबोधि)[१४]। इसी लेख में 'वज्रशरीर' का उल्लेख महायान मत के वज्रायान स्वरूप का संकेतित है। इस मत

१२ मेमालार, पृ १०–११।
१३ वही वैदिक, पृ ६ ११ १५८ १८२ १८०।
१४ मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ १२२ १४३।

का प्रादुर्भाव ईसवी की सातवीं शताब्दी में बंगाल में हुआ और जिस तेजी से यह श्रीविजय पहुँच गया उसका मुख्य कारण भारत से विचारधारा का प्रसार था। जिन बौद्ध विद्वानों ने सुवर्णद्वीप में प्रवेश किया उनमें से सातवीं शताब्दी के नालन्दा विश्वविद्यालय के धर्मपाल तथा आठवीं शताब्दी के दक्षिणी भिक्षु वज्रबोधि उल्लेखनीय हैं।[15] वज्रबोधि और उसके शिष्य अमोघवज्र को तांत्रिक मत फैलाने का श्रेय है और वे श्रीविजय होकर चीन पहुँचे।[16]

व्यापारिक सम्पर्क तथा साहित्यिक प्रभाव

भारत मलय और हिन्देशिया के बीच व्यापारिक सम्पर्क बराबर कायम रहा। तुन-सुन के विषय में लिखा है कि यहाँ गंगा से पूर्व में स्थित विभिन्न देशों से व्यापारी आते थे। प्रतिदिन लगभग १ व्यक्ति पूर्व और पश्चिम से यहाँ की मंडी में आते थे और सब प्रकार के कीमती सामान की यहाँ बिक्री होती थी।[17] मलाया के वेलेजली प्रान्त म मिला महानाविक बुद्धगुप्त का लेख इस सम्बन्ध में विशेष महत्त्व रखता है।[18] इसमें सिद्धयात्रा[19] की कामना की गयी है। भारतीय माप-तोल से सम्बन्धित शब्दों का भी प्रयोग होने लगा था। पूर्णवर्मन् के चतुर्थ लेख में गोमती नामक नहर की लम्बाई ६,१२२ धनु[20] थी। ईत्सिंग के साथ में भारत से आ २ व्यक्ति आ रहे थे उनका ध्येय व्यापार करना था। यातायात की असुविधाओं की उपेक्षा कर भारत और सुदूरपूर्व के इन देशों में व्यापारिक संपर्क के साथ-साथ सामाजिक सम्बन्ध भी स्थापित हो चुके थे। लंग-य-सु के

१५. वर्ल्ड फेलोशिप आफ बुद्धिस्ट्स पृ ११ ।

१६. बु इ का ४ पृ ११६। जू ए ४ (१९२) पृ २४२।

१७ पोएमवेस्ट्ली मौड्ल, पृ ११९। मजुमदार; 'सुवर्णद्वीप' पृ १७५।

१८. जे ए स० बी १ (१९३५) पृ १४ से।

१९. सिद्धयात्रा से केवल सकुशल यात्रा होने का ही संकेत है। इसके अन्तर्गत किसी तांत्रिक भावना का समावेश नहीं है। ईडियन कल्चर (इ क) १४ पृ २ १ से।

२ धनु की लम्बाई ४ हस्त (हाथ) थी। मोनियर विलियम्स संस्कृत डिक्श री, पृ ५ ८।

विषय में कहा जाता है कि वहां के राजा का एक भाई अपने राज्य से बहिष्कृत कर दिया गया था और वह भारत आया जहां उसने किसी राजकुमार में विवाह किया।[२१]

भारतीय संस्कृति के साथ-साथ भाषा और साहित्य ने भी वहां अपना स्थान जमा लिया था। लेखों से यह विदित होता है कि वहां के निवासियों का संस्कृत भाषा और साहित्य में अच्छा ज्ञान था। श्रीविजय व मध्यदेश की भांति सभी विषय पढ़ाये जाते थे जैसा कि ईत्सिंग ने लिखा है। संस्कृत भाषा और सुन्दर छन्द से बद्ध लेख यहां की भाषा और साहित्य के प्रतीक हैं और इसमें सन्देह नहीं कि यहां से गये हुए विद्वानों ने वहां के साहित्यिक क्षेत्र में भी प्रगति दिखायी और उसका स्तर ऊंचा किया।

पर्याप्त सामग्री से सुदूरपूर्व के मलाया तथा हिन्देनेशिया के द्वीपों में भारतीय संस्कृति साहित्य सामाजिक आर्थिक तथा धार्मिक जीवन की केवल रूप-रेखा ही मिलती है। ईसवी की सातवीं शताब्दी तक सुदूरपूर्व में केवल छोटे छोटे भारतीय उपनिवेश ही थे। अभी विशाल साम्राज्यों का निर्माण होना बाकी था। हाँ उनकी नींव डाली जा चुकी थी। ७वीं शताब्दी के बाद जब साम्राज्य युग आरम्भ होता है और सम्पूर्ण देशों के नरेशों ने भारतीय संस्कृति के प्रवाह में पूर्णतया सहयोग प्रदान किया। इस द्वितीय चरण के आगमन ने लघुतर से विशाल वृक्ष का रूप लिया। जिसकी छत्रछाया में हिन्देनेशिया मलाया तथा हिन्द चीन के बड़े-बड़े राज्यों का उत्कर्ष हुआ।

२१ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ १२५।

द्वितीय भाग—चम्पा

यह राजा उस क्षेत्र पर राज्य कर रहा था जो आगे चल कर कौठार कहलाया। इस देश में भारतीयों का व्यापार के सम्बन्ध में बहुत पहले आगमन हो चुका होगा और उन्होंने परिस्थिति से लाभ उठाया। जिन हिन्दू राजाओं ने यहां पर राज्य किया उन्होंने अपने पूर्वज वंशों का उल्लेख नहीं किया है पर शक सं ७९७ के डोंग-दुओंग में मिले इन्द्रवर्मन् द्वितीय के लेख[५] में शिव द्वारा उरोज के भेजने का उल्लेख है। पो-नगर से मिले तीन और लेखों[६] मे विचित्रसगर का उल्लेख है जो द्वापर के ५९११ वर्ष में राज्य करता था और उसने वहां शिव के मुखलिंग की स्थापना की थी। इन वृत्तान्तों में ऐतिहासिक तथ्य नहीं है पर इतना मानना पड़ेगा कि श्री मार से पहले भारतीय यहां आय थे और इस व्यक्ति ने परिस्थिति से लाभ उठा-कर अपने को राजा घोषित कर दिया। चीनी सूत्रों में[७] यहां के राजा के नाम के आगे 'फन' लगा है जिससे 'वर्मन्' का संकेत है और विद्वानों ने कुछ चीनी नामों व लेखों में मिले राजाओं से समानता की है। चम्पा के प्रथम हिन्दू राजाओं का इतिहास चीन के साथ संघर्ष तथा घरेलू युद्ध की लड़ाई का इतिहास है।

२२०—२१ ई में चम्पा के राजा ने किआओ-चे के चीनी शासक के अनुरोध पर एक दूत भेजा। २४८ ई में चम की सेना ने अपने सामुद्रिक बेड़े की सहायता से चीनी क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया और किआओ-चे (हनोई) पर अधिकार भी कर लिया। अन्त में सन्धि होने पर किऊ-सो का भाग (वर्तमान थुआ-थिएन) चम्पा के राजा को मिल गया। चीनी स्रोतों के अनुसार ईसवी २७०-२८ में फन-हिगोंग (कदाचित् श्रीमार का वंशज) उत्तर में अपनी सीमा बढ़ाना चाहता था और इसमें उसने फुनान के राजा की भी सहायता ली। चीन से उसका दस वर्ष

५ वही सं ११ पृ ७४ से।

६ मजुमदार, चम्पा सत्यवर्मन् का शक सं ७ ६ का लेख सं २२ पृ ४१ से। विक्रान्तवर्मन् द्वितीय का लेख सं २९, पृ ६७ से। जयवर्मन् तृतीय का शक सं १ ६५ का लेख सं ७१ पृ १७० से। मासपेरो, चम्पा पृ ४३ से।

७ बु इ फ्रा ४ पृ १९४। मजुमदार, चम्पा पृ २१।

८ मजुमदार, चम्पा पृ २२। मासपेरो के मतानुसार किऊ-सो राजधानी और उसके दक्षिण का भाग चमों को मिल गया। उत्तरी भाग पर चीनी अधिकार कायम रहा। बु इ फ्रा १८ सं ३ पृ २४ २५।

ति-चेन और गंगराज

फन-हू-ता के बाद उसका पुत्र ति-चेन ४१३ ई. में गद्दी पर बैठा।[१२] इसकी समानता मासपेरो ने गंगराज से की है जिसका उल्लेख माइसोन के प्रकाशधर्म के शक सं. ५७९ के लेख[१३] में मिलता है जिसमें उसकी वंशावली भी दी गयी है। गंगराज ने अपना सिंहासन त्याग कर गंगा (जाह्नवी) की शरण ली थी और चीनी स्रोतों के अनुसार ति-चेन अपने भतीजे के हाथ में राज्य की बागडोर सौंपकर भारत चला गया था। कुछ समय तक घरेलू युद्ध चलता रहा और अन्त में फन-यंग माई ४२० ई. में राजा घोषित हुआ। इसके तथा इसके पुत्र यंग-माई द्वितीय के समय में चीन के साथ संघर्ष चलता रहा। ४४६ ई. में चीनी सेनापति ने चम्पा के प्रसिद्ध गढ़ कियो-सू पर जिसके अवशेष हुए के दक्षिण पूर्व में पाये जाते हैं घेरा डाल दिया। चीनी सेना को बराबर सफलता मिलती गयी और अन्त में तम-हो-ये चम्पापुर आया जहां उसने बहुत-सी मूर्तियों का विध्वंस किया और हजारों मन सोना उसे मिला। फन-यंग-माई की दुखद अवस्था में ४४६ ई. में मृत्यु हो गयी। उसके बाद क्रमशः उसके पुत्र और पौत्र गद्दी पर बैठे और वे बराबर चीनी सम्राट् को भेंट भेजते रहे। पौत्र फन-शेन-चेंग की मृत्यु के पश्चात् फन-तग-केन-च्युन अथवा किओ-चेऊ-लो नामक व्यक्ति ने देश पर अधिकार कर लिया। वह फनान के राजा जयवर्मन् का पुत्र था और वहां से कोई अपराध कर यहां भाग आया था। जयवर्मन् ने अपने पुत्र के विरुद्ध चीनी सम्राट् के पास भिक्षु शाक्य नागसेन को पत्र लेकर भेजा था। चीनी सम्राट् ने चम्पा की आन्तरिक परिस्थिति में हस्तक्षेप करना उचित न समझा और उसने वहां के राजा को मान्यता प्रदान की तथा बहुत-सी उपाधियों से विभूषित किया। ४८१ ई. और ५२७ ई. के बीच में चम्पा में चार और राजाओं ने राज्य किया। फन-चाऊ-नोंग फन-यंग-माई द्वितीय का प्रपौत्र था और ४९२ ई. में उसने जयवर्मन् के पुत्र को

१२. चीनी स्रोतों में फन-हू-त के बाद की वंशावली विवादास्पद प्रतीत होती है। (बु. इ. फ्रा. ४ पृ. ३८९, नोट ९)।

१३. मजुमदार, चम्पा, नं. १२ पृ. १६ से। मासपेरो, चम्पा पृ. १४।

१४. वही, पृ. ११ मासपेरो।

१५. पिलियो बु. इ. फ्रा. ३ २५७ से।

भांति चीनी सम्राट की ओर से सम्मान प्राप्त किया था। उसके समय में ४९२ और ४९५ में राजदूत चीन भेजे गये। ४९८ में उसकी मृत्यु के पश्चात् क्रमशः उसके पुत्र फन-येन-सुवन चीन फन-तिएन्न तथा प्रपौत्र विजयवर्मन् ने राज्य किया। चीन फन तिएन-काई की समानता रुद्रवर्मन् से की गयी है। और उसके समय में ५१ ५१२ और ५१४ ई म चीन दूत भेजे गये। इस वंश के अंतिम सम्राट् विजयवर्मन् के समय में भी ५२६ और ५२७ में दूत चीन गये।

१६. ईसवी की दूसरी शताब्दी से विजयवर्मन् के समय (५२०-५२९ ई) तक की वंशावली इस प्रकार से दी गयी है।

प्रथम वंश (१९२, ३३६ ई)
श्री मार (बो-चन का लेख)
चयुमिअम (१)

बो-चन लेख के निर्माता के वंशज

कन्या
(२) फन-हियोंग (लगभग २७०-२८ ई)
(३) फन-यि (२८ ई से ३३६ ई)
(४) फन-वेन (सेनापति ने ३ का (३३६ ३४९ ई) द्वितीय वंश (३३६ ४२ ई)
(५) फन-फो (३४९ ३८ ई)
(६) फन-हू-त (३८०-४१३ ई) (भद्रवर्मन)
(७) ति-चेन (४१३ से ४१५ ई)
(मंत्रिराज ने सिंहासन त्याग किया)
(४१५ से ४२ ई अरेतू पुत्र)
तृतीय वंश (४२ से ५२८ ई)
(८) फन-यंग माई (४२ से ४२५ ई)
(९) फन-यंग-माई (द्वितीय) (४२५ ४४६ ई)
(१) फुन अज्ञात (४४६ से ४५४ ई)
(११) फन-येन-चेंग (४५४ से ४८ ई)

गंगराज के वंशज (५२९ से ९८६ तक)

मान्सोन के लेख में[17] गंगराज के वंशजों का उल्लेख है। यह लेख शक संवत् ५७९ का प्रकाश धर्म के समय का है। इसमें उसके ईशानेश्वर धंमुगुप्तेश्वर और प्रभारेश्वर देवताओं के प्रति दिये गये दानों का उल्लेख है। सर्वप्रथम गंगराज का उल्लेख है जिसने अपना राज्य त्याग कर गंगा (जाह्नवी) की शरण ली थी। दूसरा राजा मनोरथवर्मन् था पर उसके और गंगराज के सम्बन्ध पर इस लेख में कोई प्रकाश नहीं मिलता। मनोरथवर्मन् की कन्या का दौहित्र रुद्रवर्मन् था। इस प्रकार उसका विजयवर्मन् के साथ कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता है। गंगराज के इस वंश के साथ सम्बन्ध का पता विक्रान्तवर्मन् द्वितीय के माइसोन के लेख से भी चलता है[18] जिसमें प्रकाशधर्म सम्राट् को गंगेश्वर का वंशज कहा गया है। इस प्रकार गंगराज के इन वंशजों का संबंध उसी से सम्बन्ध था क्योंकि वंशावली में गंगराज वंश के अन्य राजाओं का उल्लेख नहीं है जिनका चीनी स्रोतों में वर्णन मिलता है। प्रकाश धर्म तथा शम्भुवर्मन् के लेखो में[19] रुद्रवर्मन् का उल्लेख मिलता है। शम्भुवर्मन् के लेख में भद्रवर्मन् द्वारा स्थापित भद्रेश्वर स्वामि के मन्दिर में जो अग्नि से शक स ४ से ऊपर काल (दहाई और इकाई नहीं है) में नष्ट

(१२) अनभिज्ञात शासक फन-तोंग-केन चुएन अथवा किओ-चेन-लो (४८ से ४९१ ई०)

(१३) फन-चाउ-नौंग (४९१ से ४९८ ई०) (नं० १ का प्रपौत्र)

(१४) फन-वेन कुवन (लगभग ५ से ५ ८ ई० तक)

(१५) फन-तिएन-काई (देववर्मन्) लगभग ५ ८ से ५२ तक।

(१६) पि-इस-अप-प-मों (विजयवर्मन्) लगभग ५२ से ५२९ तक।

१७. मजुमदार, चम्पा नं० १२, पृ० १६ से।
१८. वही, नं० २ पृ० ३ से।
१९. वही, नं० १२ तथा ७।

हो गया था पुन: शम्भुभद्रेश्वर की मूर्ति की स्थापना की और इसके हेतु भद्रवर्मन् द्वारा पूर्व किये गये भूमिदान की पुष्टि की। रुद्रवर्मन् का राज्यकाल शक सं ४ १ से ४९९ के बीच में रखना चाहिए (४७९–५७७ ई)। इस सम्बन्ध में इसकी समानता चीनी स्रोतों में उल्लिखित काओ-चे-को-लो-को-पा-मो-कु, भी रुद्रवर्मन् से की गयी है जिसने ५२९ तथा ५३४ ई में चीन के सम्राट् के पास भेंट भेजी। ५४१ म एक चीनी प्रान्तीय शासक ली-बो के जिसने अपने को टोंकिन का शासक घोषित किया था विरुद्ध इसने चीनी सम्राट् का पक्ष लेकर सेना भेजी, पर ली-बो के सेनापति ने इसे हरा दिया। कदाचित् रुद्रवर्मन् ने ५७२ ई तक राज्य किया होगा और उसीने ५६८ तथा ५७२ ई में अपने राजदूत चीन भेजे।[२०]

प्रकाश धर्म

रुद्रवर्मन् के बाद उसका पुत्र प्रशस्तधर्म शंभुवर्मन् के नाम से चम्पा के सिंहासन पर बैठा। चीनी स्रोतों में उसे फन-चे कहा गया है। इस शासक के माइसोन के लेख[२१] से पता चलता है कि इसने पुन: भद्रवर्मन् द्वारा स्थापित मन्दिर में शंभुभद्रेश्वर की मूर्ति स्थापित की। चीनी स्रोत के अनुसार वहाँ की बिगड़ती परिस्थिति से इसने लाभ उठाना चाहा और ५९५ ई तक भेंट भेजना बंद कर दिया। उधर चम्पा की विशाल सम्पत्ति की ओर चीन की आँखें लगी हुई थीं। लिऊ-फंग को सुई सम्राट् ने टोंकिन क्षेत्र जीतने के लिए भेजा। वह चम्पा तक बढ़ आया और ६ ५ ई म चीनियों ने शंभुवर्मन की सेना को बुरी तरह हराया और प्राय: १ बन्दी बनाये। शंभुवर्मन् समुद्र के मार्ग से भाग गया और चीनी सेना ने आगे बढ़ कर राजधानी को लूटा निवासियों को बन्दी बनाया तथा १८ पूर्व सम्राटों का

२० मास्पेरो, चम्पा, पृ ८१ नोट ४। सिडो, ए हि पृ १२१। इसके उत्तराधिकारी शंभुवर्मन् की मृत्यु ६२९ ई में हुई, और यदि रुद्रवर्मन् का राज्यकाल ५७२ ई तक माना जाय तो शंभुवर्मन् का राज्य-काल बहुत लम्बा हो जाता है। अतः ५६८ और ५७२ ई में भेजे गये राजदूतों को रुद्रवर्मन् के राज्यकाल में रखना ही ठीक होगा।

२१ मास्पेरो, 'चम्पा' पृ ८१ से।

२२ मजुमदार 'चम्पा' भा ३, पृ ९ से।

संभवत सोमा १२५० बौद्ध ग्रन्थ और फूनान से आये कुछ गायकों को जो भारतीय पालन-विद्या में निपुण थे वह चीन ले गया।[23] उसके जाने पर शम्भुवर्मन पुनः वापस आया और उसने चीनी सम्राट् से भेंट देकर क्षमा-याचना की। चीन में तांग-वंश की स्थापना (६१८ ई०) के बाद उसने बराबर ६२१ ६२५ और ६२८ में अपने राजदूत चीन भेजे। कम्बुज के राजा महेन्द्रवर्मन् के साथ भी इसका मैत्री-पूर्ण व्यवहार था और उसने अपना एक मंत्री सिंहदेव चम्पा भेजा था।[24]

कन्दर्प और प्रकाश धर्म

६२९ ई० में शम्भुवर्मन् के बाद उसका पुत्र कन्दर्पधर्म (फन-टिय-ची) गद्दी पर बैठा। इसका राज्यकाल शान्ति से बीता और इसने दो राजदूत ६३ ६३१ में भेंट लेकर चीनी सम्राट् ताइ-त्सुंग के पास भेजे।[25] माइसोन के प्रकाश धर्म के लेख में इसे धर्म का अवतार कहा गया है। श्रीमान् कन्दर्पधर्मेति प्रख्यातधर्म हृत्पट:।[26] कन्दर्प के बाद उसका पुत्र प्रकाशधर्म (फम-चेन-लोंग) गद्दी पर बैठा। उसके एक छोटी बहन थी जो सत्य कौशिक स्वामी को ब्याही थी। सत्य कौशिक स्वामी के विषय में चीनी स्रोतों से पता चलता है कि वह सम्राट् फन-टियू-ची का जामाता था और ब्राह्मण था। ६४५ ई० में प्रकाश धर्म और उसके वंशजों के वध के पश्चात् इसे सम्राट् चुना गया पर शीघ्र ही इसे सिंहासन से हटा दिया गया और फन-टियू-ची (कन्दर्प) की पुत्री को गद्दी पर बैठाया गया। वह परिस्थिति पर काबू न पा सकी और इसलिए सभासदों ने कम्बुज से कन्दर्प की बुआ के लड़के 'पाओ-को-ति' को बुलाया जहाँ उसका पिता कोई अपराध कर भाग गया था। इसने ६५३ ई० में चीन में राजदूत भेजा।[27] चीन के और लेखों के आधार पर हम प्रकाशधर्म के वध के पश्चात् चम्पा की राजनीतिक परिस्थिति को इस प्रकार वर्णित कर सकते

२३ मासपेरो 'चम्पा' पृ ८४। बिब्लियो बु इ फ्रा० ४ पृ ९१०-९११।

२४ सिडो ए हि पृ १२१ २९।

२५ वही।

२६ मजुमदार, 'चम्पा' नं १२, पृ १७ पंक्ति।

२७ मजुमदार, 'चम्पा' पृ ३९। बु इ फ्रा ४ ९ १-२। सिडो ए हि पृ १२२। मासपेरो, 'चम्पा' पृ० ८९ तथा नोट १।

है।[28] चम्पा की राजनैतिक परिस्थिति में कम्बुज राजाओं का बड़ा हाथ था। सत्य कौशिक स्वामी ने कम्बुज से आकर चम्पा में लगभग ८ वर्ष (६४५ से ६५३) तक राज्य किया। लेखों में इसके पुत्र भद्रेश्वरवर्मन् तथा पौत्र जगद्धर्म का भी उल्लेख है जिसने कम्बुज सम्राट् ईशानवर्मन की पुत्री शर्वाणी से विवाह किया था। इसका पुत्र प्रकाशधर्म विक्रान्तवर्मन् ६५७ ई० में राजगद्दी पर बैठा जैसा कि उसके लेखों से प्रतीत होता है। उसका प्रथम लेख[29] शक संवत् ५७९ या ६५७ ई० का है जो माइसोन मन्दिर की एक फलक पर लिखा है और इसमें ईशानेश्वर शम्भुभद्रेश्वर तथा प्रभासेश्वर देवताओं के प्रतिष्ठापना का उल्लेख है। एक अन्य लेख में[30] कुबेर के प्रति दिये गये दान का उल्लेख है। उसी स्थान से प्राप्त शक सं० ६०९ या ६८७ ई० में इसी सम्राट् द्वारा ईशानेश्वर के प्रति एक कोष और भद्रेश्वर के लिए एक मुकुट के दान का उल्लेख है। प्रकाश धर्म का एक छोटा लेख[31] लाई चम सन

२८. डा० मजुमदार ने अपनी पुस्तक में चीनी स्रोतों तथा लेखों से प्राप्त सूचनाओं की समानता दिखाने का प्रयास किया है तथा उनके मतानुसार इस प्रकार वंशावली है। चम्पा पृ० ४२।
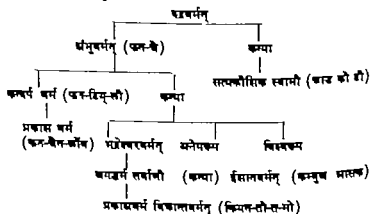
शम्बर्मन्
- शंभुवर्मन् (फन-चे)
  - कन्दर्प धर्म (फन-तिम्-ली)
    - प्रकाश धर्म (फन-चेन-लौंग)
  - कन्या
    - भद्रेश्वरवर्मन्
      - जगद्धर्म शर्वाणी (कन्या) ईशानवर्मन् (कम्बुज शासक)
        - प्रकाशधर्म विक्रान्तवर्मन् (क्रियन-तो-त-मो)
    - मनोरथवर्मन्
    - विश्ववर्मन्
- कन्या
  - सत्यकौशिक स्वामी (कम्बु को ही)

२९. मजुमदार, 'चम्पा' नं० १२।

३० वही नं० १४।

३१ वही नं० १५।

गुफा में मिला जिसमें शिव की उपासना की चर्चा है। इसके लगभग ३ वर्ष के लम्बे राज्यकाल में चीन के साथ शान्तिमय सम्बन्ध स्थापित रहा और इसने ६५७ ६६९, ६७ और ६८६ में भेंट के साथ राजदूत चीन भेजे।

नरवाहन और विक्रान्तवर्मन् (द्वितीय)

चीनी स्रोत के अनुसार ७१३ और ७३१ ई. में चम्पा के राजा किअन-त-तो-मो ने चीनी सम्राट् को भेंट देने के लिए राजदूत भेजे। इस चीनी नाम की समानता विक्रान्तवर्मन् से की गयी है।[12] इससे प्रकाशधर्म विक्रान्तवर्मन् का संकेत नहीं हो सकता अन्यथा उसका शासन-काल ७५ वर्ष के लगभग हो जाता है जो अधिक है। इसी लिए इसे विक्रान्तवर्मन् द्वितीय मानना चाहिए। इन दोनों विक्रान्तवर्मनों के बीच में नरवाहनवर्मन् नामक एक और राजा हुआ जिसका उल्लेख शक संवत् ६५१ के विक्रान्तवर्मन् द्वितीय के लेख में मिलता है। इसमें शम्भुवर्मन् द्वारा एक वेदी के निर्माण का उल्लेख है और नरवाहन ने इस वेदी के बाहरी भाग को सुवर्ण और चांदी से मढ़वाया था। अन्त में विक्रान्तवर्मन् द्वारा ६५३ शक संवत् में लक्ष्मी की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है।[1] कदाचित् नरवाहन ने ६८७ ई. के बीच मे राज्य किया हो।

चीनी स्रोतों के अनुसार चम्पा के इन राजाओं के समय में बहुत से राजदूत भेंट लेकर चीन गये। विक्रान्तवर्मन् (किअन-त-तो-मो) ने ७१२ और काउ-तो-लो ने ७४९ ई. में दूत भेजे। विक्रान्तवर्मन् द्वितीय के बाद रुद्रवर्मन् सिंहासन पर बैठा जिसने ७४९ में चीन दूत भेजा। उसकी मृत्यु कदाचित् ७५७ ई. में हो गयी और उसके बाद से भगवंशज रुद्रवर्मन् प्रथम और उसके राज्याधिकारियों का राज्य काल समाप्त हुआ। इनके लेखों से प्रतीत होता है कि इनका साम्राज्य हुए, नम हुआ और थो-बिन्ह तथा माइ-सोन क्वाङ-नम तक सीमित था। रुद्रवर्मन् के पश्चात् कौठार प्रान्त पर पंडुरंग राजाओं का आधिपत्य आरम्भ होता है।

१२ मास्पेरो, चम्पा, पृ ९२-९३।
११ मजुमदार, चम्पा नं ३१।
६

अध्याय २

पंडुरंग वंश, (भृगुवंश) अनम के साथ संघर्ष से पूर्व

(ई० ७७८-९७ तक)

चम्पा के इतिहास का द्वितीय चरण पंडुरंग वंश के राजा पृथ्वीन्द्रवर्मन् से आरम्भ होता है। इस युग में उत्तर की चम्पा नगरी तथा क्वांग-नम प्रान्त के स्थान पर अब दक्षिण का कौठार नह त्रंग और पंडुरंग (फान रंग) राजनीतिक केन्द्र बन जाता है। इससे यह न समझना चाहिए कि चम्पा राज्य की सीमा घट गयी थी अथवा चीनियों का दबाव उत्तर में अधिक पड़ने लगा था जिसके फलस्वरूप चम राजाओं को दक्षिण की ओर हटना पड़ा। वास्तव में पंडुरंग राजाओं ने अपने को सम्पूर्ण चम्पा का अधिकारी घोषित किया है (चम्पाम् च सकलां भुक्त्वाप एव परमो नृपः)।[1] चीनी स्रोत के अनुसार इस नये राज्य को होअन-वंग कहकर संबोधित किया गया है। इस वंश में राजाओं को उनकी मृत्यु के बाद एक नया नाम दिया जाने लगा क्योंकि धारणा यह थी कि उन सम्राटों में देवत्व अंश प्रधान था और इस लोक में शासन करने के बाद वे अपने देवत्व स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं, तथा उसी देव में उनकी आत्मा प्रवेश कर जाती है। इसी लिए पृथ्वीन्द्रवर्मन् के लिए 'रुद्रलोक' और सत्यवर्मन् के लिए ईश्वरलोक का प्रयोग किया गया है।[3]

१ मजुमदार, 'चम्पा' लॉ-कमोव लेख नं० २४ पृ० ४२, पद ३। प्रकाशधर्म ने भी अपने को 'चम्पेश्वरो विजयी महीपतिः' घोषित किया है (नं० १ पृ० १५)।

२ मास्पेरो, चम्पा पृ० ९५। मास्पेरो ने अपने ग्रन्थ में इस वंश का नाम पांडुरंग दिया है। सिदो (ए० हि० पृ० १९३) तथा मजुमदार ने पंडुरंग लिखा है। यहाँ पर इसका पंडुरंग नाम दिया गया है।

३ लॉ-कमोव के लेख में इस शासक को रुद्रलोक के नाम से सम्बोधित किया गया है (रुद्रलोकमगामनृपः)। मजुमदार इस मत से सहमत नहीं हैं व उनके

इस युग में चम्पा को केवल चीन ही से भय न था। लेखों में जावा से आये हुए उन लुटेरों का भी उल्लेख है जिन्होंने यहां के मन्दिरों को लूटा और जलाया तथा मूर्तियों को उठा ले गए। यहां के सम्राटों ने पुनः मन्दिरों में मूर्तियां स्थापित कीं।

पृथ्वीन्द्रवर्मन्—सत्यवर्मन्

पंडुरंग वंश का प्रथम राजा पृथ्वीन्द्रवर्मन् था जिसने अपनी शक्ति से ही अपना राज्य निर्माण किया था और शत्रुओं को हराकर अपना प्रभाव स्थापित किया था (इति लोके स भुनक्ति भूमि यशसा च निर्जित्य रिपून् हि सर्वान्। २४ पृ २)। चीनी स्रोत के अनुसार जावा की ओर से चम्पा पर ७६७ ई में आक्रमण हुआ था। पृथ्वीन्द्रवर्मन् ने देश की बिगड़ी हुई परिस्थिति और विदेशी आक्रमण को रोकने में प्रमुख भाग लिया होगा और कदाचित् इससे लाभ उठाकर स्वयं राजा बन गया होगा। उसके वंशजों के लेखों में उसके भुजबल और पुरुषार्थ द्वारा शत्रुओं को हराकर अपना राज्य स्थापित करने के अतिरिक्त और कोई वृत्तान्त नहीं मिलता है। इसके बाद इसकी बहिन का ज्येष्ठ पुत्र सत्यवर्मन् ७७४ ई में गद्दी पर बैठा (तस्यैव भागिनेयोऽभवत् श्रीमान् वीरतमो नृपः)। इसके राज्यकाल का इतिहास इसके अपने शक संवत् ७ ६ (७८४ ई) के पो-नगर के लेख तथा इसके छोटे भाई इन्द्रवर्मन् के ग्ली-लमोव तथा भांजे विक्रान्तवर्मन् के पो-नगर वाले लेखों से मिलता है। पो-नगर के इसके लेख के अनुसार शक सं ६९६ में दूसरे नगरों के काले रंग वाले

विचार से पृथ्वीन्द्रवर्मन् को राज्य अर्पण किया गया था। मजुमदार, चम्पा, पृ ४९, नोट १।

४ मजुमदार, चम्पा, लेख नं २२ पृ ४२। नं २३ पृ ४४। यह भारतीय भावना 'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति' के निकट है और इसका विकास कम्बुज देश में भी हुआ। 'देवराज' मत का यह भी एक अंग थी।

५ वही नं २४ पद २।

६ इंग-याओ १९१ पृ ५५। मजुमदार, चम्पा, पृ ५।

७ मजुमदार चम्पा नं २२ पृ ४१ से।

८ वही नं २४ पृ ५१ से।

९ वही, नं २०, पृ ६७ से।

(कृष्णश्मश्रुमुखैः) व्यक्ति जिनका अति निकृष्ट भोजन था और जो यम की भाँति बड़े क्रूर थे (काकोपमपापसत्त्वैः) जहाजों में आये (नौयानैः) और मन्दिर में आग लगाकर मूर्तियाँ उठा ले गये। श्री सत्यवर्मन् ने अपने अच्छे जहाज (सुपोत) में वीर पुरुषों और सैनिकों सहित उनका पीछा किया और उनको सामुद्रिक युद्ध में हराकर उनका वध कर डाला। पर शिवमुख तथा अन्य सामग्री उन्होंने समुद्र में फेंक दी। अतः शक सं ७ ६ (७८४ ई) में सम्राट् ने पुनः एक शिव-मुख लिंग की मूर्ति और गणेश की मूर्ति स्थापित की और मन्दिर के लिए बहुत-सी भूमि का दान भी दिया। इसके अतिरिक्त इसके राज्यकाल की और कोई घटना नहीं है। कदाचित् इसने ७८५ ई तक राज्य किया और इसके बाद इसका छोटा भाई इन्द्रवर्मन् सिंहासन पर बैठा।

इन्द्रवर्मन्

ग्लै-कमोव के लेख के अनुसार इन्द्रवर्मन् पृथ्वीन्द्रवर्मन् का भाजा था। इसका प्रथम लेख शक सं ७२१ का यंग-तिकुह, रनग पहाड़ी के निकट फनरंग के ग्राम में मिला। इसके अनुसार शक सं ७ ९ (७८७ ई) में जावा की सेना ने समुद्र के मार्ग से आकर भद्राधिपतीश्वर नामक शिवमन्दिर को नष्ट किया (जावा-[illegible])। इन्द्रवर्मन् ने मन्दिर का पुनः निर्माण किया और इन्द्रभद्रेश्वर नामक शिवमूर्ति की स्थापना की। इस लेख में इसे 'महाराज-प्रधान' की उपाधि प्रदान की गयी है तथा अपने सुचारु शासन से वर्णाश्रम व्यवस्था सुव्यवस्थित रखने का भी श्रेय इसे दिया गया है (वर्णाश्रम-व्यवस्थितिस्थितसुरनरगणोदारराज्यपाल्यार्थीत्)। इसकी तुलना विष्णु से भी की गयी है। इन्द्रभद्रेश्वर की मूर्ति स्थापना तथा उससे सम्बन्धित दान के अतिरिक्त इसने वीरपुर में इन्द्र भोगेश्वर तथा इन्द्र परमेश्वर की प्रतिमाएं स्थापित की और बहुत-सा दान दिया। इसने शंकर-नारायण की संयुक्त मूर्ति की भी स्थापना की और उसके लिए भूमि तथा द्रव्य दान में दिया। इस सम्राट् के चीन के साथ सम्बन्ध पर यंग-तिकुह के लेख से कुछ प्रकाश पड़ता है। इसमें इसकी चारों दिशाओं में विजयों का उल्लेख

१ वही, नं २१ पृ ४४ से।
११ नं २४ व पृ ५४ से।

है।[12] मास्पेरो ने इस आधार पर इसके चीन से सघर्ष का संकेत किया है।[13] डा० मजुमदार इस मत से सहमत नहीं हैं। इसने चीनी सम्राट् को ७९३ ई० में बारहसिंगों और बैलों की भेंट भेजी थी। इसने ८०१ ई० तक राज्य किया।[14]

हरिवर्मन्

इसके बाद इसका बहनोई हरिवर्मन् सिंहासन पर बैठा।[15] इसका पूरा नाम वीर जय श्री हरिवर्मदेव था और इसके लेखों में इसे 'राजाधिराज श्री चम्पापुर परमेश्वर' की उपाधि दी गयी है। इसके लेखों में पो-नगर का शक सं० ७३५[16] (८१३ ई०) तथा यहीं का ७३९ (८१६-७ ई०) तथा म्लै-क्लोंग-गराइ का एक अनिश्चित तिथि का लेख है। इसके समय में चीन तथा कम्बुज देशों से युद्ध हुआ। पो-नगर के प्रथम लेख में केवल इसका विजयी कहा गया है और इसके सेनापति पत्रो का उल्लेख है। यहीं से प्राप्त दूसरे लेख में चम्पा के इस राजाधिराज द्वारा चीन को पराजित करने का उल्लेख है। अपने बाहुबल से मार्तण्ड के रूप में इसने चीनी अन्धकार को हटा दिया (मार्तण्डरो-र्दोर्दण्डतापचीनतामिस्र विजयश्री नारायणमूर्ति)। इसका पुत्र विक्रान्तवर्मा को 'सर्वोत्तम' कहा गया है। चीनी स्रोत के अनुसार[17] जनवरी ८०३ ई० में चम्पा के एक राजा ने हो-अन और ट-ई नामक दो चीनी जिलों पर अधिकार कर लिया और ८०९ में पुन: आक्रमण किया। किन्तु चीनी प्रान्तीय

12 स श्रीमान् नृपतिस्तदा विजयते भूयो रिपस्तस्ततः। मजुमदार, चम्पा पृ० ४५ १।

13 चम्पा, पृ० १०२।

14 मजुमदार, चम्पा पृ० ५२ से।

15. सिडो ए० हि० पृ० १६५।

16. मास्पेरो चम्पा, पृ० १०५, नोट ३। सिडो, ए० हि० पृ० १७८।

17 मजुमदार चम्पा लेख नं० २५।

18 यही नं० २६।

19 यही नं० २७।

20 सिडो, ए० हि० पृ० १७८। मास्पेरो चम्पा, पृ० १०२ तथा नोट ३। यह प्राचीन वे-नम क्षेत्र था।

शासक ने उसे हराकर वहां के निवासियों को चम की सहायता करने के लिए कठिन दंड दिया। यह चम राजा इन्द्रवर्मन् ही होगा। इसने अपने पुत्र विक्रान्तवर्मन् को पंडुरंग का क्षेत्र शासन करने के लिए सौंप दिया और उसके संरक्षक के रूप में सेनापति पार को नियुक्त किया। इस सेनापति ने कम्बुज देश पर आक्रमण कर वहां के नगरों को नष्ट। इसका उल्लेख पो-नगर के लेख में मिलता है (आक-म्बुजार्यमाखिल मुनीबसा[21]) ८१७ ई में इसने तीन नये मन्दिरों में लिंग विनायक और श्री मलवा कुठार की स्थापना की और महाभगवती के लिए सुवर्ण रजत तथा मणि इत्यादि का दान दिया।[22] इसका राज्यकाल लगभग ८ ई से ८२ तक रखना चाहिए।[23]

विक्रान्तवर्मन्

यह पंडुरंग वंश का अन्तिम सम्राट् था और सत्यवर्मन् एवं इन्द्रवर्मन् का भांजा था। इसके चार लेख[24] पो-नगर में मिले जिनमें अन्तिम शक सं ७७१(८५ ई) का है। इन सबमें केवल इसके द्वारा दिये गये दानों का उल्लेख है। विक्रान्त रुद्रेश्वर तथा विक्रान्त देवाधिपतीश्वर के प्रति दिये गये दान का उल्लेख शक सं ७७६(८५४ ई) के लेख में मिलता है। विक्रान्तवर्मन् तृतीय के बाद चम्पा राज-लक्ष्मी इस वंश को छोड़कर दूसरे वंश में चली गयी।

भृगुवंश

पंडुरंग वंश के राजाओं के बाद भृगुवंश[25] के राजाओं ने चंपा में राज्य किया।

२१ मजुमदार, चम्पा लेख नं २६, पृ ४२।

२२ वही पृ ४२ ४४।

२३ हरिवर्मन् के लेखों की तिथि ८१३ तथा ८१७ ई है। चीनियों के साथ इसका संघर्ष ८ ३ ई में हुआ था और इन्द्रवर्मन् की अन्तिम तिथि ७९९ ई है। अतः ८ ई के लगभग इसके सिंहासनारूढ़ होने का समय निर्धारित किया जा सकता है (मजुमदार, चम्पा पृ ५३)। इसके सेनापति द्वारा पो-नगर के मन्दिर का निर्माण काल ८१७ ई है। अतः इसकी अन्तिम तिथि ८२ ई रखी जा सकती है। सिडो, ए हि १७८।

२४ मजुमदार, चम्पा लेख नं ९९ अ ब तथा स और द पृ ६७, ७१।

२५ जयसिंह वर्मन् के डोंग-दुओंग लेख में चम्पा नगरी की जिसकी तुलना

इनके लेख चम्पा में न्हा-त्राम के निकट मिले हैं। इस वंश का प्रथम राजा इन्द्रवर्मन् द्वितीय था जिसे उसके डोंग दुओंग के शक सं ७९७ के लेख में[२६] श्री जयइन्द्रवर्म्मा महाराजाधिराज कहा गया है और उसने चम्पा का राज्य अपने पूर्व जन्मों के पुण्य तथा तप बुद्धि और पराक्रम से प्राप्त किया था (तपःफलविशेषात्पुण्यबुद्धि पराक्रमात्। नृप प्राप्तो न पितुर्न पितामहात्)। लेख में उसके पिता 'ख्यातयशा' श्री भद्रवर्मन् और पितामह राजा रुद्रवर्मन् का भी उल्लेख है किन्तु उसने पैतृक अधिकार से यह राज्य नहीं प्राप्त किया था। फिनो के विचार में इन्द्रवर्मन् ने अनधिकृत रूप से राज्य प्राप्त किया और मासपेरो के अनुसार[२७] विक्रान्तवर्मन् तृतीय ने उसे अपना उत्तराधिकारी निर्वाचित किया था। किन्तु डा मजुमदार के मतानुसार[२८] 'सर्व्वचितो भूपतिना न पूर्वं अथवा महाजनवर्गैरनुमन्यमानः' से न तो उसके पहले से उत्तराधिकारी घोषित होने और न महाजनों द्वारा निर्वाचित होने का संकेत मिलता है। यह प्रतीत होता है कि उसके पिता और पितामह स्थानीय शासक थे और इन्द्रवर्मन् ने परिस्थिति से लाभ उठाकर चम्पा का राज्य प्राप्त किया था। इसके डोंग-दुओंग लेख से प्राप्त वंशावली के अतिरिक्त भद्रवर्मन् तृतीय के होअ-कूए के शक सं ८१२ के लेख से पता चलता है कि इसने अपने पितामह रुद्रवर्मन् की भतीजी से विवाह किया था। रुद्रवर्मन् की महिषी का एक भाई मातृ-महासामन्त सार्थवाह था और इस वंश ने नाम चमकाकर भद्रवर्मन् तृतीय के समय में राज्य को उच्च पदाधिकारी प्रदान किये। इन्द्रवर्मन् के दो लेखों से पता

इन्द्रपुर से भी मिली है स्थापना भृगु ने की थी (कृता भृगुणा पुराकृतसमये)। मजुमदार, चम्पा नं ३१, पृ १ पद १। इसी ऋषि के नाम से इस वंश का नामकरण किया गया।

२६ मजुमदार 'चम्पा' नं० ३१ पृ ७४ से।

२७ ब इ फा ४ पृ ९९ से।

२८ चम्पा पृ १११। इस विषय पर फिनो और मासपेरो के विचारों के लिए देखिए—बु इ फा १५ (२) पृ १२९ तथा वही १९, पृ २२८।

२९ चम्पा पृ ५९।

३० वही नं ३९ पृ १११ से।

३१ दो लेख (शक सं ८११) च-चमन (नं ३३) पृ २ से नं ३२ पृ ८९ से।

चलता है कि श्री भाद्रकान्तेश्वर के मन्दिर के लिए शुल्क माफ कर चार कर्मचारी पुजारियों की नियुक्ति की गयी थी तथा ८८९ ई (शक ८११) में अपने मंत्री मणिचैत्य द्वारा स्थापित श्री महालिंग के मन्दिर के लिए एक क्षेत्र तथा दासों का दान किया गया था। प्रथम लेख में इन्द्रवर्मन् को धार्मिक तथा लोकधर्मज्ञानी कहा गया है। श्रीजयइन्द्रवर्मदेव धार्मिको लोकधर्मवित्। पद ६। इसमें चम्पा के स्थानीय राजाओं (नरनृपा) का भी उल्लेख है जिन्होंने सम्राट् से भूमि प्राप्त की होगी। इन्द्रवर्मन् ने लगभग ८९५ ई तक राज्य किया। इसके राज्यकाल में ८७७ ई मे एक राजदूत चीन भेजा गया। दो वर्ष पहले ८७५ ई में इसने लक्ष्मीन्द्रलोकेश्वर विहार की स्थापना की जो चम्पा में महायान मत का प्रथम सूचक चिह्न है। इसके भग्नावशेष माइसोन के दक्षिण-पूर्व डांग-डुओंग में पाये गये हैं। मृत्यूपरान्त इसे 'परमबुद्धलोक' नाम से सम्बोधित किया गया।

जयसिंहवर्मन् तथा जयशक्तिवर्मन्

इसके डोंग-डुओंग लेख से पता चलता है कि कदाचित् यह इन्द्रवर्मन् की महिषी की बड़ी बहिन का पुत्र था। इस लेख में 'आसीत् कुलद श्रीराजकुल' हरदी (श्रीजयसिंहवर्मनृपतेर्भार्गनृपसुता) ने अपने स्वर्गीय पति श्री परमबुद्धलोक की स्मृति में रुद्र-परमेश्वर देवता की स्थापना की थी। इससे प्रतीत होता है कि उसका नाम इन्द्रवर्मन् था। इसी ने अपने पिता की स्मृति में रुद्र-परमेश्वर देवता की प्रतिमा स्थापित की थी। इसी ने अपनी मौसी द्वारा स्थापित मन्दिरों का कर माफ कर हरोमा (हर—उमा अर्थात् इन दोनों) की संयुक्त मूर्ति स्थापित की थी। सम्राट् ने अन्य मन्दिरों के प्रति भी उदारता दिखायी थी और यह वैभव

१२ इन्द्रवर्मन् के शक सं० ७९७ (८७५ ई) के लेख में सम्राट् द्वारा एक बौद्ध मंदिर और विहार की स्थापना का उल्लेख है। इसमें सम्राट् की वंशावली भी दी हुई है। मजूमदार, चम्पा लेख सं ३१ पृ ७४ से। लिटो ए हि पृ २१। डोंग-डुओंग के महायान मत पर फिनो ने ब्रुलेटीन में लोकेश्वर नाम का एक लेख लिखा। देखिए एटूडिये एशियाटिक १ पृ २१२।

१३ मजूमदार 'चम्पा' लेख सं १६ पृ० ८ से।

१४ बन लाट लेख (मजूमदार सं १८ पृ ९४) में सम्राट् द्वारा बौद्ध

शैव मत तक ही सीमित न थी बौद्ध धर्म का भी इसमें कुछ अंश था।[35] इसकी महिषी त्रिभुवनमहादेवी के वंश तथा उसके दानों का भी कई लेखों में उल्लेख है।[36] इस वंश के पो नगर पिलि को सम्राट् की ओर से राजनीतिक शिष्ट मंडल के अध्यक्ष के रूप में चम्पा भेजा गया था जो अपने कार्य में सफल हुआ (यव द्वीपपुरं भूपानुज्ञातो दूतकर्मणि। गत्वा य प्रतिपत्तिस्फः सिद्धयात्रा समागमत्।।)।[37] इससे प्रतीत होता है कि चम्पा का प्रभाव अब केवल उस देश तक ही सीमित न था वरन् देश के बाहर भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इसकी गणना होने लगी थी जैसा कि सिंहवर्मन् के नो-नांग लेख से भी पता चलता है (देशान्तर-श्रीभूतयास्तितेजा)।[38] धर्मसिंहवर्मन् का बन-लन्ह का लेख[39] (डोंग-दुओंग से १२ मील दूर) क्वांग-नम प्रान्त में शक सं ८२ (८९८ ई) का मिला है और इसके आधार पर इसके शासनकाल का आरम्भ लगभग ८९५ ई मे रख सकते हैं। इसका अन्तिम लेख शक सं ८२५ (९ ३ ई) का है।[40] इसका बाद का लेख होम-गुएन-दूरेन के निकट शक सं ८३१ (९ ९ ई) का भद्रवर्मन् तृतीय के समय का है[41] जिसका इस वंश

द्वारा स्थापित श्री भद्रेश्वर के मन्दिर तथा ८२ शक सं (८९८ ई) में मुनि शिवाचार द्वारा निर्मित त्रिवर्तिपुरा के मन्दिर के प्रति भक्त तथा उनकी रक्षा का उल्लेख है (पे चाऊ स के शक सं ८२५ (९ ३ ई) के लेख नं १८, पृ १ ९ से)। उसमें भी शंकरेश लिंग की स्थापना तथा सम्राट् द्वारा दिये गये दान का भी उल्लेख है (नं १८, पृ १ ९ से)।

३५ मान थि लेख (शक सं ८२४) मजुमदार, चम्पा, नं १७ पृ १ ५ से।

३६. वही नं ४३ ४४ पृ १२९ तथा १३७ से।

३७. वही नं ४३ पृ १३१ पं ८। ह्यूबर ने सिद्धयात्रा से विशेष (मनोरम) यात्रा भाव का संकेत किया है (बु० इ फ्रा ११ पृ २९९) मजुमदार के लेख में भी इसका उल्लेख है। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि इससे केवल साधारण यात्रा का संकेत है जिससे कार्य सिद्ध हो जाय।

३८ मजुमदार, 'चम्पा' नं ३४ पृ ९३ पद १।

३९. वही नं ३५, पृ ९४।

४ वही, नं ३८, पृ १ ९ से।

४१ वही नं ३९, पृ १११ से।

के साथ कोई सम्बन्ध न था। पर इन दोनों के बीच जयसिंहवर्मन् चम्पा का सम्राट् हुआ किन्तु उसने बहुत कम काल तक राज्य किया। इसका उल्लेख इन्द्रवर्मन् तृतीय के महन-तियो के शक सं ८३३ (९११ ई०) के लेख में मिलता है।[४२] पौ क्लौङ् पिलि राजद्वार ने जयसिंहवर्मन् के अतिरिक्त उसके पुत्र जयशक्तिवर्मन् भद्रवर्मन् और उसके पुत्र इन्द्रवर्मन् तृतीय के शासनकाल में चम्पा में उच्च पदों को सुशोभित किया था (पश्चाच्छ्रीजयशक्तिवर्मनृपतेरिदानीं पुनः श्रीभद्रवर्मनृपतेर्जयसिंहवर्मप्रमुखात्...) और वह पूर्ववत् उच्च पद प्राप्त करता रहा (महत् प्रभुत्वमाप्तवान्)।[४३]

भद्रवर्मन् तृतीय

भद्रवर्मन् तृतीय (९ ५ ९११ ई०) के पांच लेख मिलते हैं जिनमें होअ-कुए[४४] (तूरेन के निकट) शक सं ८३१ नहन-बिन (बिन्ह-दिन्ह) शक सं ८३२ और महन-थियो[४५] (क्वांग-नि) प्रान्त का सं ८३३ का है। एक अन्य लेख ये-पू-कुलोन[४६] (हुए प्रान्त) में इकाई का अभाव है और पांचवें लेख[४७] बंग-अन-बगंग (नम प्रान्त) में कोई तिथि नहीं है। केवल सैकड़े का अंक ८ ही प्रतीत होता है। इन लेखों से यह ज्ञात होता है कि राजनीतिक क्षेत्र में चम्पा का प्रमुख स्थान था और विदेशों से यहाँ राजदूत आने लगे थे। बंग-अन में दूसरे देशों से आये हुए दूतों का उल्लेख है (देशान्तरागतमहीपतिदूतसंघ) और होअ-कुए के लेख में एक मंत्री के सर्वदेशीय भाषाओं के ज्ञान का उल्लेख है (सर्वदेशान्तरभाषाभूमृत्सम्बन्धमाप्तवान् निरीक्ष्यनाम्नि सिद्धेऽपार्थेन सौहृदा। पाद २५)। चम्पा देश से पिलि राजद्वार को यात्रा भेजने का पहले ही उल्लेख हो चुका है। महन-थियो के लेख के अनुसार

४२ वही नं ४२ पृ १९५।
४३ वही, नं ४३ पृ १११ पंक्ति ९।
४४ वही नं ३९।
४५ मजूमदार चम्पा, नं ४।
४६ वही नं ४३।
४७ वही नं ४१।
४८ वही नं ४२।

भद्रवर्मन् के समय में भी यह द्वितीय बार जावा भेजा गया था और इसकी यात्रा सफल रही (यवद्वीपपुरं भूयः क्षितिपालुमपा सुधीः। द्विवारमपि यो गत्वा सिद्ध यात्रामुपागमत्॥ नं ४३ पद ११) और सम्राट् भद्रवर्मन् द्वारा इसे 'पौव् कलम् गुरुयवद्वास' उपाधि मिली। इस लेख से चम्पा के एक और राजवंश का भी पता चलता है जिसने साम्राज्य के लिए योग्य शासनाधिकारी दिये। इन्द्रवर्मन् द्वितीय की महिषी के भ्राता सार्थवाह के तीन पुत्र आज्ञा-महासामन्त आज्ञा-नरेन्द्र नृपमित्र और आज्ञा-जयेन्द्रपति[५०] भद्रवर्मन् के अमात्य थे। इस सम्राट् ने कई मन्दिरों का निर्माण कराया और मूर्तियों की स्थापना की तथा और भी दान दिये। इसका राज्यकाल ५ ६ वर्ष से अधिक नहीं रहा क्योंकि ९११ ई० में इसका पुत्र इन्द्रवर्मन् तृतीय चम्पा का शासक था।

इन्द्रवमन् तृतीय (जय-इन्द्रवमन्)

चम्पा के सम्राटों में इन्द्रवर्मन् तृतीय ने लगभग ६० वर्ष तक राज्य किया और यह सबसे विद्वान् शासक हुआ। पो-नगर के लेख के आधार पर यह कहा जाता है कि यह षट् प्रकार के दर्शन जिनमें मीमांसा तथा तर्क भी हैं बौद्ध दर्शन पाणिनीय तथा उसकी टीका काशिका आख्यान शैवों का उत्तर कल्प इत्यादि विषयों का ज्ञाता था (मीमांसषट्-तर्कजिनेन्द्रसूर्मिमस्सकाशिका-व्याकरणोदकौघः। आख्यान-शैवोत्तरकल्पमीनः पटिष्ठ एतेष्विति सत्कवीनाम्। [५१] नं ४५)। विद्याध्ययन में व्यस्त होने के कारण इसके राज्य शासन की बागडोर का ढीला होना स्वाभाविक था जिससे कम्बुज के सम्राट् ने चम्पा पर आक्रमण कर दिया और वहाँ से सुवर्णमूर्ति उठा ले गया। उसके स्थान पर सम्राट् ने पत्थर की मूर्ति स्थापित की (हेमीमत्र

४९. वही नं० ३९, पंक्ति २५।

५० वही नं० ४५, पद ३।

५१ देखिए राजेन्द्रवर्मन् का बक्सेई चंक्रोंग लेख जिसमें चम्पा तथा अन्य विदेशी शक्तियों पर राजेन्द्रवर्मन् की विजय का उल्लेख है (चम्पादि परराष्ट्राणां दीप्या कालानलाग्निः। पद ४५)। प्रे-रूप के लेख मे भी इस विजय का उल्लेख है (चम्पादिदं बाहुफलम् जित्वा। पद २७२)। राजेन्द्रवर्मन् की रीति अब्द में बड़ी तरह से हारी। मिर्दो, ए० हि० पृ० २११।

स्त्रियां पूर्व येन दुष्प्राप्यतेजसा व्यस्तां सोमावितीकात्मा मृता मदृत्य कामुक।)[५२]।
इसके समय में चीन के साथ पुनः राजनीतिक सम्पर्क स्थापित हुआ जो बहुत दिनों से बन्द था। ९५१ में बहुत-सी भेंट के साथ एक दूत हेऊ-चामो इन्द्रवर्मन् ने भेजा। सुम वंश के चाऊ-कुवंग-चिन के पास ९६ ई में इन्द्रवर्मन् ने बधाई का सन्देश भेजा। चम्पा से इसके समय में ९५८ ९५९ ९६२, ९६७ ९७ तथा ९७१ ई से चीन दूत भेजे गये।[५३]

इन्द्रवर्मन् ने लम्बे समय तक राज्य किया। कुछ विद्वानो ने इन्द्रवर्मन् तृतीय से जय-इन्द्रवर्मन् प्रथम को अलग सम्राट् माना है पर वास्तव में दोनों एक ही प्रतीत होते हैं क्योंकि इन्द्रवर्मन् द्वितीय को भी जय-इन्द्रवर्मन् कहा गया है।[५४] जय-इन्द्रवर्मन् के शक सं ८८७ (९६५ ई) के पो-नगर लेख[५५] में कम्बुज शासक द्वारा हटी गयी हिरण्य-मूर्ति के स्थान पर सम्राट् द्वारा पत्थर की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है। इस लेख के अनुसार इन्द्रवर्मन् तृतीय (जय इन्द्रवर्मन्) का राज्य-काल शक ८८७ (९६५ ई) या अधिक से अधिक ९७ तक रहना चाहिए। ९७२ ई में चम्पा का शासक परमेश्वरवर्मन् था। इसके समय से लगभग १ वर्ष तक चम्पा का इतिहास अनम के साथ संघर्ष की कहानी बन जाता है।

५२ मजूमदार, 'चम्पा' लेख नं ४७, पद १।

५३ मास्पेरो 'चम्पा' पृ ११९।

५४ मजूमदार, 'चम्पा' पृ ६५, नोट १ डा मजूमदार के मतानुसार इन्द्रवर्मन् तृतीय और जय-इन्द्रवर्मन् प्रथम जिसके पांच लेख (नं ४६-५) मिले हैं, एक ही व्यक्ति थे। इन्द्रवर्मन् द्वितीय को दो बार जय इन्द्रवर्मन् के नाम से सम्बोधित किया गया है (डोंग-दुओंग नं ३१ व दो मंग नं ३२) और यही बात इन्द्रवर्मन् तृतीय के साथ भी मानी जा सकती है। मास्पेरो के मतानुसार इन्द्रवर्मन् तृतीय का उत्तराधिकारी जय इन्द्रवर्मन् प्रथम था। ('चम्पा' पृ ११९ २) सिडो ने भी दोनों को अलग माना है। ए हि पृ २११।

५५ मजूमदार, 'चम्पा' नं ४७, पृ १४१ से।

अध्याय ३

अनम से संघर्ष, विजय राज्य और चम्पा का पतन

(सन् ९७ –१ ७४)

इन्द्रवर्मन् तृतीय की मृत्यु के पश्चात् चम्पा का इतिहास अंधकारमय हो जाता है और हरिवर्मन् प्रथम के शक सं ९११ के माइसोन से प्राप्त एक छोटे लेख को छोड़कर लगभग ८५ वर्ष तक के समय का कोई लेख नहीं मिलता है। चम्पा का इतिहास अब अनम के साथ संघर्ष की कहानी बन जाता है। चीन की विपरीत राजनीतिक परिस्थिति से लाभ उठाकर अनम ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित कर लिया और फिर उसकी आँखें दक्षिण की ओर चम्पा पर गया। यहाँ कोई सुयोग्य शासक न था जो अनम के दबाव को रोक सकता। अतः चम्पा की राजधानी इन्द्रपुरी को अनम-सेना ने कई बार लूटा। चीनी सम्राट् भी चम्पा में अनम के हस्तक्षेप को न रोक सके। राजधानी इन्द्रपुरी से हटकर विजय चली गयी। लगभग १ वर्ष के इस इतिहास मे यही घटना प्रमुख है। जिन राजाओं ने चम्पा मे राज्य किया उनमे हरिवर्मन् को छोड़कर और किसी के लेख नहीं मिले हैं। केवल चीनी स्रोत से ही हम यहाँ के इतिहास और सम्राटों के नामों का ज्ञान कर सकते हैं।

परमेश्वरवर्मन् और इन्द्रवर्मन् चतुर्थ

इन्द्रवर्मन् तृतीय के पश्चात् राजा परमेश्वरवर्मन् (पी-माई-शुए-हो-चिन-द्रु) चम्पा में गद्दी पर बैठा और उसने ९७२, ७३ ७४ ७५ ७७ तथा ९७९ ई में राजदूत चीन भेजे। इसी के समय में अनम के साथ चम्पा का संघर्ष आरम्भ हुआ जो चम्पा के लिए घातक सिद्ध हुआ। ९७९ ई में ङो-क्युन द्वारा एक स्वतन्त्र

१ मासपेरो 'चम्पा' पृ १२१।

राज्य अनम में स्थापित हुआ था किन्तु यह कई भागों में बँट गया। दिन-बो-ली ने इन सब स्थानीय शासकों को हराकर ९६८ में अपने को अनम का सम्राट् घोषित कर दिया। इनमें से एक न्गो-चंग-न्गम ने चम्पा में भागकर शरण ली और जब दिन-बा-ली का ९७९ में वध हुआ तो उसने परमेश्वरवर्मन् से अनम पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए सहायता मांगी। चम बेड़ा अनम की ओर बढ़ा पर एक समुद्री तूफान के कारण वह नष्ट हो गया। इसी बीच में अनम में ले-होन-वन शासक चुन लिया गया और उसने परमेश्वरवर्मन् के पास अपना एक दूत भेजा पर नीति विरुद्ध चम्पा के सम्राट् ने उसे बन्दी कर लिया। ले-होन-वन ने चम्पा के विरुद्ध एक सेना भेजी जिसने ९८२ ई में चम्पा की राजधानी इन्द्रपुरी को जीता और बहुत-से लूट के माल राजवंश की स्त्रियों और एक भारतीय भिक्षु को ले गयी। परमेश्वरवर्मन् कदाचित् मारा गया। नया सम्राट् इन्द्रवर्मन् (चतुर्थ) राज्य के दक्षिणी भाग में चला गया जहां से उसने एक ब्राह्मण दूत को ९८५ ई में चीनी सम्राट् के पास सहायता के लिए भेजा पर उसने चम्पा और अनम के बीच झगड़े में हस्तक्षेप करना उचित न समझा। इसी समय अनम के स्थानीय शासक आपस में लड़ रहे थे और एक सरदार ल्यू-क्य-टोंग ने उत्तरी चम्पा पर अधिकार कर इन्द्रवर्मन् चतुर्थ की मृत्यु के बाद अपने को सम्राट् घोषित कर दिया। अनमियों के दबाव से चम्पा के लोगों को कष्ट हुआ और एक देशभक्त ल्यू-क्य टोंग को हटाकर विजयश्रीहरिवर्मन् (द्वितीय) के नाम से ९८९ ई में चम्पा के सिंहासन पर बैठ गया। उसकी राजधानी विजय-सिन्ह (विजय) थी।

हरिवर्मन् द्वितीय

हरिवर्मन् द्वितीय और ले-होन-वन के बीच शत्रुता कायम रही। हरिवर्मन् के द्वारा सद्भावना का व्यवहार और कदाचित् चीनी सम्राट् के आदेश से दोनों देशों में मित्रता स्थापित हो गयी और अनम के सम्राट् ने ११ चम बन्दी छोड़ दिये जो चम्पा के दो बार आक्रमण में पकड़े गये थे। चीनी सम्राट् ने भी हरिवर्मन् के पास

१ मास्पेरो 'चम्पा' पृ १२९-३। मजुमदार, 'चम्पा' पृ ७२। सिडो, २ हि पृ २१२। इस काल का कोई लेख नहीं मिला है और चीनी वृत्तान्त के आधार पर ही केवल रूपरेखा खींची जा सकती है।

भेंट देकर एक दूत भेजा। कुछ वर्षों में अनम की सीमा उल्लंघन करने का प्रयास किया पर अनम तथा चम्पा की मित्रता स्थापित रखने के लिए हरिवर्मन् ने अपने पौत्र को अनम के सम्राट् के पास भेजा। हरिवर्मन् का एक छोटा लेख[3] माइ-सोन के मन्दिर के फलक पर मिला है। यह शक सं ९१३ (९९१ ई) का है और इसमें भी जय ईशानभद्रेश्वर की मूर्ति के पुनः स्थापन का उल्लेख है। इसने कदाचित् १ ५ ई तक राज्य किया।

यंग-पु-कु—विजयश्री तथा उसके वंशज

चीनी स्रोत के अनुसार चम्पा के सम्राट् येन-पु-कु (विजयश्री) ने ९९९ ई में एक राजदूत चीन भेजा और वह उससे पहले सिंहासन पर बैठा होगा। उसके समय में चम्पा की राजधानी स्थायी रूप से विजय चली गयी जो पुरानी राजधानी से ७ मील दक्षिण में थी। इसने १ ४ तथा १ ०७ में चीनी सम्राट् के पास राजदूत भेजे। विजय के अन्तिम राजा केवल नाम मात्र के लिए थे। चम्पा का राज्य पतन की ओर जा रहा था। दक्षिण की ओर राजधानी ले जाने से उत्तरी भाग पर विजय प्राप्त करना अनम देश के लिए सरल हो गया। इधर आन्तरिक परिस्थिति भी प्रतिकूल थी। लगभग १५ वर्ष के काल में चम्पा में[4] चार सम्राट् हुए[5] जिनके नाम चीनी स्रोत के अनुसार श्री हरिवर्मदेव तृतीय (ये-चि-हिम-कि-पि म-ति) परमेश्वरवर्मन् चतुर्थ (येन-मोई-पाई-मो-तिए) विक्रान्तवर्मन् चतुर्थ (यंग-पी-कुन ये-कि-पि-अन-तो-किअ-पन मोतिए) तथा जयवर्मन् द्वितीय थे। हरिवर्मन् ने चीन और अनम के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित रखा तथा १ १ और १ १५ ई के बीच में तीन राजदूत चीन भेजे। इसके बाद १ ११ में कुछ और भी भेजे गये। उसी वर्ष एक राजदूत टोंकिन भी गया। परमेश्वरवर्मन् द्वितीय ने भी १ १८ में भेंट के साथ एक दूत चीन भेजा और १ १ में विक्रान्तवर्मन् ने भी इसका अनुकरण किया। अनम के साथ भी चम्पा की नीति मैत्रीपूर्ण रही

३ मजुमदार, 'चम्पा' लेख नं ५१ पृ १४५। बु इ फा ४ पृ १११ ११७।

४ मासपेरो, 'चम्पा' पृ १२९ से।

५ मासपेरो, 'चम्पा' पृ ७५।

पर १ २१ ई में अनामियों ने बो-चन पर, जो चम्पा की उत्तरी सीमा थी आक्रमण कर दिया। इसमें चम सेनापति मारा गया पर अनामी सेना आगे नहीं बढ़ी। १ १८, १ १९ ई में वहां की पूरी सेना अनाम की ओर चली गयी तथा विक्रान्त-वर्मन् के पुत्र जयसिंहवर्मन् द्वितीय ने भी वहां शरण ली। इसका कारण देश में अशान्ति का वातावरण था। १ ४१ ई में जयसिंहवर्मन् सिंहासन पर बैठा। इसके समय में अनाम के साथ संबंध बिगड़ गया। अनामी सम्राट् एक विशाल बेड़ा लेकर चम्पा के विरुद्ध चला और विजयवर्मन् अपने १ सैनिकों सहित युद्ध भूमि पर सदा के लिए सो गया। अनामी सम्राट् विजय की ओर बढ़ा और वहां उसे बहुत-सा स्वर्ण का सामान मिला तथा उसने बहुत-से बन्दी बनाये और महल की स्त्रियां भी उसके हाथ लगीं। इस प्रकार जयसिंहवर्मन् द्वितीय के समय में द्वितीय अनामी आक्रमण से विजयवंशी हरिवर्मन् का वंश समाप्त हुआ। पर चम्पा अधिक काल तक अनामियों के अधिकार में न रहा और ६ वर्ष के अन्दर ही जय परमेश्वरवर्मदेव ईश्वरमूर्ति द्वारा एक नवीन राजवंश की स्थापना हुई।

जयपरमेश्वरवर्मन् तथा उसके वंशज (१ ५० १ ९६)

१ ५ ई के लगभग जयपरमेश्वरवर्मन् चम्पा का सम्राट् हुआ। चम्पा की राजनीतिक परिस्थिति अनाम आक्रमण के फलस्वरूप शोचनीय हो गयी थी। लेखों से पता चलता है कि स्थानीय व्यक्तियों ने चम्पा के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया था। परमेश्वरवर्मन् चम्पा का प्राचीन राजवंशज था। इसे उरोजवंशज कहा

१ मास्पेरो ने विजय के शासकों की वंशावली इस प्रकार दी है, जिन्होंने ९९९ से १ ४४ ई तक राज्य किया। चम्पा, पृ ११६—

हरिवर्मन् (द्वितीय)
|
यँग-पु-कु विजय
|
हरिवर्मन् (तृतीय)
|
परमेश्वरवर्मन् (द्वितीय)
|
विक्रान्तवर्मन् (चतुर्थ)
|
जयसिंहवर्मन् (द्वितीय)

गया है। इसके समय के शक सं. ९७२ के पो-क्लौं-गराई के तीन लेख[8] पो-नगर का इसी संवत् का एक लेख[9] ९७७ का फू-कुई मन्दिर[10] का लेख लाई मम का इसी संवत् का लेख[11] पो-नगर का एक अन्य लेख[12] (तिथि नहीं है) तथा युवराज महासेनापति का शक सं. ९७८ का एक लेख[13] है जो इस सम्राट् के राज्यकाल की राजनीतिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हैं। इस सम्राट् ने सर्वप्रथम स्थानीय विद्रोहों को दबाकर चम्पा की अराजकता दूर की। शक सं. ९७२ (१०५० ई.) में पंडुरंग में एक विद्रोह दबाने के लिए श्री परमेश्वरधर्मदेव का भांजा (राजश्रीपरमेश्वरस्य महत् पुत्रोऽनुजायाः) श्री देवराज महासेनापति आया।[14] पंडुरंग (फनरांग) के दुष्ट निवासी चम्पा के राजाओं का सदैव से विरोध कर रहे थे। परमेश्वरधर्मदेव धर्मराज के समय में विद्रोहियों ने वहीं के एक निवासी को सम्राट् घोषित कर दिया। सम्राट् ने अपनी सेना कई भागों में युवराज महासेनापति की अध्यक्षता में इस विद्रोह को दबाने के लिए भेजी।[17] विद्रोही बुरी तरह पराजित हुए। पो-क्लौं के लेख के अनुसार पंडुरंग के निवासी एक के बाद दूसरे को बराबर अपना राजा घोषित करते रहे, पर वहां के विद्रोहियों को बुरी तरह से हराया गया और पत्थर की भांति वे सदा के लिए मूक हो गये (जित्वा पापकपाण्डुरंगनृप-काम् ... सेनासोऽस्य ... शिलास्तम्भमिमं संस्थापयामास च)।[15] विजय के उपरान्त शिवलिंग की स्थापना की गयी।[16]

७. मजुमदार, 'चम्पा' लेख नं. ५७, पृ. १५४।
८. वही नं. ५२, ५३, ५४ पृ. १४५ से।
९. मजुमदार, 'चम्पा' लेख नं. ५५, पृ. १५३।
१०. वही नं. ५७, पृ. १५४।
११. वही नं. ५६, पृ. १५४।
१२. वही, नं. ५८, पृ. १५५।
१३. वही, नं. ५९, पृ. १५५।
१४. वही नं. ५२ ब पृ. १४०।
१५. वही, नं. ५३ पृ. १४९।
१६. वही, नं. ५४ पंक्ति ३ पृ. १५ ।
१७. लेखों के आधार पर पंडुरंग के विरुद्ध तीन टुकड़ियों में सेना भेजी गयी। इसको जीतने का श्रेय युवराज महासेनापति को था। मजुमदार, 'चम्पा' पृ. ७८।

लेखों में कम्बुज के साथ चम्पा के संघर्ष पर भी प्रकाश पड़ता है। कई एक लेखों में परमेश्वरवर्मन् की विजयकीर्ति के कम्बुज तक पहुँचने का उल्लेख है (पुनुपथ-चपविष्टकम्बुराष्ट्रो विविततोपयसोनिविष्टकम्बुदेशः)। शक सं० ९७८ के युवराज महासेनापति के लेख के अनुसार उसने ख्मेरों पर विजय प्राप्त की और सम्भुपुर के नगर पर अधिकार कर वहां के बहुत-से मन्दिरों को भ्रष्ट कर उन दास भी ईशानभद्रेश्वर के निमित्त अर्पित कर दिये। जयपरमेश्वरवर्मन् ने चीन-अनम के साथ मैत्रीपूर्ण संपर्क स्थापित रखा और १ ५०-६१ ई के बीच तीन दूत चीन तथा १ ५७ और १ १ के बीच सात दूत अनम भेजे।[१८] उसने नह-त्राग के पो-नगर के मन्दिर का जीर्णोद्धार किया तथा सेवा हेतु बहुत-से दास जिनमें चीनी ख्मेर, पुकाम (पगान के विरमम) तथा स्यामी थे अर्पित किये।[१९]

जयपरमेश्वरवर्मन् के बाद कदाचित् भद्रवर्मन् चतुर्थ गद्दी पर बैठा। रुद्रवर्मन् तृतीय के शक सं ९८६ (१ ६४ ई) के लेख में परमेश्वरवीय रुद्रवर्मन् को भद्रवर्मा का कनिष्ठ भ्राता लिखा है (ज्येष्ठश्रीपरमेश्वरस्य कुलजस्यश्रीभद्रवर्मानुज)।[२०] मासपेरो के मतानुसार यह कदाचित् १ ६ ई में चम्पा के सिंहासन पर बैठा होगा और इसके समय मे पालतू हाथियों का एक झुंड भेंट के रूप में चीनी सम्राट् को भेजा गया था। पर लेख मे भद्रवर्मन् को किसी राजकीय उपाधि से संबोधित नहीं किया गया है। रुद्रवर्मन् ने सिंहासन पर बैठते ही (१ ६१ ई) अपने पड़ोसी देश अनम के साथ पुराने झगड़े को तय करने का निश्चय किया।

१८ नं ५६, बद ४ नं ५३ पृ ४।

१९ नं ४९, पृ १५५।

२ मासपेरो 'चम्पा' पृ १३८ ३९।

१ ४७ में चम्पा से अनम भेजा गया दूत बन्दी बना लिया गया, पर यह सन्देहजनक है कि वह सम्राट् परमेश्वरवर्मन् के समय में भेजा गया था। टुंग-पाओ १९११ पृ २३८। मजुमदार 'चम्पा' पृ ८ नोट।

२१ मजुमदार, 'चम्पा' लेख नं ५८ पृ १५५। आमोनिए, जू ए जनवरी-फरवरी १८९१ पृ २९। तिशो प हि पृ २३७।

२२ मजुमदार, 'चम्पा' लेख नं ६ पृ १५८ से।

२३ 'चम्पा पृ १४ ।

१ ६२ ई में उसने चीन से अनाम के विरुद्ध सहायता लेने के लिए एक दूत भेजा। चीनी सम्राट् से सहायता का वचन न पाकर उसने अनाम के साथ ऊपर से मित्रता रखी और १ ६३ १ ६५ तथा १ ६८ ई में भेंट देकर दूत भेजे।[24] १ ६४ में पो-नगर की देवी के लिए भेंट में बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएं (कण्ठाभरणभाजनं) चांदी की मुद्राएं (कर्ष्यं) तीन चांदी के पात्र (राजतभाजनमयमिदं) अर्पण किए।[25] १ ६८ ई में उसने अनाम के विरुद्ध सेना भेजी। वहां का सम्राट् ल्यू-थन-टों भी अपनी सामुद्रिक सेना लेकर थीवनाए (बी-न्हॉम प्रान्त) में चम्पा की राजधानी के निकट उतरा। चम बुरी तरह हारे और रुद्रवर्मन् के भागने पर अनाम की सेना बिना किसी कठिनाई के चम राजधानी में घुस गयी। कम्बुज की सीमा के निकट रुद्रवर्मन् पकड़ा गया। अनामी सम्राट् ल्यू-थन-टो ने चम्पा में अपनी विजय के उपलक्ष में नाच रंग और आयोजित भोजन में १ ६९ के चार मास बिताये। ५ ० बन्दियों रुद्रवर्मन् तथा दोनों ओर की सेनाओं को लेकर वह अपनी राजधानी लौटा।[26] रुद्रवर्मन् बहुत दिनों तक बंदी रहा अन्त में उसने चम्पा के तीन उत्तरी प्रान्तों जिनसे वर्तमान और क्वाग-त्रि का भाग संकेतित है अनाम को देकर अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त की। चम्पा लौटने पर उसने वहां अराजकता पायी और कई व्यक्ति वहां के शासक बन बैठे थे। यह कहना कठिन है कि रुद्रवर्मन् पुनः अपने को चम्पा का शासक स्थापित कर सका था अथवा नहीं पर वहां से १ ७१ १ ७२ तथा १ ७४ में तीन राजदूत अनाम और १ ७२ में एक दूत चीन गया। १ ७४ ई तक जयपरमेश्वर वर्मन् के वंश का चम्पा पर से अधिकार जाता रहा।[27]

२४ सिल्वो ए हि पृ० २१७।
२५ मजुमदार, 'चम्पा' लेख नं १ पद २।
२६ मास्पेरो 'चम्पा' पृ १४१ ४२।
२७ वही पृ १४३। सिल्वो, ए हि पृ २१८।

अध्याय ४

हरिवर्मन् चतुर्थ से अनम की पुनः चम्पा-विजय तक

चम्पा का इतिहास अनम की विजय और यावर्मन् को टोंकिन से पकड़कर ले जाने के बाद अन्धकारमय हो जाता है। चार महीने तक अनमी सेना चम्पा की राजधानी विजय में रही। उसके लौट जाने पर देश में अराजकता फैली। इस परिस्थिति में हरिवर्मन् चतुर्थ गद्दी पर बैठा और उसने १ वर्षों के अन्दर देश में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित की और अनम की ओर से पुनः आक्रमण की संभावना को दूर करने का प्रयास किया। माइ-सोन के शक सं. १ २(१०८१ ई.) के दो लेखों में इसके राज्यकाल का वृत्तान्त मिलता है। हरिवर्मन् का पिता प्रांशेश्वर नारिकेल-वंश का था (प्रांशेश्वरवर्मराजाधिपतिर्यो नारिकेलान्वयः)। इससे प्रतीत होता है कि यह भी स्थानीय शासक रहा होगा। हरिवर्मन् उसका उत्तराधिकारी था (तस्तत्सो हरिवर्मदेवनृपतिः)। माइ-सोन के चम लेख में सम्राट् हरिवर्मन् के कुमार पाद-पाद-विष्णुमूर्ति को कौमुक-वंशज कहा है। कदाचित् यह इसकी माँ का वंश रहा होगा। पो-नगर के परमबोधिसत्त्व के शक सं. १ ०९ के लेख के अनुसार अनमियों द्वारा सम्राट् के पकड़ लिए जाने पर चम्पानिवासी पनरन चले गये जहाँ एक व्यक्ति ने अपने को सम्राट् घोषित कर १६ वर्ष तक राज्य किया और अन्त में परमबोधिसत्त्व ने उसे उसके साथियों सहित बन्दी कर लिया। यह हरिवर्मन् का छोटा भाई था। उपर्युक्त वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि हरिवर्मन् का शासन उजड़ हुए चम्पा राज्य को पुनः बनाने में बीता और इसने विध्वस्त मन्दिरों

१ मजुमदार 'चम्पा' लेख नं. ६१, ६२, पृ. १५७, १६१।
२ वही नं. ६२, पद ३।
३ वही पृ. १६५।
४ वही, नं. ६४ पृ. १६८। बु. ए. १९११ (१) पृ. ३३ नं. १४।

का जीर्णोद्धार कराया। इसमें सम्राट् के अतिरिक्त उसके भाई युवराज महासेना-पति का बड़ा हाथ था। श्री ईशानभद्रेश्वर की मूर्ति की पुनः स्थापना की गयी और उसके लिए सम्राट् ने कम्बुज से विजय में प्राप्त सब वस्तुओं को वहाँ के देवता श्री ईशानभद्रेश्वर के लिए दान कर दिया। हरिवर्मन् के राज्यकाल में १ ७५ ई में मगध की ओर से पुनः आक्रमण हुआ पर उसकी पराजय हुई।[५] माइ-सोन के धम लेख के अनुसार विपक्षी सेनाओं को १२ बार हराया राजाओं, सेनापतियों तथा अन्य सरदारों के सिर ९ बार काट लिये तथा कम्बुज की सेना को सोमेश्वर में हराकर सेनापति कुमार नन्दनवर्मदेव को पकड़ लिया गया। इसके बाद उसने अपना अभिषेक किया और 'उग्रपुरराज' नाम धारण किया।

अपने थोड़े समय के राज्यकाल में हरिवर्मन् ने चम्पा में राजनीतिक शान्ति स्थापित की और उसे अपना लुटा हुआ सौन्दर्य और वैभव पुनः प्राप्त कराने में सहयोग दिया। १ ८ ई में ४ वर्ष की अवस्था में अपने ज्येष्ठ पुत्र युवराज श्री-राजद्वार को सिंहासन सौंपकर वह शिव की उपासना में लग गया पर १ ८१ ई में वह मर गया। उसका पुत्र केवल नौ वर्ष का था जब वह जयइन्द्रवर्मन् द्वितीय के नाम से सिंहासन पर बैठा किन्तु एक ही मास बाद हरिवर्मन् के कनिष्ठ भ्राता युवराज महासेनापति कुमार पन् को जिसने शम्भुपुर जीता था चम्पा का सम्राट् चुना गया। जय इन्द्रवर्मन् द्वितीय के शक स १ १ (१ ८८ ई) के माइ-सोन लेख से पता चलता है कि युवराज श्री युवराज महासेनापति के पास जो श्री जयइन्द्रवर्मदेव का चाचा और हरिवर्मदेव का कनिष्ठ भ्राता था ब्राह्मण पंडित ज्योतिषी इत्यादि राजकीय ध्वजा लिये हुए गये और उन्हें चम्पा का सम्राट् बनाया। श्री परमबोधिसत्व के नाम से उन्होंने चम्पा पर सुचारु रूप से राज्य किया विध्वस्त चम्पा का पुनः स्थापन किया। उनके समय में चारों वर्णों की प्रजा

५ वही नं १२ व पृ १६५।
६ मास्पेरो, 'चम्पा' पृ १४३।
७. देखिए नं ५, मिश्रो, ए हि पृ ५५८।
८. मास्पेरो 'चम्पा' पृ० १४०। मिश्रो, ए हि पृ २६१। १ ७६ ई में चम राज्य की ओर से चीन जाये हुए राजदूत ने अपने स्वामी की उस समय ३६ वर्षीय प्रमाण बताया है। मास्पेरो पृ १४६।

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र सम्पन्न और सन्तुष्ट थे। पो-नगर के शक सं १ ९ के लेख' के अनुसार उसने पडुरग के दक्षिणी भाग पर अधिकार कर लिया जहाँ अनम के आक्रमण के बाद एक व्यक्ति ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया था। उस व्यक्ति को उसके साथियों सहित हराकर उसने बन्दी बना लिया। अपनी बहिन तथा ज्येष्ठ पुत्र युवराज श्री युवराजकुमार व्यु के साथ पो नगर की देवी को उसने स्वर्णमुकुट तथा मणियो से खचित हार और बहुत-से आभूषण इत्यादि भेंट किये। उसने माइ-सोन म भी शिव की एक मूर्ति स्थापित की।[11] उसके बाद हर्ष के राज्यकाल (१ ८१ से १ ८५) में अनम के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहा। उसके बाद १ ८६ मे उसका भतीजा जयइन्द्रवर्मन पुन गद्दी पर बैठा।'

जयइन्द्रवर्मन् द्वितीय

इसके माइ-सोन के शक सं १ १ के लेख ' से पता चलता है कि परमबोधिसत्व के बाद हरिवर्मन् के पुत्र जयइन्द्रवर्मन् ने राज्य किया क्योंकि भद्रेश्वर के प्रति दिये गये दान का इसमे उल्लेख है। इस लेख से तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति का भी पता चलता है। प्रथम भाग में परमबोधिसत्व और उसके अभिषेक का उल्लेख है और दूसरे में इन्द्रवर्मन् के गुणो कृत्यों तथा भद्रेश्वर देवता के प्रति दान का वर्णन है। उसने भी अपने पिता तथा चाचा की भाँति चम्पा नगरी को पुन बसाने का प्रयास किया। जय इन्द्रवर्मन् के समय में अनम के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहा पर चम्पाधिराज भी अपने राज्य के तीन उत्तरी प्रान्तों पर अनम का अधिकार कष्ट दे रहा था जो रुद्रवर्मन् के समय मे चम्पा द्वारा दिये गये थे। १ ११ में चम्पा ने भेंट भेजना रोक दिया पर अनम सम्राट् की ओर से उलाहना मिलने पर जयइन्द्रवर्मन् ने १ ९६, ७ ९८ १ और ११ २ में भेंट भेजी। ११ १ में अनम की आन्तरिक परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए उसने उन तीनों प्रान्तों पर

९ मजुमदार 'चम्पा' पृ १७२।

१ मजुमदार 'चम्पा' पृ १६८ लेख सं १४।

११ वही, लेख स ११ पृ १६८।

१२ वही, सं १६ पृ १६९।

१३ मास्पेरो 'चम्पा' पृ १५ ।

सेना भेजकर अधिकार कर लिया किन्तु यह थोड़े ही समय तक रहा और इसको पुनः अनम को वापस देना पड़ा। दोनों देशों में मित्रता स्थापित हो गयी।

जयइन्द्रवर्मन् द्वितीय के बाद उसका भतीजा हरिवमन् सिंहासन पर बैठा। उसके माइसोन के धक स १ ३६ (१११४ ई) के लेख में श्री जयइन्द्रवर्मदेव के भतीजे श्री जयहरिवर्मन्देव द्वारा श्री शासनभद्रेश्वर देवता के प्रति दिये गये दान का तथा मन्दिर और प्रासाद के निर्माण का उल्लेख है। इसका चीन और अनम के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार रहा और ११२ २४ तक यह बराबर अनम के सम्राट् को भेंट भेजता रहा। इसके भेजे गये दूतों का भी दोनों देशों म स्वागत हुआ।[१४]

जयइन्द्रवमन् तृतीय (११३९—११४५ ई०)

हरिवर्मन् के पश्चात् जयइन्द्रवर्मन् तृतीय गद्दी पर बैठा। इसके माइ-सोन से प्राप्त दो लेखों[१५] म जो शाक सं १ ६२ के हैं तथा पो-नगर में प्राप्त शाक म १ ६५ (११४३ ई) के लेख में इसके वंश और जीवन-काल का उल्लेख है। माइ-सोन के प्रथम लेख के अनुसार शक सं १ २८ म इसका जन्म हुआ था १ ५१ (११२९ ई) म यह देवराज और चार वर्ष बाद युवराज हुआ। १ ६ (१११८ ई) में उसने सद्धर्म (बौद्ध धम) के प्रति दान किया और १ ६१ (११३९ ई) में यह सिंहासन पर बैठा। उसके पिता का उल्लेख माइसोन के दूसरे लेख में है पर उसका नाम नहीं मिलता है। जयइन्द्रवमन् को अपने छ वर्ष के राज्यकाल में अनम और कम्बुज के साथ सघर्ष करना पड़ा जिसके फलस्वरूप उसे अपना राज्य तथा जीवन का बलिदान देना पड़ा। कम्बुजसम्राट् सूर्यवर्मन् के साथ मिलकर उसे अनम से पराजित होना पड़ा। कदाचित् वह उस सघर्ष मे मारा गया क्योंकि पाडुरंग मे सम्राट् परमबोधिसत्व का एक वंशज रुद्रवर्मन् परमब्रह्मलोक के नाम से सिंहासन पर ११४५ ई मे बैठा। उसकी मृत्यु के पश्चात ११४७ म उसका पुत्र श्री जयहरिवर्मदेव कुमार शिवानन्दन सिंहासन पर बैठा।[१६]

१४ मजुमदार, 'चम्पा' नं ६८, पृ १७५।
१५ मासपेरो, 'चम्पा' पृ १५१।
१६ मजुमदार 'चम्पा' नं ६९, पृ १७६ १७७।
१७ वही, नं ७१ पृ १७७।
१८ सिदो, ए हि पृ २७८।

जयहरिवर्मन् प्रथम (११४७—११६२)

चम्पा के इस सम्राट के लेख माइ-सोन[19] बटाऊ-टवल[20] तथा पो-नगर में[21] मिले हैं जो शक सं १ ८२ के हैं। माइ-सोन का केवल एक लेख (७४) शक सं १ ७१ का है तथा जयइन्द्रवर्मन् चतुर्थ का माइ-सोन[22] का लेख १ ८५ शक सं का है। पो-नगर के लेख में तिथि नहीं है। केवल उसकी कम्बुज और यवन विजयों का उल्लेख है।[23] इससे प्रतीत होता है कि उसका शासन लगभग १ ८४ (११६२ ई) तक रहा होगा। उपर्युक्त लेखों में उसके वंश तथा शासनकाल की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख है। जयहरिवर्मन् परमब्रह्मलोक का पुत्र था और श्री रुद्रलोक का पौत्र था। उसकी मां परमसुन्दरीदेवी अथवा पिमुख थी और उसका अपना नाम रत्नभूमिविजय था। वह १४ कलाओं से परिपूर्ण था। माइ-सोन के तीसरे लेख में उसकी मां सुन्दरीदेवी का क्षत्रिय वंश लिखा है (क्षत्रियसुन्दरीमाता)[24] दूसरे लेख में दोनों ओर से इसे क्षत्रिय कहा है।[25] जयहरिवर्मन् के लेखों से तत्कालीन चम्पा की राजनीतिक परिस्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है। कम्बुज का विजय पर अधिकार पहले ही हो चुका था और यवन भी चम्पा पर आंख लगाये था। इनके अतिरिक्त कुछ जातियां जिन्हें किरातों की श्रेणी में रखा गया है, चम्पा की राजनीतिक परिस्थिति को और भी जटिल बना रही थी। बटाऊ-टवल लेख के[26] अनुसार शक सं १ ६९ (११४७) ई में श्री जयस्कन्दवर्मन् की जिसे विष्णु का अवतार माना गया है मृत्यु पाण्डुरंग में हो गयी और नगरवासियों ने जयहरिवर्मन् को चम्पा के सिंहासन पर बैठने के लिए आमन्त्रित किया। माइ-सोन के लेख के अनुसार वह विदेशों में म्लेच्छों को हराकर अपने देश चम्पा लौटा था (विहाय

१९. मजुमदार, 'चम्पा' लेख नं ७२, ७३, ७४ पृ १७८ से।
२ वही नं ७५, पृ १९२ से।
२१ वही नं ७६, पृ १९४ से।
२२ वही, नं ७६, पृ १९५ से।
२३ वही नं ७७ पृ १९५ से।
२४ वही नं १४ पद ९।
२५. वही नं ७५ पृ १९३।
२६. वही।

मस्त्वदेवं प्राक परेद् कुशुकुचभाक देशेषु चिरकालेन चम्पायां पुनरागतः।)।[27] यामी नदी के किनारे गु स्वर मन्दिर के पीछे उसने चम्पासम्राट् को हराया तथा उसे मारकर सिंहासन जीता (प प्राग् कुहेश्वरात् नद्यां गत्यायतिसमीपकम्, प्रहृत्य राज्यभाग् याम्या पार्थिवं मरणं यतम्।)।[28] इस लेख से यह भी पता चलता है कि उसके कोई छोटा भाई न था (भ्राता तवनुजो नास्ति) इसलिए राज्य उसी को मिलना चाहिए था पर कदाचित् परिस्थिति का लाभ उठाकर किसी न अनधिकृत रूप से राज्य ले लिया होगा। हरिवर्मन् ने इसी को मारकर नागरिकों के आदेश से सिंहासन प्राप्त किया।

हरिवर्मन् के शासन की तीन प्रमुख घटनाएँ हैं—कम्बुज के साथ संघर्ष किरातों को दबाते हुए गृहयुद्ध में विजय और अमरावती के उपद्रवों को शान्त करना। कम्बुज के साथ संघर्ष का उल्लेख हरिवर्मन् के कई लेखों में है। कम्बुज के साथ दो बार युद्ध हुआ। ११४७ ई में कम्बुज के सम्राट् ने अपने मुख्य सेनापति शंकर के नेतृत्व मे एक बड़ी सेना भेजी जिसको चकल्यड (कदाचित् बटाऊ-टवल में प्राप्त लेख के निकट फनरंग घाटी के दक्षिणी भाग के एक गाँव चकलिंग) में हरिवर्मन् की सेना ने परास्त किया।[29] दूसरे वर्ष कम्बुज सम्राट ने पहली सेना से बहुसंख्यक सेना वीरपुर के मैदान में चम्पा के विरुद्ध भेजी। हरिवर्मन् ने कयेव के मैदान में उसे पूर्ण रूप में हराया। माइ-सोन लेख के अनुसार कम्बुजसम्राट् ने अपनी सम्राज्ञी के कनिष्ठ भ्राता हरिदेव को विजय का सम्राट् घोषित कर कम्बुज तथा विजय-सेनाओं को उसकी रक्षा का आदेश दिया पर जयवर्मन् ने महीश के मैदान मे इन दोनों पक्षों की सेनाओं को हराया तथा विजय के राजा को उसके कम सहित कम्बुज सेनापतियों सहित नष्ट कर चम्पा पर पूर्ण रूप से अधिकार कर लिया। विजयी सम्राट् हरिवर्मन् ने अपना अभिषेक किया। कम्बुजसम्राट् ने रदे मद तथा अन्य जंगली जातियों के व्यक्तियों को चम्पा के विरुद्ध प्रोत्साहित किया।

२७. यही नं ७४ पद ११।
२८. यही नं ७४ पद १२।
२९. लेख नं ७२, ७५।
३ लेख नं ७२, पृ १७९।
३१ यही मजुमदार, 'चम्पा' पृ १७९।

ये सब किरात राजा के अधीन थे। जयहरिवर्मन् ने किरातों की सेना को स्मान मे हराया। किरात राजा ने अपने साले वंशराज को मध्यम ग्राम में राजा घोषित किया और इसको अनम के सम्राट् ने कई सेनापति तथा एक लाख दस सैनिकों की सहायता द्वारा मान्यता दी। जयवर्मन् विजय की सम्पूर्ण सेना लेकर वंशराज के विरुद्ध बढ़ा और उसको हराया। अनम सेना को बड़ी क्षति पहुँची। इन अवनों में अनमिया का उल्लेख है जैसा कि पो-नगर[12] और हुआ-मि[13] के लेखों से विदित है। अन्त में अमरावती और पंडुरंग के गृहयुद्धों को उसने अच्छी तरह दबाया। इन गृहयुद्धों का विवरण अभाक्-रथल के लेख में नहीं है। शक सं १ ८२ (११६ ई) तक चम्पा में शान्ति का वातावरण पूर्णतया नहीं स्थापित हो सका। पो-नगर के शक सं १ ८२ के लेख के अनुसार उस वर्ष तक सम्राट् ने अपने सब शत्रुओं पर विजय पायी जिसमें सम्मुख अनम विजय अमरावती, उत्तर दक्षिण के देश पंडुरंग तथा रदे मद और अन्य जंगली जातियां सम्मिलित थी। समस्त भूमि से समुद्र तट की सीमा तक उसने अधिकार कर लिया (आसिन्धु भूतलपतिर्य रतस्य काभे) नं ७१।

हरिवर्मन का चीन के साथ भी मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहा और ११५५ ई में एक राजदूत चीन गया। युद्ध के पश्चात् अनम के साथ भी उसका मित्रतापूर्ण व्यवहार रहा। ११५२ और ११६६ के बीच चम्पा से कई दूत अनम भेजे गए।[14] जयहरिवर्मन ने कई मन्दिरों का निर्माण किया तथा मूर्तियों की स्थापना की। माइ-सोन के एक लेख[15] के अनुसार उसने अपने माता-पिता की स्मृति में दो मन्दिर बनवाये और महीता पर्वत पर एक लिंग की स्थापना की। श्री ईशानभद्रेश्वर मन्दिर का जीर्णोद्धार किया तथा एक और शिवमन्दिर की स्थापना की। हरिवमस्वर

१२ लेख नं ७९ पृ १७९ १८ ।

१३ नं ७७, पृ १९५, देखिए मासपेरो चम्पा, पृ १५८। सिडो ए हि पृ १७८।

१४ नं ७६ पृ १८४।

१५ मासपेरो 'चम्पा' १६ । सिडो, ए हि पृ २७९।

१६ मजूमदार, 'चम्पा' लेख नं ७९ पृ १७८।

१७ वही, नं ७१ पृ १८०-१।

देवता की स्थापना शक सं १ ७९ में की गयी[38] तथा पो-नगर की देवी के प्रति भी उसने बहुत-सा दान दिया।[39] जयहरिवर्मन् की मृत्यु ११६२ ई में हुई।[40]

जयइन्द्रवर्मन् स सूर्यवर्मदेव तक तथा कम्बुज चम्पा संघर्ष

जयहरिवर्मन् प्रथम के बाद उसका पुत्र जयहरिवर्मन् द्वितीय गद्दी पर बैठा किन्तु वह अधिक समय तक राज्य न कर सका। उसका नाम उसके पुत्र के दो लेखों मे मिलता है।[1] बलपूर्वक रूप से ग्रामपुर विजय निवासी श्री जयइन्द्रवर्मन् चतुर्थ गद्दी पर बैठ गया। माइ-सोन के लेख मे[2] शक सं १ ८५ (११६३ ई)मे पु-चिम्-प्रनाक श्री जयइन्द्रवर्मा द्वारा श्री ईशानभद्रेश्वर के प्रति दिये गये दान का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त पो-नगर के शक संवत् १ ८९ (११६७ ई)[3] माइसोन के शक सं १ ९२(११७ ई [4]) के तथा बन-भुवन के दो लेख[5] भी इसी सम्राट् के हैं। पो-नगर के लेख में भगवती कौठारेश्वरी के प्रति सम्राट् तथा उसकी रानियो परमेश्वरी और राज्य-स्वामी द्वारा दिये गये दान का उल्लेख है। माइ-सोन के दूसरे लेख के अनुसार सम्राट् व्याकरण ज्योतिष धर्मशास्त्र मुख्यतमा नारदीय तथा भार्गवीय मे पारंगत था। उसने वृद्धलोकेश्वर, जयइन्द्रलोकेश्वर और भगवती श्री जयइन्द्रेश्वरी तथा भगवती[6] श्री इन्द्रगौरीश्वरी की मूर्तियां स्थापित की। उसने श्री ईशानभद्रेश्वर (शिव) के लिए भी पुण्य हेतु समय-समय पर दान दिये जिनका उल्लेख मिलता है। जयइन्द्रवर्मन् के राज्यकाल में चम्पा का कम्बुज

३८. वही, नं ७४ पृ १८३।

३९. वही नं ७६, पृ १९४।

४ मजुमदार, 'चम्पा' पृ १ १। सिदो के मतानुसार यह घटना ११६६-७ ई की है। (ए हि पृ २७९)।

४१ मजुमदार, 'चम्पा' लेख नं ९४-९५, पृ ११ २११।

४२ वही, नं ७९, पृ १९५।

४३ वही नं ८ पृ १९८।

४४ मजुमदार, 'चम्पा' लेख नं ८१ पृ १९८।

४५ वही लेख नं ८२ ८३ पृ २ २ १।

४६ सिदो ए हि पृ २७९।

के साथ संघर्ष आरम्भ हो गया। उस समय वहां जयइन्द्रवर्मन् द्वितीय राज्य कर रहा था। ११६७ ई॰ में उसने भेंट लेकर एक राजदूत चीन भेजा जिसका उद्देश्य उसे चीन द्वारा चम्पा का शासक घोषित कराना था। ११० में अनाम सम्राट् के पास भेंट भेजकर जयइन्द्रवर्मन् उस ओर से निश्चिन्त हो गया।[47] ११७१ में एक चीनी नाविक के जिसका जहाज डूब गया था आदेशानुसार उसने अपने सैनिकों को एक नवीन प्रकार से शत्रु की ओर बाण फेंकने की शिक्षा दिलवायी। चम्पा और कम्बुज के बीच ३२ वर्ष का लम्बा युद्ध इस शासक के समय में भी बराबर चलता रहा। इसका कोई स्थायी रूप से परिणाम नहीं हुआ। चम्पा का एक जहाजी बेड़ा नदी के मुहाने से कम्बुज की राजधानी की ओर बढ़ा और उसे लूटकर वापस आ गया। इस सम्बन्ध में अंग-कुमन के लेख में सम्राट् के तीन महाजनों द्वारा सम्राट् इन्द्रवर्मन् के प्रति स्वामिभक्ति तथा उनकी ओर से आक्रमण युद्ध में भाग लेने की शपथ ली गयी है।[48] शक सं॰ ११२५(१२०३ ई॰)के मार्ग चीन के लेख के अनुसार[49] शक सं॰ १११२(११९० ई॰) में जयइन्द्रवर्मन् ने कम्बुज पर चढ़ाई की थी। कम्बुज के सम्राट् जयवर्मन् सप्तम ने भी सूर्यवर्मदेव को विजय जीतने के लिए भेजा और वह जयइन्द्रवर्मन् को पकड़कर कम्बुज ले गया तथा सम्राट् के साले सूर्यजयवर्मदेव को विजय का राजा घोषित किया गया। सूर्यवर्मदेव पाण्डुरङ्ग के राजपुर में राज्य करने लगा। पर दो वर्ष के अन्दर एक स्थानीय शासक कुमार रघुपति ने भी सूर्यवर्मदेव के विरुद्ध युद्ध करके उसे कम्बुज लौटने पर बाध्य किया और रघुपति भी जयइन्द्रवर्मदेव के नाम से विजय का नृप घोषित हो गया।

कम्बुज सम्राट् ने शक सं॰ १११४ (११९२ ई॰) में पुनः विजय को जीतने के लिए एक सेना भेजी और चम्पा के पहले बन्दी सम्राट् जयइन्द्रवर्मन् को भी उसके साथ भेजा। राजपुर में सूर्यवर्मदेव कुमार श्री विद्यानाथ ने जिसके सेनापतित्व में पहले जयवर्मन् ने सेना भेजी थी अब इसका भी आधिपत्य ग्रहण किया और विजय पहुंचकर जय इन्द्रवर्मन् व रघुपति को हराकर मार डाला। ११९२ ई॰ से वह स्वतन्त्र रूप से चम्पा पर राज्य करने लगा। कम्बुज के सम्राट् ने सूर्यवर्मदेव

४७ मालरैरो 'चम्पा' पृ॰ १६३।
४८ मजूमदार 'चम्पा' लेख सं॰ ८२।
४९ वही, सं॰ ८४ पृ॰ १९।

परमेश्वरवर्मन् का उसके सेनापति रामदेव को स्वयं उत्पन्न देवता की मूर्ति स्थापन का आदेश है। ७ ग्मर ११ स्वामी १ पुकाम (पपान) दास तथा कई हाथी भी दान दिये गये। इसके अन्य लेखों में माइ-सोन का ११५९ (१२१४) ई का लेख सोमंगोपु का बिना तिथि का लग तथा फनरंग और कि पुम के बिना तिथि के लेख हैं।[55] अन्तिम लेख में बौद्ध देवता श्रीलिंग लोकेश्वर, श्री जिनपरमेश्वर, श्री जिनवृद्धेश्वरी श्री जिनलोकेश्वर, श्री सौगतेश्वर तथा श्री जिनेश्वरी का उल्लेख है। युवराज नन्दभद्र के साथ दिये गये दान का उल्लेख फनरंग के अतिरिक्त लेख में है। जयपरमेश्वरवर्मन् की अन्तिम तिथि ११५९ और माइ-सोन का इसी तिथि का लेख है।[56] उसके बाद जयइन्द्रवर्मन् कुमार हरिदेव का माइ-सोन का लेख है जिसकी तिथि शक सं ११६५ (१२४३) ई है। अतः इन दोनों तिथियों के बीच में ही वह चम्पा के सिंहासन पर बैठा होगा।

(देखिए, पृष्ठ १११)

५५. वही क्रमांक नं ९ ११ १२, १३ पृ २ ८ से।
५६. वही नं १४ पृ २१ से।

जयइन्द्रवर्मन् पंचम

माइसोन के लेखों में जयइन्द्रवर्मन् की वंशावली दी हुई है।[५७] यह श्री परमेश्वरवर्मन् का कनिष्ठ भ्राता तथा श्री जयहरिवर्मदेव (द्वितीय) का पुत्र और श्री जयहरिवर्मदेव (प्रथम) का पौत्र था (आसीन्नृपश्रीहरिवर्मदेव पौत्रोऽधिकश्री जयइन्द्रवर्मा। एतत्र च श्रीहरिवर्मदेवात्मजोऽनुजश्रीपरमेश्वरस्य। ९५ पद २)। इसके समय में अनम के साथ संघर्ष हुआ पर स्थायी रूप से इसका कोई परिणाम न निकला। चम्पा अपनी उत्तरी सीमा पर के छीन खोये हुए प्रान्तों को न पा सका और न वह अनामी शत्रु की कारवाई ही रोकी जा सकी। हां अनम का
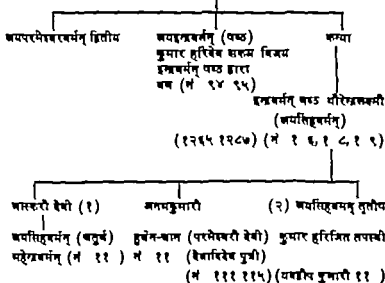
सम्राट् चीन में बहुत-से बन्दी एक रानी तथा कुछ व्यक्तियों को पकड़कर ले गया।[५८] १२५७ ई में सम्राट् के भांजे भी जयसिंहवर्मन् ने अपने मामा का वध कर डाला और १२६६ ई में इन्द्रवर्मन् के नाम से अपने को सम्राट् घोषित किया। इसके समय के कई लेख मिले हैं,[५९] जिनमे सम्राट् तथा सम्राज्ञी सूर्यलक्ष्मी द्वारा स्थापित मूर्तियों का उल्लेख है। इसने चीन तथा अनम के साथ भी भेंट और राजदूत भेजकर मित्रता स्थापित रखी जो क्रमश: १२६६ में अनम और १२६७ १२६९ और १२७ में चीन गये।[६०] १२८१ ई में कुबलई नामक मंगोल सम्राट् द्वारा भेजे गये सगटाऊ ने चम्पा पर आक्रमण किया और चम राजकुमार हरिजित ने उसका मुकाबला किया। पर दो वर्ष के युद्ध के बाद भी चम्पा पर न तो उसका अधिकार हो सका और न चम्पा ने आत्मसमर्पण ही किया। मंगोलों को स्थलमार्ग से आने के लिए अनम से भी संघर्ष करना पड़ा पर इसमें वे हार गये। चम्पा के राजा इन्द्रवर्मन् ने कुबलई के पास १२८५ में भेंट भेजकर अपने देश के लिए शान्ति मोल ली। १२८७ के लगभग इन्द्रवर्मन् मर गया। मारकोपोलो के १२८५ ई मे चम्पा पहुंचने के समय वह बहुत वृद्ध था। उसके पीछे समय बाद उसका पुत्र कुमार हरिजित जयसिंहवर्मन् (तृतीय) के नाम से सिंहासन पर बैठा।[६१] अनमी लेख में उसे छे-मन कहा गया है।[६२]

जयसिंहवर्मन् (तृतीय) तथा अनम का चम्पा पर अधिकार

१४वीं शताब्दी से अनम का चम्पा के ऊपर धीरे धीरे अधिकार होने लगा। कुमार हरिजित जिसने बड़ी वीरता से मंगोलों का मुकाबला किया था अपने देश के लिए द्रोही सिद्ध हुआ। लेखों से यह प्रतीत होता है कि वह विभिन्न देशों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपने राजनीतिक स्तर को ऊँचा उठाना चाहता

५८. मासपेरो 'चम्पा' पृ १७२।
५९. मजुमदार, 'चम्पा' लेख नं १ ६ १ ७ १ ८, १ ९ पृ २१७-१९।
६ मासपेरो 'चम्पा' पृ १७४।
६१ वही पृ १७५। मजुमदार, 'चम्पा' पृ १११।
६२ सिडो, ए हि पृ ३६१।
६३ मासपेरो पृ १८८।

था। शक सं १२२८ (१३ ६ ई) के पो-सह्-नंग्ड की घाटी से प्राप्त लेख[94] के अनुसार उसकी एक रानी तपस्वी यवद्वीप के नृप की पुत्री थी। उसे अनम-सम्राट् त्रान-अन-तोन की पुत्री हुयेन-त्रान के साथ विवाह के बदले में उत्तरी चम्पा के दो प्रान्त वुआ-विएन तथा चम्प का उत्तरी भाग अनम को देना पड़ा।[95] आमोनिये के मतानुसार[96] अनम-कुमारी परमेश्वरी के नाम से चम्पा में विख्यात हुई। विवाह के थोड़े ही दिन बाद जयसिंहवर्मन् की मृत्यु हो गयी और उत्तरी चम्पा के ये बहुमूल्य प्रान्त सदैव के लिए चम्पा के हाथ से निकल गये। जयसिंहवर्मन् द्वारा दिये गये दानों का उल्लेख पो-नगर तथा शालि मन्दिर के लेखों में मिलता है।[97]

जयसिंहवर्मन् के बाद उसका पुत्र जिसकी माँ का नाम भास्करदेवी था ११ वर्ष की आयु में १३ ७ ई में सिंहासन पर बैठा। मास्पेरो ने इसका नाम जयसिंहवर्मन् (चतुर्थ) दिया है[98] पर अनमी स्रोतों ने इसे चि कहा है।[99] शक सं १२२८ (१३ ६ ई) के जयसिंहवर्मन् तृतीय के लेख म इसका उल्लेख मिलता है। इसका जन्म शक स ११९६ (१२७४ ई) में हुआ था। शक स० १२२ (१२९८ ई) मे इसे तथागत-पुरा-अधिक वर्मन् की उपाधि मिली और १२२२ (१३ ई) मे यह सम्राट् की ओर से चीन मनी और मूसना विजय के बीच प्रान्त का शासक नियुक्त हुआ। शक स १२२३ (१३ १ ई) उसके पिता ने उसे पुत्सद-जवन सिंहवर्मन् की उपाधि प्रदान की और शक स १२२७ (१३ ५ ई) में उसका नाम महेन्द्रवर्मन् रखा। १३ ७ ई मे यह चम्पा के सिंहासन पर बैठा। इसने अनम के साथ मित्रता का व्यवहार रखा पर अपने पिता द्वारा दिये गये प्रान्तों का इसे दुःख था। १३१२ ई मे अनम का चम्पा पर आक्रमण हुआ जिसका कारण स्थानीय जन विद्रोह था और जयसिंहवर्मन् अपने कुटुम्ब सहित बन्दी कर लिया

९४ मजुमदार, 'चम्पा' लेख नं ११ पृ २१९।
९५ सिदो, ए हि पृ ३५२।
९६ मजुमदार, 'चम्पा' पृ १२१।
९७ मजुमदार, 'चम्पा' लेख नं० १११ ११५ पृ २१ ।
९८ मास्पेरो, चम्पा पृ १९१।
९९ सिदो ए हि पृ ३८ ।
१०० मजुमदार, चम्पा, लेख नं ११ पृ २१९।

गया। फिर ११११ ई में इसकी टोंकिंग में मृत्यु हो गयी।[71] सम्पूर्ण देश अनम के अधिकार में चला गया। चे-नेगने जिसे अनम की ओर से चम्पा का द्वितीय श्रेणी का शासक नियुक्त किया गया था १११४ में अनम के शासक शन-शान-तोन के अपने पुत्र मिन-तोन के प्रति सिंहासन-त्याग से लाभ उठाना चाहा।[72] उसने विद्रोह किया पर १११८ ई मे वह हारकर चम्पा भाग गया और इस प्रकार धरणीन्द्रवर्मन् परम ब्रह्मलोक द्वारा सन् ११४५ ई में स्थापित राजवंश का अन्त हुआ।

१११८ ई में अनम की ओर से चे-बन-नग सैनिक शासक नियुक्त हुआ। उसने अनम से स्वतन्त्र होने का सफल प्रयास किया और चीन तथा मंगोलों के साथ मित्रता स्थापित रखी। ११२९ में उसने अनम के ऊपर विजय प्राप्त कर चम्पा[73] को स्वतंत्रता प्रदान की। उसने ११४२ ई तक राज्य किया। उसके बाद उसका जामाता च-होआ-बो-दे गद्दी पर बैठा। उसका अनम से चम्पा के उत्तरी प्रान्तों को वापस लेने का प्रयास विफल रहा। उसके राज्यकाल के अन्तिम वर्ष के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों का विचार है कि इन-बतूता के 'तवालिसि' से चम्पा का संकेत है।[74]

अन्तिम शासक

चम्पा और अनम का संघर्ष बराबर चलता रहा और चम्पा ने अनम के भीतरी मामलों में भी हस्तक्षेप किया। ११७१ में चम्पा के बेड़े ने अनम की राजधानी पहुँचकर उसे लूटा। चम्पा के सम्राट् चे-बोन-ग्न ने अनम में आतंक फैला दिया था और ११८९ में पुनः अनमी सेना को हराया। मासपेरो के मतानुसार चम्पा के

७१ मासपेरो चम्पा पृ १९५। सिडो, ए हि पृ ३८१।

७२ सिडो ए हि पृ ३८१। ११११ ई में स्याम की ओर से चम्पा पर आक्रमण हुआ, पर अनमी सम्राट् ने इसे रोककर देशकी रक्षा की। मासपेरो, चम्पा पृ १९६-९७।

७३ मासपेरो पृ १९२। सिडो पृ ३८१।

७४ सिडो, ए हि पृ ३८२।

इतिहास का यह अति उत्कर्ष का काल था।[७५] पर चे-बोंग-न्ग की मृत्यु के बाद ल सै नामक सेनापति ने चम्पा पर अधिकार कर अपना वंश चलाया। इसकी समानता श्री जयसिंह वर्मदेव पंचम श्री हरिजाति वीरसिंह चम्पापुर से की जाती है जिसने नृपु वंश चलाया। उसने ११९०-१४ १ ई. तक राज्य किया और उसके बाद श्री नृपु विष्णुजाति वीर महावर्मदेव-इन्द्रवर्मन् ने १२ वर्ष राज्य किया।[७६] १४ २ के अनमी आक्रमण में इसके सेनापति को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा और अन्त में चम्पा को सम्पूर्ण चरंग नम तथा क्वोंग नगि देकर सन्धि करनी पड़ी। चम्पा का आधा देश अनम के अधिकार में चला गया। पर चीनियों के साथ अनमियों के संघर्ष के फलस्वरूप अनमियों की पराजय हुई और ये दोनों प्रान्त पुनः चम्पा को वापस मिल गये। १४२१ में उसने कमेरों (कम्बुज देश) पर विजय प्राप्त की और विएन-हुआ में विष्णु की मूर्ति स्थापित की।[७७] १४२८ से चम्पा और उसके पड़ोसी देशों के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण रहे। १४४१ में इसकी मृत्यु हुई और इसका भतीजा महाविजय गद्दी पर बैठा। चीन के सम्राट् की ओर से भी उसे मान्यता प्राप्त हो गयी पर अनम के साथ उसका १४४४ तथा १४४५ में संघर्ष हुआ।

७५ मिंग वंश के इतिहास में मोन्ग-गो-ठो ने जिसे चम्पा की किवदन्तियों के अनुसार विनासुर कहा गया है, अनम के विरुद्ध १३६१ १३९ ई. के बीच में कई बार संघर्ष किया। इसका शासनकाल कदाचित् १३६ ई. से आरम्भ होता है। इसने १३६१ ई. में द-लि का बन्दरगाह लूटा १३६८ में बर्मा-नग में चर्मों को हराया, १३७१ में दोंकिन पर आक्रमण किया और हनोई को घेरा। १३७७ के चिन-दिन में अनमियों को हराया। अनमी सम्राट् त्रान-दुए-तोन की मृत्यु के बाद टोंकिन पर पुनः आक्रमण हुआ और हनोई लूटा गया। १३८ में न्घे अन और थन हुआ को लूटा गया। रयल मार्च ने १३८४ में टोंकिन पर आक्रमण हुआ और १३८९ में चर्मों को एक नयी सफलता मिली और वन हुंग येन तक पहुँचे। एक चम सेनापति के विश्वासघात से अनम की स्वतंत्रता बच गयी। मासपेरो चम्पा, पृ २ १ ११। मित्रो, ए हि पृ १९५ ६।

७६ मित्रो, ए हि पृ १९६। मिंग वंश के इतिहास में इसे चम प नि सै (चम्पाधिराज) और अनम वृत्तान्तों में बे दिच से कहा गया है।

७७ चु इ मा ४ पृ ९८७। मित्रो, ए हि पृ १९७।

१४४६ में अनमियों ने चम्पा पर आक्रमण कर उसकी राजधानी विजय को घेर लिया और महा कुई ले नामक उसके चाचा ने धोखे से महाविजय को अनमियों के हाथ बन्दी करवा दिया। पर वह स्वयं भी देशद्रोही होते हुए अधिक समय तक राज्य न कर सका। उसका छोटा भाई क्वी दो उसे गद्दी से उतारकर १४४९ ई में स्वयं राजा बन बैठा। १४५७ ई मे उसका वध कर दिया गया और बन क ज न्गुयेत (चीनी पन क ये जो विजय का जामाता था) को चीन के सम्राट् ने मान्यता प्रदान की पर अनम के साथ पुनः संघर्ष हुआ। अपने छोटे भाई बन-क-म-बन के पक्ष मे उसने १४६ में अपना सिंहासन छोड़ दिया।[७८] उसने अनम के विरुद्धअपि-मतापूर्ण नीति अपनायी जिसके फलस्वरूप चम्पा द्वारा अनम के साथ संघर्ष ने जोर पकड़ा। १४७१ में अनम की सेना चम्पा में घुस गयी। अनमियों ने सम्पूर्ण अमरावती पर, जो चमों ने १४ ७ में पुनः प्राप्त कर ली थी तथा विजय पर पूर्णतया अधिकार कर लिया। केवल कौठार और पाण्डुरंग में एक चम सेनापति बो-त्रि ने अपने को सम्राट् घोषित किया तथा अनमियों के साथ सन्धि की और चीनी सम्राट् की ओर से भी मान्यता प्राप्त कर ली। इस वंश के तीन राजाओं ने १५४२ ई तक राज्य किया जब कि यहाँ से चा-कु-पु-लो ने अन्तिम दूत चीनी सम्राट् के पास भेजा था। इसने अनमियों से स्वतंत्र होने का प्रयास किया पर चम्पा को अपनी सीमित स्वतंत्रता से भी हाथ धोना पड़ा। अनमियों ने सम्पूर्ण चम्पा पर अधिकार कर लिया। उनकी सीमा फनरंग नदी तक पहुँच गयी। चम्पा की राजधानी बल-चमर चली गयी। १७वीं-१८वीं शताब्दी मे बन-थुआ और फनरंग निकल जाने पर १८२२ में अन्तिम राजा पो-छोंग कुछ व्यक्तियों सहित कम्बुज चला गया और इस प्रकार चम्पा का भारतीय इतिहास समाप्त हुआ।

७८. मास्पेरो ने चम्पा के अन्तिम शासकों का इस प्रकार उल्लेख किया है— त्रि ये (चीनी त्सि-ये विजय) जो इन्द्रवर्मन् का भतीजा था (१४४१ १४४६) त्रि-ओं (चीनी कुए-लै) जो इन्द्रवर्मन् का पुत्र था (१४४६ १४४९) त्रि-री (चीनी कुए-यौ) छोटा भाई (१४४९ १४५८) बन-क-ज-ग्नु-येत (चीनी पन-लू-ये) जो विजय का जामाता था (१४५८ १४६) बन-ल ज तो-बन (चीनी पन-लो-चु-तिसन) भाई (१४६०-१४७१)। मास्पेरो 'चम्पा' पृ २१०-२१९।

अध्याय ५

शासन-व्यवस्था

विशाल चम्पा राज्य के शासन-प्रबन्ध पर मुख्यतः स्थानीय लेख ही प्रकाश डालते हैं। चीनी स्रोतों से भी सम्राट् की चर्चा दंड-व्यवस्था इत्यादि की कुछ जानकारी प्राप्त होती है। यद्यपि लेखन-सामग्री पूर्ण रूप से इस विषय पर विस्तृत प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त नहीं है, फिर भी इसके आधार पर हम शासन व्यवस्था के कुछ अंगों का उल्लेख कर सकेंगे। जैसे सम्राट्, उसका चुनाव गुण तथा अधिकार, अभिषेक, प्रान्तीय तथा स्थानीय शासन-प्रबन्ध न्याय तथा सेना व्यवस्था दंड और अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क। भारतीय होने के नाते यहां के सम्राट् भारतीय शासन-पद्धति को बदल न सके और वे धर्मशास्त्र के पूर्णतया ज्ञाता थे। उनकी विचारधारा पूर्णतया भारतीय थी जिसके अन्तर्गत सम्राट् देवता स्वरूप था और प्रजा की रक्षा करना उसका परम कर्तव्य था। धार्मिक होना सम्राट् के लिए आवश्यक था और उसे वर्णाश्रम व्यवस्था की परम्परा को भी स्थापित रखना था। 'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति' के रूप मे उसे अपनी प्रजा की मान्यता और भक्ति प्राप्त थी तथा ब्राह्मण भी उसके चरण स्पर्श करते थे। ब्राह्मण पुरोहितामात्यसमन्वित नरपतिमुख्य [illegible] चरणारविन्द। इसका उल्लेख केवल एक ही लेख मे है।[1] इसलिए यह कहना कठिन है कि यह प्रथा सर्वथा मान्य थी जब कि भारत मे राजपुरोहित को ऊंचा स्थान प्रदान किया जाता था। भारतीय परम्परा ने चम्पा की शासन-व्यवस्था पर अपनी गहरी छाप डाली थी और इस सम्बन्ध मे हमें उसके प्रत्येक अंग का अंकन करना होगा।

सम्राट् तथा उसका स्थान

भारत की भांति चम्पा मे भी राजकीय शासन-व्यवस्था बराबर रही। गणतंत्र

१ मजुमदार, 'चम्पा' लेख नं० १० पद २।

के समान केवल बो-चन के लेख में सभा के उल्लेख आमात्यैर्वं सचिव राजन्येन[2] तथा जनता द्वारा समय समय पर सम्राट् के चुनाव से प्रतीत होते हैं। जैसे १०७० ई में जब रुद्रवर्मन् की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र हरिवर्मन् को चुना गया।[3] (नं ७५) माइ-सोन के एक लेख में[4] प्रकाशधर्म को सिंहासन देने का उल्लेख है। गद्दी पर बैठने के बाद उसने श्री विक्रान्तवर्मा नाम धारण किया। श्रीविक्रान्त वर्म्मे त्युपात्तविक्रमाभिषेकनामा। सम्राट् द्वारा अपने उत्तराधिकारी के निर्वाचन का उल्लेख माइ-सोन के शक सं १ १ के लेख में[5] मिलता है। हरिवर्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र युवराज के राजद्वार में चम्पा पर राज्य करने के लिए सब प्रबन्ध पाये। अत साधु पुरुषों द्वारा उस ९ वर्ष के बालक का अभिषेक हुआ। पर जयइन्द्रवर्मदेव अभी बालक ही था। और जैसा कि माइ-सोन के जयइन्द्रवर्मन् द्वितीय के शक स १ १ के लेख से प्रतीत होता है[6] उसे शासन सम्बन्धी अच्छाई और बुराई का ज्ञान न था। अत समस्त सेनापतियों ब्राह्मणों ज्योतिषियों विद्वानों तथा उत्तम अध्यक्षों और श्री हरिवर्मदेव की रानियों ने युवराज श्री युवराज महासेनापति कुमार पोन को जो रुद्रवर्मन् का चचा था सम्राट् चुना। उसमें राजचक्रवर्तिन् के लक्षण पाये जाते थे तथा अच्छे-बुरे कार्य का ज्ञान था। वह कर्तव्य परायणता, सत्यता उदारता तथा साधुता से परिपूर्ण था और उसमें भेदभाव का अभाव था। श्री जयइन्द्रवर्मदेव स्वयं उपर्युक्त व्यक्तियों सहित उपहार लेकर अपने चचा के पास गया और उससे सम्राट् होने की प्रार्थना की। इस परम बोधिसत्व के नाम से उसने पाँच वर्ष राज्य किया और उसके बाद पुन श्री जयइन्द्रवर्मदेव चम्पा का सम्राट् हुआ।

सम्राट् होने के लिए राजकीय वंशज पिता अथवा माता की ओर के अतिरिक्त कुछ गुणों तथा व्यक्तित्व का होना आवश्यक था। चक्रवर्ती के लिए १२ गुणों और चिह्नों का होना अनिवार्य था। एक लेख में सम्राट् के लिए ११ चिह्नों का

२ वही, नं १ पृ ११८।
३ वही पृ १९१ यह घटना शक सं १ ९९ में हुई।
४ वही, नं १२, पृ १९ (१४)
५. मजुमदार, 'चम्पा' नं ६२ पृ १६२।
६ वही, नं ६५ पृ १६९।
७ वही नं ९४ पृ २१ ।

होना आवश्यक लिखा है। सुन्दरता में उसकी कामदेव अथवा विष्णु से तुलना की गयी है।[8] स्मरकान्तो कामतुल्यो बरावरतनुककान्ति कोमल शरीर।[9] अपनी शूरता और वीरता का प्रमाण सम्राट् अपने युवा-काल में ही दे दिया करते थे पर शासनकाल में भी वे युद्ध की ओर से विमुख न होते थे। रणो भावको यो। प्रजा के हित के लिए वे अपनी शूरता और विद्वता का परिचय देते थे। प्रकृति हित मनीषिसन् धन्तनोस्मास्मतेजो।[10] शक सं. १ ९२ के मय इन्द्रवर्मन् के लेख[11] में सम्राट् के विषय में लिखा है कि संसार की भलाई के लिए उसने शासन किया। सम्राट् के पास एक बड़ी सेना (पृथुबल) थी तथा वह सब प्रकार के शस्त्रों का प्रयोग कर सकता था। वह शास्त्रों में भी पारंगत था और व्याकरण ज्योतिष तथा महायान दर्शन का उसे विशेष ज्ञान था। धर्म शास्त्रों में विशेषतया भारतीय और मार्गीय में उसे विशेष रुचि थी। इनके अतिरिक्त शासन-व्यवस्था सुचारु रूप से चलाने के लिए उसे साम दाम भेद और दंड (अथवा उपप्रदान) का भी प्रयोग करना पड़ता था।[12] वह काम क्रोध लोभ मोह मद तथा मात्सर्य से ऊपर था (नं. ९९) और राजनीति के 'षड्गुण्यानिप्रायम्' षाड्गुण्य समुद्देशः कौटिल्य ७ १। को पूर्णतया समझता था।[13] मनु द्वारा निर्धारित १८ मार्गों (मनु मार्ग) का भी वह अनुसरण करता था।[14] इनके साथ-साथ सम्राट् में धार्मिक रुचि का होना आवश्यक था। चम्पा के लेखों में प्रायः वहां के सम्राट् द्वारा देवता की मूर्ति-स्थापना अथवा मन्दिरों के लिए दिये गये दानों का ही उल्लेख है। योग ध्यान और समाधि

८. वही, नं. ९४ पृ. ९१।

९. वही, नं. ६२ पृ. १६२ पद ३।

१० वही, नं. २४ पृ० ५३।

११ वही नं. ६९, पृ० १६२।

१२ वही, नं. १९, पृ. १७ पद १। नं. ७२, पृ. १७९।

१३ वही, नं. ८१ पृ. १९९। इस सम्बन्ध में चम्पा के अन्य शासकों की वीरता का गुणगान भी किया गया है। देखिए, लेख नं. १ ६९, ७२, ९४।

१४ वही, नं. ६९, ६५।

१५ वही नं. ६५। इस सम्बन्ध में देखिए कौटिल्य अर्थशास्त्र (७.१)

१६ वही नं. ६५ (ब) पृ. १७१।

तथा मंत्र द्वारा वह व्यक्तिगत रूप से इस संसार और परलोक में सुकर्मों द्वारा ख्याति प्राप्त करता था। मुनियों यतियों तथा ब्राह्मणों को दान (नं २४) तथा पुण्य धार्मिक कृत्यों द्वारा वह अपनी सधार्मिक प्रवृत्तियों को बढ़ावा देता था।[17] सम्राट् की सहायता के लिए मंत्री सेनापति तथा अन्य उच्च पदाधिकारी रहते थे। धार्मिक विषयों के लिए ब्राह्मण ज्योतिषी राजपुरोहित तथा राज संस्कारों के प्रधान परामर्श देते थे।[18]

सम्राट न्यायाधीश के रूप में

सम्राट् न्यायाधीश के रूप में अपराधियों को उचित दंड देता था। इस सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों का उसे उचित ज्ञान था। सम्राट् के गुणों में इसका पहले ही उल्लेख हो चुका है। मनु के धर्मशास्त्र के अतिरिक्त नारदीय और भार्गवीय धर्मशास्त्रों का भी अनुसरण किया जाता था। न्याय के सम्बन्ध में कुछ चीनी स्रोतों से भी सहायता मिलती है। कुछ अपराधों के दंड में मनुष्य की स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति का अपहरण हो जाता था और साधारणतया बेंत लगाये जाते थे जो ५   १ तथा १   तक लगते थे। चोरी के दंड में उंगलियाँ काट दी जाती थी और व्यभिचार के दंड में दोनों व्यक्तियों को फाँसी की सजा दी जाती थी। खून करने के अपराध में बन्दी या तो मृतक के सम्बन्धियों को दे दिया जाता था जो उसे मार डालते थे अथवा वह हाथी के पैर से कुचलवा कर मार डाला जाता था। कभी-कभी जंगली पशुओं द्वारा किसी अपराधी की परीक्षा की जाती थी। शेर अथवा घड़ियाल आदि अपराधी को छोड़कर चला जाय तो वह व्यक्ति निर्दोष समझकर छोड़ दिया जाता था।[19]

सैनिक प्रबन्ध

चम्पा के इतिहास में अनाम तथा कम्बुज से बराबर संघर्ष होता रहा। अतः चम्पा की सेना के लिए पूर्ण रूप से सुसज्जित होना आवश्यक था। सेना का संगठन

१७ वही नं २४ पृ २८।
१८ वही नं ६६ पृ १७। दूँग-मामो १९१ पृ १९४।
१९ दूँग-मामो, १९१ पृ ९ ९-३। मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ १५१।

महासेनापति और सेनापति करते थे और उनके नीचे अन्य छोटे सरदार भी होते थे जो सम्राट् के प्रति वफादारी की शपथ पहले से लेते थे। इसी प्रकार के व्यक्तियों को कम्बुज में 'सम्बक' कहा जाता था।[२०] सैनिकों को सम्राट् की ओर से सहायता मिलती थी तथा वे कर से भी मुक्त थे। युद्ध में पैदल सेना तथा हाथियों के अतिरिक्त घुड़सवार भी थे। दुमान-क्म के भद्रवर्मन् तृतीय के शक सं ८११ के लेख में तेज दौड़ने वाले घोड़ों की टापों से उड़ती हुई धूल और खून से सनी लाल भूमि का उल्लेख है और चारों ओर हाथियों की चिंघाड़ से युद्ध भेरी भी फीकी पड़ जाती थी। भारत की भाँति चम्पा में भी सेना का मुख्य और अग्र अंग हाथी थे और ये अधिक संख्या में थे। स्थल के अतिरिक्त जलसेना और जहाजों का बेड़ा भी तैयार किया जाता था और युद्ध में नौ-सेना का भी प्रबन्ध था। अनामियों तथा चम्पा के बीच युद्धों में नौ सेना ने कई बार महत्त्वपूर्ण कार्य किया। नगर रक्षा के लिए भी समुचित प्रबन्ध रहता था। ऊँची दीवारों तथा कोने पर पत्थर के बने मचानों से नगर की शत्रुओं से रक्षा की जाती थी। ईसवी की पाँचवी शताब्दी की पुस्तक सिन्-यि-की में इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला गया है। क्यु-सु को २४८ ई० में जीतने के बाद उसकी रक्षा का समुचित प्रबन्ध किया गया था। राजधानी से ७ मील उत्तर में होने के कारण चीनी सेना को रोकने के लिए यह अग्र चौकी थी। इसके चारों ओर बचाव के लिए किले की २ फुट चौड़ी और १ फुट ऊँची भीत थी और अन्दर प्रवेश के लिए ११ फाटक थे। बाहर तीर फेंकने के लिए दीवार में छेद थे। इंट की दीवार पर ५ -८ फुट ऊँचे लकड़ी के मचान थे। इस किले के अन्दर चम्पा की रक्षा का सैनिक सामान रहता था।

प्रान्तीय शासन

चम्पा देश तीन मुख्य प्रान्तों में बँटा हुआ था। उत्तरी भाग अमरावती (वर्तमान-क्वाग-नम) था जिसमें चम्पापुर और इन्द्रपुर नामक दो मुख्य नगर थे। इन्द्रपुर की समानता डोंग-दुओंग से की गयी है। केन्द्रीय प्रान्त विजय था (वर्तमान

२ मजुमदार, कम्बुज लेख नं १६ पृ ४२२ पद २४।
२१ मजूमदार, चम्पा ६०, पृ ११४ पद १५।
२१ बु इ का १४ (९) पृ १४। मजुमदार चम्पा, पृ २६।

बिन-दिन्ह) और इसका मुख्य नगर विजय बहुत समय तक चम्पा देश की राजधानी भी रहा। दक्षिणी भाग पाण्डुरंग था (वर्तमान फन-रंग तथा बिन-थुआन) जिसमें कौठार सम्मिलित था पर कभी-कभी यह स्वतंत्र प्रान्त भी हो गया था। इनके लिए एक शासक तथा एक सेनापति नियुक्त किया जाता था। पो-नगर के हरिवर्मन् के लेख में[23] हरिवर्मदेव द्वारा उसके पुत्र युवराज विक्रान्तवर्मा को पाण्डुरंग का शासक नियुक्त किया गया। श्री पाण्डुरंग पुराधिपत्यमस्या। और इसकी रक्षा के लिए महासमपति पद प्राप्त सेनापति की नियुक्ति की। प्रान्तीय प्रदेशों का केन्द्रीय शासन के विरुद्ध खड़े होना अस्वाभाविक न था। पो-क्लौंग-गरै लेख के अनुसार[24] पाण्डुरंग ने अपना एक नया शासक निर्वाचित कर लिया था। पर परमेश्वरवर्मदेव ने अपने भतीजे युवराज महासेनापति के नेतृत्व में एक सेना भेजकर तथा एक का स्वयं नेतृत्व करके १७२—१ ५ ई में उसको जीत लिया। जिता-पाण्डुरंगनृपमाल्। प्रान्त के अन्तर्गत बहुत-से छोटे प्रदेश थे और एक चीनी स्रोत के अनुसार हरिवर्मन् द्वितीय के समय में इनकी संख्या ३८ थी।[25] प्रत्येक प्रदेश में नगर और ग्राम थे जिनमें कोई ७ परिवार से अधिक नहीं रहते थे। प्रान्तों और प्रदेशों में बहुत-से पदाधिकारी रहते थे जिनकी संख्या ५ के निकट थी। इनका कार्य कर वसूल करना तथा शासन-सम्बन्धी अन्य कार्य करना था। इनका वेतन जागीर के रूप में भूमि की पैदावार था तथा जनता द्वारा इनका पालन होता था। 'विष्टि' अथवा बेगार का भी चलन था।

राज्य की आय भूमिकर से होती थी जो उपज का १/६ भाग था। और कभी-कभी घटा कर यह १/१० भी होता था। षड्भागेप्यैष स्वामिना दस भागे नमुपहीता देवस्व ।[26] मन्दिरों के लिए कर माफ कर दिया जाता है।[27] भूमि के अतिरिक्त आयात-निर्यात के माल पर भी कर लगता था। बन्दरगाहों में आने वाले

२३ मजुमदार 'चम्पा' नं २१ पृ १२।

२४ मजुमदार, 'चम्पा' लेख नं ५१ ५४ पृ० १४७ से।

२५ वही पृ १४९।

२६ वही, लेख नं ४ (अ) ६।

२७ इन्द्रवर्मदेव द्वारा श्री भाग्यकान्तेश्वर मन्दिर का कर माफ कर दिया गया था। (नं ३१) पु-नुगान लेख। श्री जयसिंह वर्मदेव ने श्री इन्द्रपरमेश्वर

बहाजों पर राज्य कर्मचारी जाकर माल के ⅙ भाग को कर के रूप में ले लेते थे।[२८]

अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क

चम्पा के कुछ लेखों में कूटनीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क पर भी प्रकाश पड़ता है। सम्राट् के लिए राजनीति में मुख्य अंग साम दाम दंड भेद का जानना तथा प्रयोग करना आवश्यक था।[२९] मित्र शत्रु, और तटस्थ की श्रेणी में विभिन्न राज्य रखे जाते थे। चम्पा में दूसरे देशों से राजदूत आते थे[३०] (देशान्तरागतमहीपतिदूत संघ) तथा यहां से भी बराबर भेजे जाते थे। म्हन-बिमो के लेख में[३१] राजद्वार नामक एक व्यक्ति का उल्लेख है जिसे दो बार चम्पा के सम्राट् ने राजनीतिक कार्य से जावा भेजा था। इसने चम्पा के चार चार सम्राटों जयसिंहवर्मन् उसके पुत्र जय शक्तिवर्मन् भद्रवर्मन् तृतीय और उसके पुत्र इन्द्र वर्मन् तृतीय के समय में अपने पद को सुशोभित किया था। एक राजदूत के लिए जिन गुणों का होना आवश्यक है वे सब राजद्वार में थे। वह धीमान् गंभीर (स्वभपोपेत) धार्मिक (धर्म्य) और राजनीति में कुशल (कुशलनीतिमान्) तथा अपने सम्राट् के प्रति भक्ति की भावना रखता था तथा निःसंकोच उसकी आज्ञाओं का पालन करता था (नृपशासनम-त्यन्तामवारयन्तघपश्चित)। वह सम्राट् का प्रिय नायक भी था (नृपनैरन्ति रक्लभो नायकोऽभवम्) (पद ७) और जावा की प्रथम यात्रा में अपने कार्य में सिद्धि प्राप्त कर आया था, यवद्वीपपुरं भूपाज्ञया गतो दूरदर्शितिः यत्ना म प्रतिपर्तितवा सिद्ध यात्रो समागतम् ॥ (पद ८)। इस उच्च पद पर यह बराबर रहा (बहुत् प्रभुतोवता च्) और भद्रवर्मन् के समय में पुनः जावा गया और कार्य में सफल हुआ (यवद्वी

श्री हरोमादेवी तथा श्री राजपरमेश्वर और श्री बहोमादेवी के मन्दिरों के कर माफ कर दिये थे (नं. ११म) दोन-दुर्मोय लेख। अनु-डे-लैच के अनुसार इसलिए भाग पुरुष द्वारा प्रमुदित लोकेश्वर के मठ के लिए श्री इन्द्रवर्मन् ने छूट दे दी थी। नं. १७।

२८ वही, पृ. १५।

२९. वही, लेख नं. ६२ १५।

३० वही लेख नं. ७२ पृ. १२१ पद २।

३१ वही नं. ७३ पृ. १२२।

मधुरं भूप क्षितिपमुखरया द्विरमपि यो मत्वा स्त्रियाप्तानुपानम्) (पद ११)। उस सम्राट् ने 'महाकाधिपति' की उपाधि थी। राजनीति के विशेष ज्ञान के कारण वह सम्राट् को अच्छे और बुरे का परामर्श देता था (कर्मोचितानुचित-विवेकशीलोऽभिज्ञतबुद्धि: इष्टेष्वनिष्टेषु नराधिपस्य विज्ञकर् सतु मित्र कर्त्ते) (पद १५)। विभिन्न देशों में जानेवाले तथा वहाँ से चम्पा आनेवाले दूतों के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए बहुत-सी भाषाओं का ज्ञान आवश्यक था। पो-नगर के लेख में महासेनापति के विषय में लिखा है कि वह दूसरे देशों से आये हुए सन्देश को एक क्षण में देखकर ही पढ़ लेता था यह केवल उसके कठिन परिश्रम का ही फल था (सर्वदेशान्तरागतसमुपस्थितसन्देशमात्मतम्। निरीक्ष्यैकक्षणे वेत्ति निःशेषार्थमतीहया)।

उपर्युक्त वृत्तान्त से यह प्रतीत होता है कि चम्पा के शासन-प्रबन्ध में सम्राट् का प्रमुख हाथ था और अपने गुणों तथा क्षमताओं से वह अपनी प्रजा पर नियंत्रण रखता था। शासन-व्यवस्था में कुमार सेनापति तथा मन्त्रियों का भी प्रधान स्थान था और वे सम्राट् को परामर्श देते थे। दंड-व्यवस्था कठिन थी। विदेशों से सम्पर्क स्थापित रखने के लिए धीमान् और अनुभवी व्यक्ति थे जिन्हें कई भाषाओं का ज्ञान था। साम दाम दंड भेद का प्रयोग पूर्णतया होता था। धर्मशास्त्रों और अर्थशास्त्रों का पूर्णतया व्यावहारिक ज्ञान था। शासन-व्यवस्था में धर्म का मुख्य स्थान था और सम्राट् के लिए धार्मिक प्रवृत्ति का होना आवश्यक था। चम्पा के इतिहास में जो इतने संघर्ष हुए, राज्य बदले तथा विदेशियों के आक्रमण हुए, तो इस सब राजनीतिक अशान्ति का मुख्य कारण उसकी भौगोलिक परिस्थिति थी।

१२ मजूमदार, चम्पा, पृ १६५, पद २५।

अध्याय ६

सामाजिक व्यवस्था

भारतीय औपनिवेशिकों ने चम्पा में अपनी सामाजिक परम्परा को कायम रखा। ब्राह्मण और क्षत्रिय समाज के मुख्य अंग थे और उनके पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्धों का उल्लेख हमें कई लेखों में मिलता है। समाज का स्तर ऊँचा था और वणिक अथवा व्यापारी लोग भी धन-संपत्ति के कारण अपनी प्रतिष्ठा बनाये हुए थे। यह कहना कठिन है कि पराजित चम अथवा यहाँ के आदि-निवासियों को शूद्रों की श्रेणी में रखा गया या नहीं। वास्तव में चम्पा के सम्राट् अपने भारतीय नाम और धर्म की वेदी पर देशभक्ति का बलिदान न कर सके। इसीलिए चम्पा के लेखों में यहाँ के राजवंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपने देश की गुणगाथा गायी गयी है। (स्वामी बालमी भूमिप्रस्ताव)। एक लेख में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र का उल्लेख है। श्री जयइन्द्रवर्मन् देव रूपी सूर्य या चन्द्र के सामने कमल या कमलिनी की भाँति ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र खिल उठते थे। ब्राह्मण और पुरोहितों का उच्च स्थान था पर एक लेख में ब्राह्मण पुरोहित तथा क्षत्रिय और अन्य र थाथा द्वारा सम्राट् के चरण पूजने का उल्लेख है। (ब्राह्मणपुरोहिताचार्यजनसमाम्नार क्षत्रियमुख्यचरणारविन्द)। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय एक दूसरे के अधिक निकट थे और उनका वैवाहिक सम्बन्ध हो जाता था। लेखों के अनुसार राजकीय कुटुम्बों में रुद्रवर्मन् का पिता एक प्रसिद्ध ब्राह्मण था और उसकी माँ मनोरथवर्मन् (क्षत्रिय) की कन्या थी। (दौहित्रस्तस्ययोयो भूद्द्विजात-प्रवरात्मज)। रुद्रवर्मन् को इसीलिए ब्रह्म-

१ मजूमदार, 'चम्पा' लेख नं० ११ अ पद २१।
२ वही, नं० १५, पृ० १७२।
३ वही, नं० ३ पद २, पृ० ७२।
४ वही नं० १२, पद ३।

क्षत्रिय-कुल-तिलक कहा गया है।[5] इसी प्रकार प्रकाशधर्म की बहन का विवाह सत्यकौशिक स्वामी से हुआ था और इनके पुत्र महेश्वरवर्मन् ने ब्राह्मण और क्षत्रिय कुलों को देदीप्यमान किया। क्षत्रं कुलं ब्राह्म कुलं हि निरन्तरं यः प्रकाशीचकार।[6] एक और लेख में जय हरिवर्मदेव को ब्रह्मक्षत्रिय कुलज कहा गया है। और इसी सम्राट् के दूसरे लेख[7] में इसे केवल क्षत्रिय लिखा गया है। इससे प्रतीत होता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय का वैवाहिक सम्बन्ध साधारण रूप से होता था। और उससे उत्पन्न संतान 'ब्रह्म क्षत्रिय' अथवा क्षत्रिय' कहलाती थी। इसी प्रकार कम्बुज में भी ब्राह्मणों और क्षत्रियों में विवाह होते थे। क्षत्रिय सम्राट् भववर्मन् की भगिनी का विवाह ब्राह्मण सोमशर्मन् के साथ हुआ था और अपने पातिव्रत धर्म के कारण इसकी तुलना अरुन्धती से की गयी है। यशोवर्मन् की मा इन्द्रदेवी अगस्त्य नामक ब्राह्मण की वंशज थी जो आर्य देश से कम्बुज आया था। परमेश्वर जयवर्मन् द्वितीय का विवाह भास्वामिनी नामक एक ब्राह्मणी से हुआ था।[8] नरपति देश (ब्रह्मदेश) से आये हुए एक ब्राह्मण हृषीकेश ने प्रभा नामक कन्या से विवाह किया था और उसकी छोटी बहन जयवर्मन् अष्टम की सम्राज्ञी थी।[9] जयवर्मन् सप्तम की दोनों रानियाँ ब्राह्मणी थीं। अतः यह प्रतीत होता है कि सुदूरपूर्व में गये हुए औपनिवेशिकों ने वर्ण-व्यवस्था को कायम रखा। इन्द्रवर्मन् के एक लेख में उसे 'ब्रह्मक्षत्र प्रभाव' कहा गया है और उसने वर्णाश्रम व्यवस्था को उसी प्रकार रखा। (वर्णव्यवस्थितिस्फुरत्पवरीव राजधान्यासीत)[12] पर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने में किसी प्रकार की रुकावट न थी। चम्पा और कम्बुज के राजवंशों में भी बराबर सम्बन्ध स्थापित होता रहा। फूनान

५ वही नं ७, पद ३।
६ वही, नं १२, पद १३।
७ मजुमदार, 'चम्पा' लेख नं ७२ पृ १७८।
८ वही नं ७५ पृ १९२-३।
९ मजुमदार, कम्बुज लेख नं ११ पृ १९।
१ वही नं १४८ पृ ३५१।
११ वही नं १९ पृ ५४१।
१२ वही नं २३ पद २ पृ ४५।

पति को जो अपनी विद्वता के लिए प्रसिद्ध था और जिसने अभिलेखों की रचनाएँ भी की थीं सम्राट् भद्रवर्मन् की ओर से इसी प्रकार की मान-प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। तीसरे भाई ने धार्मिक क्षेत्र में अपनी विद्वता का परिचय दिया था और कई भाषाओं का ज्ञान होने के कारण वह सरलता से विभिन्न देशों से आये संदेशों को पढ़ लेता था। शिष्ट वर्ग के कुछ अन्य व्यक्तियों का भी उल्लेख इन लेखों में है। जयसिंहवर्मन् प्रथम के अध्यक्षसमट को भी सम्राट् की ओर से 'ईश्वरकल्प' और 'मी-कस्प' की उपाधियाँ प्रदान की गयी थी।[18] पाण्डुरंग के राजद्वार ने 'भकाल-विपति' की उपाधि जयसिंहवर्मन् से पायी थी।[19] इसी लेख में स्वद् पुत्रकुला वंश का भी उल्लेख है जो बुद्ध धर्म की थी (सा स्वद् पुत्रकुलमायाः बौधी सममुनि धुद्धवंशा था)।[20] इसका राजकुल से सम्बन्ध था।

शिष्ट समाज के अतिरिक्त चम्पा की सामाजिक व्यवस्था में दास-दासियों का भी स्थान था। बहुत-से लेखों में मन्दिरों में दास-दासी अर्पण करने का उल्लेख है।[21] ये सभी देवों के होते थे। पो-नगर के जयपरमेश्वरवर्मन् प्रथम के लेख[22] में सम्राट् के देवी मन्दिर के प्रति दान में ५५ चम ख्मेर, चीनी और स्यामी दासों का उल्लेख है। पो-क्लोङ्[23] के लेख में दासी राजकुल दिवक्ति अचार, बढि नामक बालक दास तथा वासुदेव नामक दास व्यक्ति का उल्लेख है। इसी लेख में चव (मलय अथवा जावा) और यवन (अनम) दासियों का भी उल्लेख है। वास्तव में यह युद्ध के पश्चात् अपहृत व्यक्तियों का उल्लेख है। युद्ध के पश्चात् ये अपहृत व्यक्ति दास-दासी के रूप में विजयी सम्राट् को मिलते थे। इन व्यक्तियों को सम्राट् मन्दिरों को अर्पित कर देते थे। पडुरंग के विद्रोह को

१८ वही, नं १५, पृ ९५।
१९ वही, नं ४१ पृ १२१।
२ वही, पद ४।
२१ वही, नं २६, ४६, २६, ११ ।
२२ वही नं ५८, पृ १५५।
२३ वही, नं १११ ११५।

दबाने के बाद परमेश्वर देव धर्म महाराज की अधीनता वहां की भावी जनता ने अंगीकार की थी।

कुटुम्ब विवाह तथा स्त्रियों का स्थान

चम्पा के लेखों से तत्कालीन वैवाहिक प्रथा तथा स्त्रिया के सामाजिक स्थान का भी पता चलता है। ये लेख या तो चम्पा-म्रा प्राट् अथवा राजकीय वर्ग के व्यक्तियों से सम्बन्धित हैं अत जनसाधारण के सामाजिक स्तर का पता इनसे लगाना कठिन है। बो-चन के लेख से सामूहिक कुटुम्ब-प्रणाली का संकेत मिलता है। श्रीमार ने अपने पुत्रों भाइयों तथा और सम्बन्धियों के साथ सामूहिक रूप से वनवितरण किया तथा उनके लिए ही उसने दान दिया था (प्रियहितैसर्व विसृष्टं मया सर्वं मया मुक्तं भविष्यदपि)[24] कुटुम्ब में केवल पृथक् रूप से ही अधिकार प्राप्त न थे पर मातृ सम्बन्धियों को भी सिंहासन पर बैठने का अधिकार था। पृथ्वीवर्मन् के बाद उसके दो भांजे सत्यवर्मन् और इन्द्रवर्मन् सिंहासन पर बैठे[25]। और इन्द्रवर्मन् के बाद उसकी बहिन का पति और फिर भाजा गद्दी पर बैठा। इन्द्रवर्मन् द्वितीय के बाद उसकी स्त्री का भ आ सिंहासन पर बैठा। इससे यह प्रतीत होता है कि स्त्रियों और बहिनों के वंशज भी सिंहासन पर बैठ सकते थे और उनका कुटुम्ब में अधिकार था पर इसे स्त्रियों की पुरुषों के ऊपर प्रधानता का संकेत नहीं मानना चाहिए। वास्तव में पुरुषों का स्त्रियों के ऊपर पूर्णतया अधिकार था बहुविवाह प्रथा भी वर्जित न थी और स्त्रिया के आदर्श ऊंचे थे (परिशुद्ध भावा साध्वी)।[26] एक लेख में नारिकेल और क्रमुक नामक दो कुलों का उल्लेख है। कदाचित् इसी प्रकार के और भी कुल रहे होंगे और विवाह-सम्बन्ध भी कुल के आधार पर होते थे। प्रकाशधर्म की बहिन ने सत्यकौशिक स्वामी नामक ब्राह्मण से विवाह किया था और उसके पुत्र महत्त्वरवर्मन् ने ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वंश को देदीप्यमान किया। यद्यपि लेखों में वैवाहिक संस्कार का वृतांत नहीं मिलता पर चीनी स्रोत से इस विषय में कुछ जानकारी प्राप्त हो सकती

२४ मजुमदार, चम्पा, पृ ७९।
२५ वही नं १ पृ २, पंक्ति १४ १५।
२६ पूर्व संकेतित हो चुका है।
२७ मजुमदार, 'चम्पा' नं १८ पृ ११।

है।[28] मध्यस्थ स्वर्ण रजत और मणि लेकर कन्या के घर जाता था और फिर शुभ मुहूर्त में वर पक्षवाले बाजों की ध्वनि करते हुए कन्या के यहाँ जाते थे और मंत्रों के साथ पुरोहित उनका विवाह करा देता था। लेखों में ब्राह्मणों के अतिरिक्त पुरोहित वर्ग का भी उल्लेख है[29] और शुभ संस्कार के सम्बन्ध में तिथि करण मुहूर्त नक्षत्र दिवस और लग्न का भी उल्लेख है। पतिपत्नी के रूप में दोनों का सम्बन्ध प्रेम और कर्तव्य पर आधारित था। जयसिंह ने अपने सौन्दर्य से अपनी स्त्रियों को अपनी ओर मोह लिया था (स्निग्धीकृता लोचनकमलमधुकराः)।[30] विवाह संस्कार के अन्तर्गत वरवधू सर्वदा के लिए एक सूत्र में बँध जाते थे।[31] चम्पा के सम्राट् प्रायः बहुविवाह करते थे जिसका कारण राजनीतिक मित्रता स्थापित करना था। जयसिंहवर्मन् तृतीय की रानियों में परमेश्वरी देवकिदेव की कन्या थी और तपस्वी यवद्वीप-कुमारी थी। इसके अतिरिक्त उसकी सम्राज्ञी का नाम भास्करी देवी था जिसका पुत्र हरिवर्मन सिंहासन पर बैठा। विवाहित रानियों के अतिरिक्त 'अन्तःपुर विलासिनी'[32] स्त्रियाँ सम्राट् के मनोरंजन का साधन होती थीं।

वेशभूषा तथा अलंकार

इस सम्बन्ध में लेख चीनी वृत्तान्त तथा चम्पा के कुछ कला के प्रतीक प्रकाश डाल सकते हैं। हरिवर्मन् के विषय में एक चीनी दूत ने (१ ७६ ई) में लिखा है कि सम्राट् सुनहरे फूले हुए कौशेय वस्त्र पहनता था और ऊपर से एक लम्बा कुरता जो सात सोने की कड़ियों से बँधा होता था। उसका मुकुट सुनहरा था जिसमें

२८ बूँग-माओ १९१ पृ १९४ से। मजूमदार, 'चम्पा', पृ २२६ से।

२९ मजूमदार, चम्पा, नं १ पृ ७१।

३ वही, नं २४ पृ ५१ से।

३१ वही नं १६ पृ १ पद ६।

३२ पो-नगर के एक लेख (नं १७) में सम्राट् इन्द्रवर्मदेव तथा सम्राज्ञी की परम रत्न स्त्री की कन्या सूर्यदेवी का श्रीव-रघुनन्दन नामक एक कुमार के साथ सर्वदा के लिए वैवाहिक सूत्र में बंधने का उल्लेख है और इन दोनों ने पो-नगर की देवी को बहुत-सा दान दिया था।

३३ मजूमदार चम्पा लेख नं २४ पृ ५५।

सात प्रकार के बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे। वह ताँबे की चप्पल पहनता था। जिस समय वह बाहर निकलता था तो उसके पीछे-पीछे पचास पुरुष और दस स्त्रियाँ सोने की थालियों में ताम्बूल और सुपारी लेकर ध्वनि करती चलती थीं।[१०] पो-नगर के एक लेख (नं ३)[११] में विक्रान्तवर्मन् के विषय में लिखा है कि एक सफेद छत्र सम्राट् के ऊपर रहता था और उसका शरीर मुकुट कटिसूत्र हार और कुंडलों से अलंकृत रहता था जिनमें माणिक तथा अन्य रत्न जड़े रहते थे) कुंडलमरित भूषितमुप शोभितो)। एक लेख में पुष्पवसन का उल्लेख है।[१२] शरीर को अलंकृत और सुगंधित करने के लिए सुगंधित चंदन और मुश्क का प्रयोग किया जाता था।[१३] एक लेख में जय सिंहवर्मन् प्रथम की मामी के विषय में लिखा है कि वह गन्ध बनाने पुष्पों के सजाने तथा कपड़े बनाने में प्रवीण थी (गंधे पुष्पनिर्बन्धवस्त्ररचनास्वेवं विदग्धा.....)।[१४] चम्पा के सम्राट् की वेशभूषा का वृत्तान्त एक अन्य स्रोत में भी मिलता है। इसके अनुसार उसका अन्तर-वासक मखमल का रहता था जिसमें लेस या सुनहरा किनारा रहता था। सुनहरे लम्बे कुरते पर एक सोने की मणिफूलों से जड़ी पेटी बाँधी जाती थी और उसके जूतों में भी मणियाँ जड़ी रहती थी।[१५] कलात्मक चित्रों में केवल निचला भाग ढका हुआ दिखाया गया है। इसमें एक लम्बे लहँगे अथवा छोटे पेटीकोट का प्रयोग होता था। वस्त्रों में बेलबूटे भी कढ़े रहते थे। कमर पर एक पटी बाँधी जाती थी। एक दुपट्टे का भी प्रयोग किया जाता था।[१६] पति और

१४ ईंक-थामो १९११ पृ २९ ।

१५ मजुमदार, चम्पा, लेख नं० ३ ।

१६ वही लेख नं १६, पृ १११।

१७. वही नं २४ पृ ५१।

१८ वही नं १६ पद८, पृ १ ।

१९. ईंक-थामों (१९१ पृ १९१४) मजुमदार, चम्पा, पृ २११।

४ मजुमदार, चम्पा पृ २२१। चम कला में पुरुषों को धोती पहने तथा दुपट्टा ओढ़े दिखाया गया है। डौंग-दुओंग के बुद्ध की मूर्ति में चुन्नट भी बड़ी सफाई से दिखायी गयी है। स्टर्न आर्ट द चम्पा चित्र नं ५६ (अ) मौली या मुकुट बड़ा ही सुन्दर होता था और यह भी तरह-तरह का बनता था (वही नं ५४ ५६)। टूरेन के संग्रहालय में प्रसिद्ध नर्तकी की मूर्ति पुष्पाकार मुकुट पहने है (वही नं ५९) और मोतियों की मालाओं से उसका शरीर अलंकृत है।

दास केवल लंगोटी ही पहने दिखाये गये हैं। चीनी स्रोत के अनुसार चम लोग रंग-बिरंगे वस्त्र पहनते थे। वे अपने बालों को भी विभिन्न प्रकार से सँवारते थे और ऊँचे जूड़े को अलंकृत भी करते थे। वे मुकुट का भी प्रयोग करते थे। प्राय उच्च वर्ग वाले ही जूतों का प्रयोग करते थे। लेखों में आभूषणों के द्वारा शरीर को अलंकृत करने का भी उल्लेख है। विक्रान्तवर्मन् का शरीर सोने के आभूषणों—मणि मुक्ता वैदूर्य से ढका रहता था। हरित्तक वैदूर्य मुक्तावली लम्ब हारक।[41] किरीट (मुकुट) कटिसूत्र (करधनी) कुंडल तथा हार, तथा माणिक मुक्ता और अन्य मणियों का प्रयोग होता था।[42]

मनोरंजन

मनोरंजन के साधनों में गायन तथा वादन प्रचलित था। चम्पा की चित्रकला में बहुत-से सुन्दर नृत्य-चित्र पत्थरों पर अंकित हैं जिनसे इस क्षेत्र में प्रवीणता का पता चलता है।[43] माइ-सोन के ९७८ ई० शक स० ९ के लेख में युवराज महासेनापति द्वारा श्री ईशानभद्रेश्वर के मन्दिर के निमित्त नर्तक और गायकों का उल्लेख है।[44] यहीं से प्राप्त एक अन्य लेख में कुशल नर्तक[45] तथा गीतकारों (गायक) का उल्लेख है जो हरिवर्मा की सभा को सुशोभित करते थे। इसी लेख में 'विरदपरय' से

४१ स्टर्न आर्ट द चम्पा, चित्र ४२ नं २।

४२ मजूमदार 'चम्पा' लेख नं ३ पद २।

४३ वही नं [illegible] १९। चम कला में जिन आभूषणों को पहने दिखाया गया है वे हार, बाजूबंद कंगन कटि (करधनी) तथा नूपुर हैं। देखिए स्टर्न चम्पा, चित्र ५९, ६२ इत्यादि।

४४ नाचगान के चित्रों में बाँसुरी बजाने के दो चित्र (माइ-सोन ई [illegible] स्टर्न नं २२ अ) (माइ-सोन स १ नं ५४) प्रमुख हैं। दूसरे चित्र में एक व्यक्ति हाथों से मृदंग के सामने नाच प्रदर्शित कर रहा है तथा एक अन्य व्यक्ति, जिसका ऊपरी भाग टूटा हुआ है चाँप पर बाँया हाथ रखे तथा बाँये पैर को ऊपर कर और दाहिने को मोड़कर नृत्य की एक मुद्रा में चित्रित है।

४५ मजूमदार, चम्पा लेख नं ५१।

४६ वही नं ६० पद ४ पृ १६२।

वाद्यवादन का भी पता चलता है। सूर्यदेवी के पो-नगर के लेख में[४७] राजकुमारी और उसके पति द्वारा पो-नगर की देवी के मन्दिर के निमित्त नर्तकियां को अर्पित करने का उल्लेख है। इनसे प्रतीत होता है कि नृत्य तथा वाद्यवादन और गायन में पुरुष तथा स्त्रियां भाग लेती थीं तथा मृदंग और वीणा का नृत्य के साथ में प्रयोग होता था।[४८] नृत्य के कई चित्र चम्पा में भी मिलते हैं और इसमें पुरुष तथा स्त्रियों के मनोरंजन के अन्य साधनों में भारत की भांति त्योहार तथा पर्व भी मनाये जाते थे और संवत् चैत्र से आरम्भ होता था। नव वर्ष के दिन एक हाथी नगर में छोड़ा जाता था। अषाढ़ में नावों की दौड़ होती थी।[४९] चैत्र का नव वर्ष भारतीय है और बहुत-से पर्व प्राय भारतीय थे पर इनमें से कुछ के देशीय होने में संदेह नहीं जैसा कि मासपेरो का विचार था।

दैनिक जीवन

सामाजिक जीवन सम्बन्धी अन्य विषयों में भोजन भाजन तथा दाह-संस्कार पर भी कुछ लेख प्रकाश डालते हैं। भोजन के लिए धान और तंदुल का उल्लेख मिलता है।[५०] गेहूँ की पैदावार नहीं होती थी क्योंकि इसका किसी लेख में उल्लेख नहीं है और चावल ही चमों का मुख्य भोजन था। भोजन पकाने तथा खाने के लिए सोने चाँदी काँसे तथा ताम्रक बरतनों का प्रयोग होता था। लेखों में चाँदी के रंगे हुए बरतन (कदाचित् नक्काशी किये हुए) (रूप्यं रजत भाजन ......) तथा सोने के धूपदान (कनक-धूपधारण) और सोने के ताम्बूल रखने के पात्र (ताम्बूल भाजने) का उल्लेख है। धूप से बचाव के लिए छातों का भी प्रयोग होता था और सुनहरे छत्र (कनकछत्र) भी बनते थे। पर यह प्राय सम्राट् और देवी-देवताओं के लिए ही बनाये जाते थे। भारत की भांति चम्पा में भी शव का दाह संस्कार किया जाता था और राख तथा हड्डियों को नदी में बहा दिया जाता था।

४७ वही सर्ग १७ पृ २११।
४८ सर्ग 'आर्ट द चम्पा' चित्र नं ५९, ५४ ५९, ६२।
४९ मजुमदार, चम्पा, पृ २२९।
५० वही, लेख नं ४१ पद ५७।
५१ वही, नं ६ पृ १५८।
५२ वही पृ २१ ।

आर्थिक जीवन

लेखों और चीनी स्रोतों से चम्पा के आर्थिक जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है। जनता का मुख्य उद्योग कृषि था और खेत को उपजाऊ बनाने के लिए नहर और बाँध का समुचित प्रबन्ध था। श्री विक्रान्तवर्मन् ने श्री सत्यमुखलिंग देवता के लिए नहर के ऊपर बाँध बनवा दिया (प्रणालस्य संवरणं)।[53] कदाचित् यह देवता के निमित्त भूमि को अधिक उपजाऊ बनाने के लिए किया गया होगा। एक अन्य लेख में[54] जयपरमेश्वरवर्मन् द्वितीय ने श्री चम्पेश्वर और स्वयमुत्पन्न देवताओं को अर्पित भूमि-क्षेत्रों की नहरों को पुनः ठीक करवाया। राज्य की ओर से ग्राम में कोठार (कोष्ठागार) थे जिनमें धान्य जमा किया जाता था। शंकर नारायण के प्रति इन्द्रवर्मन् द्वारा दिये दानों में श्री पवित्रेश्वर, ममीम के कोष्ठागार तथा भुक्तापुर के दो कोष्ठागार सम्मिलित थे।[55] विक्रान्तवर्मन् ने मदराम कुमाराम पुरोहाराम, तथा वीरपुरग्राम के पूरा कोष्ठागार श्री महादेवेश्वर को अर्पित किये थे।[56] कृषि के अतिरिक्त व्यापार और उद्योग पर भी समुचित ध्यान दिया जाता था। चीनी स्रोतों के अनुसार[57] यहां पर रेशम के कीड़े पाले जाते थे और कपास भी पैदा किया जाता था। चम कपड़ों पर सोने व की मोती और मणि जड़ने का कार्य भी सफलता से कर लेते थे। मत्स्य के अतिरिक्त चटाई और ताड़ के पत्तों से टोकरियाँ इत्यादि भी बना लेते थे और सुन्दर आभूषण भी बना लेते थे। मणि मुक्ताओं का अच्छा व्यापार था और वे सुन्दर बरतन भी बना लेते थे। हाथी दांत का काम भी बड़ा होता था और बारहसिंगे की सींगों का प्रयोग वे जानते थे। चम अच्छे नाविक थे और वे जहाज भी बना लेते थे। लेखों से अनुपात और माप का भी पता चलता है। माप में 'पण' और 'कट्टिका' का प्रयोग होता था (एतत् भारे संक्षेपरत्नक-कर्णं तत् सिततरककर्णत अर्णोविवादि कट्टिकामाने)[58]। चम भारतीय माप

५३ वही लेख नं २९ (स) पृ ७१।
५४ वही लेख नं ९१ पृ २९।
५५ वही, लेख नं २४ (ब) पृ ५४।
५६ वही नं २९ (ब) पृ ७१।
५७ मजुमदार, चम्पा, पृ २२३।
५८ वही लेख नं ६ पृ १५८।

है, पर कट्टिका का उल्लेख भारतीय साहित्य में कहीं नहीं मिलता। इन दोनों का अनुपात में प्रयोग होता था।

शिक्षा और साहित्य

लेखों से शिक्षा और साहित्य पर भी प्रकाश पड़ता है। चम्पा के शासकों तथा उच्च वर्ग के व्यक्तियों का शैक्षिक स्तर ऊंचा था। संस्कृत भाषा तथा साहित्य ने वहां अपना स्थान बना लिया था। चम्पा के सबसे प्राचीन माइ-सोन लेख में भद्रवर्मन् के विषय में लिखा है कि वह चारों वेदों का पूर्ण ज्ञाता था (चातुर्वैद्य राज्ञाम्)।[५९] इन्द्रवर्मन् तृतीय षट् मीमांसा तथा बौद्ध तर्क पाणिनि व्याकरण काशिका सहित आख्यान तथा शैवियों के उत्तरकल्प का ज्ञाता और विद्वानों में सब विषयों का मर्मज्ञ था (मीमांसा षट्तर्क जिनेन्द्रसूर्म्मिसकाशिका व्याकरणोदकोदाः, आख्यान शैवसत्व कल्पमीन पटिष्ठ एतेष्विति सत्कवीनाम्)।[६०] हरिवर्मन् के माइसोन के शक सं १ १ के लेख से पता चलता है कि बृहस्पति की भांति वह भी सब शास्त्रों का ज्ञाता था। (शास्त्र शास्त्रेऽधिका वाक्पतिरिव)।[६१] और उसकी शिक्षा के सामने नाना विषयों के ज्ञाता भी (नाना ज्ञान विदोपि) अपना मुंह नहीं खोल सकते थे। जयइन्द्रवर्मन् चतुर्थ भी व्याकरण ज्योतिष तथा महायान तर्क का पूर्ण ज्ञाता था और इसके अतिरिक्त नारदीय तथा भार्गवीय धर्मशास्त्रों में वह पारंगत था।[६२] जयइन्द्रवर्मन् कुमार हरिदेव भी सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता था और विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का उसे ज्ञान था। शासकों के अतिरिक्त आज्ञा जये-न्द्रपति अमात्य सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता था (सकलशास्त्र समर्थ बुद्धि) और विभिन्न देशों के सदेशों को वह एक क्षण मे समझ लेता था (निरीक्षणैकक्षण वेत्ति)।[६३] कवियों की परम्परा के आधार पर यह मान भी लिया जाय कि उन्होंने अपने राजाओं

५९. चम्पा लेख नं० ४ पृ ६।
६०. वही, लेख नं ५७, पद ३ पृ ८५।
६१. वही लेख नं ६२, पृ १६२, पद ३।
६२. वही लेख नं ८१ प १९९।
६३. वही नं ९४ पृ २१।
६४. वही नं ३६, पद २४ २५, पृ ११४-१५।

का खूब बढ़ा-चढ़ाकर गुणगान किया है फिर भी उपर्युक्त विषयों के उल्लेख से उनके अध्ययन पर अवश्य प्रकाश पड़ता है। लेखों से पूर्णतया विदित है कि भारतीय साहित्य चम्पा पहुँच चुका था और वेद षट्दर्शन रामायण महाभारत बौद्ध दर्शन वैष्णव तथा शैव धार्मिक साहित्य व्याकरण और काशिका ज्योतिष मनु तथा भारत के धर्मशास्त्र पुराण और संस्कृत काव्यों का यहाँ अध्ययन होता था। रामायण तथा महाभारत के पात्र युधिष्ठिर, दुर्योधन और युयुत्सु[65] दशरथ के पुत्र राम[66] तथा कृष्ण बलराम[67] पाशुपत[68] का उल्लेख लेखों में है। त्रिपुरासुर का वध[69] तथा कुबेर के एकाक्षपिंगल[70] नाम से क्रमशः ग्रन्थों का महाभारत और रामायण के उत्तरकाण्ड के ज्ञान का पता चलता है। वे शैव तथा वैष्णव धार्मिक साहित्य के भी ज्ञाता थे। राजा-नरेन्द्र नृपति शैवधर्म सम्बन्धी सभी ग्रन्थों का ज्ञाता था।[71] इन्द्रवर्मन् तृतीय का अमात्य भी धार्मिक साहित्य में पारंगत था (ज्ञानी शास्त्रज्ञतरसि)।[72] धर्मशास्त्रों में मनुस्मृति के अतिरिक्त[73] भारतीय तथा भार्गवीय धर्मशास्त्र प्रचलित थे। लेखों से प्रतीत होता है कि कवि संस्कृत काव्यशास्त्र के ज्ञाता थे और उन्होंने श्लेष तथा अनुप्रास का प्रयोग किया है। उन्हें अलंकार शास्त्र का भी पूर्ण ज्ञान था और विभिन्न चमत्कारों का श्लोकों में प्रयोग किया गया है। भारतीय पुराणों के आधार पर चम्पा में पुराणार्थ[74] अथवा अर्थ पुराण शास्त्र[75] नामक व्याख्या की गयी है।[76]

६५ वही नं ४१ पृ १२३।
६६ वही नं १२, पृ १६।
६७ वही नं ७४ पृ १८३।
६८ वही नं २१ पृ ४४।
६९ वही नं १६, पृ १११।
७० वही नं १८, पृ ३६।
७१ वही नं १४ पृ २०।
७२ वही, नं १६, पृ १११।
७३ वही नं ४६, पद ४ पृ १४।
७४ वही नं १५ (ब) पृ १७१।
७५ वही नं ७४ पृ १८८।
७६ वही, नं ७२ पृ १७९।

सामाजिक, धार्मिक तथा शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में चम्पा भारतीय अंशदान प्राप्त किये हुए था और इसका हमको लेखों से पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। भारतीय परम्परा ने उस देश में अपनी गहरी छाप डाली थी जिसने स्थानीय तत्त्व को दबा दिया। यह सच है कि चम्पा की स्थानीय संस्कृति नष्ट न होकर भारतीय संस्कृति का ही अंग बन गयी। लेख केवल शासक तथा उच्च अधिकारी वर्ग के व्यक्तियों से ही सम्बन्धित हैं इससे यह कहा जा सकता है कि चम्पा के साधारण निवासियों के दैनिक जीवन आचार-विचार में कोई परिवर्तन न हुआ हो पर वास्तव में यह मानना पड़ेगा कि भारतीय संस्कृति की आधारशिला मजबूती से वहाँ जम चुकी थी और धार्मिक क्षेत्र में इसका विशेष रूप से स्थान है। शैव वैष्णव तथा बौद्ध के अभिलेख उक्त देश में अपने धार्मिक विचार तथा प्रगति पर प्रकाश डालते हैं।

अध्याय ७

धार्मिक जीवन

चम्पा का धार्मिक जीवन भारतीय परम्परा के आधार पर एक देवता के प्रति भक्ति उसके अन्य स्वरूप तथा सहिष्णुता की भावना को लेकर विस्तृत था। यद्यपि बौद्ध धर्म का प्रवेश यहाँ चौथी शताब्दी में हो चुका था जैसा कि इत्सिंग के मतानुसार वो-चन के लेख से संकेत होता है यद्यपि लेख में बुद्ध अथवा बौद्ध धर्म का कहीं उल्लेख नहीं है पर शैव मत और उसके अन्तर्गत भद्रेश्वर स्वामिन् की उपासना ही राजकीय धर्म माना जाता था। इस देश की स्थानीय धार्मिक भावनाओं का भी ब्राह्मणधर्म में समागम हुआ। यहाँ पर वैदिक धार्मिक परम्परा और यज्ञ इत्यादि को स्थान न मिला पर कदाचित् इससे वे अनभिज्ञ न थे। ब्राह्मणधर्म में भी शैव मत ने चम्पा के धार्मिक इतिहास में सदैव मान्यता और प्रमुख स्थान प्राप्त किया पर शिव के अतिरिक्त विष्णु, ब्रह्मा तथा अन्य ब्राह्मण देवता और बौद्ध धर्म के महायान मत ने भी अपना अवदान दिया। चम्पा का धार्मिक जीवन वास्तव में कम्बुज देश की परम्परा से मिलता-जुलता था। मन्दिरों की स्थापना चम्पा के सम्राटों ने अपने नाम पर की थी और देवताओं की मूर्तियों को भी उनके नाम के आगे ईश्वर लगाकर सम्बोधित किया जाता था। भद्रवर्मन् द्वारा भद्रेश्वर की मूर्ति

१ हिन्दू इजम एंड बौद्धिज्म ३ पृ १४८।

२ देखिए, वोचिन्ह में कोहि अथवा खूटेई प्रान्त से प्राप्त यूप और उन पर अंकित लेख जिनका विवरण पहले ही दिया जा चुका है। नाइतोन के प्रकाशधर्म के लेख से प्रतीत होता है कि शास्त्रों के अनुसार अश्वमेध से अधिक कोई पुण्य देने वाला कार्य नहीं है और ब्राह्मण की हत्या से अधिक कोई पाप नहीं है (ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यां न परं पुण्यपापयोरित्यागमादिति प्रसिद्धम्) नं १२ पृ २१ पद २७।

३ भारत में भी बादामी राजाओं द्वारा अपने नाम के आगे ईश्वर लगाकर

और उसका मन्दिर चम्पा के इतिहास में विशेष स्थान रखता है। इस धार्मिक जीवन के प्रमुख अंगों में शिव उसकी उपासना तथा स्वरूप शैव देवी-देवता विष्णु तथा वैष्णव मत वैष्णव देवी-देवता ब्रह्मा और त्रिमूर्ति ब्राह्मण मत से सम्बन्धित अन्य देवी-देवता तथा बौद्ध धर्म पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

शिव शैव मत

कम्बुज की भाँति चम्पा में भी शिव की उपासना ही राजकीय धर्म के रूप में परिणत हो गयी। भद्रवर्मन् (भद्रेश्वर) शंभुवर्मन् (शंभुभद्रेश्वर) इन्द्रवर्मन् (इन्द्रभद्रेश्वर' इन्द्रभोगेश्वर, इन्द्रपरमेश्वर) विक्रान्तवर्मन् (विक्रान्त रुद्र रुद्रेश्वर) जयसिंहवर्मन्ष (जयपुरेश्वर) भद्रवर्मदेव (प्रकाशभद्रेश्वर, भद्रमलयेश्वर, भद्रधर्मेश्वर, मंडलेश्वर, भद्रपुरेश्वर) इन्द्रवर्मन् (इन्द्रकान्तेश) हरिवर्मन् (हरिवर्मेश्वर) जय हरिवर्मन् (जय हरिलिंगेश्वर) जय इन्द्रवर्मन् (जय इन्द्रलोकेश्वर, श्री जय इन्द्रेश्वर, श्री इन्द्रगौरीश्वरी) इन्द्रवमन् (इन्द्रवर्मनिर्वालिंगेश्वर) जयसिंहवर्मदेव (जयसिंहवर्मलिंगेश्वर) इत्यादि राजाओं ने अपने नाम के आधार पर पूज्य देवताओं

स्थापित मूर्ति को संबोधित किया गया है। जैसे परिलसप्रसाद् पृथ्वीदेव ने पृथ्वी-देवेश्वर की मूर्ति स्थापित की। एपीग्राफ़िया इंडिका १ पृ ३८। विक्रमादित्य द्वितीय की दो रानियों ने अपने नाम पर लोकेश्वर और त्रैलोकेश्वर की मूर्ति भी स्थापित की। बाम्बे गजेटियर, १ भाग २, पृ १९ ।

४ मजुमदार, 'चम्पा' लेख नं २।
५ यही नं ७।
६ यही नं २३।
७ यही नं ३ ।
८ यही नं ३९।
९ यही नं ४४।
१ यही नं ७४।
११ यही नं ८१।
१२ यही नं ११२।
१३ यही नं ११९

की शिवमूर्तियाँ मन्दिरों में स्थापित कीं। चम्पा के लगभग ९ प्रतिशत लेखों में शिव की उपासना कही गयी है पर इनके अतिरिक्त विष्णु (१) ब्रह्मा (५) बुद्ध (७) तथा शिव-विष्णु (२) की उपासना का भी कई लेखों में विवरण है। माइ सोन और पो-नगर के मन्दिरों का निर्माण शिव की मूर्तियाँ स्थापित करने के लिए ही हुआ था। एक लेख के अनुसार चम्पा राज्य की उत्पत्ति ही शिव के द्वारा हुई थी।[14] शिव ने उरोज को चम्पा राज्य स्थापित करने के लिए पृथ्वी पर भेजा था।[15] शिव को ही त्रिमूर्ति में श्रेष्ठ स्थान दिया गया है और अपने अति प्रभाव से ही उन्हें देवताओं का ईश माना गया है (यस्य प्रभावातिशयात् सुरेशत्वमुपगतोऽपि मयोमिरेव)।[16] इसी लेख में वे चम्पा के रक्षक माने गये हैं जहाँ सभी धर्म प्रचलित थे (चम्पापुरी वर्धितसर्वधर्ममपालयत् पावनसारभूतः)।[17] लेखों में शिव की विभिन्नता उनके भोलापन उग्र स्वरूप तथा तपस्वी रूप के विभिन्न नाम मिलते हैं।[18] महेश्वर (४) महादेव (६) अमरेश (१) ईश्वरदेवाधिदेव (१८) परमेश्वर (१६) से उनका अन्य देवताओं पर आधिपत्य ईशान (२) ईशानदेव ईशानेश्वर (१२) ईशानेश्वरनाथ (१७) से उनका बृहद् स्वरूप शम्भु (२२) शंकर (२८) शंकरेश (२८) से उनका भोलापन तथा शर्व (७९) भीम (१७) उग्र (२४) महाक्षदेव (१९) से उनका उग्र तथा ध्वंसात्मक स्वरूप प्रतीत होता है। धूर्जटी (७) भव (१७) पशुपति (१७) वामेश्वर (२) योगीश्वर (५९) से उनकी तपस्वी और रचनात्मक प्रवृत्ति का ज्ञान होता है। देवत्व स्वरूप के अतिरिक्त शिव की लिंग रूप में भी उपासना की जाती थी और उन्हें दर्वलिंगेश्वर (४१) महालिंगदेव (१२) शिवलिंगेश्वर (११) महाशिवलिंगेश्वर (१९) इत्यादि नाम दिये गये हैं। इन सबसे यह प्रतीत होता है कि चम्पानिवासी शिव के

१४ मजुमदार, लेख नं ९४ पृ २११।

१५ वही नं ११ पृ ७६ पद १ ।

सत्यं श्रीमानुरोजस्त्रुतरमुपगतः शौलिनिः क्ष्मामुव याहि ।
भाहो राज्यमुग्र पुनवरपरजासम्भुमप्रोत्परस्य ॥

१६ वही पद १५।

१७ वही, पद १६।

१८ इन नामों और लेखों की संख्या कम रूप से एक साथ दे दी गयी है।

विभिन्न नामों तथा गुणों से अनभिज्ञ न थे और उन्हें उनके रचनात्मक पालक तथा ध्वंसात्मक स्वरूप का पूर्णतया ज्ञान था। विक्रान्तवर्मन् के एक लेख में शिव के आठों नाम शर्व भव पशुपति ईशान भीम रुद्र महादेव तथा उग्र का उल्लेख है।[19] शम्भुवर्मन् के माइ-सोन के लेख में शम्भुभद्रेश्वर द्वारा भूः भुवः तथा स्वः नामक त्रिलोकी की रचना (सृष्टं येन त्रितयमखिलं भूर्भुवः स्वः) तथा संसार के पापरूपी अंधकार को अग्नि के समान नष्ट करने (येनोत्सार्य भुवनदुरितं वह्निनेवान्धकारम्) और अनादि रूप में (नादिर्न चान्तम्) चम्पा राज्य को सुख प्रदान करने का श्रेय दिया गया है (चम्पादेशो जनयतु सुखं स शम्भुरीश्वरोऽयम्)।[20] विभिन्न लेखों में उनके अन्य गुणों का गुणगान किया गया है। वे संसार को नष्ट भी करते हैं और मनुष्य के अन्दर कर्म की भावना को नष्ट करके संसार के आवागमन से भी मुक्त करते हैं। मुनि यति भी शिव का ही ध्यान करते हैं जो आदि पुरुष हैं, त्रिपुर विजयी हैं (जगद्गुरुरादिस्त्रिपुरजयी योगिभिः साध्यः)। शिव के स्वरूप का वर्णन भी हमें लेखों में मिलता है जैसे जटाधारी त्रिनेत्र वाले और उनके शरीर पर भस्म लिपटी हुई है (सितभस्म) याग जप और हुंकार से उन्होंने अपने शरीर को पवित्र कर लिया है। सिद्ध चारण तथा यक्ष उनके उपासक हैं। कामदेव का अपने तीसरे नेत्र से भस्म कर देना और पुनः जीवित करना त्रिपुर राक्षस का नाश करना और उपमन्यु की कथा जिसमें शिव को विष्णु और ब्रह्मा से ऊपर माना है और जिसका उल्लेख अनुशासन पर्व में है तथा ब्रह्मा और विष्णु द्वारा लिंग की गहराई के पता लगाने का विफल प्रयास लिंगपुराण पर आधारित है।

१९. मजुमदार, 'चम्पा' लेख नं० १० पृ० १५।
२०. वही, नं० ७, पृ० ११ पद २ २१।
२१. वही नं० १२ पृ० ८९, पद १।
२२. वही नं० २४ (ब) पृ० ५४। 'जयति महागुरुगुरुरभावमर्दनविदित विक्रमोर्जितः। सितभस्मजलाम्र-योगाग्निजप-हुंकार-निर्मलतर-शरीर-शोभश्च॥
२३. वही नं० ४१ पृ० १२२ पद २। नं० १६, पृ० ९६, पद १। सर्वपापविनाशनोऽत्री यस्मादशेषाः पुनरेव नाम।
२४. वही, नं० १७, २४ १२।
२५. वही नं० १७। अनुशासन अध्याय १४।
२६. वही नं० १९।

चम्पा में शिव की उपासना मानुषिक तथा लिंग रूप में की जाती थी। मनुष्य के रूप में जटाधारी शिव के शीश पर मुकुट है और बिखरे बालों की लटें कंधे पर हैं। सर्प ही शरीर पर आभूषणों का स्थान लिये हुए हैं। माइ-सोन के मन्दिर व मिली शिव की मूर्तियाँ साधारण हैं और वे खड़ी हुई दिखायी गयी हैं पर शिव की बैठी मूर्तियाँ भी मिली हैं। नन्दी के साथ तथा ताण्डव नृत्य करते हुए भी शिव की मूर्तियाँ मिली हैं।[27] पार्माँतिए के अनुसार लिंग रूप में शिव की अधिक मूर्तियाँ मिली हैं। भद्रवर्मन् द्वारा स्थापित माइसोन के शिवलिंग ने चम्पा के इतिहास में राजकीय स्थान प्राप्त कर लिया था।[28] ४७८ और ५७८ ई. के बीच में इस मन्दिर को कृष्ण वर्ण के विरोधियों ने जला दिया था पर शम्भुवर्मन् ने इसे पुनः बनवा दिया और उसके बाद से बराबर चम राजाओं ने इसके लिए धन और भूमि का दान दिया।[29] प्रकाशधर्म तथा इन्द्रवर्मन् द्वितीय नामक चम्पा के सम्राटों ने भद्रवर्मन् और शम्भुवर्मन् द्वारा किये गये भूमिदानों की पुष्टि के अतिरिक्त राजकीय मन्दिर के लिए बहुत-सा दान दिया।[30] शंभु भद्रेश्वर के नाम से माइ-सोन के मन्दिर के जिस शिवलिंग को सम्बोधित किया जाने लगा उसकी स्थापना के विषय में दैव भावना जाग्रत हो उठी। ८७५ ई. के एक लेख के अनुसार शिव ने स्वयं यह लिंग भृगु को दिया था जिससे उसको उरोज ने पाया। ११वीं शताब्दी से शंभुभद्रेश्वर भी ईशानभद्रेश्वर नाम से प्रसिद्ध हुए, उरोज ने इसी लिंग की स्थापना की थी (श्रीशानभद्रेश्वरमविरालम्ब पदे पुरोरोजस्तम्)। चम्पा के शासक अपने को उरोज का अवतार मानकर इस मन्दिर की समय-समय पर मरम्मत कराते थे तथा इसे दान देते थे। लिंग को ढकने के लिए सोने का कोष दिया जाता था जिसमें बहुमूल्य मणियाँ लगी रहती थीं। शंभुभद्रेश्वर अथवा श्री ईशानभद्रेश्वर चम्पा के इतिहास में राजकीय देवता माने जाते थे।

२७. स्टर्न, आर्ट ऑफ़ चम्पा, चित्र नं. ५४ १२ (नृत्य करते हुए नं. ५८) व्याख्यामुद्रा में।

२८. मजुमदार 'चम्पा' पृ. १८।

२९. मजुमदार, 'चम्पा' लेख नं. २९, पृ. ४१ पद २।

३ वही नं. १७, नं. ११।

३१ वही नं. ७१ पृ. १८१ पद ३।

माइ-सोन के मन्दिर में स्थापित शिवलिंग के अतिरिक्त पो नगर में शंभु के मुखलिंग ने भी राजकीय देवता का स्थान प्राप्त कर लिया था। इसकी स्थापना ८वीं शताब्दी के एक लेख के अनुसार विचित्रसागर नामक एक राजा ने द्वापर में की थी (संस्थाप्यते भूतले, विख्यातो नृपतिर्विचित्रसगरो नाम्ना स राजाधिकः)। [१२]यथा उल्लेख इसी मन्दिर की सुहावनी पर अंकित विक्रान्तवर्मन् द्वितीय तथा जय इन्द्रवर्मन् तृतीय के लेखों में भी मिलता है। [१३]सत्यवर्मन् के शक सं ६९९ (७७४ ई) के लेख से ज्ञात होता है[१४] कि नरभक्षक आततायियों ने जहाजों पर आकर इस नगर को क्षति पहुँचायी मन्दिर को नष्ट कर दिया और लिंग को उठाकर ले गये। सत्यवर्मन् ने उनका पीछा करके उन्हें हरा दिया पर न तो लिंग और न लूटा हुआ माल ही मिला और उसे समुद्र में फेंक दिया गया। सम्राट् ने एक नया शिवलिंग तथा अन्य शैव मत से सम्बन्धित देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ स्थापित की। इस लिंग का उल्लेख बाद १२वीं शताब्दी तक मिलता है किन्तु यह शम्भुभद्रेश्वर की भाँति राजकीय देवता का स्थान नहीं प्राप्त कर सका।

शैव देवी-देवता

शिव की उपासना के साथ-साथ अन्य शैव देवी-देवताओं का भी उल्लेख मिलता है। उमा (सं ४ २२) गौरी (२६) भगवती (२९८) महाभगवती देवी (३९) महादेवी (३२) मातृलिंगेश्वरी (९७) तथा भूमीश्वरी (५) इत्यादि नामों से शिवशक्ति की उपासना की जाती थी। आततायी इस मूर्ति को भी मन्दिर से उठाकर ले गये थे। ८१७ ई में हरिवर्मन् ने देवी की एक नवीन पत्थर की मूर्ति स्थापित की और बाद में इस पर सुनहरा पत्तर मढ़ा गया।[१५] ९१८ ई में इन्द्रवर्मन् ने इस देवी की सुनहरी मूर्ति स्थापित की जिसे ९४४ और ९४७ ई के बीच में कम्बुज के सैनिक उठाकर ले गये और पुन ९६५ में पत्थर की मूर्ति स्थापित हुई (पुनः शैलमयीं कीर्तिं कलौ चारे तामर्निर्मापितवान्) तथा समय-समय पर चम्पा के

१२ मजी सं १२ पृ ४१।
१३ मजी सं २९ (अ) पृ ६७ सं ७१ पृ १७७।
१४ मजी सं २२ पृ ४१।
१५ मजी सं २६ पृ ६७।
१६ मजी सं ४७ पृ १४३।

शासकों ने इसके लिए दास दासी धन और भूमि का दान दिया। परमेश्वरवर्मन् ने १०५० में परमबोधिसत्व ने १०८४[३७] में हरिवर्मन् ने ११६ में[३८] और जब इन्द्रवर्मन् सप्तम ने ११६७[३९] में भगवती कौठारेश्वरी के लिए दान दिये। जब परमेश्वरवर्मन् ने १२११ में पो-नगर की देवी के लिए भूमि और दास-दासियों को अर्पित किया। कदाचित् थोड़े समय बाद देवी की मूर्ति किसी प्रकार नष्ट हो गयी थी और जयइन्द्रवर्मदेव की पुत्री कुमारी सूर्यदेवी ने धन देकर भगवती कौठारेश्वरी की एक नयी मूर्ति बनवायी थी। शिव और शक्ति के सम्मिश्रण से अर्द्धनारीश्वर रूप स्वीकृत हुआ। डोंग-डुओंग में ऐसी एक मूर्ति भी मिली जिसमें स्त्री का रूप पुरुष और पुरुष का मुख से संकेतित है, माथे पर तीसरा नेत्र है।[४०] उमा और भगवती की कई मूर्तियाँ मिली हैं।

शक्ति दुर्गा तथा उमा के अतिरिक्त गणेश का भी लेखों में उल्लेख है और उन्हें विनायक कहा गया है।[४१] पो-नगर में उनका एक और माइ-सोन में दो मन्दिर बने। भगवती और कार्तिकेय के साथ अन्य मन्दिरों में भी उनकी मूर्तियाँ मिली हैं। इस देवता को अधिकतर बैठी हुई अवस्था में दिखाया गया है पर माइ-सोन में गणेश की खड़ी हुई अवस्था में भी एक मूर्ति मिली। स्थूल शरीर और गजमुख वाले गणेश के बायें हाथ में एक पात्र और दाहिने में कदाचित् मोदक अथवा कोई और पदार्थ है। वे जनेऊ भी पहने हैं। माइ-सोन के गणेश के एक हाथ में पात्र और तीन अन्य में माला लेखनी और छोटे दानों की माला है।[४२] कार्तिकेय अथवा कुमार की भी उपासना चम्पा में की जाती थी इनके कई स्थानों में उल्लेख है।[४३] शिव के मन्दिर में गणेश और उमा की मूर्तियों के साथ इनकी मूर्ति

३७. वही, नं ५५।
३८. वही नं १४।
३९. वही, नं ७६।
४०. वही, नं ८।
४१. वही नं १७-१८।
४२. मजुमदार, 'चम्पा' पृ १८९, पारमांतिये; आई सी २ पृ ४११।
४३. वही लेख नं २६, पृ ६१।
४४. मजुमदार, 'चम्पा' पृ १९१। मासपेरो 'चम्पा' पृ ११।
४५. वही नं ९, २४ १६, १९।

भी स्थापित की गयी। कुमार को सेनानायक योद्धा माना गया है।[४५] इनकी कई मूर्तियाँ भी पायी गयी हैं। इनके अतिरिक्त शिव और उमा के वाहन नन्दी का भी उल्लेख मिलता है और उनकी मूर्तियाँ मिली हैं।[४६] लेखों तथा प्राप्त मूर्तियों से प्रतीत होता है कि शिव उमा दुर्गा पार्वती कुमार, कार्तिकेय गणेश तथा नन्दी का भी धार्मिक जीवन में स्थान था।

वैष्णव मत

शैव मत प्रधान होते हुए भी यह वैष्णव मत को चम्पा के धार्मिक जीवन में व्यक्तिगत प्रभाव स्थापित करने से नहीं रोक सका। कुछ लेखों में विष्णु की उपासना कही गयी है।[४७] विष्णु को अन्य नामों से भी संबोधित किया गया है, जैसे पुरुषोत्तम (११) नारायण (२४) हरि (२१) गोविन्द (१९) माधव (नं १२) विक्रम (नं २१) और त्रिभुवनाक्रान्त (१२१)। संसार के पालक रूप में वे आदि अन्त से परे माने गये हैं (भगवतः पुरुषोत्तमस्य विष्णोरनन्ते)।[४८] चतुर्बाहुधारी नारायण के क्षीरसागर में शेषनाग की शय्या पर विश्राम करने तथा असुर और मुनिया द्वारा उपासना करने का उल्लेख इन्द्रवर्मन् के गल-कमोव के एक लेख में मिलता है। इसी लेख म उनके गोवर्धन पर्वत को उठाने मधु, कंस असुर, केश चाणूर, अरिष्ट तथा प्रलम्ब को नष्ट करने का भी उल्लेख है।[४९] चम्पा के कुछ शासको ने अपने को विष्णु का अवतार भी माना है। बटाऊ-टमक के लेख में जयहरिवर्मन् को विष्णु का अवतार कहा गया है और उसके पुत्र भी जयहरिवर्मन् शिवानन्द की भाँति राम

४५. वही नं ९, पृ १४।

४७. वही, पृ १९२, बाबालिये आई सी ९, पृ ११७-११८। एक बिम १२ १९२।

४८ मासपेरो चम्पा पृ ११। स्टर्न आर्ट डु चम्पा, चित्र ५४।

४९. मजुमदार, चम्पा लेख नं ११ १७, २१ इत्यादि, देखिए मासपेरो, चम्पा, पृ ९ ११।

५ वही, नं ११ पृ १५, पद १।

५१ वही, नं २४ पृ ५९।

५२ वही, नं ७५, पृ १९१।

और कृष्ण से भी आगे बढ़ गयी थी (यत्कीर्तिरिद्धा मधुराक्कीर्ति रत्नस्य कीर्तिरत्न पूर्णविभाय)।[53] चम्पा में विष्णु की चतुर्भुज वाली मूर्तियाँ भी मिली हैं। बएप हुआ की मूर्ति पद्मासन में है। उनके हाथों में गदा पद्म चक्र और शंख दिखाये गये हैं और वे जनेऊ पहने हैं। जो अन्य मूर्तियाँ मिली हैं वे अधिकतर पद्मासन में हैं।[54] इसके अतिरिक्त गरुड़ पर आसीन विष्णु तथा अनन्तशयन विष्णु की मूर्तियाँ भी मिलीं। वासुकि की अनन्तशैया पर विष्णु लेटे हैं और उनकी नाभि से कमल निकला है जिस पर ब्रह्मा ध्यानावस्था में बैठे दिखाये गये हैं।[55] गोवर्धन उठाये हुए भी विष्णु की मूर्ति मिली है।

पद्मा और श्री के नाम से लक्ष्मी का उल्लेख भी चम्पा के लेखों में मिलता है[56] और वहाँ पर भी वे अपनी विचलित अवस्था के लिए प्रसिद्ध थीं। इन्द्रवर्मन् तृतीय के एक लेख में उनकी तुलना धैर्य के कारण विष्णु से की गयी है पर चम्पा लक्ष्मी की भाँति विचलित न थी (चम्पाभूमिर्नलक्ष्मीरिव चंचला)।[57] भगवती कौठारेश्वरी की भाँति चम्पा में लक्ष्मी की मूर्ति का भी इतिहास है। पहले सत्यवर्मन् ने इसकी स्थापना की थी और ७११ ई० में पुन सम्राट् विक्रान्तवर्मन् ने उसे स्थापित किया था।[58] इसी लेख में उनका जन्मस्थान कैलाश बताया गया है। लक्ष्मी की कई मूर्तियाँ चम्पा में मिलीं।[59] डाग-दुओंग मन्दिर और कओ-ऐ-दार के आलों में भी लक्ष्मी की प्रतिमाएँ अंकित हैं। वे दो हाथियोंके बीच में बैठी हैं और उन पर वे अपनी सूँडों से पानी छिड़क रहे हैं। देवी

५३ वही, नं ७४ पृ १८४ पद ८।

५४ मजुमदार, 'चम्पा' पृ १९४। पार्मांतिये आई सी पृ ५५४ चित्र १७।

५५ स्टर्न आर्ट चम्पा चित्र २२ (स)।

५६ मजुमदार, 'चम्पा' पृ १९५।

५७ वही नं १२, ९१ ४४।

५८ वही नं ४१ पृ १९९, पद १।

५९ वही नं २१ पृ १८, पद ८-९।

६० पार्मांतिये आई सी ९, पृ ४२१ ४२२। भातवेरो 'चम्पा' पृ ११। मजुमदार, 'चम्पा' पृ १९५, ९६।

के कहीं पर चार और कहीं दो हाथ दिखाये गये हैं और उनके हाथों में शंख चक्र और गदा है।

विष्णु के वाहन गरुड़ से चम अनभिज्ञ न थे। यह विष्णु के साथ वाहन के रूप में तथा स्वतंत्र रूप में भी दिखाया गया है। चम्पा में पक्षी के मुख और सिंह के शरीर के रूप में यह दिखाया गया है। इसके हाथ में सर्प भी है जिसको मस्तक की भाँति वह चोंच से चबा रहा है।[61]

ब्रह्मा तथा त्रिमूर्ति

ब्रह्मा अथवा चतुरानन या चार मुखवाले ब्राह्मण देवता का भी कई लेखों में उल्लेख मिलता है[62] और इन्हें 'स्वयमुत्पन्न' भी कहा गया है। यह विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल पर बैठे हैं एक हाथ में चक्र है और दूसरे में चार मुँह वाली बालक है।[63] पो-क्लौङ्ग के लेख के अनुसार, जयपरमेश्वरवर्मन् ने अपने सेनापति राम-देव को स्वयमुत्पन्न देवता की मूर्ति स्थापित करने का आदेश शक सं ११५५ (१२३३ ई) में दिया था। इसके लिए सम्राट् के अतिरिक्त युवराज नन्दभद्र सेनापति अभिमन्युदेव तथा सम्राट् इन्द्रवर्मन् ने भी दान दिया था। माइ-सोन के मन्दिर में ब्रह्मा की केवल दो मूर्तियाँ मिली हैं। स्वतंत्र रूप से चम्पा के धार्मिक जीवन में ब्रह्मा का शिव और विष्णु की तरह इतना महत्वपूर्ण स्थान न था पर त्रिमूर्ति के रूप में इन दोनों देवताओं के साथ इन्हें मान्यता बहुत पहले से प्राप्त थी। चम्पा के इतिहास में विष्णु और शिव की प्रधानता अलग-अलग समय पर रही। पार्मांतिय के मतानुसार १२वीं शताब्दी के बाद चम्पा का झुकाव विष्णु की ओर होने लगा।

६१ मास्पेरो चम्पा, पृ ११। पार्मांतिये आई सी २, पृ ११९, ४२१ २७ चित्र १२७ १२८। मजुमदार, चम्पा पृ १९६।

६२ मजुमदार, चम्पा नं १२ पृ २४ पद १४। नं १२ पृ १९२, पद १। नं ८९, ९१ ९२। मास्पेरो चम्पा पृ ७, ११।

६३ स्टेन आर ए चम्पा, चित्र नं २२ (ब)।

६४ मजुमदार, चम्पा, लेख नं ८९, पृ २०७।

६५ वही, नं ९७, ९६।

६६ वही, पृ १९९ नोट।

शंकर-नारायण के रूप में शिव-विष्णु का संमिश्रण भी हुआ[६७] जिसमें आधी मूर्ति शिव की और आधी विष्णु की है पर ऐसी कोई मूर्ति नहीं मिली है।

अन्य ब्राह्मण देवी-देवता

त्रिमूर्ति के ब्रह्मा विष्णु महेश के अतिरिक्त अन्य ब्राह्मण देवताओं की भी उपासना की जाती थी। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' की भावना के अन्तर्गत सभी देवता मनुष्य को भवसागर से पार लगा सकते हैं। इन्द्रवर्मन् द्वितीय के डोंग-दुओंग के बौद्ध लेख में[६८] इन्द्र ब्रह्मा विष्णु वासुकि शंकर, ऋषि सूर्य चन्द्र वरुण, अग्नि तथा अभयद (बुद्ध) की उपासना का उल्लेख है। माइ-सोन के भद्रवर्मन् के लेख में उमा महेश्वर, ब्रह्मा और विष्णु की स्तुति के बाद पृथ्वी वायु, आकाश अप तथा ज्योति (अग्नि) को नमस्कार किया गया है।[६९] अन्य देवताओं में मुख्य (सुरेश) वृत्र का हनन करने वाले (वृत्रस्य हन्ता) तीनों लोकों के पालनकर्ता वर्ग के साथ उनकी रक्षा करते हैं।[७०] चम्पा के बहुत से राजाओं ने इसी देवता के नाम पर अपना नामकरण किया और स्वयं भी अपने को इन्द्र माना।[७१] चम्पा में दो मूर्तियाँ इन्द्र की प्रतीत होती हैं क्योंकि उनके साथ इन्द्र का हाथी ऐरावत भी है।[७२] यम को चम लेखों में धर्म अथवा धर्मराज माना है।[७३] चन्द्र और सूर्य को भी देवताओं की श्रेणी में रखा गया है और चन्द्र के शत्रु राहु का भी उल्लेख है।[७४] सूर्य का चन्द्र के साथ कई स्थानों में उल्लेख है और इनकी दो मूर्तियाँ माइ-सोन में मिली जिनमें सूर्य का वाहन घोड़ा भी उसके साथ है। धनपति कुबेर अथवा धनद का भी उल्लेख कई लेखों में

६७ वही, नं० २४।
६८ वही, नं० ३१।
६९ वही, नं० ४, पृ० ५।
७० वही, नं० १२, १६, १७, २२, २३। मास्पेरो, चम्पा, पृ० ६, ११।
७१ वही, नं० ३।
७२ मजुमदार, चम्पा, पृ० २११।
७३ वही, नं० १२, १४।
७४ वही, नं० ७४।
७५ वही, नं० ३१, ३४।

मिलता है।[76] और प्रकाशधर्म ने ७वीं शताब्दी में इसका एक मन्दिर स्थापित किया था। इसकी उपासना धन-प्राप्ति और विपदाओं को हटाने के लिए की जाती थी (सम्पद्ग्रंप्राप्तये चापदाद्याहितरक्षता)।[77] इसे एकाक्षपिंगल भी कहा गया है क्योंकि देवी द्वारा इसका एक नेत्र दूषित कर दिया गया था (देव्या दर्शनदूषित)।[78] अग्नि वासुकि तथा सरस्वती का भी उल्लेख लेखों में मिलता है।[79] इन देवताओं के अतिरिक्त ऋषि सिद्ध विद्याधर, चारण यक्ष किन्नर, गन्धर्व और अप्सराओं का भी उल्लेख है।[80] दूरेन के संग्रहालय में नृत्य करती अप्सरा की एक बहुत सुन्दर मूर्ति है।[81] इनके अतिरिक्त चामों को दैत्य और असुर भी विदित थे और इन अर्थियों में उग्र राक्षस प्रेत और पिशाच थे जिनके बीभत्स रूप से उनके प्रति डर की भावना थी। चम कला में भी नागों के साथ इनको स्थान मिला है।

बौद्ध धर्म

ब्राह्मण धर्म के शिव तथा अन्य देवी-देवताओं की उपासना के अतिरिक्त चम्पा में बौद्ध धर्म ने भी अपना स्थान बना लिया था और इसका जनता पर काफी प्रभाव था। जिन (२८) लोकनाथ (१७) लोकेश्वर (११) सुगत (१७) शम्भरेश्वर (१२१) स्वभयद अभयद (११) शाक्यमुनि अमिताभ वज्रपाणि वैरोचन (१७) तथा परमुदितलोकेश्वर (१७) नामों से बुद्ध की उपासना की जाती थी। धर्म-जन्मान्तरों के बुद्ध के बाद परमलोकेश्वर (बुद्धसन्तानसंभवम्) की उत्पत्ति संसार से मनुष्यों को मोक्ष दिलाने के लिए हुई (अहं लोकेश्वरं कर्तुं जगतां स्वां विमुक्तये)।[82] धर्म और उसी के आधार पर पुनर्जन्म की भावना के अनुसार मार

७६. आई सी १ पृ ४१। मजुमदार, 'चम्पा' नं २ २।
७७. मजुमदार, चम्पा, लेख नं १२ १३।
७८. वही, नं १४ पृ २७ पद १।
७९ वही नं ११।
८० देखिए चम लेख नं २१ ४६ २४ ३५, ४५, २१ २४ २४ ३१ २४ २४ ४६।
८१ ट्रर्न्स, आ इ चम्पा, चित्र ५९ (ब)।
८२ मजुमदार चम्पा लेख नं ३१ ब पद ४।

की सेना से बचने के लिए केवल लोकेश्वर का ही सहारा है और इन्हीं के द्वारा परम श्रेष्ठ मोक्ष प्राप्त हो सकता है। यह भावना विशेष रूप से चम्पा में फैली हुई थी कि कर्म के आधार पर ही स्वर्ग और नरक मिलता है। बौद्धों ने चम्पा में राजकीय प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। बुद्ध की मूर्तियां मन्दिर तथा बौद्ध विहारों की स्थापना एवं निर्माण समय-समय पर हुए। बकुल के शक स ७५१ के लेख के अनुसार जिन (बुद्ध) और शंकर की प्रतिमाएँ समन्त नामक एक व्यक्ति ने स्थापित की पर लेख उसके पुत्र स्थविरबुद्ध के निर्वाण के समय में लिखा गया।[83] लक्ष्मीन्द्र लोकेश्वर की मूर्ति ८७५ ई में भी जयइन्द्रवर्मन् ने स्थापित की थी और भिक्षुसंघ के लिए विहार का भी निर्माण किया गया था।[84] मृत्यूपरान्त इन्द्रवर्मन् को परमबुद्धलोक नाम से सुशोभित किया गया। एक अन्य लेख में[85] भद्रवर्मन् नामक चम शासक ने मातापुण्य के सम्मान में मन्दिर और विहारों का निर्माण कराया था। इन्द्रवर्मन् तृतीय के शक सं ८११ के न्हान-म्यू लेख में[86] पोव् क्लाय चिकि राजद्वार नामक व्यक्ति और उसके पुत्र मुकुट पी बल्ल धर्मपाल द्वारा ८१ में शिव के एक मन्दिर (वेर्मलिंगेश्वर) और ८११ में अवलोकितेश्वर के नाम पर बौद्ध विहार का निर्माण कराया था। इस लेख से लोगों की धार्मिक उदारता का परिचय मिलता है। अवलोकितेश्वर, अमिताभ तथा वज्रपाणि पद्मपाणि और चक्रपाणि आदि नामों से प्रतीत होता है कि चम्पा में महायान मत ही प्रचलित था। इत्सिंग के मतानुसार यहां के बौद्ध आर्यसम्मिति निकाय तथा कुछ सर्वास्तिवाद निकाय के माननेवाले भी थे।[87] एक लेख में प्रसिद्ध बौद्ध सूत्र य धर्मा हेतुप्रभवा[88] का भी उल्लेख है। चम्पा में बुद्ध की कई मूर्तियां तथा मन्दिरों के अवशेष भी मिले हैं। बौद्धों का डोंग-दुओंग प्रमुख केन्द्र था।[89] अब

८३ मजुमदार, चम्पा लेख नं २८ पृ ६५ से।

८४ वही नं ३१ पृ ७४ से।

८५ वही नं ३७ पृ १ ५ से।

८६ वही नं ४१ पृ ११९ से।

८७ तक्कुसु पृ १२।

८८ मजुमदार, चम्पा, लेख नं १२६ पृ १९६।

८९ देखिए, यहां से प्राप्त प्रसिद्ध बौद्ध प्रतिमा। स्टर्न; आ इ चम्पा, चित्र नं ५६ (अ)।

स्थानों से भी बुद्ध की मूर्तियां तथा मिट्टी के पक्के खिलौने मिले हैं जिन पर चामन (स्तूप) अवलोकितेश्वर तथा तारा की प्रतिमाएँ अंकित हैं। भूमिस्पर्श तथा धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्राओं में भी बुद्ध की मिट्टी की छोटी प्रतिमाएँ मिली हैं। लेखों तथा प्राप्त मूर्तियों से प्रतीत होता है कि महायान मत ने चम्पा में अपना स्थान बना लिया था और इसके प्रसार में इन्द्रवर्मन् सप्तम का बड़ा हाथ था और उसने स्वयं महायान मत के ग्रन्थों का गूढ़ रूप से अध्ययन किया था। चम्पा में बौद्ध स्तूप के कोई अवशेष नहीं मिले हैं।

चम्पा के धार्मिक जीवन में उदारता और सद्भाव की भावनाओं ने समस्त धार्मिक प्रवृत्तियों को यथाक्रम स्थान दिया। यहां के सम्राटों ने भी इसके अन्तर्गत खुले हृदय से विभिन्न धर्मों के लिए दान दिया तथा मन्दिरों की स्थापना की। प्रकाश धर्म ने शिवलिंग की स्थापना की विष्णु के मन्दिर का निर्माण किया।[१०] इन्द्रवर्मन् की शिव और लोकेश्वर की उपासना का वर्णन एक ही लेख में मिलता है।[११] विष्णु और शंकर का सम्मिश्रण भी नारायण के रूप में हो चुका था। लोगों का कर्म और पुनर्जन्म में पूर्णतया विश्वास था और जैसा कि इन्द्रवर्मन् का विचार था राजकीय पद को प्राप्त करना उसके पूर्व जन्म के तप के कारण हुआ। कर्म के फल को लेकर स्वर्ग और नरक की भावना ने धर्मों को प्रभावित कर लिया था। रौद्र महारौरव और अवीचि (नं ३१) के नाम से नरक की यातनाएँ पूर्ण रूप से विदित थीं। युगों में कलियुग का प्रवेश हो चुका था और इसी लिए कलियुग के प्रभाव से बचने के लिए सदाचार के मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक था। विभिन्न विचारधाराओं के साथ-साथ राजकीय धर्म शैवमत था और इसी लिए ९ प्रतिशत सम लेखों में शिव के प्रति दिये गये दानों तथा मन्दिर-स्थापना का उल्लेख है। शिव की शक्ति की उपासना भी अनिवार्य थी। कौठारेश्वरी देवी प्रमुख शक्ति की प्रतीक थी। इन दोनों की मूर्तियों और मन्दिरों का निर्माण तथा पुनर्निमाण हुआ तथा विदेशी लुटेरों ने भी इनको चम्पा से लूटकर ले जाना ही अपना ध्येय समझा। चम्पा के मन्दिर और विहार पूर्णतया सम्पन्न थे और उन्हें सार्वजनिक राजकीय तथा सभी लोगों से धन भूमि दास दासी इत्यादि का दान मिलता था और वे राजनीतिक अस्थिरता के समय में भी अपना धार्मिक कृत्य सुचारु रूप से करते रहे।

१० मजुमदार, चम्पा लेख नं १ १२, ११।

११ वही, नं ३१ (अ) पद २ । नं ३१ ब पद ४।

अध्याय ८

कला

चम्पा के मन्दिर जावा के बोरोबुदुर अथवा कम्बुज के अंकोरवाट की तरह विशाल नहीं हैं। उनमे शिल्पकला की बारीकी भी नहीं है पर उनकी बनावट अपने ही ढंग पर हुई। हां कला की प्रेरणा धर्म से ही मिली और उसके प्रसारण में वहां के राजाओं का ही हाथ था। वह सार्वजनिक न होकर राजकीय ही थी। इसी लिए मन्दिरों का निर्माण केवल राजधानियों अथवा केन्द्रीय स्थानों में ही हुआ और राजनीतिक परिस्थिति का कला के उतार-चढ़ाव में बड़ा हाथ रहा। इसका प्रसारण भी उत्तर से दक्षिण की ओर हुआ और क्रमशः माइ-सोन डोंग-दुओंग और पो नगर में मन्दिर बनाए गये। यह बात सच है कि प्रारम्भिक मन्दिरों के निर्माण में भारतीय प्रभाव अधिक है। धीरे-धीरे चामों ने अपनी बुद्धि तथा कुशलता का परिचय इन मन्दिरों के निर्माण में दिया। परिपाटी एक ही थी पर समय-समय पर विकास होना स्वाभाविक था। इसी लिए प्रारम्भिक काल के मन्दिर कई शताब्दी बाद के मन्दिरों से बाहरी स्वरूप में भिन्न प्रतीत होते हैं। मन्दिरों के निर्माण में केवल ईंटों का ही प्रयोग हुआ है। द्वार तथा कोने पर पत्थर काम में लाया गया है। लकड़ी का भी प्रयोग होता था। मन्दिरों का मुख्य द्वार अधिकतर पूर्व की ओर है तथा वे ऊँची वेदी पर बने हैं।

मन्दिरों का सूक्ष्म परिचय

देवस्थान के जो चम्पा में 'कलन' के नाम से प्रसिद्ध है बीच में देवता की मूर्ति का स्थान है। साधारण रूप से मन्दिर घनाकार हैं पर उनकी ऊँचाई, लम्बाई चौड़ाई से अधिक है। लम्बाकार भाग में जिसमें ऊँचाई का अधिक है तीन दिशाओं में चार पादस्तम्भ या नककाशी किये चौकोर खम्भे बने हुए हैं। इनके बीच में नकली भाग या पोखें (दुबोली) हैं और उन्हीं पर खोदकर मूर्तियां बनायी गयी हैं। छत के ऊपर का भाग गुम्बदाकार (पिरामिडल) है और तीन मंजिल ऊँचा है जिसमें ऊपर के भाग क्रमशः नीचे से छोटे होते जाते हैं और उसमें नीचे के बाहरी भाग का रूप

पर कई श्रेणियों में बाँटा है। एक स्थान पर भी समय-समय पर मन्दिर बनाये गये जिनका प्रमाण उन मन्दिरों पर अंकित लेखों से मिलता है। केवल माइ-सोन में ही कई श्रेणी के मन्दिर मिले हैं और एक ही श्रेणी के कई मन्दिर हैं। इन मन्दिरों का निर्माण अपने ढंग पर हुआ और एक का दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे एक दूसरे से मिले भी नहीं हैं और न किसी मन्दिर को बढ़ाने का ही प्रयास किया गया। प्रत्येक मन्दिर का व्यक्तिगत स्वरूप आगे चलकर नहीं बदला और न उसमें किसी प्रकार का उलट-फेर ही किया गया। पार्मांतिये के मतानुसार कला और बनावट तथा लेखों के आधार पर चम्पा के मन्दिरों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी में प्रारम्भिक मौलिक कला के मन्दिर हैं जो सातवीं से दसवीं शताब्दी के हैं और जिनमें कलात्मक नवीनता और वास्तविक प्रेरणा प्रतीत होती है। इस श्रेणी में माइ-सोन का अ १ (७वीं शताब्दी के आरंभ का मंदिर) तथा पो-नगर के फ और अ (८११ और ८१७ ई)मन्दिर रखे गये हैं। दूसरी श्रेणी के मन्दिर सातवीं और नवीं शताब्दी के बीच में बने। इनकी छत सीधी है जिससे ये पताकाकार प्रतीत होते हैं जैसा कि होव-काई का मन्दिर है और इस श्रेणी में माइ-सोन का ई मन्दिर (आठवीं शताब्दी का आरम्भ) पो नगर ई (९वीं शताब्दी का तीसरा भाग) तथा डोंग दुओंग का सबसे प्राचीन भाग है। तृतीय श्रेणी में सम्मिश्रित कला है (१ वी शताब्दी) डोंग-दुओंग का अ मन्दिर इसी का प्रतीक है। इसमें उपर्युक्त दोनों कलाओं का मिश्रण है। ११वीं शताब्दी की ह्रासोन्मुख दशा में केवल माइ-सोन ई ४ मन्दिर रखा गया है और उसमें स्थापत्य कला के सिद्धान्तों का पालन किया गया है। मन्दिरों के ऊपर का भाग गुम्बाकार रूप है १ वी से १४वीं शताब्दी में बनाया गया और इसमें बंग-अन मन्दिर (१ ई लगभग) पो-नगर मन्दिर (११४५ ई)तथा यन ओंग मन्दिर (१४वीं शताब्दी का आरम्भ) रखे गये हैं।

प्राचीन स्थानों की वृत्तान्त सहित सूची) पेरिस १९ ९, १९१८ इसी ग्रन्थ के आधार पर डा मजुमदार ने अपने ग्रन्थ 'चम्पा' में कला का अध्याय लिखा। पार्मांतिये के विचार इसी पुस्तक से उद्धृत हैं। देखिए मजुमदार चम्पा पृ २१५ से।

२ आर. सी चम्पा (चम्पा की कला) पृ ४ से।

३ मजूमदार, चम्पा पृ २५७ से।

उद्भूत (विकसित) कला (१२ १७वीं शताब्दी) के अन्तर्गत स्वतंत्र रूप से मन्दिरों का निर्माण हुआ और कलासिद्धान्तों का पूर्णतया पालन नहीं हुआ है। इनमें माइ-सोन का (ब १।१११४ ई माइ-सान ग ११५७ ई पो) क्लौंग-गरै (१४वीं शताब्दी) और पो-रोम (१७वीं शताब्दी का मध्य भाग) के मन्दिर हैं। इन ६ श्रेणियों के मन्दिरों म प्रथम तीन को मौलिक तथा प्रधान और अन्तिम तीन को सहायक माना गया है। ऐसा पामांतिये का मत है।

स्टर्न के मतानुसार[4] चम्पा के मन्दिरों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है व क्रमशः प्राचीन पद्धति होआ-लाई डोंग-दुओंग मा-सोंग माइ-सान और बिन दिन्ह के मध्य के युग बिन दिन्ह तथा अन्तिम युग की है। ये श्रेणियाँ केवल स्थानों के आधार पर है। इन दोनों फ्रांसीसी विद्वानों ने लेखों के आधार पर मन्दिरों की तिथि निर्धारित की और फिर मन्दिरों की बनावट सजावट तथा ऊपरी स्वरूप को ध्यान में रखकर उनमें समानता और विभिन्नता दिखाने का प्रयास किया है। मैजमाइल दुलाई[5] ने भी अपने ग्रन्थ में विस्तृत रूप से इस विषय का अध्ययन किया है तथा स्थापत्य कला के विभिन्न अंगों द्वारा इनमें सम्बन्धित चौकोर खम्भे (पाइलस्टर) दीवार ओर के बाहरी द्वार उनकी मेहराबें (आरचिंग) ऊपर की कार्निस मुड़ावदार अथवा कमल किनारे के मकर-मुख मन्दिर के ऊपरी भाग का रूप छोटी मेहराबें किनारे के कई अलंकृत विभूतियाँ मनुष्य देवता पशु पक्षी गज मकर इत्यादि का विस्तृत रूप से वृत्तान्त दिया है। शिल्पकला का विवरण इन मूर्तियों द्वारा प्रदर्शित है जो सुसज्जित पत्थर-दिग्गज मन्दिरों के किनारों मेहराबों तथा आलों में बैठाई गयी हैं। मन्दिरों मे अलग भी मूर्तियाँ भी मिलीं जो पत्थर पर खुदी हुई हैं तथा अलग से भी रखी हैं। इस अध्याय में ऐतिहासिक क्रम से पहले प्रमुख स्थानों के मन्दिर तथा उनकी विशेषता और फिर शिल्पकला पर विचार किया जायगा।

माइ-सान के प्राचीन मन्दिर

माइ-सान के मन्दिर ट्रा-किउ से १ मील दक्षिण दक्षिण-पूर्व म दोनों के बीच की घाटी में

४ आ ब पृ ४। स्टर्न ने स्थापत्य कला के विकास पर ही अपने विचार विस्तृत रूप से प्रकट किये हैं। पृ ११ से।

५ आर्स ए ल एशिया ओरिएन्ताल २ ल एशिया दु सुद-ईस्ट (एशिया की प्राचीन कला भाग २)। दक्षिण-पूर्वी एशिया। चैम्प १ २४ पृ ४८ से।

है।[1] एक मील के घेरे में यहाँ बहुत-से मन्दिर अलग-अलग समय में बनाये गये। वे सब शैव मत से सम्बन्धित हैं। अ १ तथा अन्य मन्दिरों में स्नानद्रोणी तथा ब १ और ई १ में बड़े लिंग पाये गये। अ १ अ ४ फ १ तथा अ ४ ब १ और क्रमशः घ १ में भी शिव की मूर्तियाँ मिलीं। इनके अतिरिक्त गणेश और स्कन्द की भी मूर्तियाँ क्रमशः ब १ ई५ तथा ब ३ के सम्मुख मिलीं। इस स्थान के अवशेषों में ब्रह्मा विष्णु तथा अन्य देवी-देवताओं की भी मूर्तियाँ मिलीं जो मन्दिरों के फलकों पर शिल्पकला की सुन्दर प्रतीक हैं।

पामांतिये के मतानुसार[2] प्राप्त लेखों के आधार पर मन्दिरों की तिथि को निर्धारित किया जा सकता है। शंभुवर्मन् की कला (६-७ शताब्दी) से सम्बन्धित मन्दिरों में अ १ अ२-७ अ३ अ५, अ७-९ अ११ ११ ब१-५, ई१ ई१ ए६ ई१ हैं। प्रकाशधर्म विक्रान्तवर्मन् के मन्दिरों (७-९ वीं शताब्दी) की कला के मन्दिरों में पूर्वीकालीन अ ८-१३ म१ अ४ तथा फ१ हैं और उत्तरार्ध युग में ब७ अ२ अ६, ई७ तथा फ३ हैं। हरिवर्मन् (११वीं शताब्दी) की कला के अन्तर्गत ब २, ई ४ तथा ई ८ हैं तथा १२वीं शताब्दी के जयहरिवर्मन् की कला के आधार पर ब १ ब २ ब ५ तथा ब ह क और ब मन्दिर हैं। माइ-सोन के प्राचीन मन्दिरों में अ १ तथा उसी के सहायक अ २-अ ७ के मन्दिर हैं। ये सब मन्दिर एक बेदी पर बने हैं और जिस अहाते में वे हैं उसके चारों ओर ईंटों की दीवारें हैं। प्रवेश करने के लिए पश्चिम की ओर विशाल फाटक है जिसमें दो और प्रवेशद्वार और ऊपर चढ़ने के लिए नीचे से दोहरी सीढ़ियाँ हैं। अहाते के अन्दर विभिन्न कला परिपाटी के तथा बाद के समय के अन्य सहायक मन्दिर हैं, जिनमें अ १ उत्तर की ओर तथा अ ११ १२, १३ क्रमशः पश्चिम और पूर्व की ओर हैं। अ१ तथा उसके सहायक मन्दिर अ २-७ तक एक समूह के रूप में फैले हुए हैं। वे ६॥ फुट ऊँचाई की बेदी पर बने हैं और इनमें पहुँचने के लिए पश्चिम की ओर से जीना लगा है। मन्दिर की दीवारों में बाहर की ओर निकले चौकोर खम्भे (पाइलस्टर) हैं और अलंकृत करने

[1] पामांतिये आर्ई सी १ अध्याय ७ पृ ३३७-४१८। मजूमदार, चम्पा पृ २४ से। स्टर्न चित्र नं ११ १६ जिसमें माइ-सोन के विभिन्न मन्दिरों का स्थान निर्धारित और उनकी व्याख्या दी गयी है।
[2] मजूमदार 'चम्पा' पृ २४७।

के लिए बेल-बूटों का प्रयोग किया गया है। किनारे की दीवारों के नकली द्वार बाहर की ओर बढ़े हुए दिखाये गये हैं। ऊपरी भाग में मन्दिर का छोटा नमूना है और नीचे तीन ताखों में मूर्तियाँ हैं। ऊपर शिखर तक पहुँचने के लिए तीन मचान हैं जो क्रमशः छोटे होते गये हैं और एक दूसरे के बीच में कार्निस की कई तहें तथा बीच में मन्दिर का छोटा आकार है। इस मन्दिर में किनारे पर बुर्जियाँ नहीं हैं। दीवारों में चौकोर खम्भे (पाइलस्टर) बाहर निकले दिखाये गये हैं। पहले मचान में बाहर की ओर एक असुर का मुख प्रदर्शित है तथा किनारे पर मकर है।

माइ-सोन के अन्य सहायक मन्दिर २-७ अलग-अलग धरातल पर बने हैं। इसका आकार भी ब १ की तरह है पर ब ६ में गुम्बजाकार छतें नहीं हैं। ब वर्ग के मन्दिरों में ब १ पत्थर का बना है, पर इसकी बनावट सुन्दर ढंग से नहीं की गयी है। ब ५ मन्दिर इस वर्ग के अन्य मन्दिरों से भिन्न है। यह केवल दो मंजिल ऊँचा है और सम्भवतः यह ब १ के समय का है। ई वर्ग के मन्दिरों में ई १ माइ-सोन के अन्य मन्दिरों से भिन्न है। इसका मुख्य ईंटों का नहीं है क्योंकि दीवारें बहुत पतली हैं और इसकी छत टाइलों की बनी है। मन्दिर का अन्दर का भाग चौकोर है और चार कोनों पर लकड़ी के खम्भे हैं। इस वर्ग के अन्य मन्दिरों की भाँति इसका द्वार पश्चिम की ओर है। बीच में लिंग रखने के लिए पत्थर की एक बैठकी (जलहरी) है जिस पर शिल्पकला के सुन्दर नमूने खुदे हुए हैं। ई वर्ग के अन्य सहायक मन्दिर भी समय समय पर बने और इन सबको घेरने के लिए एक दीवार बनायी गयी तथा दक्षिणी भाग में प्रवेशद्वार है। केवल ई ५ का द्वार पूर्व की ओर है। माइ-सोन के अन्य वर्ग के मन्दिरों में कोई विशेषता नहीं है और इसलिए उनका विवरण देना अनावश्यक है।

डोंग-डुओंग के मन्दिर[८]

यह मन्दिर माइ-सोन के दक्षिण-पूर्व में १२ ११ मील की दूरी पर क्वांग-नम प्रान्त में स्थित है जो चम्पा के प्राचीन इतिहास में अमरावती के नाम से प्रसिद्ध था। १२८ गज लम्बे और १६४ गज चौड़े वर्गाकार क्षेत्र में यह मन्दिर है और एक नीची ईंटों की दीवार से इसे घेरा गया है जिसके पूर्वी भाग में प्रवेश-द्वार है।

८. पार्मांतिये आई सी १ अध्याय ८ पृ ३३१ ४१८। मजुमदार, चम्पा पृ २४८ से। स्टर्न, पृ १६।

यहां से इन्द्रवर्मन् द्वितीय के शक सं ७९७ (८७५ ई) के प्राप्त लेख मे एक बौद्ध मन्दिर और लक्ष्मीन्द्र लोकेश्वर के अर्पित विहार की स्थापना का उल्लेख है। स्वामी विषया रानी हरदेवी राजकुल ने यहां पर बहुत-से देवी-देवताओं की मूर्तियां स्थापित की थीं।[9] यहां की इमारतें विभिन्न काल में बनवायी गयीं। मुख्य मन्दिर चम्पा के अन्य मन्दिरों की भांति है। बाहरी दीवारों में नकली द्वार अन्य मन्दिरों की अपेक्षा अधिक बाहर की ओर बढ़े हुए हैं। इन द्वारों को चौकोर खम्भों (पायलस्टर) से अलंकृत किया गया है और इनमें सुन्दर मूर्तियां बैठायी गयी हैं। मन्दिर के अन्दर के आले काफी बड़े हैं। प्रवेश का द्वार पूर्व में है जिसके नीचे सोपान हैं पर पश्चिमी नकली द्वार के नीचे भी सीढ़ियां हैं। मन्दिर के आगे सहन की दीवारों में भी अलंकृत ईंटों के स्तम्भ हैं। मुख्य मन्दिर के चारों ओर चार अन्य सहायक मन्दिर भी हैं जो एक ही सतह पर बने हैं। डोंग-दुओंग में तीन सहन हैं। यहां के मन्दिरों की विशेषता मेहराब[11] में अलंकृत पुष्प हैं और इसकी आकृति शंकु के समान (कोनिकल) है।

पो-नगर के मन्दिर[13]

न्हा-ट्रांग के चू दाम्बो गांव में प्राचीन पो-नगर के मन्दिरों के अवशेष हैं। यह मन्दिर उत्तर से दक्षिण की ओर दो पंक्तियों में एक पहाड़ी पर स्थित हैं। सामने की पंक्ति में प्रधान मन्दिर है और उसके दक्षिण में ख और ग। पीछे की पंक्ति में क ई और घ मन्दिर है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य इमारतों के अवशेष भी हैं। प्रधान मन्दिर अब भी अच्छी दशा में है। पहले यह मंदिर लकड़ी का रहा होगा और इसमें मुख्य लिंग स्थापित था तथा इसका सम्बन्ध विचित्र सागर से था। विदेशियों ने इसे ७७४ ई में जला दिया और दस वर्ष बाद सत्यवर्मा ने एक नये मन्दिर का निर्माण किया और उसमें नये मुख्य लिंग के अतिरिक्त अन्य देवी देवताओं की मूर्तियां भी स्थापित की। मुख्य मन्दिर का निर्माण ८१७ ई

९ मजुमदार, चम्पा, लेख नं ३१ पृ ७४ से।
१० वही नं ३६, पृ ९८ से।
११ स्टर्न पृ १७। हुआर्ड, पृ ७१।
१२ पार्मान्तिये १ पृ १११ ११२। मजुमदार, चम्पा पृ २५१ से।
१३ मजुमदार, चम्पा, लेख नं २२ पृ ४१ से।

तक ध्वस्त हो गया होगा क्योंकि शक सं ७३९ (८१७ ई) का दूसरा लेख[14] इसी के द्वार पर अंकित मिला। इसमे सेनापति पार द्वारा भगवती की एक पत्थर की मूर्ति की स्थापना तथा पन्डक क्रिम गणेश (विनायक) तथा श्री मल्लवाकुठार नामक एक स्थानीय देवता के लिए तीन मन्दिरों के निर्माण का उल्लेख है। यह कहना कठिन है कि किन मन्दिरों के निर्माण का इन लेखों से सम्बन्ध है।

मुख्य मन्दिर अ १ बिल्कुल साधारण है, किन्तु यह अच्छी दशा में है और चम्पा के प्राचीन मन्दिरों का एक सुन्दर उदाहरण है। बाहर का भाग बहुत ही साधारण है तथा दिखावटी नकली द्वार का आकार नुकीली कमानीदार मेहराब की तरह है जिसके ऊपर छोटी मेहराब बनी है तथा बीच में मुकुट पहने एक मनुष्य अपने हाथ छाती पर रखे दिखाया गया है। ऊपर की छत और शिखर के बीच में चार भाग हैं। इनमें बीच के वाले नकली द्वार का छोटा रूप लिये हुए हैं। मन्दिर के आन्तरिक भाग में घुपटाकार गुम्बज है। मन्दिर मे उमा की एक सुन्दर मूर्ति है। पो-नगर का मन्दिर कुछ बातों मे दूसरों से भिन्न है। इसके नकली द्वारों की बनावट अन्य मन्दिरों के जैसे द्वारो की भाँति नही है। इसके ऊपर नुकीली कमानी के आकार की मेहराब हैं जो ऊपर की ओर क्रमश छोटी होती जाती हैं। इसकी छत में भी कई परतें नही हैं यह एक घुपटाकार गुम्बज का रूप लिये हुए है। यहाँ के फ मन्दिर में नकली द्वारों के स्थान पर शिल्प कला के प्रतीक मिलते हैं।

अन्य स्थानों क मन्दिर

होआ-लाई फन रग से उत्तर में म्होल सोन के गाँव में ये मन्दिर मिले हैं जो अधिकतर खंडहर के रूप में हैं। ये स्थापत्य कला के सुन्दर प्रतीक प्रतीत होते हैं। स्टर्न क मतानुसार[15] होआ-लाई के मन्दिरो के चौकोर खम्भो तथा मेहराबों की नक्काशी उच्च श्रेणी की कला की द्योतक है। बड़ी और छोटी मेहराबों को सुन्दरता से पेड की डाल और उससे निकली शाखाओं के रूप म अलकृत किया गया है। मन्दिर की दीवारें बिल्कुल सीधी नही हैं पर बाहर की ओर झुकी मालूम पड़ती हैं। मन्दिर का ओसारा भी आगे को बढ़ा है और इसमें नकली द्वार बने हुए हैं।

१४ वही नं २६, पृ ६३ से।
१५ वही पृ ४८।

पो-हे मन्दिर

फनथिएट के निकट पिएन-म्न नामक गाँव के पास पहाड़ी पर एक सम वेदी के तीन मन्दिर हैं। इन तीनों मन्दिरों का द्वार पूर्व की ओर है। मुख्य मन्दिर ऊँची सतह पर है और इसके उत्तर-पूर्व में एक अन्य मन्दिर के अवशेष हैं। इससे नीचे उत्तर की ओर तीसरा मन्दिर है। मुख्य मन्दिर मे किनारे पर बुर्जियां नहीं हैं और न कार्निस की कोनों पर पत्थर का प्रयोग है। इस मन्दिर का द्वार कम्बुज के मन्दिरों से बहुत मिलता है। फरग्यूसन ने इस प्रकार के मन्दिर की समानता वल्मीक स्तूप से की है।[16]

पो-दम मन्दिर

फनरी नगर के निकट पु-थिएन प म से दो मील उत्तर में एक पहाड़ी पर ६ मन्दिर मिले हैं। इनमें मुख्य मन्दिर में बड़ी कारीगरी की हुई है। एक छोटे मन्दिर की ऊपरी मंजिल की छतें धुकावदार (कर्वड) हैं और उसकी समानता बोरोबुदुर के छोटे जावानी मन्दिरों से की जाती है।[17]

पो-रोम मन्दिर

इस वर्ग का मन्दिर, जिसमें एक मुख्य तथा उसके साथ में एक और इमारत है, बिन्ह-दुअन के हाऊ-सन्ह गाँव में एक चट्टान पर स्थित है। मन्दिर बहुत ही साधारण है। इसके कान के बुर्ज गुम्बाकार हैं। इलाज के अनुसार[18] यह चम्पा का सबसे बाद का मन्दिर है जिसका निर्माण १७वीं शताब्दी में हुआ होगा। इसके द्वार पर अंकित लेखो से इसकी पुष्टि होती है। सहायक इमारत मे कुछ चित्रकला के चिह्न भी मिले हैं।

१६. पार्मांतिये १ पृ २९, चित्र १ १। मजुमदार, चम्पा, पृ २५४।
१७. हिस्ट्री आफ इंडियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, भाग १ पृ ७२, चित्र १६
१८. पार्मांतिये १ पृ ५ से चित्र ६-७। मजुमदार, चम्पा, पृ २५५।
१९. पार्मांतिये वही पृ ५१ से चित्र ८१। मजुमदार वही।
२ पृ ५-५।

पो-क्लौंग-गराइ[२१]

यहाँ का मुख्य मंदिर, जहाँ से फनरंग का अच्छा दृश्य दिखाई पड़ता है बड़ी अच्छी दशा में है और लेखों के आधार पर उसका निर्माण काल जयसिंहवर्मन् चतुर्थ (१२८७-१३ ७) के समय में रखा जाता है। इस मन्दिर के द्वार तथा नकली द्वार मन्दिर की दीवारों में नहीं बने हुए हैं, वरन् वे आगे निकले हुए बनाये गये हैं। मन्दिर ऊँची मेढ़ी पर बना है। द्वार के ऊपर कमानीदार मेहराब है जो क्रमश: दूसरी और तीसरी मंजिल में छोटी होती जाती है। प्रत्येक मंजिल के किनारे पर बुर्ज बने हुए हैं।

अन्य मन्दिर

चम्पा में हुंग-थान कुई-न्होन से दो मील की दूरी पर बुओंग-लोंग में भी कुछ मन्दिरों के अवशेष मिले हैं। इनमें प्रथम श्रेणी के मन्दिर की छतें गुम्बदाकार हैं और समानान्तर रूप से नीचे से ऊपर छोटी होती जाती हैं।[२२] बुओंग-लोंग के मन्दिरों में नकली द्वारों के ऊपरी भाग में शिल्पकला का सुन्दर चित्रण है। छत के किनारों पर बुर्ज नहीं हैं और ऊपरी भाग उलटे कमल की भाँति है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य मन्दिर भी हैं जिनमें शिल्पकला अथवा बनावट के कारण कुछ विशेषताएँ हैं।

स्थापत्य कला में मन्दिरों के अतिरिक्त गुफाएँ तथा गढ़-निर्माण भी उस देश की कारीगरी के प्रतीक हैं। गुफाओं में बहुत-से लेख अंकित मिले हैं। फोंग-न्हू की गुफाएँ बहुत बड़ी हैं। प्रवेश-द्वार से १३ गज तक एक लम्बी सुरंग है और थोड़ी गहराई तक इसमें पानी है। यहाँ पर १२५ गज लम्बी एक और सुरंग है। यहाँ पर कुछ छोटी मूर्तियाँ तथा बुद्ध की एक प्रतिमा मिली जिसपर 'शाक्य पुत्र' लिखा था। इससे यह प्रतीत होता है कि यह बौद्ध भिक्षुओं का स्थान रहा होगा। चम्पा के राज-प्रासादों के अवशेष नहीं मिले हैं, यद्यपि चीनी स्रोतों से

२१ पामोंतिये भाग १ पृ ८१ से, चित्र ११ १४। मजुमदार पृ २५५।

२२ मजुमदार, 'चम्पा' लेख सं १११ ११५, पृ २२ से।

२३ वही, पृ २५६।

२४ मजुमदार, 'चम्पा' पृ २५९।

ज्ञात होता है कि वे बड़े और ऊँचे थे। नगर के बचाव के लिए बनायी गयी दीवारों के अवशेष अवश्य मिले हैं। ९ ? फुट ऊँचाई की मिट्टी और पत्थरों की बनी भीत मिलती है।

शिल्पकला

यद्यपि चम स्थापत्य-कला को पूर्णतया भारतीय मानना कठिन है, क्योंकि कुछ विद्वान् इसे स्थानीय कला का ही प्रतीक मानते हैं, पर चम्पा के मन्दिरों की शिल्पकला तथा स्वतन्त्र रूप से निर्मित मूर्तियों के विषय भावप्रदर्शन मुद्रा तथा बनावट में पूर्णतया भारतीयपन प्रतीत होता है। चम कलाकारों ने स्वतन्त्र रूप से अथवा भारतीय कलाकारों के सहयोग से इसमें प्रगति दिखायी। काकानुसार स्टर्न ने चम शिल्पकला को स्थापत्य-कला की भाँति तीन भागों में बाँटा है—[25] डोंग-दुयोंग कला बिन-दिन्ह कला तथा बाद की शिल्पकला। यहाँ पर विभिन्न काल की शिल्पकलाओं का वस्तुतः वृत्तान्त देने की अपेक्षा कला के विभिन्न अंगों—देवी, देवता तथा मनुष्यों के आकार पशुओं की मूर्तियों तथा अलंकृत साधनों के क्रमिक उतार चढ़ाव तथा पुनः उतार पर प्रकाश डालना स्वाभाविक तथा सरल होगा। चम्पा की मूर्तियाँ या तो मन्दिरों में लगी हुई हैं अथवा अलग से बनी हैं, जिनमें देवी-देवता द्वारपाल सम्राट् सम्राज्ञी की मूर्तियाँ सम्मिलित हैं। देवी-देवताओं की मूर्तियों में शिव विष्णु, इन्द्र विनायक स्कन्द सूर्य उमा लक्ष्मी इत्यादि की मूर्तियाँ मिली हैं और इनका उल्लेख धर्म के अध्याय में पहले ही हो चुका है। यहाँ पर केवल चुनी हुई कुछ मूर्तियों का कला तथा प्रतिमा-लक्षण के आधार पर संक्षिप्त वर्णन किया जायगा। इस सम्बन्ध में यह कह देना आवश्यक है कि प्रारम्भिक चम शिल्पकला में वह लावण्य मुसकान और सौम्यता है जो भारतीय मूर्तियों में पायी जाती है। बाद की मूर्तियों के मुख भारी हैं शरीर स्थूल है और चेहरे पर मुसकान के स्थान पर हिंसात्मक अथवा गम्भीर भावना दिखाई पड़ती है। सिंह, गज मकर तथा अन्य पशुओं का भयानक स्वरूप है। द्वारपाल भी इसी रूप में दिखाये गये हैं। कला में नृत्य को भी स्थान मिला है और कई स्थानों पर नृत्य

२५ चम्पा पृ ७१। डा मजूमदार ने चम्पा की शिल्पकला को तीन भागों में रखा है भारतीय प्रतिमाएं, पशु तथा अलंकृत विषय प २६१।

करती हुई अप्सराएँ और वीणा बजाते व्यक्ति दिखाये गये हैं। ये आरम्भिक काल के हैं। कलात्मक दृष्टि से कुछ सुन्दर मूर्तियों का उल्लेख करना आवश्यक है।

शिव

शिव की दो खड़ी मूर्तियाँ माण्मोन के म ४ और म म मिलीं जो एक दूसरे से बहुत मिलती हैं। ऊपर का भाग सम रूप से संतुलित है और चेहरे पर प्रसन्नता का भाव है। बिन-दिग्ह कला के अन्तर्गत आने वाली शिव की नृत्य करती मूर्ति बड़ी सुन्दर है। एक हाथ में त्रिशूल है दूसरा हाथ टूटा हुआ है। बायाँ पैर नृत्य भाव में उठा हुआ है। पैरों में नूपुर हैं बाहु में कुंडल तथा कंगन और वक्षस्थल पर माला है। वे कानों में कुंडल पहने हुए हैं। शीश पर जटा-जाल (कामिरस) का मुकुट है जो मालाओं से अलंकृत है।[२६] दूसरी मूर्ति बिल्ह-दिग्द से प्राप्त हुई और इस समय पेरिस के संग्रहालय म्यूज़े गिमे में है। इसमें शिव पद्मासन अवस्था में एक पत्थर के पीठ पर बैठे दिखाये गये हैं। वे ध्यानावस्था में हैं और तीसरा नेत्र भी दिखाया गया है। उनके आभूषित शरीर पर यज्ञोपवीत कटिसूत्र अंगद के अतिरिक्त सर्प भी प्रदर्शित है। कला की दृष्टि से यह मूर्ति बड़ी सुन्दर है। शिव के मुख पर मुसकान है और नेत्रों से प्रतीत होता है कि वे ध्यान-मग्न हैं। मुकुट पर चन्द्रमा भी अंकित है।

विष्णु

विष्णु के शेषनाग की शैया पर शयन करने का दृश्य माण्मोन के नं १ में मंदिर के बाहरी भाग पर मूर्ति पर अंकित है। विष्णु की नाभि से निकले कमल पर ब्रह्मा बैठे हैं। इस दृश्य में लक्ष्मी नारी ६ पर दाता दिखाये गये अर्ध मनुष्य के रूप में गरुड़ अपने दोनों हाथों में सर्प पकड़े दिखाये गये हैं। ब्रह्मा पद्मासन पर बैठे हैं। दूसरे संग्रहालय वाली विष्णु की मूर्ति भी उल्लेखनीय है। इसमें ऊपर का

२६. स्तर्ने चित्र ६२ (ब)।
२७. वही, नं ५९।
२८. स्तम्पा चित्र नं २१ (स)।
२९. वही, नं ५१ (अ)।

भाग बड़ा ही साधारण है। नीचे का भाग एक प्रकार की धोती से ढका है और कमर में फेटे के अतिरिक्त करधनी भी दिखायी गयी है। शीश-मुकुट साधारण है। माला की कई पंक्तियों के स्थान पर मुकुट आमलक आकार का है। किन्तु के मुख पर गम्भीरता का आभास है। उसके छोटी पतली मुख भी है तथा कर्ण कमानदार और जुड़ी हुई है। पामातिये के अनुसार यह मूर्ति हो-वाई शिल्पकला परिपाटी की प्रतीक है।

अन्य देवता

अन्य देवताओं की कुछ मूर्तियाँ भी मिली जो कला की दृष्टि से उल्लेखनीय है। डौंग-डुओंग की एक मूर्ति उल्लेखनीय है। इसका दाहिना हाथ साधारण रूप से दाहिने अंग पर है और बायें में उसने कोई शस्त्र अथवा मूसल धारण किया है। धोती का फेंटा बहुत साफ दिखाई पड़ता है। ऊपरी भाग में बाहु और वक्षस्थल पर कुछ बंधा हुआ दिखाया गया है जो आभूषण नहीं प्रतीत होता है। शीशमुकुट या मौलि बहुत भारी है। इस मूर्ति का शरीर बहुत स्थूल है और मुख का आकार चौड़ी-चपटी नाक व का है। स्टर्न ने इसे कोई देवता माना है पर लक्षणों से या तो यह द्वारपाल अथवा रक्षक प्रतीत होता है। चमनम से प्राप्त एक अन्य मूर्ति किसी देवता की प्रतीत होती है।[१] यह पद्मासन में है, इसका सिर टूटा है और यह प्रतीत होता है कि बनाते समय इस बात का पूरा ध्यान रखा गया था कि इसके विभिन्न भागों का सन्तुलन ठीक से रहे। यह बिल्कुल त्रिकोण रूप में प्रतीत होता है। मूर्ति पूर्णतया आभूषणों से अलंकृत है और शरीर की बनावट भी बड़े ढंग से की गयी है। इसे विन्ह-दिन्ह परिपाटी के अन्तर्गत रखा गया है और कला की दृष्टि से यह बहुत सुन्दर है।

बुद्ध की मूर्ति

डौंग-डुओंग से प्राप्त बुद्ध की मूर्ति साधारण है।[११] यद्यपि बुद्ध ध्यानावस्था में

९ वही नं ५५ (अ)।
११ वही नं ६२ (अ)।
१२ वही नं ५६ (अ)।

हैं, पर वे पद्मासन मुद्रा में नहीं हैं साधारण रूप से पैर लटकाकर बैठे हुए हैं। दोनों हाथ घुटनों पर हैं और संघाटी का कोना ऊपर दाहिने कंधे से होकर पीछे गया है। पहनावा उष्णीष और घुँघराले बाल भारतीय बुद्ध की मूर्ति की भाँति दिखाये गये हैं। पर इनकी नाक और ओष्ठ बहुत चौड़े हैं और मुख खुला हुआ है। चहरे पर गम्भीरता का भाव नहीं है।

कुछ सुन्दर चित्र

दिक्हो (टि पागम) पर शिल्पकारों ने अपनी कलात्मक बुद्धि का प्रमाण भी दिया है। जो चित्र अंकित हैं उनसे प्रतीत होता है कि किसी कथानक अथवा दृश्य को पूर्ण रूप से विस्तृत क्षेत्र में अंकित किया जा सकता था। माइ-सोन स १ मन्दिर मे प्रमुख द्वार के सिरहे पर एक सुन्दर चित्र अंकित है।[१] बीच में चौकी के आकार (पेडस्टल) में लम्बी बैठ दिखाया गया है और उसके ऊपर शिव नृत्य कर रहे हैं, पर उनका ऊपर का भाग टूटा हुआ है। घुटने झुके हैं और बायो पैर नृत्य भाव में उठा हुआ है। बायाँ हाथ भी जाँघ पर है। मुख्य मूर्ति के दोनों ओर तीन व्यक्ति हैं। दाहिनी ओर सबसे निकटवाला व्यक्ति नाच रहा है तथा अन्य दो क्रमशः उसका और बाँसुरी बजा रहे हैं। दूसरी ओर सबसे किनारे वाला व्यक्ति हाथ जोड़े खड़ा है और सिंहासन पर बैठी कोई देवी और उनके निकट कोई देवकुमार खड़ा है। यह कदाचित् दुर्गा या पार्वती और स्कन्द है। दोनों ओर पेड़ भी दिखाये गये हैं। ऊपरी भाग में देवता या अप्सरा आकाश में उड़ते हुए दिखाये गये हैं। चम कला का यह सुन्दर नमूना है।

नर्तकी और नृत्य-दृश्य

चम कला मे नृत्य-दृश्य भी अच्छी तरह दिखाये गये हैं। भ-क्कि‌ओ से प्राप्त एक नर्तक और नर्तकी की मूर्तियाँ विशेषतया उल्लेखनीय हैं।[१४] दोनों ही मूर्तियों में भाव प्रदर्शन सुन्दरता से किया गया है पर मुद्राएँ भिन्न हैं। नर्तकी अपने नृत्य में इतनी लीन है कि उसे अपने तन की सुध-बुध नहीं रही है। मोतियों की माला से उसकी

१३ स्टर्न, चित्र नं ५४।
१४ वही नं ५९ अ और ब।

कटि अलंकृत है। नर्तकी की मूर्ति इस समय टूरेन के संग्रहालय में है। माइ-सोन के ई १ मन्दिर के एक खम्भे पर सम चतुर्भुज (रामबाइस) में एक नृत्य-दृश्य में[15] चीर वाला नर्तक अपने हाथों और पैरों को एक कोने से दूसरे कोने तक फैलाये और उसका शरीर बड़ा लचीला दिखाया गया है। अन्य दो नर्तक संकुचित ढंग से नृत्य अवस्था में दिखाये गये हैं। च-किउ से प्राप्त एक नर्तक हाथ उठाये और पैरों को मोड़ नृत्य करता दिखाया गया है।[16] वहीं से प्राप्त एक चौकी के आकार (पेडस्टल) पर तीन नर्तकियाँ नृत्य करती दिखाई गयी हैं।[17] दाव-यावन के चित्रों में माइ-सोन के मन्दिर स १ के शिव-नृत्य के दृश्य के अतिरिक्त जिसमें नृत्य के साथ एक व्यक्ति वीणा बजा रहा है और दूसरे के आगे दो तबले अथवा मृदंग रखे हैं माइ-सोन के प्राच न मन्दिर ई म मे भी एक व्यक्ति बाँसुरी बजा रहा है। उसके दोनों हाथों की उँगलियाँ बाँसुरी पर हैं।

द्वारपाल गन्धर्व नाग और जन्तु

चम शिल्पकला में द्वारपालों गंधर्व नाग तथा पशु-पक्षियों को भी यत्र तत्र प्रदर्शित किया गया है। इन सबमें हिंसात्मक तथा क्रूरता का भाव प्रदर्शित है जिससे इनसे लोग डरें। मकली द्वारों को अलंकृत करने के लिए द्वारपालों की मूर्तियाँ बैठा दी गयी हैं। पशु पक्षियों को भी स्थूल शरीर तथा हिंसात्मक भावना से प्रदर्शित किया गया है। डोंग-दुवुवाप का द्वारपाल[14] अपने स्थूल शरीर तथा चौड़े मुख और चपटी नाक के लिए उल्लेखनीय है। माइ-सोन ई ४ और बम-मम के द्वारपाल के ऊपरी भाग मे केवल स्थूल काया और क्रूर भाव की समानता मिलती है।[18] दोनों की वेषभूषा और पगड़ी भिन्न है। इनके मुख का आकार भी भिन्न है। पत्र सिंह तथा मकर मन्दिरों के बाहरी भाग को अलंकृत करने के लिए चित्रित हैं। मकर मुख का प्रयास जावा की भांति यहां पर भी हुआ है और मकर तथा नागों की समानता

१५ वही चित्र नं ५२।
१६ हलाद नं १७१,पृष्ठ ७६।
१७ हलाद नं १७३।
१८ स्टर्न चित्र नं ५५।
१९ वही नं ६१ म और ब।

ख्मेर कला के उदाहरणों से की जा सकती है। सिंहों का क्रूर चेहरा कदाचित् चीनी अजगर की तरह है। हाथी मलाया तथा हिन्द चीन के जंगलों-जैसे किये गये हैं। मकर भी ख्मेर कला पर आधारित है।

चम्पा की स्थापत्य तथा शिल्पकला पर भारतीयता की छाप गहरी लगी। विषय भारतीय थे और कलाकारों ने उन्हें मूल रूप में प्रदर्शित करने का प्रयास किया। अमरावती तथा पल्लव कलाओं का यहाँ बड़ा प्रभाव पड़ा तथा उत्तर भारत की गुप्त कालीन कला का प्रभाव भी यहाँ की कुछ मूर्तियों के स्वतन्त्र पहनावे में प्रतीत होता है। यह सच है कि चम कलाकारों ने स्वतन्त्र रूप से अपने ढंग पर स्थापत्य और शिल्प-कलाओं के क्षेत्र में प्रगति दिखायी। चम्पों की कारीगरी तथा नक्काशी बेल-बूट तथा मालाओं से अलंकृत करने का प्रयास और मेहराब तथा कार्निस का अलंकृत करना सरल बात न थी। ऊँचे घुण्डाकार मन्दिरों के निर्माण में उन्होंने ईंटों का प्रयोग किया और किनारों पर उन्हें पत्थरों से कसा जिन पर मकरमुख सुन्दरता से कटे हुए हैं। मन्दिरों की छत और किनारे के बुर्ज भारतीय नहीं हैं। उनका आकार भी अपने ही ढंग का है जो समय के साथ प्रगति करते हुए पुनः अवनति की ओर अग्रसर हुआ। चम कलाकारों ने निकटवर्ती देशों के साथ सम्बन्ध द्वारा अपनी कला में उनके कुछ अंश उद्धृत किये हैं। आज भी चम देश के बचे हुए मन्दिर अपने प्राचीन कलाकारों की स्मृति दिलाने के लिए खड़े हैं। अंकोर और बोरोबुदूर की भाँति वे विशाल नहीं हैं पर उनमें प्राचीन चमों की धार्मिक प्रवृत्ति और विश्वास कूट-कूटकर भरा हुआ है।

तृतीय भाग—कम्बुज

अध्याय १

भारत और हिन्दचीन

दक्षिण-पूर्व एशिया में बंगाल की खाड़ी और चीनसागर के बीच में हिन्दचीन का प्रायद्वीप ईसा की प्रथम शताब्दी से भारतीय संस्कृति का केन्द्र रहा है। बरमा स्याम मलय देश लाओस कम्बुज कोचिन चीन तथा अनम के भग्नावशेष आज भी अपने प्राचीन गौरव के प्रतीक हैं। वर्तमान कम्बुज में जो पहले फ्रांसीसी साम्राज्य का अंग था और अब पूर्णतया स्वतंत्र है ईसा की पहली शताब्दी मे भारत से कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण ने जाकर फूनान की सम्राज्ञी सोमा से विवाह कर अपना राज्य स्थापित कर लिया। १३वीं शताब्दी तक इनके वंशजों का इस देश मे राज्य रहा। ब्राह्मण कौण्डिन्य तथा बाद मे भारत से गये औपनिवेशिकों के भारतीय रक्त ने स्थानीय रक्त मे मिलकर उस देश म नवीन जाति उत्पन्न कर दी। उन्होंने देश के सांस्कृतिक स्तर को बहुत ऊँचा किया और भारत य धर्म साहित्य एवं कला से देश और वहाँ के निवासियो को पूर्ण रूप से परिप्लावित कर दिया। प्राचीन कम्बुज देश की सीमाएँ वर्तमान कम्बोडिया से अधिक विस्तृत थी तथा इनके साथ कोचिन चीन और मेकांग नदी की दक्षिणी घाटी सम्मिलित थी। देश की सभ्यता मे मेकांग नदी का बड़ा हाथ रहा है और कम्बुज देश के लिए वस्तुतः भारत

१ लेक्लेर के मतानुसार मैकांग अथवा मेकांग दो शब्दों का संयुक्त रूप है 'मैं' से माँ अथवा मुख्य का संकेत है, और 'कांग' कदाचित् संस्कृत गंगा से व्युत्पन्न है। इसलिए मैकांग का अर्थ 'माता-गंगा' अथवा 'गंगा-माता' है और वास्तव में भारतीय गंगा की भाँति इसका कम्बुज देश की समृद्धि और सभ्यता में बड़ा हाथ रहा और इसी के किनारे मुख्य केन्द्र स्थापित हुए। आज भी कम्बुज की राजधानी नोम पेन्ह इसी के तट पर स्थित है। देखिए, लेक्लेर—कम्बुज पृ ९, नोट १। मजुमदार, कम्बुज देश पृ ११ नोट १। पुरी, भारत और कम्बुज पृ १ नोट।

और मिस्र की यमा और नील नदियों की भाँति इसका बड़ा महत्त्व है। इसी के कारण देश का वह भाग जहाँ तक इसकी बाढ़ का पानी जाता है बहुत उपजाऊ है, अन्यथा देश का अधिक भाग ऊसर है और छोटी-छोटी पहाड़ियों से घिरे होने के कारण उसमें यातायात की सुविधाओं की कमी है। इसी लिए भारतीय औपनिवेशिकों ने समुद्री मार्ग से आकर इस देश में अपने पैर जमाये।

आदि निवासी

हिन्द-चीन के प्राचीन देशों में न तो भौगोलिक एकता ही थी और न यहाँ के निवासी ही एक जाति के थे। भौगोलिक तथा प्राकृत मानव-पृथकता ने इतिहास के ऊपर बड़ा प्रभाव डाला। समुद्र के निकट बहुत से बन्दरगाह थे पर भीतरी भाग में ऊपर से नीचे की ओर बहुत-सी छोटी-बड़ी पहाड़ियाँ हैं और बीच में मेकांग तथा मीनम नदी बहती है। इनके मुहाने पर का भाग बहुत उपजाऊ है और इसी लिए यही भाग प्राचीन भारतीय संस्कृति का केन्द्र बना और औपनिवेशिकों ने समुद्री मार्ग से आकर सबसे प्रथम यहाँ अपना राज्य स्थापित किया। यहीं से वे उत्तर की ओर नदियों के किनारे-किनारे बढ़े। इसी लिए भारतीय संस्कृति की छाप नदियों के मुहाने के निकट उपजाऊ क्षेत्र में अधिक पड़ी। कोचिन चीन के ओकियो नामक स्थान में प्रो० मैलेरे ने खुदाई कराकर यह प्रदर्शित किया कि भारतीयों के आगमन से पहले यहाँ पर पाषाण युग की सभ्यता थी। हिन्द चीन में विभिन्न जातियों के लोग रहते थे और उनकी भाषा भी एक दूसरे से अलग थी। तिब्बती बर्मी और मौं-ख्मेर नामक जाति के लोग कदाचित् भारत से ऐतिहासिक युग से पहले यहाँ आये। तिब्बती-बर्म मंगोल वर्ग के थे जो उत्तरी बर्मा में बस गये। इनकी समानता पूर्वी भारत की अबोर और मिशमी जातियों से की जाती है। मौं-ख्मेर व्यक्ति भी अनार्य वर्ग के थे और कदाचित् आर्यों के भारत में आगमन के कारण वे दक्षिण-पूर्व की ओर चले। मौं दक्षिण बर्मा में बस गये और वहीं से मीनम की घाटी होते हुए वे पूर्व की ओर बढ़कर स्याम पहुँचे। ख्मेर कम्बोडिया पहुँचे और

२ ए बि इ हि आ (१९४०-४७) पृ ५१ से। मैलेरे के मतानुसार इस नगर की सभ्यता भारतीय थी पर यहाँ भारतीयों द्वारा अन्य देशों से भी माल लाया जाता था। मिली हुई चीजों में कुछ ईरानी भी प्रतीत होती हैं।

फिर वहाँ से पश्चिम की ओर बढ़कर वे स्याम में मॉ जाति के व्यक्तियों से मिले। चम्पा (वर्तमान अनम) में चम जाति के व्यक्ति गये और मलय न अपने नाम पर मलाया बसाया। इसी वर्ग के व्यक्ति सुमात्रा जावा बाली तथा अन्य द्वीपों में जाकर बस गये। चम और मलय की भाषा एक ही वर्ग की मानी जाती है। स्मिट के मतानुसार हिन्द चीन और हिन्दनेसिया के आदिनिवासी जिनमें मों ख्मर मलय और चम सम्मिलित हैं मध्य भारत की मुंडा तथा अन्य जंगली जातियां और उत्तर पूर्वी भारत की खस जातियों से मिलते-जुलते हैं अतः भारत ही इन सब जातियों का आदि स्थान था।

१ मजुमदार, 'कम्बुज देश' पृ ४। पुरी 'भारत और कम्बुज' पृ २१ इस विषय पर विस्तृत रूप से विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किये हैं जिनका उल्लेख संक्षिप्त रूप में सिडो ने अपने ग्रन्थ में किया है (ए हि पृ २१ से)। यहाँ पर उन पर केवल सूक्ष्म रूप से विचार किया जायगा।

४ देखिए, ब इ का ७ पृ २११ से। सिडो ए हि पृ २४। पुरी पृ० ३। भाषा के आधार पर स्मिट ने आस्ट्रो-एशियाटिक वर्ग का सम्बन्ध आस्ट्रो-नेशियन वर्ग से स्थापित करने का प्रयास किया है तथा एक बृहत् आस्ट्रिक क्षेत्र की धारणा की है। हिन्द-चीन और हिन्दनेसिया के निवासी जो उत्तरी भारत के खस तथा मध्य भारत की अन्य जंगली जातियों से मिलते-जुलते हैं वास्तव में एक ही वर्ग के थे। फिनो ने स्मिट के विचारों को स्वीकार माना है। उनका कथन है कि हिन्द-चीन की खुदाई में प्राप्त अवशेषों से प्रतीत होता है कि यह के आदिनिवासी प्रोटो आस्ट्रेलायड पपुआन प्रोटो-मिलानेसियन नेगरिटो तथा प्रोटो-इण्डोनेशियन वर्ग के थे। नेगरिटो के अतिरिक्त अन्य सब डोलीकोसेफेलिस थे (जनरल-अमेरिकन ओरियंटल सोसायटी (ज अ ओ सो) ५६, १९३६, पृ ५५-५७। इस सम्बन्ध में अन्य विद्वानों ने भी अपने विचार प्रकट किये हैं। लेवी स्मिट के मत से सहमत हैं (जनरल एशियाटिक, ज ए) जुलाई-सितम्बर, १९३१ पृ ५५-५७। पर कोन का कथन है कि पहले जावा-निवासी भारत में आकर बसे और उसके बाद भारतीय वहाँ गये (हि ज दे पृ १८)। हार्नेल के मतानुसार मलाया के आदिनिवासी अपने साथ डोंगा लाये (ज ए सो बं ७, १९२ पृ ११९)। जिरेड ने हिन्दनेसिया और मौन-ख्मेर कहानियों में समानता दिखाने का प्रयास किया है (जे रा ए सो मलाया ब्रांच नं० ७९ पृ ११९)।

हिन्द चीन में थाई और उनके उपनिवेश

हिन्द चीन के आन्तरिक भाग में थाई रहते थे जिन्होंने बाद चलकर स्याम का नाम थाईलैंड रखा। ये मंगोल जाति के थे और चीनियों से मिलते-जुलते थे। ये चीन के दक्षिण और दक्षिण-पूर्वी भाग में थे। ये तीन शताब्दी पहले दक्षिण की ओर बढ़ और शान तथा युनान में बस गये। उसके बाद ये क्रमशः दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़े और उन्होंने अनाम बहुत-से स्थानीय उपनिवेश स्थापित किये। यह घटना ईसा के प्रारम्भिक शताब्दियों की है। ८ १वीं शताब्दी तक वे इरावदी नदी के ऊपरी भाग सालवीन नदी तक पश्चिम में और दक्षिण में स्याम तथा कम्बोडिया की सीमा तक पहुँच गये थे।[१] थाई लोगों ने हिन्द चीन के उत्तरी भाग में बर्मा से पूर्व तथा स्याम और कम्बोडिया के उत्तर में अच्छी तरह से अपने पैर जमा लिये। इनका एक केन्द्र युनान और दूसरा टोंकिन था तथा चीनियों से निकट रहते हुए भी ये अपना अस्तित्व बनाये रहे। चीनियों के साथ होते हुए भी इनकी स्वतन्त्रता कायम रही। ७वीं शताब्दी में इन्होंने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया जो १ वर्ष तक कायम रहा। इसका नाम नन चौ अथवा विदेह राज्य था और इसकी राजधानी मिथिला थी। थाई जाति के दूसरे अंग ने अनाम के उत्तरी भाग में ईसा की दसवीं शताब्दी में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया।

लगभग १ वर्ष के चीनी नियंत्रण के फलस्वरूप टोंकिन और उत्तरी अनाम पर चीनी संस्कृति का प्रभाव बहुत अधिक पड़ा पर युनान के थाई, चीनियों के इतने निकट होते हुए भी भारतीय रंग में रंग गये थे जैसा कि विदेह राज्य और उसकी राजधानी मिथिला तथा अन्य भारतीय नामों से पता चलता है। इन पर भारतीय प्रभाव या तो स्वतंत्र रूप से पड़ा अथवा ब्रह्मा में स्थापित हिन्दू राज्यों द्वारा हुआ। पिलियो के मतानुसार[२] नान चाओ के वासियों के दा लेखों के अक्षर भारतीय लिपि से मिलते-जुलते हैं और उक्त देश में बहुत-से स्थानों के नाम भी

१ विस्तृत वृत्तान्त के लिए देखिए, टूंग-पाओ १८९७, पृ ५१। ११ पृ ४९५। बोस, 'इंडियन कालोनी आफ स्याम' लाहौर १९१७, मजुमदार फ्रन्थुथ ईस्ट, पृ ५ से।

२. बु इ आ ४ पृ १५२ से।

भारतीय हैं जैसे गंधार, विदेह राज्य और उसकी राजधानी मिथिला या मिथिला राष्ट्र भी कहलाता था। स्थानीय किंवदन्तियों के अनुसार[7] भारत से यहाँ बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर आए और उन्होंने यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। ८वीं शताब्दी में यहाँ के एक नृप का चीनी संस्कृति की ओर झुकाव देखकर सप्त भारतीय धर्म-प्रवर्तकों ने उसको पुनः भारतीय संस्कृति और धर्म का अनुसरण करने का आदेश दिया। युनान में चन्द्रगुप्त नामक एक हिन्दू साधु, जो मगधनिवासी होने के कारण मागधी कहलाता था, अपने अद्भुत कृत्यों के कारण प्रसिद्ध था। युनान में बौद्ध धर्म से सम्बन्धित प्रसिद्ध गीधकूट-गुहा, बोधि-वृक्ष तथा गृध्रकूट पहाड़ी भी थी। स्थानीय किंवदन्ती के अनुसार युनान के नृप अशोक के वंशज थे और बुद्ध ने यहाँ आकर तान्कि श्रीम के निकट ज्ञान प्राप्त किया था। रशीदुद्दीन नामक अरब लेखक ने ११वीं शताब्दी में इस देश का गंधार के नाम से उल्लेख किया है और उसके मतानुसार यहाँ के निवासी भारत और चीन से आए थे। युनान के थाइयों ने भारती संस्कृति को पूर्णतया अपना लिया था। युनान के अतिरिक्त इसके पश्चिम और दक्षिण में थाइयों के और भी कई राज्य थे। चीनी स्रोत के अनुसार मणीपुर और असम से पूर्व की ओर ता-त्सिन नामक एक ब्राह्मण राज्य था और इससे १५ मील पूर्व चिन्दविन नदी के आगे एक दूसरा राज्य था। भारतीय थाई राज्यों ने इरावदी और सालवीन के बीच कासम्बी नामक एक संघ बना लिया था। इसके पूर्व में कुछ छोटे-छोटे राज्य थे जो युनान से कम्बुज और स्याम की सीमा तक फैले हुए थे। इनके नाम क्रमशः खासीराष्ट्र, खमेर-राष्ट्र, सुवर्णग्राम, उन्मार्गशील, योनक-राष्ट्र, हरिपुञ्जय इत्यादि थे।

स्थानीय पालि ग्रन्थों में इन राज-वंशों का उल्लेख मिलता है और यहाँ गुप्तकालीन तथा अन्य समय की कुछ मूर्तियाँ भी मिली हैं। इन आधारों पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मंगोलों से इनके निकट होने पर भी थाइयों पर चीनी संस्कृति का प्रभाव नहीं पड़ा, वरन् वे भारतीय संस्कृति में ही रंग गये। इस भारतीय सम्पर्क का उल्लेख चीनी स्रोत में भी मिलता है। चीनी राजदूत

७. मजुमदार, कम्बुज देश, पृ. ९।

८. सिल्वियो, बु. इ. फ्रा., ४, पृ. १५९ से। मजुमदार, पृ. ५९।

९. एपूंडिये एशियाटिक (इ. ए.) २, पृ. ९६ से।

चंग-किश्न ने ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी में बैक्ट्रिया में चीनी कौशेय (रेशम) तथा बांस की बनी चीजें देखी जो युनान और दक्षिण श्याम से उत्तरी भारत अफगा-निस्तान होती हुई बैक्ट्रिया आयी थीं। स्थल मार्ग से इरावदी की उत्तरी घाटी तथा युनान होते हुए भारत से चीन के लिए यातायात का मार्ग था और ईसवी प्रथम शताब्दी में इसी मार्ग से दो भारतीय बौद्ध भिक्षु चीन गये थे। उस समय से चीन और पश्चिम एशिया के बीच में युनान उत्तरी ब्रह्मा तथा भारत होकर जाने का मार्ग था। इत्सिंग ने २० चीनी भिक्षुओं के इसी मार्ग से भारत जाने का उल्लेख किया है और ९१४ ई० में इसी मार्ग से ३०० चीनी भिक्षु धार्मिक ग्रन्थों की खोज में भारत आये थे।

फूनान और कम्बुज

प्राचीन कम्बुज देश की सीमाओं का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। साम्राज्य के रूप में इसके अधिकार में कम्बुज के अतिरिक्त स्याम लाओस और कोचिन-चीन का विशाल क्षेत्र आ गया था जिसमें मेकांग और मीनाम के बीच की घाटी सम्मिलित थी। भौगोलिक दृष्टिकोण से कम्बुज देश से केवल मेकांग की दक्षिण घाटी में स्थित वर्तमान कम्बोडिया और कोचिन चीन का ही संकेत है। भौगोलिक असुविधाएँ होते हुए भी भारतीय औपनिवेशिकों ने प्रकृति पर विजय पायी और देश के प्राचीन मन्दिर, जिनमें अंकोरवाट का विश्व मन्दिर अपनी विशालता और सुन्दर चित्रण के कारण संसार में प्रसिद्ध है, मनुष्य की प्रकृति के ऊपर विजय के प्रतीक हैं तथा अपने अतीत गौरव की कहानी कहने के लिए प्रस्तुत हैं। इस देश के प्राचीन निवासी ख्मेर कहलाते थे[1] जिनका दक्षिण ब्रह्मा की इरावदी और सालवीन नदियों की घाटी में स्थित मोनों के साथ सम्बन्ध था। स्याम में ब्रह्मा से आये हुए मों तथा कम्बुज के ख्मेर जाति के व्यक्तियों का समन्वय हुआ। कौण्डिन्य के नेतृत्व में आये हुए भारतीय औपनिवेशिकों ने इस देश के निवासियों को नग्न अवस्था में पाया और

१ देखिए, सिल्वाँ लेवी, पूर्व० १११ है। मजुमदार, 'कम्बुज देश' पृ० ११ है।

११ चम्पा के प्राचीन लेखों में इन्हें 'किमर' तथा 'क्मिर' शब्दों से सम्बोधित किया गया है। अरब लेखकों ने इन्हें 'कोमार' कहा है। ख्मेर और वर्तमान कम्बोडिया की समानता पूर्णतया निश्चित है। (मजुमदार, 'कम्बुज देश' पृ० १४।)

उन्होंने ही इन्हें वस्त्र पहनना सिखाया जैसा कि चीनी स्रोतों का कथन है।[१२] भारतीयों का आगमन स्थल तथा समुद्री मार्ग से हुआ और उन्होंने अपने उपनिवेश स्थापित किये। चीनी यात्री च्वान चांग (ई ७वीं शताब्दी) ने समतट (दक्षिण-पूर्वी बंगाल) के आगे पाँच राज्यों का उल्लेख किया है जिनमें से ई-शांग-न-पु-लो (ईसानपुर) और मा-हो-चेम पो की समानता कम्बुज और महाचम्पा से की जा सकती है। पूर्वी भारत ब्रह्मा तथा हिन्द-चीन के बीच यातायात का मार्ग मध्य युग में भी जारी रहा जैसा कि ब्रह्मा के स्रोतों से पता चलता है।[१४] भारतीय समुद्री मार्ग द्वारा ईसा की पहली शताब्दी में भी कम्बुज देश तथा हिन्द चीन के अन्य बन्दरगाहों में जाते थे। पेरीप्लस के अनुसार ईसा की पहली शताब्दी में भारतीय बन्दरगाहों से मलाया जहाज जाते थे और मलाका की खाड़ी से चीन जाने का भी मार्ग था। टालमी ने हिन्द-चीन मलाया तथा अन्य द्वीपों के भारतीय नामों का उल्लेख किया है। लियांग-वंश के इतिहास (ईसवी ७वीं शताब्दी) में दक्षिण सागर के मार्ग से भारतीय राजदूतों के चीन में आने का उल्लेख है।[१५] चीनी स्रोतों में ईसा की तीसरी शताब्दी में भारत और कम्बुज के बीच सामुद्रिक सम्पर्क का उल्लेख है। उस समय तक वहाँ भारतीय उपनिवेश की स्थापना हो चुकी थी।

कौण्डिन्य का प्रवेश

कौण्डिन्य द्वारा फूनान राज्य की स्थापना का उल्लेख कम-ताई ने ईसा की

१२ मजुमदार, 'कम्बुज देश' पृ १५।

१३ बील 'बुद्धिस्ट रेकार्ड' भाग २ पृ २ (वाटर्स पृ १८७-८९)। चीनी यात्री के अनुसार समतट से उत्तर-पूर्व (दक्षिण-पूर्व) की ओर समुद्र के किनारे श्रि-लि च-त लो (श्री-क्षेत्र) का राज्य है। इससे दक्षिण-पूर्व में समुद्र के किनारे किया-मो-लांग-किअ (कामलंका) का देश है तथा इससे पूर्व में ई-शांग-न-पु-लो (ईसानपुर) और इसके भी पूर्व में मो-हो-चेन-पो (महाचम्पा) है। यही लिन-इ भी कहलाता है। इसके दक्षिण-पश्चिम में येन-मिओ-न-चेऊ (यवनद्वीप) है। विद्वानों ने इसकी समानता दिखाने का प्रयास किया है। जे आर ए स १९२९ पृ १८८७।

१४ मजुमदार, कम्बुज देश पृ १६।

१५ बु इ फ्रा १ पृ २७१-२।

तीसरी शताब्दी में किया है। उसने फूनान में प्रचलित किंवदन्तियों पर आधारित वृत्तान्त दिया है जिसके अनुसार पहले कम्बुज का शासन ल्यू-ये नामक एक स्त्री के हाथ में था। हुएन-टिएन नामक देवभक्त ब्राह्मण को एक स्वप्न हुआ और एक देव प्राप्त धनुष को लेकर वह एक व्यापारी के जहाज में विदेश-यात्रा को चला। वस्तु के लोगों ने उसे फूनान के तट पर उतार दिया उसी समय ल्यू-ये सम्राज्ञी एक नाव में उस जहाज को लूटने आयी। हुएन-टिएन ने उसी दैवी धनुष का प्रयोग किया और सम्राज्ञी ने भय से अपने को समर्पित कर दिया। उस समय से हुएन-टिएन उस देश पर राज्य करने लगा।[1] इस व्यक्ति के निवासस्थान मो-फू की समानता नहीं की जा सकती"[7] और यह कहना कठिन है कि वह उत्तरी अथवा दक्षिणी भारत से आया था। इसका उल्लेख अन्य स्रोतों में भी है। बाद के चीनी ग्रन्थों में हुएन-टिएन और ल्यू-ये के विवाह का भी उल्लेख है।[1] चम्पा के एक लेख"[7] में भी कम्बुज की राजधानी भवपुर की स्थापना से सम्बन्धित इसी प्रकार की कहानी है। ब्राह्मण द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा से प्राप्त एक भाले को कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण ने यहाँ गाड़ा था। इस ब्राह्मण ने नाग-राजकन्या सोमा के साथ विवाह कर उस वंश को चलाया, जिसमे आगे चलकर भववर्मा राजा हुआ और उसने अपने नाम पर भवपुर का निर्माण कराया। कम्बुज स्रोतों में इस राज्य की स्थापना का उल्लेख दूसरे ढंग से है। इन्द्रप्रस्थ का राजा आदित्यवंश अपने एक पुत्र से असंतुष्ट हो गया था उसने उसको अपने राज्य से बहिष्कृत कर दिया। वह वहाँ से कोकथलोक नामक स्थान में गया और वहाँ के स्थानीय शासक को हराकर स्वयं राजा बन गया। रात्रि में एक नाग-कुमारी उसके समीप बालूतट पर आयी और दोनों ने विवाह-सूत्र में बँधने का निश्चय किया। नागराज ने अपने जामाता तथा कन्या के

१६ स्टूडिमे एशियाटिक (ए ए) २, पृ २४४ से।

१७. यदि इसे मलाया प्रायद्वीप के पूर्वी किनारे पर रखा जाय तो फूनान में सीधे भारत से संस्कृति का प्रवेश नहीं हुआ था। नीलकण्ठ शास्त्री, हिन्दू इनफ्लुएन्स, पृ २७।

१८ बु इ फ्रा ए पृ २५४ २५६, २६५।

१९. माइ-सोन के प्रकाशधर्म के शक सं ५७९ के लेख में भी कौण्डिन्य और सर्पकन्या सोमा के विवाह का उल्लेख है। मजुमदार, चम्पा लेख सं १२, पृ २१।

लिए समुद्र के जल को पीकर उसके राज्य की सीमा बढ़ा दी तथा उसकी राजधानी का निर्माण कराया।[19] इस सम्बन्ध में कम्बुज के बकसेई चंक्रम लेख में आर्य देश के राजा कम्बु स्वयम्भू और अप्सरा मीरा के संसर्ग से कम्बुज वंश की उत्पत्ति कही गयी है। किंवदन्तियों पर आधारित कहानियों और नागकन्या से उत्पन्न पल्लव वंश का उल्लेख दक्षिण भारत के लेखों में भी प्राप्त हुआ है। कुछ लेखों के अनुसार अश्वत्थामा के पुत्र स्कन्दशिष्य के नागकन्या के साथ संयोग से पल्लव वंश की उत्पत्ति हुई। दूसरे लेखों में स्कन्दशिष्य के पूर्वज का नागकन्या से विवाह होना और उसी के द्वारा उस राज्य प्राप्त होना वर्णित है। मणिमेकलई तथा अन्य तीन तमिल ग्रन्थों के अनुसार एक चोल राजा ने नागकन्या से विवाह किया और उनका पुत्र कांची का पल्लव राजा हुआ।[20] कम्बुज और पल्लव वंश की उत्पत्ति से सम्बन्धित किंवदन्तियों से प्रतीत होता है कि कम्बुज वंश की स्थापना में दक्षिण भारतीय औपनिवेशिकों का हाथ रहा हो और उन्होंने अपने देश और वंश की परम्परा पर आधारित कम्बुज देश के राजकीय वंश की उत्पत्ति बतायी हो। यह कहना कठिन है कि केवल दक्षिण भारत से ही यहाँ औपनिवेशिक आये क्योंकि उत्तर भारतीय लिपि तथा यहाँ के नगरों जैसे मिथिला, अयोध्या इत्यादि नामों से प्रतीत होता है कि उत्तर भारत से भी यहाँ औपनिवेशिक आये और उन्होंने अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित किये। इनमें से कुछ का नाम चीनी स्रोतों में भी मिलता है।

लियंग वंश के इतिहास (५०२-५५६ ई०) में दुएन-सिउन का उल्लेख है। फूनान की दक्षिणी सीमा पर कोई ३ ली की दूरी पर १ ली के घेरे में यह राज्य था और इसकी राजधानी समुद्र से कोई १० ली की दूरी पर थी। यहाँ भारत और पार्थिया से बहुत जन से व्यापारी आते थे। यहाँ पूर्व और पश्चिम के व्यापारी

१९ मजूमदार, कम्बुज देश, पृ० १९।

२० मजूमदार, कम्बुज लेख सं० ९९ पृ० १८५ से।

२१ इ० हि० क्वा० ११ पृ० १९१ ३१। ७४ पृ० ५ १ से। मजूमदार, कम्बुज देश पृ० ७। नीलकंठ शास्त्री हिस्ट्री ऑफ श्रीविजय पृ० २१ से। हेरोडोटस ने भी सीथियन्स की उत्पत्ति इसी प्रकार से हेराक्लीज तथा अर्धकन्या से, जिसका ऊपरी भाग कन्या और निचला भाग सर्प का था, संसर्ग से दिखाया है।

मिलते थे तथा बहुमूल्य पदार्थों की बिक्री होती थी। अनार की भाँति के एक वृक्ष के रस से मदिरा बनायी जाती थी।[२३] के नामक एक भारतीय ने जो ईसा की ५ वीं शताब्दी में यहाँ आया था दुएन-सिउन का वृत्तान्त दिया है। उसके अनुसार यह फूनान के अधीन था। यहाँ का राजा कुन्लेन सुएन कहलाता था। यहाँ कोई ५ हु (कदाचित् वणिक वर्ग) कुटुम्ब रहते थे दो सौ फो-तु (कदाचित् बौद्ध) और एक सहस्र से अधिक ब्राह्मण रहते थे। दुएन-सिउन के निवासी उनके धर्म का पालन करते थे और उनके साथ अपनी कन्याओं का विवाह कर देते थे। ये धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन भी करते थे तथा पात्रों मे पुष्प और चन्दन देवताओं को अर्पित करते थे। मृत्यु होने पर उनका शरीर पक्षियों के लिए नगर के बाहर छोड़ दिया जाता था। दाह संस्कार भी किया जाता था।[२४]

उपर्युक्त वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि दुएन-सिउन एक व्यापारिक केन्द्र था जहाँ भारत तथा चीन से व्यापारी आते थे। भारतीय व्यापारियों के साथ मे ब्राह्मण तथा बौद्ध भी आकर यहाँ बस गये थे और स्थानीय कन्याओं के साथ विवाह करके यहीं के अंग बन गये। उन्होंने भारतीय धर्म और संस्कृति को यहाँ फैलाया और सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्तर ऊँचा उठाया। भारतीय व्यापारी तथा धर्मप्रवर्तक के रूप में मलाया तथा हिन्द चीन के भागों में बराबर जाते रहे और जहाजों के तट के किनारे चलने के कारण समुद्रतट के निकटवर्ती भाग में भारतीय उपनिवेश स्थापित होते रहे जहाँ से वे आगे बढ़े। इन छोटे-छोटे उपनिवेशों की आधारशिला पर विस्तृत राज्य स्थापित हुए जिनमें पहला राज्य फूनान का था जो कई सौ वर्ष तक कायम रहा। इसका इतिहास भी चीनी स्रोतों तथा कम्बुज में मिले लेखों के आधार पर लिखा जा सकता है।

२३ सु इ का १ पृ २६३। मजुमदार, पृ २२।
२४ सु इ का १ पृ २७७। मजुमदार, पृ २२।

अध्याय २

फूनान का भारतीय राज्य

फूनान जिसकी समानता वर्तमान कम्बोडिया और कोचिन चीन के कुछ भाग को मिलाकर की जा सकती है मेकाग की दक्षिण घाटी में प्रथम भारतीय राज्य था जिसकी स्थापना कौण्डिन्य नामक भारतीय ब्राह्मण ने ईसवी प्रथम शताब्दी में की थी। इसका वृत्तान्त केवल चीनी स्रोतों से प्राप्त है। यहां के आदि निवासी जंगली थे और वे नग्न रहते थे। उनकी रानी का नाम ल्यू-ये था जिसको हुएन-टिएन नामक एक ब्राह्मण ने हराकर वहाँ अपना राज्य स्थापित किया और देश म सभ्यता का प्रवेश हुआ। उसी समय से स्त्रियों को भी कपड़े पहनना सिखाया गया। हुएन टिएन मो-फू निवासी था जिसका पता लगाना कठिन है पर कदाचित् यह ब्राह्मण

१ चीनियों ने इसे विभिन्न नामों से सम्बोधित किया है। आमोनिये के मतानुसार यह चीनी शब्द है जिसका अर्थ 'सुरक्षित दक्षिण' है किन्तु पिलियो इसे स्थानीय नाम का चीनी रूप ही बतलाते हैं। पिलियो ने एलेपल तथा बारकर के मत का भी खंडन किया है जिसके अनुसार फूनान का प्राचीन नाम 'पो नम' या नाम्-पो था (बु इ फ्रा ३ पृ १४८ ३ ३)। फाइनट का कथन है कि यह फ्नू-नाम शब्दों को मिलाकर बना है जो ख्मेर भाषा में प्नाम हुआ और नोम रूप में प्रयोग होने लगा (सिडो ए हि पृ ६८)। फिनो के मतानुसार ख्मेर-कुरुंग प्नाम संस्कृत 'पर्वत भूपाल' अथवा 'शैलराज' के आधार पर चीनियों ने इसका नाम-संस्करण किया (जू ए १९२७ जनवरी-मार्च पृ १८६)। सिडो के विचार में यह बा-नोम पर आधारित है जो दक्षिण कम्बुज का एक पहाड़ी क्षेत्र है (ए हि पृ ६८)। उसके मतानुसार बानोम पहाड़ी के नीचे फूनान की राजधानी व्याधपुर स्थित थी। बु इ फ्रा २८, पृ १२७ से।

२ पिलियो ने इस की समानता दिखाने का प्रयास किया है पर वह किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सका। ए इ ए २, पृ १४५, ४६।

भारत अथवा मलाया के किसी भारतीय उपनिवेश से ईसा की प्रथम शताब्दी में यहा आया था। हुएन-टिएन के विषय में और कुछ जानकारी प्राप्त नहीं है। उसके पुत्र के समय में इस राज्य के सात नगरो में स्थानीय शासक थे जो इसके अधीन थे, पर धीरे-धीरे उनकी शक्ति बढ़ने लगी और यही फूनान राज्य के लिए घातक सिद्ध हुई। उसके एक वंशज हुएन-पेन-हुयेंग ने उन स्थानीय शासकों के स्थान पर अपने पुत्र और पौत्रों की नियुक्ति की और उसने ९ वर्ष की आयु तक राज्य किया।[1] उसका काल द्वितीय शताब्दी का उत्तरार्द्ध भाग माना जाता है। उसके द्वितीय पुत्र पन-पन के समय में राज्य का भार फन-मन अथवा फन-ये-मन पर था और तीन वर्ष बाद उसी को शासक चुन लिया गया। चीनी स्रोत के अनुसार इसने एक विशाल बेड़े की सहायता से पाच-छ हजार ली तक अपने राज्य को विस्तृत किया। उस समय से यह फूनान का सम्राट् घोषित होने लगा और कदाचित् इस विशाल साम्राज्य की सीमाएँ सम्पूर्ण स्याम लाओस के भाग तथा मलाया प्रायद्वीप तक फैल गयी। चीनी स्रोत के अनुसार किम्-लिन या सुवर्णभूमि अथवा सुवर्ण देश के विरुद्ध युद्ध के लिए प्रस्तुत होते समय वह बीमार पड़ गया और उसकी मृत्यु हो गयी। उसने अपने बड़े पुत्र फन-किन-चेंग को सेना का अध्यक्ष बनाकर भेजा पर इस बीच में उसके भांजे सेनापति फन चन ने अपने को सम्राट् घोषित कर दिया।[5] यह लगभग २२५ ई की घटना है। इसका राज्यकाल विशेष महत्त्व रखता है। तीसरी शताब्दी के लेखक चेन-येन -ची-सन-कुओ-चे के जिसमें लगभग २२ २८ तक का इतिहास

३ पिलियो बु इ फ्र ३ पृ २९५।

४ सिडो ने इसकी समानता श्रीमार से की है। इ हि क्वा १६ पृ ४८४।

५ 'लिडी वंश का इतिवृत्त' पिलियो पृ स पृ २५७। एक ली लगभग ५७६ मीटर के बराबर था (सिडो, ए हि पृ ७१ नोट १)।

६ पृ स पृ २९६-७। फूनान के प्रायः सभी राजाओं के नाम के आगे 'फन' शब्द का प्रयोग हुआ है और चम्पा में भी श्रीमार के वंशजों के नाम के साथ में यह जुड़ा है। कदाचित् यह स्थानीय भाषा अथवा बोलचाल में शासक के सम्बोधन करने के लिए प्रयोग किया जाता रहा होगा अथवा इसकी समानता 'वर्मन्' प्रत्यय से की जा सकती है। मासपेरो, लोयाम द चम्पा, पृ ५१ नोट ७। सिडो हि रा पृ १८, नोट १।

है अनुसार इसने २४३ ई में कुछ देशीय पदार्थ तथा वाद्यक भेंट के रूप में चीन के शासक के पास भेजे। इसी के समय में पश्चिमी भारत के टन-चंग का निवासी चिन-सिग-सी भी व्यापार के सम्बन्ध में फूनान पहुँचा और उसने अपने देश का इतना सुन्दर चित्र खींचा कि सम्राट् ने सु-वु नामक एक दूत को भारत भेजा। वह त्यू-की-ली (तकोला) से एक वर्ष मे गंगा के मुहाने पहुँचा और फिर नदी के मार्ग से ७ ली चलकर वह भारत के सम्राट् के यहाँ पहुँचा। सम्राट् ने उसका स्वागत किया और यू चे देश के चार घोड़े उस दूत को उसके शासक के लिए भेंट किये। चार वर्ष बाद सु-वु अपने देश वापस पहुँचा पर वहाँ परिस्थिति बदल चुकी थी। फन चे-मन के छोटे भाई ने फन चंग का वध कर डाला था पर सेनापति फन सिउन उसे मारकर स्वयं राजा बन बैठा।

इसके समय में दो चीनी दूत कग-ताई और चू-यिग फूनान आये और उन्होंने दो ग्रन्थ लिखे जिनमें देश की राजनीतिक स्थिति का वर्णन है। कग-ताई के ग्रन्थ से बाद के इतिहासकारों ने भी बहुत-सा वृत्तान्त अपनी पुस्तकों म उद्धृत किया है। इसमें भारत के विषय में भी येन-चाय द्वारा प्राप्त कुछ वृत्तान्त लिखा है। इसका कथन है कि भारत का राजा म्यू-लन कहलाता था और उसके देश के दाहिने बायें किय चै (कपिलवस्तु) और य चै (श्रावस्ती) इत्यादि छ राज्य थे। लेवी के मतानुसार

७. पिलियो सं पृ १ १। पिलियो के मतानुसार यह कदाचित् प्रथम दूत था जो फूनान से चीन भेजा गया था (पृ १ १) पर अन्य स्थान पर उसने 'पु ली' नामक ग्रन्थ के आधार पर २२५ अथवा २२९-२११ ई में एक और दूत भेजने का उल्लेख किया है। मजुमदार, कम्बुज देश पृ २८, नोट १७।

८. इसके वृत्तान्त में भारतीय आचार-विचार और देश की सम्पत्ति का विवरण है। फूनान से भारत लगभग १ ली दूर था और आने-जाने में १ ४ वर्ष लगते थे। पिलियो, पृ २७७ मजुमदार, पृ २८।

९ फेरेंड 'क्लेम लुएन' (जू ए १९१९, पृ ४११)। तकोला नामक बन्दरगाह के विषय में लेवी का मत है कि इसकी समानता टालमी के तकोला से की जा सकती है। सिडो, ए हि पृ ७५।

१ पुराणों के अनुसार इसने १५ वर्ष तक राज्य किया और एक जैन ग्रन्थ में एक मुरुण्ड राजा की पाटलिपुत्र राजधानी बतायी गयी है। मुरुण्डों का उल्लेख

म्यु कुन की समानता मुरुन्ड नृप से की जा सकती है। इस विद्वान् के विचार में इस वंश का कुषाणों से सम्बन्ध था। केग-ताई के वृत्तान्त के अनुसार इसने देश में नग्न रहने की प्रथा को बन्द किया।[११] इसके अपने समय में २६८, २८७, २८१ तथा २८७ में चार दूत फूनान से चीन भेजे गये। इसके बाद ३५७ में फूनान से चन्तन अथवा चन्द्र नामक हिन्दू राजा ने एक दूत को कुछ पालतू हाथी देकर चीन भेजा पर कदाचित् चीनी सम्राट् ने भविष्य में इनको न भेजने का आदेश दिया अथवा इनको लौटा दिया।[१२] फूनान के इतिहास में पुनः परिवर्तन हो चुका था और ईसा की चौथी शताब्दी के अन्त अथवा पाँचवी के आरम्भ में कियाओ चेन जू अथवा कौण्डिन्य नामक शासक वहां राज्य कर रहा था।

कौण्डिन्य द्वितीय

ईसवी ३५७ में चन्तन अथवा चन्दन के उल्लेख से प्रतीत होता है कि फूनान में एक भारतीय शासक राज्य कर रहा था जो लेवी के मतानुसार कुषाण वंशीय था।

समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति में भी है (जू ए जनवरी-मार्च, १९३६ प ६१ से)। लेवी का मत विवादास्पद है।

११ पिलियो सं पृ २६८।

१२ वही पृ २६९, २५५। लेवी ने चन्तन चन्दन अथवा चन्द्र को 'चीन स्थान' पढ़ा और इनके मतानुसार इससे देवपुत्र का संकेत था जो कुषाणों की उपाधि थी और कदाचित् वहां से यह दूत चीन गया पर पिलियो इस मत से सहमत नहीं है। (बु इ फा ३ नोट ४। देखिए, मजुमदार, पृ ३ नोट २१)। कनिष्क को देवपुत्र चन्तन अथवा चन्दन नाम से मध्य एशिया के ग्रन्थ में संबोधित किया गया है और डा मजुमदार ने इसी आधार पर मेहरौली के चन्द्र की समानता कनिष्क से की (ज ए सो बं १९३१)। यह कहना कठिन है कि चन्तन शब्द से कुषाण वंशजों का संकेत था। सिडो के मतानुसार पश्चिमी कोचीन चीन में फूनान के ईरानी संसार के साथ सम्पर्क का प्रभाव कला के क्षेत्र में मिलता है (ए हि पृ ८१) जैसे सूर्य की मूर्ति का लम्बा चोगा और विष्णु की मूर्ति का मुकुट तथा बालों का सजाव। ओकियो की खुदाई में कुछ ईरानी पदार्थ भी मिले। (ए वि इ आ १९४ ७ पृ ५१।

चीनी तथा पुरातात्त्विक स्रोतों से ज्ञात होता है कि ईसवी चौथी शताब्दी के अन्त और पाँचवी के आरम्भ में भारतीयों का दल दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में पहुँच चुका था और उनका चीनियों के साथ सम्पर्क स्थापित हो चुका था। बोर्नियो के मूलवर्मन् तथा जावा के पूर्णवर्मन् के लेखों से वहाँ भारतीयों के राज्य-स्थापन तथा अपनी संस्कृति के प्रसारण का प्रमाण मिलता है। लेवी के मतानुसार समुद्रगुप्त की दक्षिण विजय ने पल्लव राजवंशीय व्यक्तियों को देश से बाहर जाने को बाध्य किया। सिदो इसका कारण समुद्रगुप्त की उत्तरी भारत की विजय मानते हैं और इसी लिए फूनान में कुषाणवंशीय चन्दन ई १५७ में राज्य कर रहा था।[13] यह सच है कि उत्तरी तथा दक्षिणी भारत से राजकुमारों ब्राह्मणों तथा अन्य विद्वानों के गये दल सुदूर पूर्व के विभिन्न देशों में गये और वहां उन्होंने भारतीय संस्कृति को और बढ़ावा दिया। लियांग वंश के इतिहास (ई ५ २-५५६) में लिखा है कि कौंडिन्य के विषय में लिखा है कि वह ब्राह्मण था और भारत का रहनेवाला था। एक दिन उसने फूनान जाकर वहां पर राज्य करने के लिए भविष्यवाणी सुनी। वह फूनान के दक्षिण में पान-पान पहुँचा जहां के लोगों ने उसका स्वागत किया और उसे अपना शासक चुन लिया। उसने वहां भारतीय नियम संस्कार और परम्पराओं का प्रचार किया। उसके एक वंशज चे लि तो प मों (श्री इन्द्रवर्मन् अथवा श्रेष्ठवर्मन्) ने सुंग वंश के सम्राट् वेन (ई ४२४-४५३) के समय में भेंट देकर ४३४ ४३५ और ४३८ में राजदूत भेजे।[14] प्रथम सुंग वंश के इतिहास में ४३१ अथवा ४३२ ई में इसी फूनान-सम्राट् के चम्पा के शासक से टोंकिन के विरुद्ध आक्रमण करने के लिए सहायता प्राप्त करने का भी उल्लेख है। पर उसने सहायता देने का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया।[15]

१३ सिदो, हि रा पृ ८३।

१४ प्रथम सुंग-वंश के इतिहास में इसे चे-लि-प-मो कहा गया है और लि अंग वंश के इतिहास में इसका नाम चे लि तो प मो है। देखिए, सिल्वियो पृ सं पृ २५५, २६९।

१५ सिल्वियो, पृ सं पृ २५५। फूनान और चम्पा में पहले से घनिष्ठ सम्बन्ध था और वे दोनों टोंकिन के विरोधी थे। ईसा की तीसरी शताब्दी में टोंकिन के चीनी शासक तामो-हुमंग ने अपने सम्राट् के पास एक प्रार्थनापत्र भेजा

इन्द्रवर्मन्-जयवर्मन्

चीनी स्रोतों में कौण्डिन्य के एक और उत्तराधिकारी का भी विवरण प्राप्त है। सुंग वंश (ई ४२ ४७९) के अन्तिम काल में फूनान में चा ये प मो (जयवर्मन्) नामक शासक राज्य करता था। वह कौण्डिन्य वंशज था। उसने व्यापार के लिए कुछ व्यापारियों को कैंटन भेजा था। लौटते समय न किय सिएन (नागसेन) नामक एक भारतीय भिक्षु उनके साथ हो लिया। तूफान आने के कारण उन्हें चम्पा के तट पर उतर जाना पड़ा जहां के लोगों ने उन्हें लूट लिया पर नागसेन किसी प्रकार फूनान पहुँच गया। इस सम्बन्ध में जयवर्मन् ने चम्पा के शासक के विरुद्ध एक पत्र चीनी सम्राट् के पास भेजा। चम्पा में उस समय फूनान से भागा एक विद्रोही फ़ू चेऊ-लो नामक व्यक्ति राज्य कर रहा था। फूनान के शासक जयवर्मन् ने इस विद्रोही चम्पाशासक के विरुद्ध चीनी सम्राट् से सैनिक सहायता मांगने के लिए सोने का नागराज के सिंहासन का एक नमूना सफेद चन्दन का एक हाथी, दो हाथीदांत के स्तूप दो रेशमी वस्त्र सुन्दर पत्थर के बने दो फूलदान और सुपारी रखने के लिए सीप की एक थाल (तश्तरी) भेंट के रूप में वहां भेजी। साथ में नागसेन भी गया और उसने फूनान के धार्मिक आचार-विचार तथा महेश्वर के विषय में चीनी सम्राट् को वृत्तान्त दिया तथा महेश्वर, बुद्ध और सम्राट् की प्रशंसा में अपनी एक काव्य-रचना भी भेंट की। चीनी सम्राट् ने भी अपनी ओर से फूनान के शासक के लिए भेंट दी पर चम्पा के विरुद्ध सैनिक सहायता का उल्लेख नहीं है। ५ १ ई मे एक दूसरा दूत जयवर्मन् की ओर से चीन गया और सम्राट् ने फूनान के शासक को शान्त दक्षिण के सेनापति की उपाधि प्रदान की।[15] जयवर्मन् के राज्यकाल मे ५११ तथा ५१४ ई में दो और राजदूत चीन गये और दोनों देशों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध था। फूनान के दो बौद्ध भिक्षु भी चीन में बस गये। उनमें संघपाल अथवा संघवर्मन् (४६०-५२४ ई) कई भाषाओं का

जिसमें होचिन की ७ सेना को घटाकर २४२ सैनिकों के रखने पर जोर दिया गया था। उसका कथन था कि इससे कम सैनिकों से देश पर चम्पा की ओर से आक्रमण की संभावना बढ़ जायगी। चम्पा के साथ फूनान के निवासी भी थे और इन दोनों ने चीन के अधीन रहना स्वीकार नहीं किया था। सिल्भिये लेवी।

१५. पिलियो पु र्व पृ २६९ से।

गया था और सम्राट् वू के आदेश पर उसने १६ वर्ष तक बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया। इसमें मन्द्र अथवा मन्द्रसेन ने भी सहयोग दिया जो ५ ३ ई में चीन आया था।[१७] जयवर्मन् की मृत्यु ५१४ ई में हो गयी और उसके बाद ज्येष्ठ पुत्र रुद्रवर्मन् गद्दी पर बैठा। कहा जाता है कि वह भगिकापुत्र था और अपने छोटे भाई को मारकर उसने सिंहासन प्राप्त किया था।

रुद्रवर्मन् और फूनान का अन्त

दक्षिण कम्बोडिया के त्रैंग प्रान्त में मिले एक लेख में जयवर्मन् की सम्राज्ञी कुल-प्रभावती द्वारा एक आश्रम एक तड़ाग तथा निवास (आश्रय) के दान का उल्लेख है। अक्षरों की लिखावट के आधार पर सिडो ने इस जयवर्मन् की समानता फूनान के जयवर्मन् से की है और उनके मतानुसार अप-मुसी लेख का गुणवर्मन् जयवर्मन् और कुलप्रभावती का पुत्र था जिसे मारकर गुणवर्मन् सिंहासन पर बैठा। एक लेख में रुद्रवर्मन् के गुणों का उल्लेख है पर उसके विषय में कोई ऐतिहासिक घटना का उल्लेख नहीं है।[१८] इसने ५१७-५१९ ई के बीच में कोई छः राजदूत चीन भेजे। ५१९ ई में भेजा गया राजदूत अपने साथ में चन्दन की बनी बुद्ध की मूर्ति और भारतीय मणि-मुक्ता अपने साथ ले गया था। ५३९ ई में उसने एक जीवित बारहसिंगा तथा बुद्ध का एक लम्बा बाल चीनी सम्राट् के पास भेंट में भेजा।[१९] रुद्रवर्मन् फूनान का अन्तिम शासक था। उसके बाद लगभग ७५ वर्ष तक इसके विषय

१७. इनके ग्रन्थों का उल्लेख चीनी त्रिपिटक में मिलता है। पिलिओ पृ० २८४-५ सिडो पृ १ ।

१८. ब ऐ इ मु भाग ४ पृ ११७ से।

१९. बु इ फ्रा ३१ पृ १ से। यह वैष्णव लेख है और इसकी लिखावट प्राचीन है। गुणवर्मन् के आदेश पर यह लिखा गया था। यह संभव है कि यह जयवर्मन् की सम्राज्ञी कुलप्रभावती का पुत्र था और जयवर्मन् की मृत्यु के बाद यह सिंहासन पर बैठा और इसके सौतेले भाई लियो-तो-भो (रुद्रवर्मन्) ने जिसका उल्लेख 'लियंग-वंश के इतिहास' में मिलता है, इसे मारकर स्वयं राज्य प्राप्त किया।

२ वही।

२१ पिलिओ पृ सं० पृ २७०-१।

में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। चीनी स्रोतों से पता चलता है कि चेन-ला[२२] के शासक ने इस पर अधिकार कर लिया था और ६१६-७ में उसके पुत्र ईशानसेन ने एक दूत चीन भेजा था। फूनान का अस्तित्व नहीं नष्ट हुआ था। चेन-ला के शासक द्वारा अधिकार करने पर यहां का नृप दक्षिण में न-फु-न चला गया जिसकी समानता पिलियो ने नफ्नगर से की है और यह कम्पोट के निकट था।[२३] सातवीं शताब्दी तक इसका अस्तित्व कायम रहा और यहां से ६१८ ६२६ तथा ६२७-६४९ के समय में दो बार राजदूत चीन भेजे गये।[२४] ईत्सिंग ने भी इसका उल्लेख किया है। उसके अनुसार चम्पा से चलकर दक्षिण-पश्चिम में पनान नामक स्थान पड़ता है जो पहले फूनान कहलाता था। यहां के निवासी पहले नग्न रहते थे और वे बहुत-से देवताओं को पूजते थे। बौद्ध धर्म भी उन्नति कर रहा था किन्तु एक कुटिल नृप ने इसे बड़ी क्षति पहुंचायी और अब यहां बौद्ध भिक्षु नहीं हैं।

ईसा की ७वीं शताब्दी के बाद का फूनान का इतिहास अंधकारमय है और उसका उल्लेख चीनी स्रोतों में नहीं मिलता। चेन-ला अथवा कम्बुज ही फिर चीन में अपना प्रभुत्व स्थापित करता। इसका उल्लेख चीनी स्रोतों में भी मिलता है। इसका इतिहास आगे लिखा जायगा। फूनान में हिन्दू धर्म और संस्कृति की छाप सबसे पहले पड़ी। भारतीय कौण्डिन्य के आगमन से पहले देश में पाषाण यु

२२ चेन-ला का उल्लेख सबसे पहले 'सुई वंश के इतिहास' में मिलता है। इसके अनुसार यह राज्य लिन यी के दक्षिण-पश्चिम में था और पहले यह फूनान के अधीन था। उसका शासक क्षत्रिय (छ ली) था और उसका नाम चित्रसेन (चे तो स्सु न) था (पिलियो पू सं पृ २७२। सिडो ए हि पृ ११४)। चेन ला का प्राचीन भूगोल देखिए, बु इ फ्रा १८९९ पृ १३ (२८ पृ १२४)।

२३ पिलियो फूनान पू सं पृ २७४ २९५। सिडो का कथन है कि चित्रसेन के आक्रमण से फूनान का उत्तरी भाग वहां के शासक के हाथ से निकल गया। कदाचित् राजधानी पर भी आक्रमण हुआ, पर उस पर चेन-ला का अधिकार न हो सका। धात्र स रक्षा के लिए फूनान के सम्राट् ने दक्षिण में न फु ना को अपनी राजधानी बनाया। बु इ फ्रा भाग २८ पृ ११ ।

२४ पिलियो पू सं पृ २७४।

२५ तककुसु, ईत्सिंग पृ १ ।

की सभ्यता थी जैसा कि ओक-ओ नामक स्थान की खुदाई में प्राप्त अवशेषों से प्रतीत होता है।[२६] चीनी स्रोतों के अनुसार भी कौण्डिन्य ने सम्राज्ञी सोमा को वस्त्र पहनना सिखाया और उस समय से भारतीय नियमों तथा संस्कारों को अपनाया गया। ईसा की चौथी शताब्दी में दूसरे कौण्डिन्य ने भारत से आकर यहाँ पुनः भारतीय संस्कृति की स्थापना की। 'चिन वंश के इतिहास' में भी (ई २६५-४१९) जिसकी रचना फंग-हियुअन-लिंग (ई ५७८-६४८) ने की फूनान का वृत्तान्त मिलता है। वहाँ के लोग काले थे और नग्न रहते थे। वे साधारण और सीधी प्रकृति के थे तथा खेती करते थे और स्वयं अपने आभूषण भी बना लेते थे। चाँदी की थाली में वे भोजन करते थे तथा राज्य का सोना, चाँदी, मुक्ता आदि गंध के रूप में कर देते थे। उनके पास पुस्तकें भी थीं और भारत से आयी हुई लिपि का वे प्रयोग करते थे। उनके विवाह और दाह संस्कार चम्पा के निवासियों की भाँति होते थे। 'दक्षिण-त्सी के इतिहास' (४७९-५०१ ई) में भी ईसा की छठी शताब्दी के आरम्भ का फूनान का इतिहास है। इस वृत्तान्त के अनुसार उच्च कुल के लोग 'सरोंग' नामक एक रेशमी कपड़ा वस्त्र पहनते थे और स्त्रियाँ एक वस्त्र से अपना शरीर और सीना ढकती थीं। साधारण व्यक्ति केवल एक वस्त्र का प्रयोग करते थे। उनके लकड़ी के सुन्दर मकान थे और व्यापार के लिए ८०-९० फुट लम्बी तथा ६-७ फुट चौड़ी नावें बनाते थे। मनोरंजन के लिए मुर्गों की लड़ाइयाँ भी होती थीं। इनके सम्राट और उसके पीछे स्त्रियाँ हाथी पर चलती थीं। चीनी स्रोतों से और भी वृत्तान्त मिलता है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीयों के आगमन से देश का सामाजिक आर्थिक और बौद्धिक स्तर बहुत ऊँचा उठ गया। भारतीय लिपि का प्रयोग तथा पुस्तकों का अध्ययन विशेष महत्त्व

२६ पू सं।

२७. पिलिओ, फूनान, पूर्व सं पृ २५४। पिलिओ के मतानुसार 'हु' शब्द का प्रयोग मध्य एशिया के लिए हुआ है, पर सभी लिपियों का भारतीय लिपि से सम्बन्ध है। फूनान के संस्कृत भाषा में मिले तीन लेख इसकी पुष्टि करते हैं कि भारतीय लिपि और संस्कृत भाषा का प्रचलन उस देश में हो चुका था।

२८. पिलिओ, पू सं पृ २६१ से।

२९. मजुमदार, कम्बुज देश पृ १८-१९।

लगता है। फूनान से प्राप्त तीन संस्कृत लेख[१०] धार्मिक और साहित्यिक प्रभाव पर प्रकाश डालते हैं। पहले लेख में विष्णु की उपासना कही गयी है। दूसरे में कुमार गुणवर्मन् द्वारा विष्णुपद तीर्थस्वामी के लिए दिये गये दानों का उल्लेख है। इसकी स्थापना में वेद उपवेद तथा वेदांगों में पारंगत ब्राह्मण और भक्तियों के साथ साधुओं ने भाग लिया था। इसमें भागवतों का भी उल्लेख है। तीसरे लेख में किसी बौद्ध स्थान के प्रति दिये गये दानों का उल्लेख है और बुद्ध धर्म और संघ तथा आर्य व्यक्तियों का भी विवरण है। इस बौद्ध लेख में जयवर्मन् और उसके पुत्र रुद्रवर्मन् का नाम आया है और उन्हें क्षत्रिय कहा गया है। जयवर्मन् का कोषाध्यक्ष (धनागारसर्वस्व) एक ब्राह्मण था और उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। इन तीनों लेखों तथा चीनी साक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ईसवी सातवीं शताब्दी तक फूनान में शैव (माहेश्वर)[११] वैष्णव तथा बौद्ध धर्म अच्छी तरह फैल चुका था और भारतीय संस्कृति ने वहाँ अपनी गहरी छाप लगा दी थी। कला के क्षेत्र में भी गुप्तकालीन मूर्ति तथा वास्तुकला का प्राचीन ख्मेर मूर्तियों तथा मन्दिरों पर प्रभाव पड़ा जैसा कि प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वानों[१२] ने सिद्ध करने का प्रयास किया है।

१० सिडो ब फ ए इ ओ ४ पृ ११७ से तथा बु इ फ्रा ११ पृ १ से। दूसरे लेख से प्रतीत होता है कि 'भक्ति और कर्म' के धार्मिक सिद्धान्तों ने भी अपना स्थान बना लिया था। भक्तीर्थ स्वामी का भक्त मनुष्य हृदय से उपासना कर अपने पुण्यस्त कर्मों के प्रभाव से मुक्त होकर विष्णुलोक जाता है। 'मुक्तो पुण्यकृतकर्म्मणा स परमं गच्छेत् पदं वैष्णवम्।' मजुमदार, कम्बुज लेख, पृ ४ पद १ ।

११ नागसेन ने चीनी सम्राट् के सम्मुख फूनान में प्रचलित माहेश्वर मत का उल्लेख किया और सम्राट् ने उसकी प्रशंसा की (पिलियो फूनान पृ ८ पृ २५७ से। मजुमदार, कम्बुज देश, पृ ३२)।

१२ देखिए, पार्मांतिये (बु इ फ्रा १२, पृ १८१) कोलानी (इ ए भाग १ पृ २९७-३१४) कुमो (बु इ फ्रा ४१ पृ २११-२५४) फूशे इ ए भाग २ पृ ५७८। मजुमदार सुवर्णद्वीप, भाग २, पृ १४७।

अध्याय ३

कम्बुज देश का प्रारम्भिक इतिहास

'लिन-वंश का नवीन इतिहास' के अनुसार रुद्रवर्मन् द्वारा ५१९ ई० में अंतिम बार फूनान से चीन के लिए राजदूत भेजा गया और उसके बाद ७वीं शताब्दी में पुनः राजदूत भेजे गये। इसके बीच के समय में फूनान की राजनीतिक परिस्थिति बदल चुकी थी। चेन-ला के आक्रमण के फलस्वरूप राजधानी टो-मो से हटाकर दक्षिण में न-फू न ले जायी गयी। 'सुई वंश का इतिहास' के अनुसार चेन ला का राज्य लिन-यि के दक्षिण-पश्चिम में था और पहले यह फूनान के अधीन एक राज्य था। यहाँ का राजा क्षत्रियवंशज था और उसका नाम चित्रसेन था। उसके पूर्वजों ने अपने राज्य की शक्ति बढ़ायी थी और चित्रसेन स्वयं फूनान का शासक हो गया था। इसके पुत्र ईशानसेन ने ईशानपुर की स्थापना की। चेन-ला से प्रथम राजदूत ६१६-७ में चीन भेजा गया। 'सुई वंश का इतिहास' में केवल ५८९-६१८ ई० के बीच का ही वृत्तान्त है, पर एक दूसरे चीनी ग्रन्थ 'मान शे' के जिसमें चंग-कुआन

१ सिल्विं, फूनान बु० इ० फ्रा० भाग ३ पृ० २७४। सिडो के मतानुसार इस चीनी शब्द की समानता ख्मेर व्याक अथवा दम्नाक से की जा सकती है। ईसानपुर(ईशानपुर) कम्बोज (इ० क०) भाग २, पृ० ११ नोट ५। इसकी राजधानी व्याधपुर थी (बु० इ० फ्रा० २८, पृ० १२७) जो बा नोम के निकट थी और वर्तमान प्राई-वेंग के बनाम-नाम गाँव से इसकी समानता की जा सकती है। 'ली वंश' के इतिहास के अनुसार यह समुद्र तट से ५०० ली (२०० किलोमीटर) की दूरी पर था। लगभग इतनी ही दूरी पर ओसियो में खुदाई करने पर प्राचीन भग्नावशेष मिले। सिडो ए० हि० पृ० ९९।

२ सिल्विं बु० इ० फ्रा० ३ पृ० २७२। सिडो इसे मेकांग के मध्य भाग में बसाक क्षेत्र के वत-फू के निकट रखते हैं। ए० हि० पृ० ११४।

(६२७-६४९ ई.) का वृत्तान्त है[3] अनुसार ईशान ने इस काल के आरम्भ में फूनान पर अधिकार कर लिया था। चीनी स्रोतों से फूनान पर अधिकार करने का श्रेय चित्रसेन तथा ईशान दोनों को ही है और यह प्रतीत होता है कि चित्रसेन के पहले से ही उसके पूर्वजों ने फूनान पर दबाव डालना आरम्भ कर दिया था और फूनान राज्य धीरे-धीरे संकुचित होता गया। अन्त में यह चेन ला का ही अंग बन गया। चित्रसेन तथा ईशान का उल्लेख कम्बुज लेखों में भी मिलता है। अतः इन स्रोतों के आधार पर देश के इतिहास पर प्रकाश डाला जा सकता है।

कम्बुज वंश के प्रारम्भिक शासक

कम्बुज के प्रारम्भिक शासकों में श्रुतवर्मन् का नाम राजेन्द्रवर्मन् के बैकाई थंकोन के लेख[5] में मिलता है। इसमें राजेन्द्रवर्मन् की वंशावली श्रुतवर्मन् के समय से दी गयी है और उसे ही मूल कहा गया है जिससे यह वंश चला (श्री कम्बुभूभृताम् श्रुतवर्म्ममूला श्रीकारपास्तचिरबन्धस्वाभिमाना)। और इसने देश को परतंत्रता के बंधनों से मुक्त किया। इस वंश का जन्म कम्बु स्वायम्भुव और मेरा नामक अप्सरा के संसर्ग से हुआ था। श्रुतवर्मन का उल्लेख जयवर्मन् सप्तम के सं ११०८ (११८६) के ता प्रोम के लेख में भी मिलता है। जयवर्मन् इसी का वंशज था। इस लेख में श्रुतवर्मन् के पुत्र श्रेष्ठवर्मन् तथा उसकी राजधानी श्रेष्ठपुर का भी उल्लेख है (श्रेष्ठपुराधिराज। पद ७)। इस लेख में 'कम्बुजराजलक्ष्मी' का भी

३ सिसिमो, पृ सं पृ २७५।

४ फूनान के अन्त के विषय में सिदो ने एक लेख में विस्तृत रूप से प्रकाश डाला है। बु इ फ्रा भाग ४३, पृ १ से।

५. मजूमदार, कम्बुज लेख नं ९३ पृ १८५ से। जू ए १९०९ (१) पृ ४६७। यह एक मन्दिर का नाम है जो बकेंग पहाड़ी पर स्थित है और यह अंकोरथाम के दक्षिण में थोड़ी दूरी पर है।

६. कांची के पल्लव वंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की किंवदन्ती है और सिदो के मतानुसार इन दोनों वंशों की उत्पत्ति का स्रोत एक ही रहा होगा। (ए हि पृ ११५) बु इ फ्रा ११ पृ १९१।

७ मजूमदार, कम्बुज लेख नं १७७, पृ ४९१-५१।

उल्लेख है और पुनः भववर्मन् से वंशावली चली है। इस आधार पर भववर्मन् का श्रुतवर्मन् तथा श्रेष्ठवर्मन् के वंश के साथ सम्बन्ध दिखाया गया है। श्रेष्ठपुर के उल्लेख से श्रेष्ठवर्मन् तथा उसके पिता के मूल राज्य स्थान का पता चल सकता है। श्रेष्ठपुर का उल्लेख शक सं १ ५८ के वट-फु के लेख में भी है। यह ख्मेर भाषा में है और इसमें मोलेश्वरस्वर प्रदेश तथा श्रेष्ठपुर के विषय के कमीर संघ के कें-त्वन-लो और उसके पुत्र वह-मूल-सूत्र द्वारा दिये दान का उल्लेख है। यह लेख लाओस में बसाक के निकट मिला और इससे यह प्रतीत होता है कि श्रेष्ठवर्मन् की राजधानी उत्तर में बसाक के निकट थी। 'सुई वंश का इतिहास' के आधार पर चेन-ला की राजधानी लिन-किय-पो-पो नामक एक पहाड़ी पर थी जहां पर एक मन्दिर था। नगर के उत्तर की ओर पो-टो ली नामक एक दैवी शक्ति के लिए नरबलि दी जाती थी। लिन-किया-पो-पो की समानता सरलता से लिंग-पर्वत से हो सकती है जो वट-फु पहाड़ी का दूसरा नाम था (अब श्रीनरसिंहपर्वतवरे)। इन लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि फूनान के अतिरिक्त उत्तरी-पूर्वी भाग में भारतीयों ने एक और उपनिवेश स्थापित कर लिया था जो पहले तो फूनान के अधीन था पर बाद में यह स्वतंत्र हो गया तथा उसने फूनान पर अधिकार कर विस्तृत कम्बुज का रूप धारण किया। कदाचित् यहां भारतीयों का प्रवेश स्थल मार्ग से हुआ था। श्रुतवर्मन् तथा उसके पुत्र श्रेष्ठवर्मन् के पश्चात् भववर्मन् का उल्लेख है जिससे कम्बुज वंश के राजाओं की वंशावली चली। ता-प्रोम लेख में कम्बुज-लक्ष्मी का भी उल्लेख है और यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या भववर्मन् का श्रुतवर्मन् के वंश से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुआ था। यहां पर पहले भववर्मन् और उसके वंशजों के लेखों का उल्लेख करना आवश्यक है और उनके आधार पर भववर्मन् के श्रुतवर्मन् तथा फूनान के रुद्रवर्मन् के साथ सम्बन्ध उनकी राजधानी तथा फूनान विजय और अन्त में उसके वंशजों पर प्रकाश डाला जायगा।

भववर्मन् प्रथम

भववर्मन् तथा उसके उत्तराधिकारियों के कई लेख इस वंश के इतिहास पर

८. मजुमदार, वही नं. १११ पृ ४१७।
९. वही, नं. १७, पृ ४७, पद ४।

प्रकाश डालते हैं। पोम-बति के लेख[10] में भववर्मन् द्वारा त्र्यंबक (शिव) की प्रतिस्थापना तथा उसके साथ में दिये गये धनदान का उल्लेख है जो उसने अपने धनुष के बल पर प्राप्त किया था (शरासनमात्रेण जितावदातैः) दूसरा लेख[11] मोम प्रविहार (कॉपोग-चाम प्रदेश) से मिला जिसमें भववर्मन् के एक पदाधिकारी विद्यापुष्प के दान का उल्लेख है। इस लेख के प्रथम भाग में भववर्मन् की प्रशंसा की गयी है तथा उसे सोमा-वंशज कहा गया है। तीसरा लेख पोंहिएर-होर (बाम प्रान्त) मे मिला इसमें पर्सेमपति नामक एक पदाधिकारी का उल्लेख है। उसने भववर्मन् तथा उसके उत्तराधिकारी अथवा पूर्वाधिकारी के समय में पर्सेम नामक किसी नगर अथवा विषय के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया। इसने भववर्मन् से एक सुनहरा छत्र प्राप्त किया। चौथा लेख[13] (कॉपोम सिएम और स्टुग भाग) के बीच हन-ये के मन्दिर के द्वार के स्तम्भों पर दो भागों में लिखा मिला। प्रथम भाग में भववर्मन् तथा उसके उत्तराधिकारी की प्रशंसा है तथा महेश्वर नामक शिवलिंग की उग्रपुर के प्रान्तीय शासक द्वारा स्थापना का उल्लेख है। इस लेख में भी उसे सोमा-वंशज कहा गया है (सोमान्वये प्रसूतस्य) लेख के दूसरे भाग में भी भववर्मन् की प्रशंसा की गयी है। अन्तिम लेख स्टुंग-भाग के निकट वील्कन्तेल से प्राप्त हुआ[14] जिसमें त्रिभुवनेश्वर तथा सूर्य की मूर्तियों की स्थापना का उल्लेख है। यह सोमशर्मन् ने की थी जिसकी पत्नी वीरवर्मन् की पुत्री और भववर्मन् की बहिन (स्वसा) थी। अरुन्धती की भाँति यह पतिव्रता थी। इस लेख का राजनीतिक दृष्टिकोण से विशेष महत्त्व है क्योंकि इसमें भववर्मन् के पिता वीरवर्मन् का उल्लेख है। कदाचित् वह राजवंशीय न था और इसी लिए पोम-बते के लेख में उसके स्वतः राज्य प्राप्त करने का उल्लेख है और अपनी वीरता

१० मजुमदार, कम्बुज लेख।

११ स राजा भववर्म्मेति भवत्यधिकशासनः।
सोम-वंश्योऽप्यरिभ्यान्तप्रभ्यासनविताकृत ॥ (नं १ पृ १९, ५-६)।

१२ मजुमदार, वही, नं ११ पृ १३।

१३ मजुमदार, वही, नं १२, पृ १३ से।
सोमान्वयप्रसूतो य कलाकान्तिसम्पदा।
रिपुनारीमुखाम्भोजेषु इत्याम्यपरिप्लवम् ॥ (पद ३)

१४ वही नं १३ पृ १८ से।

के कारण वह दोनों लोक अपने हाथ में लिये हुए था (करतलमोक-मितयेन तेन) उपर्युक्त पाँचों लेखों में कुछ भववर्मन् प्रथम से सम्बन्धित हैं और कुछ अन्य भववर्मन् द्वितीय का होना सूचित करते हैं। यह प्रश्न विवादास्पद है क्योंकि लेखों के मिलने के स्थानों से प्रतीत होता है कि भववर्मन् ने क्रम से कम्बुज देश का भाग जीता होगा। उसकी तिथि तथा अन्य सम्बंधित विषयों पर प्रकाश डालने के लिए हमें उसके उत्तराधिकारियों के लेखों से भी सहायता लेनी होगी।

पूर्वज तथा वंशावली

फु-को-सोल (मुन और मेकांग नदी के संगम के निकट) के लेख में[15] महेन्द्रवर्मन् अथवा चित्रसेन द्वारा एक शिवलिंग की स्थापना का उल्लेख है। यह भववर्मन् का कनिष्ठ भ्राता तथा वीरवर्मन् का पुत्र और सार्वभौम का पौत्र था। यह कहना कठिन है कि 'सार्वभौम' से उसके राजकीय प्रशासक होने का संकेत होता है अथवा यह केवल उसका नाम ही था। इस लेख की कई प्रतिलिपियाँ भी अन्य स्थानों मे मिलीं। भववर्मन् का उल्लेख बंग-पुमनिक (बा-नोम प्रान्त) के लेख[16] में भी मिलता है जिसकी तिथि शक सं ५८९ (६६७ ई) है और यह जयवर्मन् प्रथम के समय का है। इसमें जयवर्मन् के मित्र सिंहदत्त जो व्याधपुर का शासक भी था द्वारा भी विजयेश्वर की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है। इस लेख में सिंहदत्त से चार पीढ़ी पहले तक के पूर्वजों का उल्लेख है और कम्बुज शासकों में रुद्रवर्मन् भव

१५ मजूमदार, कम्बुज, लेख नं १५, पृ २ ।

नप्ता श्रीसार्व्वभौमस्य सूनुः श्रीवीरवर्म्मणः।
शक्त्यान्यूनः कनिष्ठोऽपि भ्राता श्रीभववर्म्मणः॥
श्रीचित्रसेननामा यः पूर्व्वमाहृतलक्षणः।
स श्रीमहेन्द्रवर्म्मेति नाम भेजेऽभिषेचनम्॥

इस लेख की अन्य प्रतिलिपियाँ थम-मेवड (पृ ह क्र १२-५८) थम-प्रसत (वही पृ ५९) तथा मुन नदी पर स्थित कग-तान (वही पृ १८५) और इसी से मिलता एक अन्तिम पद सुमोन-सुरिन (स्याम) के बन-मुमफोन में मिला। वही, पृ ५९।

१६. मजूमदार, कम्बुज लेख नं ३ पृ १८ से।

वर्मन्, महेन्द्रवर्मन्, ईशानवर्मन् तथा जयवर्मन् का भी नाम मिलता है। इस लेख में भववर्मन् के विषय में लिखा है कि उसने अपनी शक्ति से अपना राज्य स्थापित किया था (स्वशक्त्या प्राप्तराज्यस्य राज्ञः श्रीभववर्मणः। पद ५) और उसका राज्य कल्पतरु फल की भाँति था (राज्यकल्पतरोः फलम्)। इसी लेख में रुद्रवर्मन् की तुलना साम्राज्य विस्तार के क्षेत्र में दिलीप से की गयी है (यस्य वीरस्य... दिलीपस्येव विश्रुतम्। पद २)। रुद्रवर्मन् और भववर्मन् के पारस्परिक सम्बन्ध पर इस लेख से कोई प्रकाश नहीं पड़ता है, पर इन दोनों के बीच में कोई और शासक नहीं हुआ था। भववर्मन् का उल्लेख चम्पा में प्रकाशधर्म के माइसोन के लेख[17] में भी मिलता है जो शक सं ५७९ (६५७ ई) का है और इसमें भववर्मन् को एक शक्तिशाली शासक कहा गया है। इसने अपने बल और पुरुषार्थ से शत्रुओं को दबाया था (क्षितिपतेरप्रतिमप्रतापिनो)। और उसके भाई महेन्द्र की तुलना इन्द्र से की गयी है (निरपायिपुरन्दरविक्रमः)। इन लेखों के आधार पर निम्नलिखित वंशावली बनायी जा सकती है—

१७. बु० ई० फा० भाग ४ पृ० ९२१ है। मजूमदार, चम्पा, भाग ३ पृ० १६। इस लेख में महेश्वरवर्मन् का किसी कार्य से भव (भवपुर) जाने का उल्लेख है जहाँ पर कौण्डिन्य ने द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा से प्राप्त भाला आरोपित किया था। दूसरे भाग में भववर्मन् की विजयोपलब्धि, शत्रुओं के मान-मर्दन, उसके सैनिक प्रयास तथा वीर कृतियों का भी उल्लेख है—

श्रीभववर्मणः क्षितिसीद्यप्रतिम द्यातिनो वीर्यहतमत्तवन्यतप लब्ध-स्वर्गीभिमानविद्य:। (पद २)
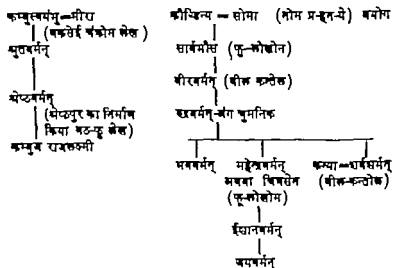
चीनी स्रोत 'सुई वंश का इतिहास' (५८९—६१८ ई) में चैन-ला के विषय में लिखा है कि यह फूनान के अधीन एक राज्य था और इसका शासक क्षत्रिय था तथा उसका नाम चित्रसेन था और उसका फूनान पर भी अधिकार था। उसके पुत्र ईशानवर्मन् ने ईशानपुर नगर बसाया तथा ६१६ अथवा ६१७ ई में उसने एक राजदूत चीन भेजा। 'तन यै' नामक एक अन्य ग्रन्थ में ईशान का राज्यकाल चेंग-कुआन सन (६२७-६४७ ई) में रखा है तथा फूनान पर अधिकार का इसी को श्रेय दिया गया है।[१८]

विजय और राज्य विस्तार

उपर्युक्त वृत्तान्तों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कम्बुज राज्य के शासकों का फूनान पर अधिकार करने का प्रयास धीरे-धीरे सफल हुआ और इसमें भववर्मन्, महेन्द्रवर्मन् तथा उसके पुत्र ईशानवर्मन् का भी हाथ था। ता-प्रोम

१८. पेलियो बु इ फ्रा ३ पृ २७९। सिडो ए हि पृ ११९।

के लख में जो वंशावली दी गयी है उसमें भववर्मन् को मूल कहा गया है और उसी ने अपने देश को फूनान से मुक्त कराया। उसके पुत्र श्रेष्ठवर्मन् की राजधानी श्रेष्ठपुर थी जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। भववर्मन् का इस वंश से कोई सम्बन्ध न था। इसका पितामह सार्वभौम शासक रहा हो जैसा कि उसके नाम से प्रतीत होता है पर इसमें सन्देह है।[१९] उसका पुत्र वीरवर्मन्, जो भववर्मन् का पिता था एक साधारण व्यक्ति था और उसने अपनी कन्या का विवाह सर्ववर्मन् से किया था। भववमन् ने अपने पुरुषार्थ से अपने राज्य का निर्माण किया। उसके लेखों के मिलने के स्थान से पता चलता है कि वे बटमबंग के पश्चिम में पोंग चमचें थम कहीं न ३ मौन उत्तर पश्चिम मेकांग नदी के पूर्व में कोरोम क्रिस्न तथा स्तुग थांग प्रान्तों में मिले।[२०] कम्बुज देश के मध्य भाग में भववर्मन् ने अपने राज्य का निर्माण कर लिया था। इसके उत्तर पूर्व में श्रेष्ठवर्मन् का राज्य था जिसकी राजधानी श्रेष्ठपुर वाथोम के बसाक के निकट थी।

१९. भववर्मन् के पिता वीरवर्मन् की किसी लेख में राजकीय उपाधि नहीं दी गयी है। सिडो के मतानुसार उसका नाम भी था और सार्वभौम से उसकी राजनीतिक सत्ता का संकेत होता है (बु इ फ्रा भाग २२, पृ ५८-५९)। पुष्प वंश के स्थापक श्री-पुष्प का नाम भी था और पुष्प से उसके वंश का संकेत होता है। भववर्मन् के अपने तथा अन्य सम्बन्धित लेखों से प्रतीत होता है कि उसने स्वभुजबल से अपने राज्य का निर्माण किया। अतः इस विषय पर निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि भी सार्वभौम की नहीं का शासक था अथवा यह कोई सामान्य व्यक्ति था।

२ सिडो के मतानुसार भववर्मन् और उसके भाई चित्रसेन ने फूनान पर आक्रमण किया और पूर्व में मेकांग पर क्रते मुम और उपेक के बीच बुरिराम, कोराट में विशाल झील के आसे मोंमोल बोराई तक अपना राज्य विस्तृत किया। दक्षिण में फूनान की राजधानी टू-मो (व्याधपुर अथवा बो-नोम) से नकुह (नवनगर) ले जायी गयी (ए हि पृ ११९) सिडो बु इ फ्रा भाग ४३ पृ १४। हन-चे के लेख में भववर्मन् को महाराजाधिराज कहा गया है। मजूमदार के अनुसार इस लेख का सम्बन्ध भववर्मन् द्वितीय से है। (कम्बुज देश पृ ५१)।

ता प्रोम के मन्त्र में श्रेष्ठवर्मन् के बाद कम्बुज राजलक्ष्मी और दूसरे पद में भववर्मन् का उल्लेख मिलता है और बंग-चुमनिक के लेख में रुद्रवर्मन् के बाद भववर्मन् का नाम आता है। अतः यह प्रतीत होता है कि पहले भववर्मन् ने उत्तर-पूर्व में श्रुतवर्मन् के राज्य पर अधिकार किया और कदाचित् कम्बुज लक्ष्मी से विवाह कर वह वधिकृत रूप से वहाँ का शासक बन बैठा और फिर वह दक्षिण की ओर बढ़ा।[२१] इस वंश का फूनान पर सम्पूर्ण अधिकार ईशानवर्मन् के समय में हुआ था जिसने ६१७ ई० में एक राजदूत चीन भेजा। फूनान की ओर से अंतिम शासक रुद्रवर्मन् ने ५३९ ई० में अपना दूत चीन भेजा था। अतः ५३९—६१७ ई० —७८ वर्ष के काल में हम रुद्रवर्मन् तथा फूनान के अन्त भववर्मन् महेन्द्रवर्मन् अथवा चित्रसेन और ईशानवर्मन् के प्रारम्भिक काल का रख सकते हैं। बंग-चुमनिक लेख में भिषक्-कुल की कई पीढ़ियों का उल्लेख है। ब्रह्मदत्त तथा उसके भाई ब्रह्मसिंह रुद्रवर्मन् के भिषक् थे। इससे प्रतीत होता है कि रुद्रवर्मन् का राज्यकाल लम्बा था। अतः लगभग ५५० ई० तक उसका राज्य काल रखा जा सकता है। ब्रह्मदत्त के भागिनेय धर्मदेव और सिंहदेव तथा उसके भाई भववर्मन् और महेन्द्रवर्मन् के वैद्य थे। धर्मदेव का पुत्र सिंहवीर ईशानवर्मन् का मंत्री था और उसका पुत्र सिंहदत्त जयवर्मन् की ओर से आढ्यपुर का शासक था। यदि ईशानवर्मन् के अभिषेक की तिथि ६ ई० मानें और भववर्मन् तथा उसके भाई महेन्द्रवर्मन् का लगभग १ और २ वर्ष का राज्यकाल निर्धारित करें, तो भववर्मन् ने लगभग ५५ से ५८ तक और उसके भाई महेन्द्रवर्मन् ने लगभग ५८ से ६ तक राज्य किया।

२१ ता-प्रोम के लेख में श्रेष्ठवर्मन् को सूर्यवंशज और भववर्मन् को चन्द्रवंशज कहा गया है। बक्सेई-चंक्रोंग लेख में कम्बुस्वयंभु के वंशजों ने सूर्य और चन्द्र कुलों का एकीकरण किया। इसके अतिरिक्त ता-प्रोम के लेख में श्रेष्ठवर्मन् और भववर्मन् के बीच में कम्बुज राजलक्ष्मी का उल्लेख है। मजूमदार के मतानुसार यह प्रतीत होता है कि भववर्मन् ने कम्बुज राजलक्ष्मी से जो कदाचित् श्रेष्ठवर्मन् की पुत्री थी, विवाह कर दोनों वंशों को एक में मिलाया और उसका सम्पूर्ण कम्बुज पर अधिकार हो गया।

चित्रसेन महेन्द्रवर्मन्

चित्रसेन महेन्द्रवर्मन् लेखों और चीनी स्रोतों के अनुसार भववर्मन् के बाद उसके भाई चित्रसेन अथवा महेन्द्रवर्मन् ने राज्य किया।[22] उसके लेखों में[23] थ्मा-के (संबोर के दक्षिण में मेकांग नदी पर स्थित एक गांव) चट्टान पर अंकित लेख में चित्रसेन द्वारा एक शिवलिंग की स्थापना का उल्लेख है। इसकी दो और प्रतिलिपियां भी फुओ-अंफिन (वील-कन्तेल के दक्षिण) तथा स्याम के रत्नसिमा प्रान्त के बम तमोंम में मिली हैं।[24] उसका फू-लोकोन का लेख[25] ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विशेष महत्त्व रखता है। इसमें उसकी वंशावली है तथा महेन्द्रवर्मन् नाम भी है जो उसने सिंहासन पर बैठने पर रखा। इस लेख की भी कई प्रतिलिपियां अन्य स्थानों में मिली हैं।[26] स्याम के सुरिन में प्राप्त एक अन्य लेख[27] में सब देशों पर विजय-प्राप्ति के पश्चात् एक नन्दी की मूर्ति की स्थापना का उल्लेख है (जित्वेमं देशा अस्मिन् देशे शिलामयम् वृषभ स्थापयम्)। 'सुईवंश का इतिहास' के अनुसार यह फूनान का शासक बन बैठा और इसके बाद ईशानवर्मन् सिंहासन पर

२२ डा. मजुमदार के मतानुसार हुन-पे लेख से प्रतीत होता है कि भववर्मन् के बाद उसका कनिष्ठ पुत्र सिंहासनारूढ हुआ और दासी ने कदाचित् दोनों भाइयों की सेवा की थी (चपलादुद्धिमान् भृत्यस्तयोरवनिपालयोः) यह कहना कठिन है कि उसकी थोड़े ही समय में मृत्यु हो गयी अथवा चित्रसेन नामक चचा उसका वध कराकर स्वयं राजा बन बैठा। इस सम्बन्ध में एक चीनी वृत्तान्त भी उल्लेखनीय है जिसमें चित्रसेन के राज्याभिषेक के बाद ही लिखा है कि जैसे ही कोई नया शासक सिंहासन पर बैठता है तो उसके भाइयों की नाक और उंगलियां काट दी जाती हैं और वे बन्दी कर लिये जाते हैं। (कम्बुज देश, पृ ५४)।

२३ मजुमदार, कम्बुज लेख नं १४ पृ १९ से। बु इ फा ३ ३११।
२४ बु इ फा ४७१९। २९-३१।
२५. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं १५, पृ २ ।
२६. बु इ फा २२, पृ ५८-५९, ३ ५।
२७. सिडो, कम्बुज लेख भाग ५, पृ १।

बैठा। इसने चम्पा से मित्रता स्थापित करने के लिए वहां एक दूत भी भेजा।[२८] महेन्द्रवर्मन् के लेखों से पता चलता है कि उसने कम्बुज राज्य की सीमा को बढ़ाया। उत्तर में वह मेकांग की घाटी में बसाक से आगे चन-नखोन और स्याम में सुरिन तक था तथा दक्षिण में बनोम (व्याधपुर) तक वह पहुँच चुका था जैसा कि चीनी वृत्तान्त से प्रतीत होता है।

ईशानवर्मन्

इस वंश का सबसे महान् शासक ईशानवर्मन् था जिसने फूनान पर पूर्णतया अधिकार कर अपने राज्य की सीमाओं को विस्तृत किया तथा चम्पा के साथ वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा मित्रता स्थापित की और चीन में भी राजदूत भेजा। चीनी स्रोत के अनुसार सिंहासन पर बैठने पर इसने अपने सब भाइयों को अन्धा कर दिया[२९] पर इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। इसके लेख मेकांग और मुन के संगम से उसके मुहाने तक के क्षेत्र में मिले हैं। पर अधिकतर यह कोपोंग थोम के उत्तर में संबोर प्राई कुक क्षेत्र में मिले हैं और कदाचित् यहां पर इसकी राजधानी ईशानपुर भी होगी। क्योंकि इसी नाम से चीनी यात्री ह्वान चांग ने भी कम्बुज का संकेत किया है।[३०] ईशानवर्मन् की रानी का नाम शाकारमञ्जरी था[३१] (श्री ईशानवर्म्मनाम्नस्तस्य नृपेन्द्रस्य या प्रिया पत्नी शाकारमंजरी) और इसकी

२८. सिंहदेवोऽनुजो राज्ञा दूतत्वे सत्कृतः कृती।
प्रीतये प्रेषितः प्रेम्णा चम्पाधिपनराधिपम्॥
मजुमदार, कम्बुज लेख पृ १९, पद ८।

२९. आमोनिए, कम्बुज पृ ११। मजुमदार, कम्बुज देश पृ ५५।

३० ईशानवर्मन् की राजधानी की समानता कोपोंग-थोम के उत्तर में संबोर प्राई-कुक के क्षेत्र से की जा सकती है जहां पर इसके सबसे अधिक लेख मिले हैं। (बु इ फ्र २८,पृ १२५)। सिदो ए हि पृ १२।

३१ ह्वान-चांग के मतानुसार ईशानवर्मन का राज्य उत्तर में हिन्दचीन के मध्य भाग, पश्चिम में इरावदी, मध्य स्याम तथा पूर्व में महाचम्पा-अनम तक विस्तृत था। बील, भाग २, पृ २ १

३२ सिदो, कम्बुज लेख ४ पृ २४।

पुत्री का विवाह दक्षिण (कदाचित् दक्षिण भारत) के एक ब्राह्मण दुर्गस्वामिन् अथवा उसके एक शिष्य के साथ हुआ था। अंकोर-कालीन अनेक लेखों में एक अथवा एक ब्राह्मण की विचित्र मूर्ति का उल्लेख कई बार हुआ है।[13] चम्पा के इतिहास में भी इस कम्बुजसम्राट् का नाम आता है। महेन्द्रवर्मन् और उसके पुत्र ईशानवर्मन् ने चम्पा के घरेलू विषयों में हस्तक्षेप किया था। ईशानवर्मन् की पुत्री श्री सर्वाणी का विवाह चम्पा के जगद्धर्म के साथ हुआ था और उनके पुत्र प्रकाशधर्म ने सिंहासनारूढ़ होने पर शासन-व्यवस्था स्थापित की थी।[14] ईशानवर्मन् के संबोर-प्राई कुक के ५४९ शक सं (६२७ ई) के लेख से उसकी तिथि निर्धारित होती है। पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि उसने किस समय तक राज्य किया पर लोम पेन्ह के शक सं ५११ के लेख से प्रतीत होता है कि ६१९ ई में भववर्मन् (द्वितीय) कम्बुज का शासक था।[15] अंग-चुमनिक लेख के अनुसार ईशानवर्मन् के बाद जयवर्मन् (प्रथम) शासक हुआ और इसके तुमोल-कोकप्राह् के शक सं ५७९ के लेख से प्रतीत होता है कि ६५७ ई में जयवर्मन् (प्रथम) कम्बुज का शासक था।

जयवर्मन् प्रथम

भववर्मन् प्रथम के वंश में जयवर्मन् प्रथम अन्तिम शासक था जैसा कि इस

१३ राज्ञो पि तज्जस्ते समये
श्री ईशानवर्म्मणस्तस्य जम्मय
यत् सुता संप्रदानेन पूजा
पंचब्राह्मण सुप्रपु लेभिय
दक्षिणपथ जम्मा श्री दुर्गस्वामि
महाभारत में एक द्वीप के ब्राह्मण को मग कहा गया है। सिडो, कम्बुज लेख भाग १ पृ १९५। बु इ फा २८ पृ १ ५, नं ११११६।१२ पृ ७३।
१४ मजूमदार, चम्पा, नं १२ पृ २३।
१५ इसका एक और लेख लोम बयाम में मिला जिसमें उत्पन्नेश्वर देवता की मूर्तिस्थापना का उल्लेख है। इसमें जौगवर्मन् का उल्लेख भी है और यह नाम दक्षिण पूर्वी भाग के गंग राजाओं के लेखों में भी पाया जाता है। सेडो इ का भाग १ पृ २५२। ब ए इ सो भाग ४ पृ १५६।

चुमनिक के लेख से प्रतीत होता है। जयवर्मन् का प्रथम लेख शक संवत् ५७९ (६५७ ई) तुओल कोक प्राह् (प्राई वांग प्रान्त) से और अन्तिम लेख तुओल अन लोत (तकेओ प्रान्त) से शक स ६ ३ (६८१ ई) का मिला है। इसके लेख बत-फू (लाओस) से लेकर बा-नोम प्रान्त तक में मिले हैं और इनसे प्रतीत होता है कि जयवर्मन् ने विस्तृत कम्बुज राज्य पर पूर्णतया अधिकार रखा। अंग-चुमनिक के सं ५८९ के लेख में सम्राट् जयवर्मन् के भिषग् सिंहदत्त द्वारा को आद्यपुर का शासक था भी विजयेश्वर की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है। इसके लेखों में कई राज्य-पदाधिकारियों का भी उल्लेख है। ज्ञानचन्द्र उसका अमात्य था जिसने आम्रातकेश्वर की मूर्ति स्थापित की थी।[16] सम्राट् के 'राजसभाधिपति' ने एक शिवलिंग स्थापित किया था।[17] उस काल के लेख[18] में धर्मस्वामी नामक वेद-वेदांग-पारग ब्राह्मण विद्वान् का उल्लेख है जिसके ज्येष्ठ पुत्र ने 'महाश्वपति' ज्येष्ठपुर स्वामी ध्रुव पुरस्वामी पदों को सुशोभित किया था और उसका छोटा भाई 'नरेन्द्र परिचारक' तथा सम्राट् के अंगरक्षक के मुख्य (नृपान्तरंगयोधानां पारिषाही तथा 'समलक्षणवाहन') पदों पर आसीन रहा।

'तकेओ प्रान्त में इस शासक के अधिकार समय क लेख मिलते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि यह अकोर बोराई में अधिक समय तक रहा। प्राचीन राजधानियों में व्याधपुर (बा नोम) तथा लिंगपर्वत (बत-फू) में भी मूर्तियों की स्थापना के लेख उन स्थानों की प्रधानता का संकेत करते हैं। ज्येष्ठपुर में सम्राट् की ओर से शासक नियुक्त था। इस सम्राट् का चीन के साथ भी मैत्रीपूर्ण सम्पर्क रहा। तंग-वंश के प्राचीन इतिहास के अनुसार काओ साप के राज्यकाल (६५०-६८३ ई) में चन ला से चीनसम्राट् के पास दूत आये।

जयवर्मन् प्रथम के बाद कम्बुज राज्य का इतिहास अंधकारमय हो जाता है। तंग वंश के इतिहास के आधार पर ७ ६ ई म देश दो भागों में विभाजित हो चुका था। उत्तर की घाटियों और पहाड़ियों से घिरा क्षेत्र 'पृथ्वी चन ला' कहलाता

१६. मजुमदार, कम्बुज लेख म २८।
१७. वही, म ३३।
१८. वही म ३४।
१९. मिडी ए हि पृ० १२४।

था और दक्षिण का झील तथा समुद्र तट का भाग 'चक चेन ला' नाम से सम्बोधित किया जाता था। जयवर्मन् का ३ वर्ष का राज्यकाल व्यतीत होने पर उसके बाद देश में अशान्ति और अराजकता का वातावरण छा गया। कदाचित् उसका कोई उत्तराधिकारी न था। अंकोर से प्राप्त ७१३ ई. के एक लेख[४०] में जयदेवी रानी को समय की अभागिनी कहा गया है और इसमें शिव त्रिपुरान्तक की मूर्ति को देने वालों का उल्लेख है जिसकी स्थापना जयवर्मन् की पुत्री ने की थी। उसका विवाह भारत के शैव ब्राह्मण चक्रस्वामिन् से हुआ था।

एक सौ वर्ष से अधिक के राज्यकाल में भववर्मन् और उसके वंशजों ने कम्बुज राज्य को फूनान की अधीनता से विमुक्त कराकर एक विस्तृत शक्तिशाली राज्य बनाया। इस कार्य में भववर्मन् के अतिरिक्त उसके भाई महेन्द्रवर्मन् तथा भतीजे ईशानवर्मन् का बड़ा हाथ था। कम्बुज राज्य स्याम से या मीम के नीचे पहुँच चुका था। फूनान का अस्तित्व धीरे-धीरे नष्ट हो रहा था और जैसा कि चीनी स्रोतों से प्रतीत होता है लगभग ६३५ ई. में फूनान का पूर्ण रूप से अन्त हो गया। ब्यान वांग के मतानुसार[४१] ईशानवर्मन् की राजधानी ईशानपुर से ही सम्पूर्ण कम्बुज का संकेत होता था। जयवर्मन् प्रथम ने इस विस्तृत साम्राज्य को सुरक्षित रखा और उसने सुचारु रूप से शासन किया जैसा कि उसके लेखों से प्रतीत होता है और उसने चीन तथा चम्पा के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार रखा। पर उसके बाद कम्बुज का इतिहास अंधकारमय हो जाता है क्योंकि यह छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया जिनका न तो कोई इतिहास ही लिखा जा सकता है और न उनकी समानता ही दिखायी जा सकती है। चीनी स्रोत तथा कुछ लेखों के आधार पर इस अन्धकार युग में प्रकाश की रेखा कहीं-कहीं दिखाई पड़ती है जिसका उल्लेख आगे किया जायगा।

४० बु इ फ्र भाग ३६, पृ ३४१।
४१ सिडो ए हि पृ ११९।

अध्याय ४

अंधकार युग से जयवर्मन् द्वितीय और तृतीय तक

आठवीं शताब्दी का कम्बुज इतिहास अंधकारमय है। इस समय के कुछ लेख तथा चीनी स्रोतों के सिवा देश का क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता है।[1] तंग वंश के इतिहास के अनुसार ७ ५ ७ ६ ई. के बाद चेन-ला अथवा कम्बुज दो भागों में बंट गया था 'स्थल कम्बुज' और 'जल कम्बुज'। स्थल कम्बुज के जिसे वेन-तन तथा पो-लू नामों से भी सम्बोधित किया गया है अन्तर्गत कम्बुज का उत्तरी भाग था और इसमें पहाड़ियां तथा घाटियां थीं। दक्षिणी भाग में समुद्रतट निकट था और इसमें कासार तथा झीलें थीं। मा-त्वान-लिन के अनुसार जल कम्बुज ८ ली के घेरे में था और इसका शासक पो-लो-ति-य में रहता था। स्थल कम्बुज में कम्बुज का उत्तरी भाग टोंकिन के निकट लाओस का अधिक भाग तथा युनान का भाई राज्य था। इसका चीन के साथ राजनैतिक सम्बन्ध था और ७१७ ई. में वहां से एक दूत चीन भेजा गया था। चार वर्ष बाद अनाम विद्रोही मेकशन को सहायता देकर इसने चीनी सत्ता को हटा

1 इस काल के इतिहास का विशेष रूप से कूटी ने अपने लेख चेन-ला में उल्लेख किया है। बु इ फा ३१ पृ १७ से।

2 बु इ फा १६, पृ १ से। मजूमदार, कम्बुज देश पृ ६७।

3 सिदो के मतानुसार जल कम्बुज की राजधानी पो-लो-ति-य की समानता बालादित्य द्वारा बसाये गये नगर बालादित्यपुर से की जा सकती है। यह कौडिन्य तथा नागी सोमा-वंशज था और उसका सम्बन्ध फुनान के राज्य से रहा होगा। बु इ फा भाग १८, पृ ११७-१११। ए हि पृ १५। कम्बुज विभाजन का कारण देश की अराजकता थी जो जयवर्मन् प्रथम की मृत्यु के बाद कम्बुज में हुई। (बु इ फा १६, पृ १८)।

किया। थोड़े समय बाद इसका चीन के साथ पुनः राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित हो गया और ७५ ई. में यहां से एक दूत चीन भेजा गया। ७१ में यहां का राजकुमार अन्य राज्यकर्मचारियों के साथ चीन गया। ७१ ई. में पो-मो नामक शासक स्वयं चीन गया। अन्तिम दूत ७९९ में चीन भेजा गया। चीनी वृत्तान्त के आधार पर यह प्रतीत होता है कि उत्तरी अथवा स्थल कम्बुज का राजनीतिक सम्बन्ध चीनी साम्राज्य के टोकिन प्रान्त के निकट होने के कारण चीन से बराबर बना रहा और मेकांग की मध्य घाटी तक इस राज्य की दक्षिणी सीमा थी जैसा कि किन्ग टिमन के 'मार्ग' नामक ग्रन्थ से भी प्रतीत होता है।[4] कदाचित् इसी काल का एक लेख फू-लिओं-कासो (कोरात के कैमा-फूम) में मिला जिसमें सम्राट् जयसिंहवर्मन् का उल्लेख है।

दक्षिण कम्बुज

जल कम्बुज अथवा दक्षिणी कम्बुज में कई छोटे-छोटे राज्य हो गये थे और इनका उल्लेख यशोवर्मन् के लेखों में मिलता है जो ९वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में विशाल कम्बुज देश का शासक हो गया है। प्रह्-खत प्रे-रूप और मेबोन के लेखों के अनुसार अनिन्दितपुर के वंश में पुष्कराक्ष नामक एक शासक हुआ जिसने शम्भुपुर का राज्य प्राप्त किया था। यह नृपतीन्द्रवर्मन् का पुत्र था जिसकी मां सरस्वती अनिन्दितपुर शासक बालादित्य की भांजी थी। अनिन्दितपुर के शासक कौण्डिन्य और सोमा के वंशज थे। पुष्कराक्ष ने शम्भुपुर राज्य पर भी अधिकार प्राप्त कर लिया था। इसी वंश में राजेन्द्रवर्मन् नामक एक शासक भी हुआ जिसकी मां

४ मास्पेरो बु इ फा १८, अं ३ पृ २९३। सिडो, ए० हि० पृ १४९।

५ सिडो इन्स्क्रिप्शन्स (अ इ) पृ ११२। सिडो ए हि पृ १४८।

६ मजुमदार, कम्बुज देश, पृ ९८।

७ सिडो ए हि पृ १५२।

८ 'आसीदनिन्दितपुरेश्वरवंशजातः, श्री पुष्कराक्ष इति शम्भुपुरस्तराजः।' प्रह्-खत मे-बोन और प्रे-रूप के आधार पर निम्नलिखित वंशावली बनायी जा सकती है—

व्याधपुर के अधिराजवंश की थी और उसने भी शम्भुपुर में राज्य किया।[8] शम्भुपुर की समानता मेकांग पर स्थित सम्भोर से की गयी है।[9] इन लेखों में उल्लिखित दो अन्य राज्य अनिन्दितपुर और व्याधपुर थे। आमोनिये के मतानुसार व्याधपुर की समानता प्राई वनाम के अंगोर-बोराई से की जा सकती है पर सिदो इसे बा-नाम पहाड़ी के बीच रखते हैं और कदाचित् इससे प्राचीन फूनान का संकेत था। अनिन्दितपुर के विषय में सिदो का मत है कि यह अंकोर के पूर्व तथा प्रसिद्ध सरोवर
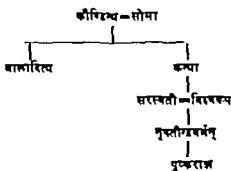
८ तद्वंश्यो व्याधपुराधिराज
संतानसंवर्धितभानुवंशः।
राजेन्द्रवर्मोऽपि पुर्नकृतानि।
रचाय च शम्भुपुरेऽपि राज्यम्।
बह्-बान लेख ५ ३ मजुमदार, नं १ पृ ७६।

९ आमोनिये कम्बुज लेख भाग १ पृ ३ ९। सिदो के मतानुसार शम्भुपुर की समानता निश्चित रूप से मेकांग पर स्थित सम्भोर से की जा सकती है जैसा कि आमोनिये का मत है। शम्भुपुर का उल्लेख सम्भोर से ३ किलोमीटर की दूरी पर मिले एक लेख में भी है और वहाँ प्राचीन भग्नावशेष भी मिले हैं जिनसे प्रतीत होता है कि यह स्थान ७-८वीं शताब्दी में प्रसिद्ध था। सम्भोर से ५ किलोमीटर दक्षिण-पूर्व में प्र-बान-बान के लेख में ७१६ ई (शक सं ६३८) में पुष्कर द्वारा श्री पुष्कराक्ष देवता की मूर्ति-स्थापना का उल्लेख है। (बु इ फ्रा भाग १८ पृ १११)।

के उत्तर में होना चाहिए।[11] इन तीन छोटे राज्यों में पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्ध तथा संघर्ष होना स्वाभाविक था। कुछ विद्वानों के मतानुसार शम्भुपुर और व्याधपुर राज्यों का एकीकरण राजेन्द्रवर्मन् के समय में हुआ पर लेखों में केवल व्याधपुर की कुमारी के साथ राजेन्द्रवर्मन् के विवाह का उल्लेख है। यदि व्याधपुर की समानता बो-नोम (प्राचीन फूनान) से मान ली जाय तो महेन्द्रवर्मन् का, जो राजेन्द्रवर्मन् का प्रपौत्र था, सम्बन्ध प्राचीन राजवंश से स्थापित हो सकता है।

पुष्कर-शम्भुवर्मन् नृपादित्य

प्रा-क्स-कवन पिर क्डो (प्राप्त) के शक सं ६३८ (७१६ ई०) के लेख में पुष्कर द्वारा पुष्करेश की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है (श्रीपुष्कराक्षो विजयत्युर्वि स्थापितः पुष्करेश)।[12] इस पुष्कर की समानता महेन्द्रवर्मन् और राजेन्द्रवर्मन् के लेखों में उल्लिखित पुष्कर से की जा सकती है जो अनिन्दितपुर के शासक बालादित्य का वंशज था। कोचिन चीन में मिले तीन लेख भी इस विषय पर प्रकाश डालते हैं। प्रथम लेख[13] थप-मई (कोचिन-चीन) में मिला और इसमें सम्राट् शम्भुवर्मन् द्वारा पुष्कराक्ष की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है। इसी मन्दिर का उल्लेख वहीं पर मिले दूसरे लेख में भी है[14] जिसमें मूल स्थान में पुष्कर स्वामी की मूर्ति स्थापना का विवरण है। तीसरा लेख सोन-तुण्ड क्षेत्र में नुई-बये पहाड़ी के निचले भाग से मिला और यह वर्धमान लिंग की स्थापना से सम्बन्धित है।[15] इस पुण्यकर्म का फल राजा नृपादित्य को अर्पित किया गया है। इन लेखों से पता चलता है कि शम्भुवर्मन् तथा नृपादित्य नामक शासकों का कोचिन चीन क्षेत्र पर अधिकार था और उनका

११ ए हि पृ १११।

१२ मजुमदार, कम्बुज लेख नं ५ पृ ५५।

१३ बु इ फ्रा ११ नं ३। मजुमदार, कम्बुज लेख नं १ पृ ११।

१४ बु इ फ्रा १९५५। आसोनिए १ ११९। मजुमदार, कम्बुज लेख नं २१ पृ २६।

१५ बु इ फ्रा १९५७। मजुमदार, कम्बुज लेख नं २८, पृ ३८-४०। इस लेख में वर्धमानेश्वर (विष्णु) की उपासना कही गयी है और वहीं पर एक विष्णु की भी मूर्ति मिली पर शिवलिंग का उल्लेख यह संकेत करता है कि यह शैव लेख है।

पुष्कर राजा के साथ सम्बन्ध था। राजेन्द्रवर्मन् के लेखों में इनमें से किसी का भी उल्लेख नहीं है। कदाचित् यह प्रतीत होता है कि जयवर्मन् प्रथम की मृत्यु के पश्चात् कम्बुज दो राज्यों में बँट गया जिनमें एक की राजधानी शम्भुपुर और दूसरे की अनिन्दितपुर थी। अनिन्दितपुर के शासक अपने को शास्ता और कौण्डिन्य का वंशज मानते थे और यह सम्भव है कि उनका भववर्मन् के वंश के साथ भी कुछ सम्बन्ध रहा हो। पर इन शासकों का विस्तृत इतिहास नहीं मिलता है। शक स ७२५ (८०३ ई०) के एक ख्मेर लेख में ज्येष्ठार्या नामक सम्राज्ञी द्वारा दिए गए दान का तथा तीन व्यक्तियों जयेन्द्र राज्ञी नृपेन्द्र देवी तथा श्री इन्द्रलोक गये शासक का उल्लेख है। यह लेख सम्भोर के एक मन्दिर में खुदा मिला है और इससे यह प्रतीत होता है कि इन व्यक्तियों का शम्भुपुर से सम्बन्ध था। सिदो के मतानुसार स्थल कम्बुज की समानता अनिन्दितपुर और शम्भुपुर के संयुक्त राज्य से की जा सकती है।[16]

जावा और कम्बुज

कम्बुज साम्राज्य की राजनीतिक एकता ८वीं शताब्दी में नष्ट हो चुकी थी और भववर्मन् महेन्द्रवर्मन् तथा ईशानवर्मन् का स्थापित साम्राज्य अब कई टुकड़ों में बँट गया था। अतः विदेशी शक्तियों का कम्बुज की परिस्थिति में हस्तक्षेप करना स्वाभाविक था। शैलेन्द्रों का उत्कर्ष भी इसी समय में हुआ और उनका साम्राज्य सुमात्रा जावा मलय प्रायद्वीप तथा बहुत-से अन्य द्वीपों तक फैल चुका था। चम्पा के उत्तरी भाग तक शै[लेन्द्रों] का अधिकार पहुँच चुका था और कम्बुज को उस भार से भय था। इससे प्रतीत होता है कि कम्बुज देश पर जावा का अधिकार हो चुका था। जावा के राजा संजय के ७३२ ई०[17] के लेख में लिखा गया है कि उसने निकटवर्ती राजाओं को हराया और उनके राज्य पर अधिकार कर लिया। एक अन्य ग्रन्थ 'चरित्र परहयंगन्' में जावा और कांजि पर विजय के पश्चात् संजय

16. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं० ५३ पृ० ५७।
17. ब० इ० फ्रा० ११ पृ० ११।
18. चंगल लेख (चटर्जी और चक्रवर्ती, इंडिया एण्ड जावा, भाग २, पृ० २९ से ४४ तक)।

राजनीतिक अस्थिरता पारस्परिक संघर्ष देश के विभाजन तथा विदेशी आक्रमणों के स्थान पर एकता समृद्धिशालिता संगठन और धार्मिक तथा कलात्मक क्षेत्र में विकास इस युग की प्रमुखताएं हैं। इस संगठन और देश को राजनीतिक सूत्र में बांधने का श्रेय जयवर्मन् द्वितीय को है जिसने पचास वर्ष के लम्बे शासनकाल में कम्बुज देश में नवीन स्फूर्ति का संचार किया। स्थल कम्बुज और जल कम्बुज अब मिलकर एक हो गये। देश को स्वतंत्र रखने के लिए सम्राट् ने तांत्रिक शैव मत चलाया और इसमें पारंगत हिरण्यदाम नामक ब्राह्मण को भारत से आमंत्रित किया। उसने शिवकैवल्य को तांत्रिक क्रियाएँ सिखायीं और उसके वंशज २५ वर्ष तक राज्य पुरोहित के पद पर आसीन रहे। जयवर्मन् द्वितीय के कोई लेख नहीं मिलते हैं पर इसके वंशजों के लेखों में इसका विवरण मिलता है।[26] इनके आधार पर जयवर्मन् के वंश सिंहासनारोहण की तिथि उसकी राजधानियों राज्यकाल की प्रमुख घटनाओं तथा राज्य-विस्तार पर प्रकाश डाला जा सकता है।

जयवर्मन् का वंश तथा मूलस्थान

जयवर्मन् के पूर्वजों का कुछ पता नहीं चलता है पर इसका सम्बन्ध अनिन्दितपुर के पुष्कराक्ष से अवश्य था जैसा कि प्रह्-बत के लेख से प्रतीत होता है। उस लेख के अनुसार जयवर्मन की नानी की माँ पुष्कर की बहिन थी। अपनी माँ की ओर से इसका सम्बन्ध कम्बुज के प्राचीन राज्य से सम्बन्ध था। अतः यह कम्बुज के लिए आगन्तुक न था। लोम-सदक के लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि इसने एक नवीन वंश चलाया और इसकी उपमा सरोवर से निकले कमल से की गयी है।[27]

२६. इस सम्बन्ध में निम्नलिखित लेख उल्लेखनीय हैं—

(अ) जयवर्मन् तृतीय का शक सं. ८ ५ का प्रसत-कोक पो लेख। मजुमदार, नं. ५८।

(ब) यशोवर्मन् का शक सं. ८११ का प्रह्-बत लेख। वही, नं. ६ ।

(स) इसी सम्राट का शक सं. ८१७ का लोम-सदक लेख। वही नं. ७१।

(द) उदयादित्य वर्मन् द्वितीय का स्दोक-काक लेख। वही नं. १५२।

२७ यो जन्मसरसीश्वर्ये राजपद्मोऽतिनिर्मले।
सर्वाधम्महृत्पद्मे पद्मसंज्ञस्ततीति ॥ नं. ७१ श्लो. ५-८।

इस सम्बन्ध में कुछ अन्य लेख भी प्रकाश डालते हैं। इन्द्रवर्मन् के प्रह्न कोह के शक सं ८ १ के लेख में जयेन्द्राधिपतिवर्मन् को जयवर्मन् द्वितीय का मामा कहा गया है।[२८] इन्द्रवर्मन् का गुरु शिवसोम जयेन्द्राधिपति का दौहित्र था। शिवसोम का उल्लेख स्दोक-काक के लेख मे भी हुआ है। ८ १ ई के एक और लेख मे सम्राज्ञी ज्येष्ठार्या के नाम के साथ जयेन्द्र सम्राज्ञी नृपेन्द्रदेवी और भी इन्द्रलोक पर शासक के नाम मिलते हैं। यह लेख वठ-स्सर मन्दिर में मिला जो सम्बोर में स्थित है। अतः इस लेख के अनुसार इस जयेन्द्र का शंभुपुर से सम्बन्ध था। यदि जयेन्द्र और जयेन्द्राधिपति की समानता मान ली जाय तो जयवर्मन् द्वितीय का शंभुपुर राज्य से सम्बन्ध था और वास्तव में कम्बुज के राज्य पर मातृक अथवा पैतृक रूप से उसका अधिकार पहुँचता था।

यशोवर्मन् और राजेन्द्रवर्मन् के लेखों से उक्त वंशावली के अनुसार[२९] जयवर्मन्

२८ मजुमदार, कम्बुज लेख नं ५४ पृ ६ अन्त । वही नं ५६ पृ ५१। आमोनिये कम्बुज भाग १ पृ ३ ५। मह-नात लेख मजुमदार नं ६ पृ ७४।

२९ वंशावली—

- नृपतीन्द्रवर्मन्
  - कन्या
    - ×
    - कन्या
      - जयेन्द्राधिपतिवर्मन्
        - कन्या
          - शिवसोम
      - कन्या
        - जयवर्मन् — धर्मेन्द्रदेवी (८ २-८ ५ ई)
          - जयवर्मन् तृतीय (८५०-८७७ ई)
  - पुष्कराक्ष
    - क्षत्रिय — कन्या
      - जयवर्मन् — धर्मेन्द्रदेवी
      - पृथ्वीन्द्रवर्मन् — पृथ्वीन्द्रदेवी
        - इन्द्रवर्मन् (८७७-८८९)
          - यशोवर्मन् (८८९ ई)
- नृपतीन्द्रवर्मन्
  - क्षत्रिय — कन्या
  - राजवर्मन् — कन्या
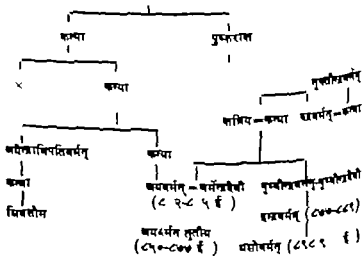
और उसकी सम्राज्ञी का राजवंश से सम्बन्ध था। पुष्कराक्ष ने या यशोवर्मन् का आविर्भाव या शंभुपुर और अनिन्दितपुर पर राज्य किया। इसके साथ जयवर्मन् द्वितीय के सम्बन्ध का उल्लेख पहले हो चुका है। इसकी सम्राज्ञी पृथ्वीन्द्रवर्मन् की बहिन थी जो इन्द्रवर्मन् का पिता और यशोवर्मन् का पितामह था। पर उदयादित्य-वर्मन् द्वितीय के स्डाक-काक के लेख के अनुसार सम्राट् परमेश्वर जयवर्मन् द्वितीय जावा से इन्द्रपुर में राज्य करने के लिए आया था। इसका गुरु शिवकैवल्य था। *सम्राट् ने क्रमशः अपनी राजधानियाँ इन्द्रपुर से हरिहरालय अमरेन्द्रपुर, महेन्द्र* पर्वत तथा पुनः हरिहरालय बनायी। महेन्द्रपर्वत पर हिरण्यदाम नामक एक ब्राह्मण को जनपद (कदाचित् भारतीय जनपद) से आमंत्रित किया गया और उसने वहाँ तान्त्रिक प्रक्रिया का प्रयोग किया जिससे कम्बुज जावा के नियन्त्रण में फिर न रहे। इस ब्राह्मण ने शिवकैवल्य नामक ब्राह्मण को तान्त्रिक पूजा की शिक्षा दी। राजनीतिक तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस लेख का विशेष महत्त्व है। इससे प्रतीत होता है कि जयवर्मन् जावा से कम्बुज आया और उसने पहले जावा के अधीन होकर राज्य करना स्वीकार किया पर थोड़े समय बाद परिस्थिति से लाभ उठाकर अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। सिदो के मतानुसार शैलेन्द्रों का अधिकार क्षीण होने पर यह चम्पा से लगभग ८ ई में कम्बुज आया था और बहुत से प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्र रूप से दृढ़तापूर्वक इसने ८ २ ई से राज्य करना आरम्भ किया। उस समय देश में अराजकता थी और कदाचित् कोई शासक न था अथवा देश कई प्रतिद्वन्द्वियों में विभाजित था। इस युवक ने कम्बुज के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया।

राज्याभिषेक

जयवर्मन् के सिंहासनारूढ़ होने की तिथि शक सं ७२४ (८ २ ई) मान ली गयी है। यह तिथि यशोवर्मन् तथा सूर्यवर्मन् के कई लेखों के आधार पर निर्धारित की गयी है। प्रसतकाक के शक स ८ ५ (८८३ ई) के लेख के अनुसार जयवर्मन्

१ ८ १ ई के एक लेख में ज्येष्ठार्या नामक रानी के दान का वर्णन है जो सम्भोर में दिया गया था। इसका उल्लेख पहले ही हो चुका है। (सिदो ए हि पृ १६२)

द्वितीय का राज्याभिषेक शक सं ७२४ (८ २ ई) में हुआ था।[11] डा मजुमदार ने सिदो द्वारा प्रकाशित सोदोक थोम लेख का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उक्त विद्वान् के मतानुसार इस लेख में जयवर्मन् के राज्य करने का उल्लेख है (श्रीजयवर्म्मणि नृपतौ शासति पृथ्वीं समुद्रपर्यन्ताम्) और इसकी समानता उन्होंने जयवर्मन् द्वितीय से की है। शक संवत् ७२४ (८ २ ई) का लेख जयवर्मन् के राज्याभिषेक की तिथि का संकेत नहीं करता है वरन् इसमें महेन्द्रपर्वत पर राजधानी स्थापित करने की तिथि दी है।[12] सिदो ने अपने नये ग्रन्थ में जयवर्मन् द्वितीय द्वारा कम्बुज पर दृढ़ता से शासन करने की तिथि ८ २ ई मान ली है अतः इस विषय पर पुनः विचार आवश्यक है।

राज्यकालीन घटनाएँ

जयवर्मन् द्वितीय ने कम्बुज लौटने पर वहाँ की राजनीतिक अराजकता को दूर करने की चेष्टा की और छोटे-छोटे राज्यों के स्थान पर विशाल कम्बुज देश को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। इस सम्बन्ध में स्दोक-काक थोम लेख के अनुसार उसने कई राजधानियाँ बदली जिसका मूल कारण राजनीतिक परिस्थिति रही होगी। जयवर्मन् ने सर्वप्रथम इन्द्रपुर को अपना केन्द्र बनाया। गुरु शिवकैवल्य उसका पुरोहित हुआ और सम्राट् के साथ वह पूर्वदिश विषय आया, जहाँ सम्राट् ने उसके तथा उसके कुटुम्ब के रहने के लिए भूमि दी और कुटी नामक ग्राम बसाया तथा वह उसे अर्पित कर दिया (पद ११-१४)। इसके बाद सम्राट् हरिहरालय नगर आया और शिवकैवल्य भी उसके साथ था (११ ११)। तत्पश्चात् सम्राट् ने अमरेन्द्रपुर की स्थापना की और शिवकैवल्य भी उसके साथ रहा। वहाँ उसने भवालय नामक ग्राम में अपने कुटुम्बियों को कुटी से बुलाकर

११ मजुमदार, कम्बुज लेख नं ५८ पृ ७ पद ४।

१२ सिदो बु इ फ्रा भाग २८ पृ ११९। मजुमदार, ऐ० पो इ सो भाग १ पृ ५२ (कम्बुज देश पृ ८१)। डा मजुमदार के मतानुसार इन लेखों में जयवर्मन् के राज्याभिषेक की तिथि का उल्लेख है और इसे शक सं ७२४ (८ २ ई) में ही रखना चाहिए। सिदो ने अपने ग्रन्थ में भी ८ २ ई से इसका कम्बुज पर दृढ़ता से शासन करना निर्धारित किया है। ए हि पृ ११८

बसाया। गंगाधर नामक एक सम्बन्धी ब्राह्मण ने वहाँ शिवलिंग की स्थापना की (६६–६९)। वहाँ से सम्राट् महेन्द्रपर्वत आया और शिवकैवल्य भी सम्राट् के साथ था। यहीं पर हिरण्यदाम नामक भारतीय ब्राह्मण ने शिवकैवल्य को तांत्रिक ग्रन्थों की शिक्षा दी (६९-७८)। अन्त में सम्राट् पुनः हरिहरालय आया और जीवन के अन्तकाल तक रहा। शिवकैवल्य और उसके सम्बन्धी भी सम्राट के साथ रहे। इन प्राचीन नगरों की पहचान निकालने के लिए फ्रांसीसी विद्वानों ने प्रयास किया है।[13]

इन्द्रपुर के विषय में सिदो का मत है कि यह कौमपोंग प्रान्त के थ्बोंग-क्मुम क्षेत्र में था और इसकी पहचान वर्तमान बन्ते प्राई नाकोर से की जा सकती है। यहाँ पर मिले भग्नावशेष भी कला की दृष्टि से प्राचीन हैं और ९वीं शताब्दी के प्रतीत होते हैं।[14] स्टर्न के मतानुसार इसकी समानता अंकोर के निकट बाके से की जा सकती है।[15] कुटी ग्राम अंकोर थाम से पूर्व में स्थित था और इसकी समानता बन्ते कदाई से की जा सकती है जहाँ के मन्दिर भी प्राचीन हैं।[16]

हरिहरालय में जयवर्मन् ने अपने राज्यकाल का अधिक भाग बिताया। आमोनिये ने इसकी समानता अंकोर के उत्तर में प्रह्-खन से की है। सिदो के मतानुसार[17] इन्द्रवर्मन् ने बहुत-से मन्दिर हरिहरालय में बनवाये जहाँ वह बहुत समय तक रहा और ये मन्दिर अंकोर से ११ मील दक्षिण-पूर्व में रलोह् के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसलिए उसने हरिहरालय को इसी क्षेत्र में रखा जहाँ वर्तमान लोले है। कोक-

१३ सिदो ने 'जयवर्मन् द्वितीय की राजधानियाँ' सम्बन्धी अपने लेख में इन प्राचीन नगरों की पहचान निकालने का प्रयास किया है। बु इ फ्रा भाग २८, पृ ११७-१९। स्टर्न ने भी इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। (बु इ फ्रा १८, पृ १११)।

१४ पार्मांतिये आर्ट ख्मेर प्रिमिटिव (प्राचीन ख्मेर कला) पृ २ ६।

१५ बु इ फ्रा १८, पृ १११।

१६ इस स्थान के तीन प्राचीन मन्दिरों को कुटीश्वर नाम से सम्बोधित किया गया है। विशेष विवरण के लिए देखिए बु इ फ्रा ३७, पृ ३३३-४७ तथा फर्न इंस्टीट्यूट, बि इ भा १९३ पृ १४ १६।

१७. ए हि पृ १७ ।

स्वे प्रह्रा के लेख[३८] से इसकी पुष्टि होती है। जयवर्मन् ने दो बार यहां अपनी राजधानी बनायी और यहा ही उसकी मृत्यु हुई। उसके उत्तराधिकारियो ने भी यशोवर्मन् के समय तक यहां राज्य किया। यशोवर्मन् ने यशोधरपुर नामक नगर बसाया।

अमरेन्द्रपुर की समानता आमोनिए ने बन्ते-चमर से की है[३९] और ग्रोसलिए ने इसकी पुष्टि की[४०] पर बन्ते-चमर का मन्दिर १२वीं शताब्दी का प्रतीत होता है और इसे जयवर्मन् के समय का नहीं कहा जा सकता है, जैसा कि स्टर्न का विचार है। सिदो के मतानुसार यह प्राचीन स्थान बटम-बंग के उत्तरी भाग में ही रहा होगा।[४१]

अन्तिम स्थान महेन्द्रपर्वत की जो जयवर्मन् तथा शिवकैवल्य से सम्बन्धित था समानता आमोनिए ने अङ्कोर थोम से उत्तर पश्चिम में नोम-कुलेन से की है और फिनो ने इसे ग्रंथ-माला के अवशेषों में रखा है। नोम-कुलेन की पहाड़ी पर ईंटों के कुछ अवशेष हैं जो प्राचीन ख्मेर और इन्द्रवर्मन् की कलाओं के मध्यगुग के हैं। इसलिए महेन्द्रपर्वत की समानता नोम-कुलेन से की जा सकती है।[४२]

जयवर्मन् के राजधानियों के बदलने का कारण कदाचित् देश की राजनीतिक परिस्थिति रही होगी। शम्भुपुर के निकट इन्द्रपुर में उसने अपनी प्रथम राजधानी बनायी और वहां से वह पश्चिम की ओर बढ़ा तथा धीरे-धीरे उसने कम्बुज देश पर अपना अधिकार जमाया। अन्त मे हरिहरालय में सम्राट् ने अपनी राजधानी

३८. शक सं ८९१ के न्व ख्मेर लेख में हरिहरालय के प्रामभृत और गुरु-प्रधान के नाम किसी आदेश का उल्लेख है, तथा कुछ अन्य प्रमुख व्यक्तियों के नाम भी मिलते हैं। इस लेख में हरिहरालय के प्राचीन स्थान की समानता रलो अस्तिदे से की जा सकती है। मजुमदार, कम्बुज, लेख नं १ ७ पृ २८।

३९. कम्बुज भाग १ पृ ४७ ।

४० बु इ फ्रा ९, पृ १५९ से।

४१ बु इ फ्रा १८, पृ १८ से।

४२ बारे के पश्चिम में कुछ प्राचीन मन्दिरों के भग्नावशेष मिले हैं जो अङ्कोर कला के प्रारम्भिक युग के हैं और कुलेन कला से पहले के हैं। (प हि पृ १०१)

४३ कम्बुज भाग १ पृ ४९८। बु इ फ्रा भाग २८, पृ ११२। स्टर्न, बु इ फ्रा भाग ३८ पृ १५१ से। सिदो प हि पृ ११२।

बनायी और वहीं उसकी मृत्यु हुई। या मजुमदार के मतानुसार[४४] जयवर्मन् को अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए इधर-उधर घूमना पड़ा हो और उसका राज्य काल इतना शान्तिमय न रहा हो जैसा कि विचार किया जाता है।

वैदेशिक सम्बन्ध

जयवर्मन् को चम्पा की ओर से भी सतर्क रहना पड़ा। हरिवर्मन् के पो-नगर लेख[४५] के अनुसार उसके एक सेनापति ने कम्बुज में घुस कर देश को बड़ी क्षति पहुँचायी। इस लेख की तिथि शक सं. ७३९ (८१७ ई.) है अतः यह घटना जयवर्मन् के राज्यकाल की ही है। हो सकता है कि इसी कारण से जयवर्मन् को इन्द्रपुर तथा अंकोर का क्षेत्र छोड़कर अपनी राजधानी पश्चिम में ले जानी पड़ी हो। चम्पा की ओर से यह आक्रमण कम्बुज के लिए विशेष रूप से हानिकारक नहीं सिद्ध हुआ क्योंकि जयवर्मन् ने ४८ वर्ष तक राज्य किया।

वैवाहिक सम्बन्ध

लेखों में सम्राट् के वैवाहिक सम्बन्धों का भी उल्लेख है। उसकी अग्र-महिषी पवित्रा का नाम प्रसत-त-कम लेख में मिलता है।[४६] दूसरी रानी कम्बुजलक्ष्मी थी जिसे प्राणा भी कहा गया है और इसका उल्लेख शक सं. ८१५ के प्रसत-त-कम लेख में है[४७] जिसमें इसके उच्च पदों पर आसीन सम्बन्धियों का भी विवरण है। पे-कू लेख में रानी धरणीन्द्रदेवी का नाम मिलता है और उसे जयवर्द्धन अथवा जयवर्मन् तृतीय की माता कहा गया है।[४८] कुछ विद्वानों ने शक सं. ७२५ के लेख

४४ कम्बुज देश, पृ. ८२।

४५ मजुमदार, चम्पा भाग ३ पृ. ६१। लेख में चम्पा के स्वामी श्री हरिवर्मदेव द्वारा उसके कनिष्ठ पुत्र श्री विक्रान्तवर्मन को पाण्डुरंग के अधिपति पद पर नियुक्त करने का उल्लेख है। उसकी रक्षा के लिए एक महासेनापति पंस था जिसने सिंह की भांति कम्बुज के नगरों को उजाड़ा था (अतिमहन कम्बुजपुरकाननगन पयनदप्रमननैकरागर्दसिंहायमानस्तु)।

४६. मजुमदार, कम्बुज लेख नं. १४८, पृ. १५३।

४७. वही, नं. ७१ पृ. १४१।

४८. मजुमदार, कम्बुज देश, पृ. ८५।

में उल्लिखित ज्येष्ठार्या को भी इस सम्राट् की रानी माना है, पर यह विवादास्पद है। जयवर्मन् के पुत्रों में जयवर्धन के अतिरिक्त कम्बुजलक्ष्मी का पुत्र धर्मवर्द्धन भी था पर जयवर्मन् के बाद जयवर्द्धन ही सिंहासन पर बैठा।[४८]

राज्य-विस्तार और अन्तर

जयवर्मन् ने ४८ वर्ष तक राज्य किया। प्रसत-चक-के लेख के अनुसार शक सं ७९१(८६९) में परमेश्वरपुत्र जयवर्मदेव के राज्यकाल का १६वाँ वर्ष था। अतः जयवर्मन् द्वितीय ने लगभग ८५ ई तक राज्य किया। इतने लम्बे राज्यकाल में उसने देश में एकता स्थापित की। चीनी ग्रन्थ मनु (८६१ ई में लिखित) के अनुसार ख्मेर राज्य उत्तर में चेन-नन (कदाचित् नान्चीराष्ट्र के उत्तरी भाग दक्षिण के पश्चिम) तक विस्तृत था तथा उसमें सम्पूर्ण लाओस भी सम्मिलित था।[४९] अरब लेखक याकूबी ने भी ८७५-८८ ई के लगभग अपने वृत्तान्त में लिखा है कि ख्मेर साम्राज्य वृहत् और शक्तिशाली था और इसके अधीन कई और राज्य थे। इब्न-रोस्तेह ने ९ ३ ई में यहाँ के शासन की प्रशंसा की है, पर उसने कुछ अनगढ़ बातों का भी उल्लेख किया है। जैसे मुर्गों की लड़ाई से ५ मन सोने की नित्य आय होती थी। मसूदी ने इस देश की सेना तथा भौगोलिक परिस्थिति का उल्लेख किया है। इब्न खोरदादबेह (८४४-८४८) ने यहाँ के नैतिक स्तर को सराहा है कि ख्मेर सम्राट् ने शराब और व्यभिचार का पूर्णतया निषेध कर दिया था जिसकी पुष्टि इब्नरोस्तेह (९ ३ ई) ने भी की है।

जयवर्मन् तृतीय

मिडो के मतानुसार जयवर्मन् द्वितीय की मृत्यु ८५ ई में हुई पर डा

४९. वही।
५ मजूमदार, कम्बुज लेख नं १५ पृ ३६१।
५१ ट ए २ पृ ९४। मजूमदार, कम्बुज देश पृ ८९।
५२ फेरां टैक्स्ट्स १ पृ ४८। मजूमदार वही पृ ९०।
५३ मजूमदार कम्बुज देश पृ ९ ।
५४ वही।

मजुमदार इसे ८५४ ई. में रखते हैं।[५९] मृत्यु के उपरान्त इसे परमेश्वर नाम से सम्बोधित किया गया। इसके बाद इसका पुत्र जयवर्द्धन जयवर्मन तृतीय के नाम से सिंहासन पर बैठा। प्रसत-चक के लेख के अतिरिक्त इस सम्राट् का न तो कहीं उल्लेख है और न इसके विषय में कोई जानकारी प्राप्त है पर उपर्युक्त चीनी और अरबी वृत्तान्तों के आधार पर कहा जा सकता है कि इसने अपने पैतृक राज्य को सुरक्षित रखा और इसका राज्यकाल शांति एवं सुव्यवस्था का युग था। जयवर्मन् तृतीय की मृत्यु के पश्चात् इन्द्रवर्मन् ने दूसरा राजवंश चलाया।

५९. कम्बुज देश, पृ. ८९।

अध्याय ५

अंकोर राज्य की स्थापना (८७७—१००१ ई०)

जयवर्मन् द्वितीय तथा उसके पुत्र जयवर्मन् तृतीय ने कम्बुज राज्य को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधने तथा देश को शान्तिमय वातावरण और सुव्यवस्थित शासनव्यवस्था प्रदान करने का प्रयास किया जिसका परिचय लेखों के अतिरिक्त हमें चीनी और अरबी वृत्तान्तों से मिलता है। कदाचित् जयवर्मन् तृतीय के कोई पुत्र न था और सिंहासनारूढ़ होने के अनियमित विधान के फलस्वरूप इन्द्रवर्मन् नामक एक अन्य राजकीय वंशज ने शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली। उसके लेखों से पता चलता है कि उसने अनधिकारी रूप से राज्य नहीं प्राप्त किया था, वरन् वह जयवर्मन् के वंश से दूर से सम्बन्धित था। इसके तथा इसके पुत्र के लेखों के आधार पर हम इसकी वंशावली तथा राज्यकाल की मुख्य घटनाओं पर प्रकाश डाल सकेंगे। इन्द्रवर्मन् और उसके पुत्र यशोवर्मन् ने कला और साहित्यिक क्षेत्र में भी योगदान किया जिसका विवरण अन्य अध्यायों में किया जायगा। राजनीतिक दृष्टिकोण से इस युग में अंकोर राज्य की स्थापना हुई, जिसने आगे चलकर विशाल साम्राज्य का रूप धारण किया और इसका लोहा निकटवर्ती चम्पा तथा स्याम के शासक भी मानने लगे। साम्राज्य की उत्तरी और पश्चिमी सीमाएं भी पूर्णतया विस्तृत हुईं।

वंशावली

इन्द्रवर्मन् के लेखों में सर्वप्रथम सियमराप प्रदेश में स्थित प्राह-को मन्दिर में मूर्ति पर लिखा शक सं ८ १(८७९ ई) का एक लेख है[1] जिसके अनुसार सम्राट् का राज्याभिषेक ७९९(८७७ ई) में हुआ था। इस लेख में इन्द्रवर्मन् की

१ मजूमदार, कम्बुज लेख सं ५६, पृ ६१ से।

वंशावली भी दी हुई है। इन्द्रवर्मन् का पिता क्षत्रिय पृथ्वीवर्मन् था और इसकी माँ सम्राज्ञी रुद्रवर्मन् की पुत्री थी और नृपतीन्द्रवर्मन् की दौहित्री थी। इसी रुद्रवर्मन् की भांजी जयवर्मन् द्वितीय को ब्याही थी और इनका पुत्र जयवर्मन् तृतीय था। अतः इन्द्रवर्मन् अपने नाना की ओर से जयवर्मन् द्वितीय से सम्बन्धित था। इसी सम्राट् के प्रसत कडोक[1] (स्तुत मिकोम प्रान्त में प्राप्त) शक सं ८ १ (८७९ ई) के लेख में इन्द्रवर्मन् के गुरु शिवसोम का जयवर्मन् द्वितीय के साथ सम्बन्ध दिखाया गया है। इस गुरु ने भगवान् शंकर के चरणों में शास्त्रों का अध्ययन किया था। यह जयेन्द्राधिपति का पौत्र था जो जयवर्मन् का मातुल था (महन्द्राद्रिस्थभूपाल-मातुलस्य महामनः, य श्रीजयेन्द्राधिपतिवर्म्मेत्य=स्तमयस्तमतः। पद ३)। इन्द्रवर्मन के पुत्र यशोवर्मन् के दो लेखों के आधार पर इसकी वंशावली विस्तृत रूप से प्रस्तुत की जा सकती है। यशोवर्मन् के प्राह्-बत (की प्राई प्रदेश) से प्राप्त ८११ के लेख तथा अंकोरवाट से १ मील दक्षिण-पूर्व में लोले से प्राप्त लेखों के आधार पर इस वंश का सम्बन्ध प्राचीन अनिन्दितपुर, व्याधपुर तथा शंभुपुर राजवंशों से था। इन्द्रवर्मन् की सम्राज्ञी इन्द्रदेवी महीपतिवर्मन् नामक सम्राट् की पुत्री थी जो राजेन्द्रवर्मन् और उसकी सम्राज्ञी नृपतीन्द्रदेवी का पुत्र था। राजेन्द्रवर्मन् का किसी अन्य वंशज द्वारा पुष्कराक्ष से सीधा पैतृक सम्बन्ध था जो अनिन्दितपुर में राज्य करता था (७१६ ई)। इन्द्रवर्मन् की रानी इन्द्रदेवी की माँ राजेन्द्रदेवी राजपतिवर्मन् तथा नरेन्द्रलक्ष्मी की पुत्री नरेन्द्रवर्मन् की पौत्री तथा अगस्त्य नामक एक ब्राह्मण और यशोमती की प्रपौत्री थी। इन्द्रवर्मन् पृथ्वीन्द्रवर्मन् का पुत्र था जिसकी बहिन धरणीन्द्रदेवी जयवर्मन् द्वितीय को ब्याही थी। पृथ्वीन्द्रवर्मन् स्वतः क्षत्रियकुमार था और इसकी स्त्री पृथ्वीन्द्रदेवी रुद्रवर्मन् की पुत्री थी जैसा कि पहले कहा जा चुका है। अगले पृष्ठ की वंशावली से यह प्रत्यक्ष रूप से प्रतीत हो सकेगा।

२ वही, नं ५४ पृ ५७। सिदो इ क १ पृ ३७।
३ मजुमदार, कम्बुज लेख नं ६ पृ ७४ से।
४ वही, नं ६१ पृ ८१ से।
५. उपर्युक्त वंशावली सिदो तथा मजुमदार के ग्रन्थों पर आधारित है।

अगस्त्य
(भारतीय ब्राह्मण)
=
यशोमती
राजकन्या
अज्ञात
नृपतीन्द्रवर्मन् व्याधपुर शंभुपुर पुष्कराक्ष
नरेन्द्रवर्मन् = ×
कन्या = पुत्र
नरेन्द्रलक्ष्मी
राजेन्द्रवर्मन् राजपतिवर्मन् =
= नृपतीन्द्रवर्मन्
महीपतिवर्मन् = राजेन्द्रदेवी
यशोवर्मन्
(८९१-९)
जय
वर्मन्
द्वितीय
(८ २-८५)
पृथ्वीन्द्रवर्मन् = पृथ्वीन्द्रदेवी
जयवर्मन् तृतीय
(८५ ८७७)
इन्द्रवर्मन् इन्द्रदेवी
(८७७-८९९)

उपर्युक्त वंशावली से यह प्रतीत होगा कि इन्द्रदेवी की ओर से सम्राट् इन्द्रवर्मन् का व्याधपुर और शंभुपुर नामक प्राचीन राज्यों पर अधिकार पहुँचता था और उसका पिता पृथ्वीन्द्रवर्मन् वहीं का स्थानीय शासक रहा होगा। नृपतीन्द्रवर्मन् रुद्रवर्मन् और पृथ्वीन्द्रवर्मन् की तिथि के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है। या तो जयवर्मन् से पहले से स्थानीय शासक थे अथवा जयवर्मन् के सामन्त थे। इन्द्रवर्मन् और उसके पुत्र यशोवर्मन् के लेखों में जयवर्मन् द्वितीय और तृतीय को आदरणीय स्थान दिया गया है और उनका गुरु शिवसोम जयवर्मन् द्वितीय के मातुल का पौत्र था।

मुख्य घटनाएँ

इन्द्रवर्मन् के १२ वर्ष के राज्यकाल (८७७ से ८८९) की मुख्य घटनाओं का विस्तृत उल्लेख कहीं नहीं मिलता पर लेखों में संकेत है कि इसने दूर तक विजय प्राप्त की। एक लेख में लिखा है कि इसके अनुशासनों का पालन चीन चम्पा और यवद्वीप में होता था। चम्पा के साथ पहले भी संघर्ष हुआ था और वहाँ के एक सेनापति ने कम्बुज में घुसकर बड़ी क्षति पहुँचायी थी। अतः उस देश के साथ पुनः संघर्ष होना अस्वाभाविक बात न थी। चम्पा में उस समय इन्द्रवर्मन् ने एक नवीन वंश की स्थापना की थी और उपर्युक्त लेख से चम्पा के प्रति सम्बन्ध की न तो पुष्टि ही हो सकती है और न खंडन किया जा सकता है। जावा में इस समय मध्य जावा के मतराम राज्य का अन्त हो चुका था और पूर्वी भाग राजनीति का केन्द्र बन चुका था। चम्पा और जावा के बीच राजनीतिक सम्बन्ध का उल्लेख हमें मिलता है और यह प्रतीत होता है कि इन्द्रवर्मन् ने कम्बुज के दोनों शत्रुओं को उनकी उग्र नीति अपनाने का अवकाश ही नहीं दिया। यह कहना कठिन है कि वे दोनों कम्बुज के अधीन थे पर इन्द्रवर्मन् के लिए कम्बुज की बढ़ती हुई शक्ति

६. प्रसत-कंडोल लेख मजुमदार नं ५४ पृ ५७।
"चीन-चम्पा-यवद्वीपभूभृत्तुंगमस्तके।
यस्याज्ञा-मालतीमाला-निर्मला चम्पकायते॥" (पद २)। सिदो के मतानुसार यह वृत्तान्त बढ़ा-चढ़ाकर दिया गया है (ए हि पृ १८९)।
७. मजुमदार चम्पा लेख नं २९ पृ ६२।

का अवश्य संकेत करते हैं। चीन के विषय में यह संभव है कि दक्षिण के कुछ राज्य जो पहले चीन का आधिपत्य स्वीकार कर चुके थे अब कम्बुज के अधीन हो गये हों।

राज्य विस्तार

उत्तर में कम्बुज का राज्य चीनी प्रान्त युनान तक पहुँच चुका था। चीनी स्रोतों के अनुसार नन-चाओ राज्य के अन्तर्गत जिसे थाई ग्रन्थों में मिथिला एवं कहा है युनान का उत्तरी भाग था। उसके दक्षिण में आल्वी राष्ट्र था जिसमें दक्षिणी युनान था। ८१२ ई. में आल्वी का उत्तरी भाग कम्बुज राज्य की सीमा थी। इन्द्रवर्मन् तथा यशोवर्मन् के लेखों से यह संकेत होता है कि उसके राज्य में चीनी नन चाओ (थाई मिथिला राज्य) सम्मिलित हो चुका था। योनक देश जिसके अन्तर्गत आल्वी राष्ट्र और हरिपुंजय के राज्य थे एक ख्मेर शासक द्वारा सुवर्ण ग्राम की स्थापना का उल्लेख था। यही आगे चलकर चिएन-सेन के नाम से राजधानी बनी। इन स्रोतों के आधार पर कम्बुज साम्राज्य की उत्तरी सीमा युनान तक पहुँच चुकी थी। पश्चिम में इसकी सीमा मीनम की घाटी तक पहुँची थी और स्याम का लोपबुरि भी इसी साम्राज्य में था। उत्तर में कई छोटे-छोटे राज्य भी कम्बुज के अधीन थे। ये क्रमशः दक्षिण से सुखोदय योनक राष्ट्र और क्षेमराष्ट्र थे। अन्तिम राज्य की सीमा आल्वी राष्ट्र से मिलती थी। स्याम के स्थानीय वृत्तान्तों के अनुसार यह कम्बुज राज्य के अधीन थी और कम्बुज-शासक ने उम्मार्ग शिलानगर नामक एक गढ़ स्थान की स्थापना की थी जिससे मेनाम और मीनम नदियों की घाटियों पर नियंत्रण रखा जा सके। यह कहना कठिन है कि इन्द्रवर्मन् के समय में ही कम्बुज साम्राज्य मीनम की घाटी तक पहुँच चुका था, पर इसमें सन्देह नहीं कि कम्बुज-शासक वहाँ के छोटे-छोटे राज्यों पर अपनी सत्ता स्थापित किये हुए थे।

यशोवर्मन्

इन्द्रवर्मन् ने १२ वर्ष तक राज्य किया (८७७–८८९ ई.) और मरने पर

८. मजुमदार, कम्बुज देश पृ. १२।
९. वही पृ. ११।

थोट)।[१६] चीन से कदाचित् नन-चाओ राज्य का संकेत है जो एक चीनी ग्रन्थ के अनुसार नवीं शताब्दी के दूसरे भाग में कम्बुज का आधिपत्य स्वीकार कर चुका था।[१७] यशोवर्मन् के लेख उत्तर में लाओस से लेकर स्याम की खाड़ी के बीच कम्पचुन और हा-तिएन के क्षेत्र में पाये गये थे।[१८]

विद्वत्ता और धार्मिक कृत्य

यशोवर्मन् के लेखों से हमें उसकी विद्वत्ता का भी पता चलता है। इसका श्रेय उसके पिता इन्द्रवर्मन् को था जिसने शिवसोमस्य के पौत्र वामशिव की नियुक्ति इसकी शिक्षा-दीक्षा के लिए की थी। एक अन्य लेख में इसे 'महाभाष्य' का टीकाकार कहा गया है। इसी लेख में नागेन्द्र का भी उल्लेख है।[१९] सम्राट् शास्त्रों और काव्यों का प्रेमी था और उसके लेखों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि वह धार्मिक और लौकिक साहित्य का प्रेमी था। यशोवर्मन् के बहुत-से लेखों में या तो धार्मिक बातों का उल्लेख है अथवा विहारों के निर्माण का विवरण है, जो उसने अपने राज्य-काल के प्रथम वर्ष से ही साम्राज्य के विभिन्न भागों में बनवाये। यशोधर-आश्रम भी प्रथम वर्ष में गणेश की उपासना के लिए बना। सम्राट् के धार्मिक विचार उच्च थे और इन आश्रमों के निर्माण में उसने उदारता दिखायी। स्वयं शैव होते हुए भी वह वैष्णव और बौद्ध धर्मों का आदर करता था। प्रह-बत और लोले के लेखों से पता चलता है कि ब्राह्मण-आश्रम शैव पाशुपत तथा सात्वतों के लिए निर्मित किये गये और सौगताश्रम बौद्धों के लिए था।[२०] सम्राट् ने ८९१ ई० में इन्द्रतटाक के बीच में राजधानी के उत्तर की ओर एक विहार का निर्माण करवाया

१६ वही नं ९६, पृ ११ पद ९७।
१७. बु इ फा १८ (१) पृ ३२। सिडो ए हि पृ ११४।
१८ सिडो : ए हि पृ ११४।
१९. नागेन्द्रनाथविदुष्टयेन माध्यं मोक्तृमदं प्रतिपदं किल साभिनन्दम्।
व्याख्यातपूतेन यशोवर्मविनिर्गतेन पदम् यशोवर्मणे पुनः प्रयुक्तम्॥
मजुमदार, लेख नं ६९, पृ ९६ पद ३४।
२० इन आश्रमों के अवशेषों का पता लगाने का प्रयास किया गया है। बु इ फा ३२ पृ ८५। व ११९। सिडो ए हि पृ १०२-३।

जिसमें उसके माता-पिता तथा पूर्वजों की मूर्तियां रखी गयी। यह आज भी लोले के नाम से प्रसिद्ध है। उच्च शिक्षा के लिए उसने शिवपुर में एक विद्यालय स्थापित किया और वहां के प्राध्यापक ने शैवधर्म के विकास में बहुत भाग लिया। इसके समय में विस्तृत रूप से धार्मिक आश्रमों का निर्माण हुआ और भारतीय संस्कृति तथा साहित्य का ज्ञान विशेष रूप से प्रसारित हुआ। इन लेखों में संस्कृत ग्रन्थों से उद्धृत बहुत-से श्लोक तथा साहित्यिक कवियों के नाम भी मिलते हैं, जिन पर विस्तृत रूप से साहित्य के अध्ययन में विचार किया जायगा। कला के क्षेत्र में भी बड़ी प्रगति हुई। इसके समय में तड़ागों मन्दिरों आश्रमों इत्यादि का निर्माण हुआ और यशोधरपुर नामक नगर की स्थापना हुई, जो १५वीं शताब्दी तक कायम रहा। सिदो के मतानुसार इसकी मृत्यु ९ ई में हुई, पर मजुमदार ने इसे ९ २ में रखा है।[21] मरने के पश्चात् इसका नाम 'परमशिवलोक' रखा गया।

यशोवर्मन् के उत्तराधिकारी

यशोवर्मन् के उत्तराधिकारियों में उसके दो पुत्र हर्षवर्मन् प्रथम और ईशानवर्मन् द्वितीय थे जो क्रमशः एक-दूसरे के बाद गद्दी पर बैठे। उनके बाद यशोवर्मन् का बहनोई जयवर्मन् चतुर्थ के नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ। ईशानवर्मन् द्वितीय के लेखों में बत-चिपेदि (शिवम रैंव) के मन्दिर का वर्णन है। शक सं ८३२ (९१ ई) के लेख में[22] यशोवर्मन् के राज्याभिषेक की तिथि ८११(८८९ ई) और उसके दो पुत्र हर्षवर्मन् प्रथम तथा ईशानवर्मन् द्वितीय का उल्लेख है और यह कि इन तीनों शासकों ने शिवाशिव नामक ब्राह्मण विद्वान् को सम्मानित किया था। बत-चकेंद (बा-नाम पहाड़ी के नीचे) के लेख में[23] यशोवर्मन् के पुत्र हर्षवर्मन् (श्रीहर्षवर्मा स श्रीमद्यशोवर्मसुतकः) द्वारा शिव-मन्दिर के निमित्त दी गयी दासियों का उल्लेख है। अन्तिम बमेर पंक्ति में इसकी तिथि को ८३४ पढ़ा गया है पर वह माना नहीं गया है। इसके अनुसार हर्षवर्मन् ने ९१२ ई में फूनान की प्राचीन राजधानी में एक दान दिया और नोम-बैकेंग की पहाड़ी के नीचे बक्सेई-

२१ ए हि पृ १९४ कम्बुज देश, पृ ९५।
२२ मजुमदार, कम्बुज लेख, नं ७८, पृ १६१ से।
२३ वही नं ७९, पृ १६४।

थंकोंग का मन्दिर भी बनाया।[२४] सिडो के अनुसार[२५] उसने ९२२ ई० तक राज्य किया और मृत्यु के उपरान्त उसे 'रुद्रलोक' के नाम से सम्बोधित किया गया।

ईशानवर्मन् द्वितीय के विषय में जिसे 'परमरुद्रलोक' नाम दिया गया अधिक जानकारी नहीं प्राप्त है। तुओल-कुक (मों प्रदेश बट्टमबंग) के लेख में शक सं० ८४७ (९२५ ई०) में 'परमरुद्रलोक' अथवा ईशानवर्मन् द्वितीय से किये गये निवेदन का उल्लेख है।[२६] शक सं० ८४३ (९२१ ई०) के प्रसत-थोम (को-केर प्रान्त) के मन्दिर के लेख में[२७] जयवर्मन् (चतुर्थ) द्वारा त्रिभुवनेश्वर के निमित्त दान का उल्लेख है। शक सं० ८४४ के दो लेख कॉन-बन[२८] (प्नोम स्तुग प्रान्त) तथा तुओल पाई[२९] (स्तुग प्रान्त) में मिले हैं। प्रथम लेख में सम्राट् जयवर्मन् द्वारा पृथ्वीन्द्रवर्मन् को त्रिभुवनेश्वनाथ की स्थापना सम्बन्धी आदेश देने का उल्लेख है जिसे प्राण नामक एक ब्राह्मण ने दिया था। दूसरे लेख में सम्राट् का नाम ठीक तरह से पढ़ा नहीं जा सका। आमोनिये के मतानुसार[३०] यह ईशानवर्मन् था पर सिडो[३१] इसे हर्षवर्मन् पढ़ते हैं। लेखों की तिथि से कौटुम्बिक कलह और संघर्ष का संकेत होता है। यह प्रतीत होता है कि ईशानवर्मन् द्वितीय के राज्यकाल में जयवर्मन् यशोधरपुर से बाहर चला गया और उसने उत्तर-पूर्व के को-केर, जहां पर कुल-देवता की मूर्ति भी स्थापित की गयी और स्तुग भाग पर अधिकार कर लिया। ईशानवर्मन् की मृत्यु कदाचित् ९२८ ई० में हुई और तब जयवर्मन् सम्पूर्ण कम्बुज देश का शासक हो गया।

२४ बु इ का २८ पृ १२७-८। जू ए मार्च-जून १९ ८ पृ ५१।

२५ ए हि पृ १९५।

२६ मजुमदार, कम्बुज लेख नं० १ ४ पृ २७७। ब ए इ फो १० पृ ९५। यह लेख शक सं० ८९ का है और उस समय ईशानवर्मन् दिवंगत प्राप्त कर चुका था।

२७ मजुमदार, कम्बुज लेख नं० ८ पृ १६६।

२८ वही नं० ८१ पृ १६६।

२९ वही नं० ८२, पृ १६७।

३० आमोनिये कम्बुज भाग १ पृ ४४३।

३१ सिडो, बु इ का ११ पृ १७।

३२ वही, ११ पृ १७। ए हि पृ १९५।

जयवर्मन् चतुर्थ

जयवर्मन् के उपर्युक्त उल्लिखित लेखों से प्रतीत होता है कि इसने स्वतंत्र रूप से अपना राज्य उत्तर-पूर्व में स्थापित कर लिया था पर वैधानिक रूप से उसका सम्पूर्ण कम्बुज देश पर शक सं ८५०-(९२८ ई) तक अधिकार न हो सका। प्रसत-निअम-क्मो के लेख में इसके अभिषेक की तिथि शक सं ८५ दी हुई है।[13] इस सम्राट् के अन्य लेख ८५१ ८५२, ८५४ और ८५९ में को कर (प्रसत-थोम) में मिले हैं।[14] ये ख्मेर भाषा में हैं और आमोनिये के मतानुसार[15] इनमें जयवर्मन् द्वारा दिये गये दानों का उल्लेख है। सिदो ने प्रसत-कम्पप[16] के मन्दिर में मिले एक अन्य ख्मेर लेख का भी उल्लेख किया है जिसमें शक सं ८५ में जयवर्मन् द्वारा त्रिभुवनदेव की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है। शक सं ८५९ में प्रसत-थ्नल-चिरकन के लेख[17] में गणपति को प्रजापतीश्वर देवता के प्रति दान देने का आदेश है। प्रसत-थ्नोल के लेख में[18] शिव गंगा विष्णु, ब्रह्मा उमा भारती कम्बु तथा कम्बुज के सम्राटों की स्तुति के पश्चात् यशोवर्मन् हर्षवर्मन् (प्रथम) ईशानवर्मन् (द्वितीय) तथा जयवर्मन् (चतुर्थ) की प्रशस्ति है और जयवर्मन् द्वारा ८१ हाथ की ऊँचाई पर लिंग स्थापना का उल्लेख है (नवधा नवहस्तान्ते प्रतिमामिद (रति) लिङ्गम्। पद २८)। इसी लेख में यशोवर्मन् हर्षवर्मन् प्रथम ईशानवर्मन् तथा जयवर्मन् चतुर्थ की प्रशंसा की गयी है, जिससे प्रतीत होता है कि जयवर्मन् ने यशोवर्मन् के कुल से अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ा। इस सम्राट् के शासनकाल की राजनीतिक घटनाओं में चम्पा के साथ संघर्ष का संकेत प्रसत-कोक के लेख में मिलता है।[19] जयवर्मन् को मृत्यु के पश्चात् 'परमशिवपद' की उपाधि मिली और इसका उत्तराधिकारी इसका पुत्र हर्षवर्मन् द्वितीय हुआ।

१३ आमोनिये कम्बुज भाग १ पृ १८३।
१४ मजुमदार, कम्बुज लेख नं ८४ पृ १६७।
१५ कम्बुज भाग १ पृ ४ ६-७।
१६ इ क १ पृ ५२।
१७ वही पृ ५५।
१८ मजुमदार, कम्बुज लेख नं ८६ पृ १७१ से।
१९ मजुमदार, कम्बुज देश पृ १५१ नं ८३ (अ)

हर्षवर्मन् द्वितीय

इसके बक्सै-भाई मन्दिर (केपोंग-थोम के उत्तर-पूर्व) में अंकित लेख में इसके अभिषेक की तिथि शक सं ८६४(९४२ ई) है। थोम-बसाय के ८६३ शक सं (९४१ ई) के लेख में[५०] जयवर्मन् चतुर्थ के पुत्र हर्षवर्मन् द्वितीय द्वारा श्रीतार के जो विषयाधिपति भी था सम्मानित करने का उल्लेख है पर विद्वानों ने इसकी तिथि ८६४ (सन् ९४२ ई) ही रखी है और विचार किया जाता है कि जयवर्मन् चतुर्थ ने ९४१ तक राज्य किया और उसके बाद उसका पुत्र हर्षवर्मन् द्वितीय गद्दी पर बैठा[५१] जिसने केवल दो ही वर्ष राज्य किया और उसके बाद उसका बड़ा भाई राजेन्द्रवर्मन् सिंहासन पर बैठा। किंवदन्तियों के अनुसार हर्षवर्मन् को भागना पड़ा था जिससे गृहयुद्ध का संकेत होता है। राजेन्द्रवर्मन् ने पुनः यशोधरपुर (अंकोर) को अपनी राजधानी बनाया।

राजेन्द्रवर्मन्

राजेन्द्रवर्मन् यशोवर्मन् की बहिन महेन्द्रदेवी का पुत्र था। इसका शक सं ८६६ (९४४ ई) का लेख बपन-संबोर[५२] (बाग प्रान्त के सुदूर दक्षिण तथा तोन बसाय के दक्षिण-पूर्व) में मिला। इसमें कुछ ब्राह्मणों द्वारा मन्दिर के निमित्त दी गयी भूमि-सम्पत्ति की मर्यादा-रक्षा की प्रार्थना की गयी थी। अन्य लेखों में[५३] प्रमुख ये हैं प्रह्-नुन-को चट्टान (पुलेमर द्वारा प्राचीन महेन्द्रगिरि) का शक सं ८६९का लेख इसी तिथि का प्रसत प्राम किन (कौं-पोम-स्वे प्रान्त) बसेई-चमरो केन (अंकोर थाम से थ ड़ा दक्षिण में बैर्नेग की पहाड़ी पर स्थित मन्दिर) जो राज-वंशावली के कारण बहुत महत्वपूर्ण है थोम-प्रह्-नेन प्राह का शक सं ८७१ का लेख मेबोन (अंकार थाम के निकट एक मन्दिर) का शक सं ८७४ का लेख (इसमें भी राजेन्द्रवर्मन् की वंशावली दी हुई है) स्तुंग प्रान्त में त्वारंगदाई के ८७४

५० मजुमदार, कम्बुज लेख नं ८८, पृ १०८।
५१ वही नं ८७ पृ १०५।
५२ सिदो ए हि पृ १९६। मजुमदार कम्बुज लेख पृ ९०।
५३ मजुमदार कम्बुज लेख नं ८० पृ १०८।
५४ वही नं ९ से ९७ पृ १०९ से २१२।

सं. के दो लेख ८७८ का लोम-सक (जो केर से १५ मील उत्तर में) का लेख ८८२ शक सं. का बट चुम मन्दिर (अंकोर थाम के निकट) का लेख ८८३ का प्रे-रूप (अंकोर क्षेत्र) का लेख जो सबसे लम्बा है और इसमें राजेन्द्रवर्मन् के राज्याभिषेक की तिथि शक सं. ८६६ (९४४ ई.) दी हुई है। इसमें सम्राट् के राज्यकाल की कुछ अन्य घटनाओं का भी उल्लेख है, जिनमें यशोधरपुर लौटकर पुनः राजधानी स्थापित करना तथा चम्पा के ऊपर विजय प्राप्त करना विशेषतया उल्लेखनीय है। राजेन्द्रवर्मन् का अन्तिम लेख शक सं. ८८८ (९६६ ई.) का वों-चि (वत्-चग क्षेत्र) में मिला है।[४५] मेबोन के लेख के आधार पर राजेन्द्रवर्मन् की वंशावली निम्नलिखित है—

प्रे-रूप के लेख में भी राजेन्द्रवर्मन् की माता महेन्द्रदेवी का उल्लेख है। उपर्युक्त लेख के अनुसार यशोवर्मन् के दो बहिनें थीं—जयदेवी तथा महेन्द्रदेवी। जयदेवी का विवाह जयवर्मन् चतुर्थ के साथ हुआ था और उनका पुत्र राजेन्द्रवर्मन् हुआ। कदाचित् जयदेवी बड़ी थी और इसी लिए उसका पुत्र कनिष्ठ होते हुए भी पहले गद्दी पर बैठा। प्रे-रूप के लेख में वेदवती का उल्लेख है जो बालादित्य की भांजी सरस्वती की वंशज थी। यशोवर्मन् के उत्तराधिकारियों की तालिका इस प्रकार अंकित की जा सकती है—

४५. वही, नं. १ पृ. २६१।

इन्द्रवर्मन् (१)

जयवर्मन् —जयदेवी चतुर्थ (५) यशोवर्मन् (२) महेन्द्रदेवी—महेन्द्रवर्मन्

हर्षवर्मन् द्वितीय (६)

राजेन्द्रवर्मन् (७)

जयवर्मन् पंचम (८)

हर्षवर्मन् प्रथम (३) ईशानवर्मन् द्वितीय (४)

प्रतीत होता है कि क्रम रूप से उत्तराधिकार नियम के अभाव के कारण समय-समय पर राज्य-प्राप्ति के लिए गृह-युद्ध होता था जो स्वाभाविक था। इसी लिए हर्षवर्मन् द्वितीय के बाद राजेन्द्रवर्मन् को भी सिंहासन के लिए युद्ध करना पड़ा।[46]

राज्यकाल की मुख्य घटनाएँ

राजेन्द्रवर्मन् के समय के बहुत-से लेख मिले हैं जिनका उल्लेख पहले हो चुका है और ये प्रशस्तियाँ काव्य की दृष्टि से सुन्दर रचनाएँ हैं, पर इनमें राजनीतिक घटनाओं का कहीं-कहीं सूक्ष्म रूप से संकेत है। कुछ लेखों से इस बात का पता चलता है कि राजेन्द्रवर्मन् को केवल राज्य प्राप्त करने के लिए ही संघर्ष नहीं करना पड़ा था वरन् अपने राज्यकाल में उसे स्वदेश में तथा चम्पा के साथ भी संघर्ष करना पड़ा था। यशोधरपुर जो पहले छोड़ दिया गया था पुनः बसाया गया और भीम-बकेंग की पहाड़ी पर पुनः राजधानी स्थापित की गयी और, जैसा कि स्डोक काक के लेख से पता चलता है वह अपने साथ देवराज की मूर्ति भी ले आया। वट-चुम के लेख में लिखा है कि जिस प्रकार कुश ने अयोध्यापुरी को पुनः बसाया था उसी प्रकार सम्राट् ने यशोधरपुरी को जो बहुत दिनों से छोड़ दी गयी थी, पुनः बसाया और वहाँ पृथ्वी पर 'महेन्द्र-प्रासाद' का निर्माण किया तथा सुवर्ण-गृ

४६. मजूमदार, कम्बुज लेख नं. ९७ पृ. २१२ हेमपद ७८, १११, २०१।
४७. मजूमदार, कम्बुज लेख नं. १५२, पृ. ३६७, पद १४ १९।

बनवाया।[४८] राजेन्द्रवर्मन् ने यशोधर-तड़ाग के जिसका निर्माण यशोवर्मन् ने किया था बीच में एक मन्दिर बनवाया। राजेन्द्रवर्मन् का चम्पा के साथ भी संघर्ष हुआ जिसका उल्लेख स्वयं इसके बत्-चुम प्रे-रूप तथा मेबोन के लेखों और इसके पुत्र जयवर्मन् प्रथम के बन्ते-म्वाई के लेख में भी मिलता है। बत्-चुम के लेख के अनुसार उसने चम्पा तथा अन्य विदेशी शक्तियों पर विजय पायी (चम्पादि परराष्ट्राणां दग्धा कालानलाकृति)।[४९] प्रे-रूप के लेख में भी चम्पा पर विजय प्राप्त करने का उल्लेख है (चम्पाधिपं बाहुबलेन जित्वा)।[५०] मे-बोन के लेख के अनुसार चम्पा नगरी को जला दिया गया था (यस्य सागरगम्भीर-परिखा भस्मसात्कृता, चम्पाधिराजनगरी वीरैरग्न्यनुकारिभिः)। जयवर्मन् पंचम के बन्ते-म्वाई के लेख मे भी राजेन्द्रवर्मन् द्वारा चम्पा विजय का उल्लेख है (प्रथमायनतो कुरुते चम्पाधीशादि राजके)। इस सम्बन्ध में चम्पा के एक लेख से पता चलता है कि कम्बुज-निवासी पो-नगर मन्दिर की सुवर्ण मूर्ति को वहां से उठा लाये और उसके स्थान पर जय सम्राट् ने एक पाषाण-मूर्ति स्थापित की (हैमीं यत्प्रतिमां पूर्वं येन पुण्यापतेजसा न्यस्तां लोभाविष्टक्रान्तामृता ह्यात्म काम्बुजा)[५१]। यह लेख शक सं ८८७ (९६५ ई) का है। इसी मन्दिर से प्राप्त शक स ८४ के एक अन्य लेख में भगवती की सुवर्ण प्रतिमा की स्थापना का उल्लेख है। अतः इन दोनों तिथियों के बीच में ही चम्पा पर कम्बुजों ने आक्रमण किया होगा। राजेन्द्रवर्मन् ने अन्य दिशाओं में भी अपने हाथ-पैर फैलाये और कदाचित् उसने विजय प्राप्त की।

सम्राट् ने बौद्ध सिद्धान्तों का भी अध्ययन किया था—(मेबोन) (बुद्धा बौद्धं मतं भेत्तुमप्यतीर्थ्यपि मान्यधीः) पद १७२। पर वह ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था।

४८. वही, नं २६, पृ० २२१ पद ११।
४९. वही, पृ २९७, पद ४५।
५ वही नं ९७ पृ २६४ पद २०२।
५१ वही, नं ९३, पृ० २१२ पद १४६।
५२ वही, नं १ २, पृ २७१ पद ५।
५३ मजुमदार, चम्पा लेख नं ४७, पृ १४३।
५४ वही नं ४५, पृ १३८।

प्रह-पूत-को पट्टान लेख के[५५] अनुसार उसने तथागत (बुद्ध) और महेश्वर की मूर्तियों की स्थापना की। मेबोन के लेख में शक सं ८७४ में पार्वती, विष्णु ब्रह्म और राजेन्द्रेश्वर नामक शिवलिंग की स्थापना का उल्लेख है। प्रे-रूप के लेख के अनुसार शक सं ८८३ (९६१ ई) में वहां एक मन्दिर का निर्माण किया गया, जहाँ राजेन्द्रभद्रेश्वर लिंग की स्थापना हुई और चार अन्य मन्दिर—जो शिव के तथा उमा और विष्णु के—बने।[५६] मृत्यु के उपरान्त इसे 'शिवलोक' नाम से सम्बोधित किया गया।

जयवर्मन् पंचम

बन्टे-श्राई के शक सं ८९ के लेख से[५७] प्रतीत होता है कि उस समय जयवर्मन् पंचम राज्य कर रहा था। इस लेख के ख्मेर भाग में सम्राट् द्वारा राजगुरु महामंत्री तथा अन्य पदाधिकारियों को त्रिभुवन-महेश्वर के मन्दिर के संबंध में आदेश दिया गया है। अंकोरवाट में इसी समय के एक दूसरे लेख में[५८] जयवर्मन् पंचम के इसी वर्ष सिंहासनारूढ़ होने का उल्लेख है और सेनापति वीरेन्द्रवर्मन् को एक वैष्णव मन्दिर की स्थापना का आदेश दिया गया है। इस लेख के अनुसार जयवर्मन् राजेन्द्रवर्मन् का पुत्र था (श्रीराजेन्द्रवर्म्मेश्वरतनुरासीत्)। लोम-बारोम के ८९ शक सं के लेख[५९] में भी जयवर्मन् पंचम द्वारा दिये गये आदेशों का उल्लेख है। जयवर्मन् के दो अन्य लेख[६०] शक सं ९ १ ९१६ (९७९, ९९४ ई) (के प्रत्तर) थिमम-रैग के एक मन्दिर में मिले। उसके उत्तराधिकारी उदयादित्यवर्मन् का लेख शक सं ९२१(१ १ ई)के प्रसत-कोम[६१] (जो बेर के एक मन्दिर) है मिला। मिश्र के मतानुसार[१] ९९८ ई में राज्याभिषेक के समय उसकी अवस्था

५५. मजुमदार कम्बुज लेख सं ९ पृ १०९।
५६. वही, सं ९७, पृ २१४।
५७ वही सं १ २ पृ २०२।
५८ वही, सं १ ५, पृ २०८।
५९. वही सं १ ६ पृ २०९।
६ मजुमदार, कम्बुज लेख सं १४४ पृ २९९।
६१ वही, सं ११८, पृ १ ८।
६२ ए हि पृ २ । इ क २, पृ ६५।

अधिक न थी क्योंकि ९७४ ई तक वह गुरु की अध्यक्षता में अध्ययन करता रहा। उसने लगभग ११ वर्ष तक राज्य किया पर उसके राज्यकाल की राजनीतिक घटनाओं का कहीं उल्लेख नहीं है। उसने जयनगरी का निर्माण ९७८ ई में करवाया।[63] उसकी बहिन इन्द्रलक्ष्मी का विवाह भारतीय ब्राह्मण दिवाकरभट्ट के साथ हुआ जो कालिन्दी अथवा यमुना के तट पर रहता था जहाँ कृष्ण ने अपना बाल्यकाल बिताया था। उसने बहुत-से शैव मन्दिरों का निर्माण कराया तथा मूर्तियां स्थापित की। यद्यपि राजकीय धर्म शैव मत की ओर सम्राट् का झुकाव था पर योगाचार मत का भी प्रभाव बढ़ रहा था जिसमें कीर्ति पंडित नामक व्यक्ति का बड़ा हाथ था।[64] जयवर्मन् की मृत्यु १ १ ई में हुई और मृत्यु के उपरान्त इसका नाम 'परमवीरलोक' पड़ा। पश्चात् इसके भांजे उदयादित्यवर्मन् ने राज्य किया।

युग का विशेष महत्त्व

इन्द्रवर्मन् (८७७ ई) से जयवर्मन् पंचम (१ १ ई) के बीच के समय का कम्बुज इतिहास और संस्कृति के रूप से महत्त्वपूर्ण है। इस समय में चीन में अराजकता फैली हुई थी। इसलिए कम्बुज को राजनीतिक क्षेत्र में अपना प्रभाव स्थापित करने में कठिनाई न हुई। उत्तर में चीन के अधीनस्थ टोंकिन तथा अन्य राज्यों पर अधिकार हो जाने से कम्बुज साम्राज्य की उत्तरी सीमा चीन तक पहुंच गयी थी।[65] इन्द्रवर्मन् के लेखों से तो चीन तक के प्रान्तों पर अधिकार का संकेत मिलता है पर यह धारणा निर्मूल है। इससे चीन के अधीन किसी राज्य का संकेत होगा। पश्चिम में कम्बुज साम्राज्य की सीमा स्याम तक पहुंच गयी थी और मीनम तथा मेकांग के बीच के राज्य कम्बुज साम्राज्य के अन्तर्गत आ चुके थे। दक्षिण में मलय देश के उत्तरी भाग पर कम्बुज का अधिकार था। चम्पा देश स्वतंत्र था पर उसका कम्बुज देश के साथ बराबर द्वन्द्व चलता रहा और इसमें कम्बुज सम्राटों का पलड़ा भारी रहा। ब्रह्मा में स्थित तीन राज्यों में रमञ्ञदेश रमण अथवा मोन का

६३ वही।
६४ मजूमदार, कम्बुज लेख नं १११ पृ २९९, ११५, पृ १ १।
६५ ए ए १ पृ ७९, मजूमदार, कम्बुज देश पृ १ १।

देश जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण दक्षिणी ब्रह्मा टवी मेरगुई और टेनासिरम भी रख सकते हैं, रामावती हंसावती द्वारावती तथा श्रीक्षेत्र का समूह था। इसके उत्तर में पगान अथवा अरिमर्दनपुर था जो इरावदी और चिन्दविन के बीच उत्तरी ब्रह्मा में था। इससे उत्तर तथा उत्तर-पूर्व में इरावदी और साल्वीन की घाटियों के शान थाई राज्य थे जो कौशाम्बी के नाम से एक संघ में मिल गये थे। कम्बुज साम्राज्य की सीमा इन तीनों राज्यों से मिलती थी। यद्यपि कम्बुज और श्रीक्षेत्र साम्राज्यों के बीच संघर्ष का कहीं उल्लेख नहीं है, पर इन्द्रवर्मन् ने कदाचित् बर्मा के अधीनस्थ कुछ प्रान्त पर अधिकार कर किया था।

साम्राज्य विस्तार तथा राजनीतिक प्रभुता के अतिरिक्त इस युग में भारतीय संस्कृति और साहित्य ने कम्बुज देश में अपना पूर्ण स्थान बना लिया। लेखों से प्रतीत होता है कि यहां भारतीय साहित्य ने अपना स्थान बना लिया था और रचनाओं में सभी प्रकार के छन्द तथा अलंकारों का प्रयोग किया जाता था। सम्राट् यशोवर्मन् स्वयं बड़ा विद्वान् था और उसने 'महाभाष्य' पर व्याख्या लिखी थी। पाणिनि के सूत्रों का भी कई लेखों में उल्लेख मिलता है। 'मनुस्मृति' के बहुत-से श्लोक उद्धरण लेखों में मिलते हैं। धर्म के क्षेत्र में ब्राह्मण वैष्णव तथा शैव और बौद्ध धर्म पूर्ण रूप से प्रचलित थे और उनके विभिन्न आश्रम भी थे। भारत से आये हुए ब्राह्मणों का समाज और शासन में आदरणीय स्थान था तथा राजवंश के साथ उनका वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित होता था। राजेन्द्रवर्मन् की पुत्री इन्द्रलक्ष्मी का विवाह मथुरानिवासी दिवाकर भट्ट नामक ब्राह्मण के साथ हुआ था। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं।

वास्तव में १ ई तक कम्बुज देश ने राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में बड़ी प्रगति की जिसका श्रेय भारतीय सम्पर्क तथा भारतीय अंशदान को है। यद्यपि आगे चलकर देश में समय-समय पर राज्याधिकार के लिए गृहयुद्ध हुआ, पर वह थोड़े समय तक ही रहा और विस्तृत कम्बुज साम्राज्य लगभग तीन सौ वर्षों तक अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित रख सका।

अध्याय ६

विशाल कम्बुज साम्राज्य

जयवर्मन् पंचम की मृत्यु के पश्चात् कुछ समय तक कम्बुज देश में कई शासकों ने एक साथ अलग-अलग क्षेत्रों में राज्य किया। अनधिकृत रूप से राज्य प्राप्त करने और सिंहासनारूढ़ होने का मुख्य कारण किसी ऐसे नियम का अभाव था जिसके अनुसार पिता के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र ही सिंहासन पर बैठे। कम्बुज देश में बहनोई तथा मातुल भी सिंहासन के लिए अपना अधिकार समझते थे। इस समय के जो लेख प्राप्त हुए हैं उनके अनुसार उदयादित्यवर्मन् प्रथम जयवर्मन् तथा सूर्यवर्मन् ने एक ही समय में राज्य किया। उदयादित्यवर्मन् प्रथम के दो लेख स्नुग्राई और खो-खेर प्रान्तों में मिले। प्रथम लेख में प्रसत-खन के मन्दिर का उल्लेख है और इसमें विष्णु की आराधना की गयी है तथा सम्राट् उदयादित्यवर्मन् के ज्येष्ठभ्राता जो उन्हीं के सेनापति भी थे नरपतिवर्मन् द्वारा विष्णु की एक सुवर्ण मूर्ति की स्थापना का उल्लेख है। इस लेख में उदयादित्यवर्मन् के अभिषेक की तिथि शक स (९२१-१ १६) लिखी गयी है तथा उसके बड़े भाई सेनानी के शौर्य का उल्लेख है। इस लेख के अनुसार निम्नलिखित वंशावली निकलती है।

१ मजुमदार, कम्बुज लेख नं ११७ पृ ३ १। बु इ फा १८, पृ ४ ।
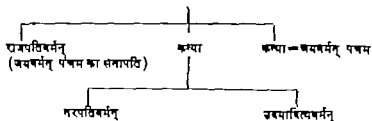
२ वही नं ११८, पृ ३ ८।

उदयादित्यवर्मन्—जयवीरवर्मन्

राजपतिवर्मन् और उसके भांजे नरपतिवर्मन् का उल्लेख सियम-रप से प्राप्त जयवर्मन् पंचम के लेख[३] में है, जिसमें मृतक कम्पते भी राजपतिवर्मन् और इसके भी नरपतिवर्मन् की नानी के रूप की प्रतिमाओं के निर्माण का उल्लेख है। इसी लेख में नरपतिवर्मन् के साथ ही प्रणाम्य क्सोञ (प्रान्तीय शासक) श्री वसुद्र वर्मन् का भी उल्लेख है। उदयादित्य का दूसरा लेख को-केर के प्रसत-थोम मन्दिर में मिला और यह भी इसी तिथि का है। इसमें सम्राट् उदयादित्यवर्मन् द्वारा मराव-क्सोञ श्री पृथ्वीनरेन्द्र और मुरातमस्तेंञ श्री वीरेन्द्रारिमथन द्वारा राजकीय घोषणा को अंकित करने का आदेश दिया गया है। इन दोनों लेखों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि उदयादित्यवर्मन् प्रसिद्ध झील के उत्तर-पूर्व में शक ६ ९२१ (१ १ ई) में राज्य कर रहा था और वह जयवर्मन् पंचम का भांजा था। कदाचित् अपने भाई की सहायता से इसने राज्य प्राप्त किया था। सफलता प्राप्त करने का कारण इन दोनों भाइयों का जयवर्मन् पंचम के साथ सम्बन्ध तथा नरपति वर्मन् का सेनानी होना था। इसी तिथि १ १ ई का सूर्यवर्मन् प्रथम का एक लेख कों-पों-स्वे में[४] मिला जिसमें सोमेश्वर पंडित द्वारा सम्राट् सूर्यवर्मन् से प्राप्त भूमिदान का उल्लेख है। इसी प्रान्त में सूर्यवर्मन् का प्रसत-प्रसत-रप का ९२१ अथवा ९२४ का लेख भी मिला। सूर्यवर्मन् के राज्याभिषेक की तिथि ९२४ (१ २) ई थी और उसने ९ वर्ष तक युद्ध किया। इसका उल्लेख लुवोक द देर (कों मो थोम) से प्राप्त लेख में मिलता है। ये दोनों प्रान्त थो लेर और म्नू माई से दक्षिण मे प्रसिद्ध झील के पूर्व में हैं। कदाचित् सूर्यवर्मन् उदयादित्यवर्मन् के राज्य के दक्षिणी भाग पर अधिकार किये हुए था। इसी तिथि का सम्राट् सूर्यवर्मन् का एक अन्य लेख थोम प्रह् रन[७] (थोडग-थाई) प्रान्त में मिला जिसमें सम्राट् द्वारा भद्रेश्वराश्रम की स्थापना सिंगपुर और सिंगमाखन के लिए हुई थी

३ वही नं ११४ पृ ९९९।
४ मजूमदार, कम्बुज लेख नं १२ पृ ३१ ।
५ वही नं १२ (अ) पृ ३१
६ वही नं १२ (ब) पृ ३१ ।
७. वही, नं १२ (स) पृ ३१ ।

और रमनि (रमणी) देश के पुष्पीन्द्र पंडित ने इसमें भाग लिया था। इसी लेख में सम्राट् के गुरु युवराज विजयेन्द्रवर्मन् और भवपुर के प्रान्तीय पैतृक राज्यकाल समराधिपतिवर्मन् का भी उल्लेख है। यह स्थान प्रसिद्ध झील के दक्षिण-पश्चिम में है।

उदयादित्यवर्मन् प्रथम के विषय में १ २ ई के बाद कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। कदाचित् उसने केवल दो ही वर्ष तक राज्य किया किन्तु सूर्यवर्मन् के एक अन्य प्रतिद्वन्द्वी का उल्लेख कई लेखों में मिलता है। इसका नाम जयवीरवर्मन् था और इसके शक सं० ९२७ के तीन लेख प्रह्-खो प्रसत-क्रमकोक तथा प्रह्-वते में मिले। शक सं ९२७ के एक अन्य लेख में सम्राट् सूर्यवर्मन् का उल्लेख है जयवीरवर्मन् का ९२८ शक सं का एक लेख कों-पोंग-स्वे प्रान्त में प्रसत-क्पन के मन्दिर में मिला जिसमें जयवर्मन् द्वितीय जयवर्मन् पंचम तथा जयवीरवर्मन् का उल्लेख है। इसके बाद इस शासक का कोई अन्य लेख नहीं मिलता। लेखों के प्राप्त स्थानों से पता चलता है कि जयवीरवर्मन् ने अंकोर क्षेत्र तथा पश्चिमी क्षेत्र में राज्य किया। सूर्यवर्मन् के तुओल-त-पेक के लेख से प्रतीत होता है कि सूर्यवर्मन् प्रथम ने नौ वर्ष तक संघर्ष किया और शक सं ९२४(१ २ ई)में उसका अभिषेक हुआ। इस तिथि की पुष्टि अन्य लेख से भी होती है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूर्यवर्मन् का संघर्ष जयवीरवर्मन् के साथ कुछ वर्षों तक चलता रहा और अन्त में सूर्यवर्मन् सफल हुआ और उसने सम्पूर्ण कम्बुज देश पर अधिकार कर लिया तथा अपने राज्य की सीमा पश्चिम में स्याम तक बढ़ायी।

सूर्यवर्मन् प्रथम

सूर्यवर्मन् के पूर्वजों का किसी भी लेख में उल्लेख नहीं मिलता। अपने प्रसत-

८. मजूमदार कम्बुज लेख नं १२६, १२७, १२८ पृ १२१ १२२। यह लेख क्रमशः वतो (प्राचीन हरिहरालय) क्वों तथा वट्ट चंप क्षत्र में मिले हैं।

९. वही, नं १२८ पृ १२२। आमोनिये कम्बुज २, पृ १११।

१ वही, नं १११ पृ ११२।

११ वही, नं १२ (ब) पृ ११ । यु इ फ्रा १४। ४२७, १५ ४९३।

१२ वही नं १२९ पृ १२३।

ते-केब के लेख[11] के अनुसार वह इन्द्रवर्मन् का वंशज था और सोम-प्र विहार के लेख में[1] इसकी सम्राज्ञी श्री विजयलक्ष्मी को श्री हर्षवर्मन् तथा श्री ईशानवर्मन् का वंशज बताया गया है। क्योंकि प्रसत-त्रप लेख[13] के अनुसार वीरलक्ष्मी की माँ हर्षदेव वंश की थी। हर्षवर्मन् तृतीय के लोंवेक लेख[14] में सूर्यवर्मन् का नाम श्री जयवर्मन् के ठीक बाद आता है पर दोनों का कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है अन्यथा उदयादित्यवर्मन् श्री जयवर्मन् के बाद सिंहासन पर न बैठा होता। सिदे के मतानुसार वीरलक्ष्मी के नाम से प्रतीत होता है कि उसका पहले एक विवाह हुआ था और सूर्यवर्मन् ने जयवीरवर्मन् को जीतकर उसकी रानी वीरलक्ष्मी के साथ विवाह कर लिया। सूर्यवर्मन् की उपाधि 'कम्रतन्' (मलय-स्वन्) के आधार पर सिदो ने इसे श्याम अथवा मलय-वंशज कहा है। 'चामदेवी वंश' नामक एक पालि ग्रन्थ में भी यम्मनगर के पुत्र कम्बुज-सम्राट् द्वारा हरिपुंजय पर आक्रमण करने का उल्लेख है[18] और यह घटना वहाँ के निवासियों के सुधम्मपुर जाने से २ वर्ष

१३ प्रसत-त-केव का मन्दिर अंकोर थोम के निकट पूर्वी बरे के पश्चिम में है। मजूमदार, कम्बुज लेख नं १४८, पृ १५१। आमोनिये कम्बुज, भाग १, पृ १८।

१४ मजूमदार वही, नं १४६, पृ १४८।

१५. वही, नं १४४ पृ १४६।

१६. वही, नं ११ पृ ४२२, पद २७, २८।

१७. ए हि पृ २२९।

१८ 'चामदेवी वंश' (१५वीं शताब्दी के प्रारम्भकाल का ग्रन्थ) 'जिनकाल मालिनी' (१५१६ में पूरा किया गया) तथा 'मूलशासन' में इस घटना का उल्लेख है। हरिपुंजय (लम्पुं) के अत्रासतक नामक एक शासक ने लवो (लोपबुरि) पर आक्रमण किया जहाँ उस समय उच्छिट्ठ चक्कवत्ति राज्य करता था। इसी संघर्ष के समय श्रीधम्मनगर (लिगोर) का शासक सुजित एक सेना और जिहाज़ों से लवो पहुँचा। उपर्युक्त दोनों प्रतिद्वन्द्वी हरिपुंजय की ओर चले जहाँ उच्छिट्ठ चक्कवत्ति पहले पहुँच गया और उसने अपने को सम्राट् घोषित कर अत्रासतक की रानी के साथ विवाह कर लिया। लिगोर का शासक सुजित लव में जम गया। अत्रासतक दक्षिण की ओर कहीं चला गया। तीन वर्ष के अन्त में सुजित के पुत्र कम्बोजराज ने हरिपुंजय

पहले की है जो १ ५६-७ में हुई। श्रीधम्मपुर की समानता मलाया के लिगोर से की जाती है अतः इसे भी मलाया-निवासी माना गया है और सूर्यवर्मन् के बौद्ध होने का यही कारण भी है क्योंकि लिगोर उस समय बौद्धधर्म का बड़ा केन्द्र था। यद्यपि हम सूर्यवर्मन् को मलाया निवासी न भी मानें क्योंकि उसके पहले के लेख उत्तर-पूर्व में मिलते हैं और जयवीरवर्मन् के दक्षिण-पश्चिम में मिलते हैं, पर यह अवश्य मानना पड़ेगा कि उसने मीनम की घाटी तक अपने राज्य की सीमा बढ़ायी। सूर्यवर्मन् की स्याम तथा दक्षिण ब्रह्मदेश की विजय का उल्लेख 'जिनकाल-मालिनी' तथा 'मूलसासन' में भी मिलता है, पर ये ग्रन्थ १५ १६वीं शताब्दी के हैं। हाँ! मीनम की घाटी में मिले कुछ लेख तथा पुरातात्विक भग्नावशेष ख्मेर अधिकार के साक्षी हैं। ख्मेर अधिकार मेकांग पर स्थित लुआंग प्र बैंग से लेकर मीनम पर स्थित सुफोथाई-सवनक लोक तक था।[19] लोपबुरि (स्याम) से प्राप्त लेख[20] के अनुसार समस्त धार्मिक स्थानों विहारों यतियों हीनयान तथा महायान भिक्षुओं को आदेश दिया गया है कि वे अपने तप द्वारा प्राप्त पुण्य सम्राट् को अर्पण कर दें। शक सं ९४८ का सूर्यवर्मन् का एक लेख स्याम के सिस्फोन-प्रान्त में मिला। व्न्यू प्राई से लेकर वाटी तक के क्षेत्र में इस सम्राट् के लेख मिले हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उसने सम्पूर्ण कम्बुज देश तथा स्याम और ब्रह्मा के भाग तक के क्षेत्र पर राज्य किया। इसके लेख ९२४ से ९७ शक सं तक के मिले पर इनमें केवल दान का ही उल्लेख है। उसके राज्यकाल की किसी राजनीतिक घटना का कहीं भी विवरण नहीं मिलता। महत्वन लेख में सम्राट् की वीरता का भी

पर अधिकार करना चाहा, पर उसे हारकर लौटना पड़ा। इसी कम्बुजराज की समानता सूर्यवर्मन् से की गयी है। (तिवो, ए हि पृ २११ २)

१९ बु इ फ्रा ४ पृ ४११।

२० मजुमदार कम्बुज लेख नं ११६, पृ ३४३।

२१ वही नं १४ पृ ३४४।

२२ वही नं १२ पृ ३१ । सूर्यवर्मन् के राज्याभिषेक की तिथि प्रसत तक्षेओ लेख में भी शक सं ९२४ दी गयी है। (नं १४८, पृ ३५२)।

२३ अन्तिम तिथि को ९७ (१ ४८ई) पढ़ा गया है (नं १४७ पृ ३५१)

२४ वही नं १४६, पृ ३५ ।

उल्लेख है। वह भाष्य काव्य षड्दर्शन और धर्मशास्त्रों में पारंगत था (भाष्यादि-शब्दकाव्यपाणिनियड्दर्शनैर्निया पद ८)। उसका गुरु योगेश्वर पंडित था जिसकी मा सत्यवती जयवर्मन् द्वितीय की पौत्री थी। यद्यपि वह बौद्ध था पर उसने कुलदेवता की उपासना की और शैव तथा वैष्णव मन्दिरों का निर्माण किया। उसने सामाजिक जाति व्यवस्था को भी यथोचित रूप दिया (वर्णनायें इत्ते)। कम्बुज देश में गृहयुद्ध की संभावना को दूर करने के लिए उसने एक नवीन प्रथा चलायी जिसके अनुसार पदाधिकारियों को सम्राट् के प्रति आजन्म स्वामिभक्ति की शपथ लेनी पड़ती थी। इसका उल्लेख अंकोर थोम के गोपुरम् के स्तम्भों पर अंकित ८ लेखों में है जो शक सं ९११(१ ११ ई) के है।[25] अग्नि ब्राह्मण और आचार्यों के सम्मुख सम्राट् सूर्यवर्मन् के प्रति जो शक सं ९२४ से राज्य कर रहा था अपना जीवनदान करने के लिए चार सहस्र पदाधिकारियों ने शपथ ली। शपथ के अनुसार वे न तो किसी अन्य के अधीन रहेंगे न सम्राट् के विरुद्ध शत्रु की सहायता करेंगे तथा सम्राट् सूर्यवर्मन् के प्रति पूर्णतया स्वामिभक्त रहेंगे। युद्ध के समय वे रणभूमि से नहीं हटेंगे। अवहेलना करने पर सम्राट् जो चाहे दंड दे। सूर्यवर्मन् ने जयवीरवर्मन् के अतिरिक्त अन्य शासकों से संघर्ष करके सम्पूर्ण स्थान पर अधिकार कर लिया और इसकी विजय दक्षिण बड़ा कटोन के मो एक तक हो गयी पर विस्तृत रूप से इसका वृत्तान्त कहीं नहीं मिलता।[26] सूर्यवर्मन् की मृत्यु कदाचित् १ ४९ ई में हुई और उसके बाद उदयादित्यवर्मन् सिंहासन पर बैठा।

उदयादित्यवर्मन् द्वितीय

सिडो के मतानुसार[27] उदयादित्यवर्मन् सूर्यवर्मन् प्रथम का पुत्र था और १ ५ के आरम्भ में वह सिंहासन पर बैठा। इसका शक सं ९७१ ९७२ का लेख[28] सिस्फोन प्रान्त के प्रसत-रोलु में मिला। इस लेख के अनुसार वह शक सं ९७१

२५. वही नं ११६ पृ १४१।
२६. सिडो ए हि पृ २३२।
२७. वही, पृ २३३।
२८. मजुमदार, कम्बुज लेख नं १५१ पृ ३६२।

में फाल्गुन मास के कृष्णपक्ष की अष्टमी को सिंहासन पर बैठा और ९७२ में उसने श्री जयेन्द्र पंडित को भूमि तथा दास दान में दिये।[९] इसके लेख क्रमशः ९७१ में स्डाक काक थोम (सिस्फोन से १५ मील उत्तर पूर्व) इसी तिथि का फ्नूम दा[१०] (को पों छ्नम्) ९८२ का प्रस-कन[११] (म्ल्यू प्राई) तथा कदाचित् इसी शासक का ९८८ का प्रह्-नोक (सियम रप) में मिले हैं।[१२] इन लेखों में कम्बुज देश की राजनीतिक परिस्थिति विप्लव तथा चम्पा से संघर्ष का वृत्तान्त मिलता है जिसकी पुष्टि चम्पा के लेखों से भी होती है। प्रह्-नाक के लेख के अनुसार शक सं ९७१ (१०५८ ई) में अरविन्दह्रद नामक एक व्यक्ति दक्षिणी भाग में विद्रोह कर बैठा। उसने अपने को शक्तिशाली बना लिया था। इस विद्रोह को संग्राम नामक सेनापति ने दबाया और अरविन्द चम्पा भाग गया। उसने देश के उस भाग में शान्ति स्थापित की और तीन आश्रमों का निर्माण कराया। लेख से प्रतीत होता है कि अरविन्द कदाचित् कम्बुज-सिंहासन की प्राप्ति के लिए इच्छुक था और वह बड़ा शक्तिशाली था। उसके विरुद्ध कई वीर सेनापति असफल रहे। अन्त में सेनापति संग्राम ने उसे हरा दिया। दूसरा विद्रोह कवी नामक सेनापति ने सम्राट् के विरुद्ध उत्तर-पश्चिम में किया। प्रसत प्रह् के शक सं ९८९ के लेख में इसका उल्लेख है।[१३] एक सुसज्जित सेना एकत्रित करके उसने राजकीय सेना को हराया और देश को ध्वस्त कर दिया। इसी विद्रोह में मंत्री संग्राम द्वारा सूर्यवर्मन् को दिये हुए शिवलिंग को भी क्षति पहुँची और ९८९ में पुनः इस लिंग के साथ ब्रह्मा विष्णु और बुद्ध की मूर्तियां स्थापित की गयीं। ९८८ में संग्राम स्वयं सेनापति कवी के विरुद्ध हो गया और उसका वध कर दिया गया। उसकी सेना नष्ट हो गयी। पृथुशैल पर्वत पर उस विजय के उपलक्ष में उसने शिव के मन्दिर के लिए बहुत-सा धन दिया। तीसरा

९. वही, नं० १५२, पृ १९१ से। नं १५१ पृ १८२ से।

१० वही, नं १५१ पृ १८१ से।

११ वही नं १५७ पृ ४ ।

१२ मजुमदार कम्बुज लेख नं १५६, पृ १८५।

१३ वही नं १५६, पृ १९८। इस लेख में उदयादित्यवर्मन् की तिथि शक सं ९८८ दी हुई है और उदयादित्यवर्मन् का प्रह्-नोक लेख (नं १५५) भी इसी संवत् का है। अतः इन दोनों को एक ही मानना उपयुक्त होगा।

विप्लव स्सभत नामक एक व्यक्ति ने पूर्व दिशा में किया जिसके सहायक उसके कनिष्ठ भ्राता सिद्धिकार तथा धर्मास्तिभुवन थे। संग्राम ने इनको हराकर प्रथम् पर्यन्त तक भगाया और वहाँ की स्थानीय सेना को हराकर स्सभत की सेना को पुन: हराया। तीसरा विद्रोह १ ६६ ई में हुआ जो सम्राट् के राज्यकाल का अंतिम वर्ष था।[१४]

गृह-विद्रोह के अतिरिक्त उदयादित्यवर्मन् को चम्पा से भी संघर्ष करना पड़ा जिसका उल्लेख चम्पा के जयपरमेश्वरदेव के शक सं ९७२ के पो-नगर[१५] तथा पो-नगर लेख[१६] में है तथा इसी सम्राट् के शक सं ९७८ के माइ-सान लेखों[१७] में ख्मेरों की पराजय और शम्भुपुर के सभी स्थानों को नष्ट करने का उल्लेख है। इसका श्रेय युवराज महासेनापति को था। इस युद्ध के कारण का पता नहीं है। हर्षवर्मन् तृतीय के प्रसत खिनाओं के लेख में[१८] उदयादित्यवर्मन् द्वारा यह स्त नामक नगर को छोड़ने का उल्लेख है। कदाचित् गृह-विप्लवों के कारण उदया-दित्यवर्मन् को ऐसा करना पड़ा होगा।

उदयादित्यवर्मन् द्वितीय के समय के स्दोक काक के लेख[१९] से जयवर्मन् द्वितीय के समय से उदयादित्यवर्मन् के समय के लगभग २५ वर्ष के काल में शिव कैवल्य के वंशजों ने देवराज की पूजा के लिए राजपुरोहित के पद को सुशोभित किया। उदयादित्यवर्मन् का गुरु जयेन्द्र पंडित इसी वंश का था और उसने सम्राट् को सिद्धान्त व्याकरण धर्मशास्त्र तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन कराया था। सम्राट् का शंकर पंडित नामक एक अन्य गुरु भी था। लोवक के लेख[२०] के अनुसार शंकर पंडित सूर्यवर्मन् उदयादित्यवर्मन् तथा हर्षवर्मन् का राज-पुरोहित था। उदयादित्य की मृत्यु के पश्चात् इसी शंकर पंडित ने [illegible]

१४ सिडो ए हि पृ २३५।
१५ मजुमदार, चम्पा लेख नं ५४ पृ १५।
१६ मजुमदार चम्पा नं ५५, पृ १५१।
१७ वही, नं ५६, पृ १५५।
१८ मजुमदार, कम्बुज लेख नं १५६, पृ ४१७।
१९ वही, नं १५२ पृ ११२।
२० वही [illegible]

सहायता से उसके सहोदर हर्षवर्मन् को सिंहासन पर बैठाकर उसका राज्याभिषेक किया।

हर्षवर्मन् तृतीय

हर्षवर्मन् तृतीय के समय के लेख[41] पल्हल (मो क्सी) प्रसत क्सुली[42] (पूर्वोक्त प्रान्त) लोवेक[43] (अब नोम-पेन्ह में है) क्रमशः शक सं० ९९१ ९९२ तथा बिना तिथि के हैं। प्रसत-क्सुली लेख के अनुसार हर्षवर्मन् शक सं० ९८७ (१०६५ ई०) में गद्दी पर बैठा किन्तु उदयार्कवर्मन् (उदयादित्यवर्मन्) द्वितीय के ९८८ तथा ९८९ शक संवत् के लेख मिले हैं। इसका समाधान करने के लिए या तो हर्षवर्मन् का उदयादित्यवर्मन् के समय में ही राज्याभिषेक मानें जिसका कोई प्रमाण नहीं अथवा प्रसत-क्सुली के लेख की तिथि को शाके संवत् में माना जाय और दूसरे दो लेखों की तिथि को गत वर्ष में मानें। सिदो के मतानुसार हर्षवर्मन् १०६६ ई० में सिंहासन पर बैठा।[44] इस सम्राट् के राज्यकाल की मुख्य राजनीतिक घटनाओं का पता अन्य सूत्रों से लगता है। १०७४ और १०८० ई० के बीच काल में इसका चम्पा के साथ संघर्ष हुआ। चम्पा लेखों से पता चलता है कि चम्पा के सम्राट् हरिवर्मन् चतुर्थ ने कम्बुजसेना को सोमेश्वर में हरा दिया और सेनापति कुमार श्री नन्दवर्म देव को बन्दी कर लिया। कदाचित् इसी समय में चम्पासम्राट् के भाई कुमार पांग ने जो थोड़े समय बाद परमबोधिसत्त्व के नाम से प्रसिद्ध हुआ शम्भुपुर (मेकांग पर स्थित सम्बोर) के मन्दिरों को नष्ट कर दिया। कदाचित् यह घटना १०८० ई० के लगभग हुई होगी।[45] १०७६ ई० में चीनी सम्राट् ने अनम के विरुद्ध एक सेना भेजी तथा सहायता के लिए उसने चम्पा और कम्बुज के राजाओं

४१ वही नं० १५८ पृ० ४११।
४२ वही नं० १५९, पृ० ४१७।
४३ देखिए, नं० ४ ।
४४ सिदो ए० हि० पृ० २५७।
४५ सिदो बु० इ० फ्रा० ४ पृ० ९६१ नं० २१। मजुमदार, चम्पा, नं० ७२ पृ० १०८, नं० ७४ पृ० ८२, नं० ७५, पृ० ११२, नं० ७६।
४६ मजुमदार, चम्पा, पृ० १९५।

से सहायता की याचना की। दोनों ने सेनाएँ भेजीं पर वे हार गये। चीनियों की हार से संयुक्त सेनाओं को लौटना पड़ा।[४७] जयवर्मन् के पोम-लन लेख[४८] से ज्ञात होता है कि उसने १ ८२ ई तक राज्य किया[४९] पर सिदो इसका राज्यकाल १ ८ ई तक ही रखते हैं।[५०] क्योंकि जयवर्मन् षष्ठ के पोम-सन के लेख से पता चलता है कि १ ४(१ ८२ ई) में वह कोरट के उत्तर-पूर्व में राज्य कर रहा था। मृत्यु के उपरान्त इसका नाम 'सदाशिव' पड़ा।

जयवर्मन् षष्ठ

इस कम्बुज-सम्राट् के समय के दो लेख मिले हैं[५१] शक सं १ ४ का पोम-सन जिसका उल्लेख पहले हो चुका है तथा १ १८ का प्रसत-कोम का लेख (अंकोर थोम के निकट) मिला। जयवर्मन् षष्ठ का कम्बुज राजवंश से कोई सम्बन्ध न था। इसकी वंशावली का उल्लेख सूर्यवर्मन् द्वितीय के पोम-सन[५२] (स्याम के कोरट प्रान्त) तथा जयवर्मन् सप्तम के ता प्रोम[५३] के दो लेखों में है। इन दोनों लेखों के आधार पर निम्नलिखित वंशावली बनायी जा सकती है।

४७ बु इ फ्रा १८ (१) पृ ३३। सिदो ए हि पृ २५८।

४८ मजुमदार कम्बुज लेख नं १६१ पृ ४२५। सिदो, बु इ फ्रा २९ पृ २९९।

४९ कम्बुज देश, पृ १९१।

५० ए हि पृ २५८।

५१ मजुमदार, कम्बुज, लेख नं १६१ पृ ४२५। नं १६२ पृ ४२६।

५२ मजुमदार, कम्बुज, लेख नं १७४ पृ ४५६।

५३ वही नं १७७, पृ ४५१।
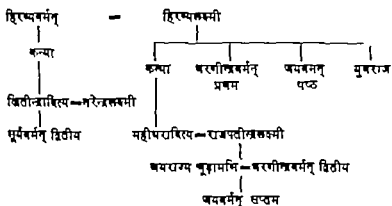
जयवर्मन् षष्ठ हिरण्यवर्मन् का पुत्र था जो पहले क्षितीन्द्रग्राम में रहता था पर जयवर्मन् सप्तम के लेख के अनुसार इस वंश का मूल स्थान महीधरपुर था। इन दोनों स्थानों की समानता अभी नहीं दिखायी जा सकती है। हिरण्यवर्मन् को नृप महीपति और अनेक उपाधियों से सुशोभित किया गया है किन्तु यह कहना कठिन है कि यह स्वतंत्र पहले से ही हो गया अथवा हर्षवर्मन् के समय में उसका सामन्त रहा। सीदो के मतानुसार यह कदाचित् प्रान्तीय शासक था और उदयादित्यवर्मन् के पश्चात् इसने केन्द्रीय सत्ता स्वयं अपने हाथ में ले ली। इसके उत्तराधिकारियों द्वारा दिये गये दान और मन्दिरों की स्थापना उत्तरीय भाग में अधिक है जहां कदाचित् इसने पहले अधिकार किया होगा। जयवर्मन् का एक ज्येष्ठ भाई भी था पर उसने स्वतन्त्र रूप से विद्रोह कर अपनी सत्ता स्थापित की थी। इसके प्रयास में दिवाकर पंडित का बड़ा हाथ था जो राजपुरोहित के पद पर हर्षवर्मन् तृतीय के समय से था और उसने जयवर्मन् षष्ठ तथा उसके दो उत्तराधिकारियों का अभिषेक भी किया। जयवर्मन् ने ११०७ ई० तक राज्य किया जैसा कि सूर्यवर्मन् द्वितीय के एक लेख[55] से प्रतीत होता है। जयवर्मन् के राज्यकाल की मुख्य घटनाओं का कहीं उल्लेख नहीं है। मृत्यु के पश्चात् उसे 'परमकैवल्यपद' नाम मिला।

५४ ए हि पृ २५९।
५५ मजूमदार, कम्बुज लेख नं १० प ४१५

धरणीन्द्रवर्मन् प्रथम

११ ७ ई में जयवर्मन् षष्ठ का बड़ा भाई धरणीन्द्रवर्मन् प्रथम सिंहासन पर बैठा।[५६] इसके समय के दो लेख शक स १ २९ तथा १ ३१ के क्रमशः नोम बयांग[५७] (बांग प्रान्त) तथा प्रसत-चौं[५८] (सियम राप) में मिले। नोम-बयांग के लेख[५९] से प्रतीत होता है कि इसके राज्य का विस्तार छोड़ाक तक सीमित था। इन दोनों भाइयों के राज्यकाल की घटनाओं का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। नव-यत के लेख से पता चलता है कि उसे राज्य की इच्छा न थी क्योंकि यह सौम्य प्रकृति का था पर उसने बुद्धिमानी से विस्तृत राज्य पर शासन किया। दिवाकर पंडित ने जयवर्मन् धरणीन्द्रवर्मन् तथा सूर्यवर्मन् के अभिषेकों में प्रमुख भाग लिया था।[६०] सूर्यवर्मन् द्वितीय के नोम संडक लेख के अनुसार[६१] इसे 'भगवत्पाद कम्रतेङ अञ गुरु' की उपाधि प्राप्त थी और इसने बहुत-से यज्ञ किये तालाब खुदवाये तथा अन्य धार्मिक कृत्य और धार्मिक स्थानों को दान दिये। इसी ने शक सं १ ३४ (१११२ ई) में सूर्यवर्मन् द्वितीय का भी अभिषेक किया।

सूर्यवमन् द्वितीय

जयवर्मन् सप्तम के प्रसत-चुन लेख[६२] के अनुसार सूर्यवर्मन् ने धरणीन्द्रवर्मन् को हराया (पूर्व श्रीधरणीन्द्रवर्मनृपस्ते श्रीसूर्यवर्मा बिना रणां राज्यमहार्षीत) । यह धरणीन्द्रवर्मन् की बहिन का दौहित्र था। इसके समय नोम-संडक (को-केर से १५ मील उत्तर में) शक सं १ ३८, नोम प्रह विहार[६३] (मनु-माई प्रान्त

५६. सिडो ए हि पृ २९ ।
५७. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं १६३ पृ ४२६।
५८. वही, नं १६४ पृ ४२७।
५९. वही, नं १७३ पृ ४३८। बु इ फ्रा १२।२। पृ १।
६ आमोनियर, भाग १ पृ ३९५ ६।
६१ मजुमदार, कम्बुज, लेख नं १६७, पृ ४३ ।
६२ मजुमदार कम्बुज लेख नं १८१ पृ ५३३।
६३ वही नं १६७ पृ ४२९।
६४ वही, नं १६८ पृ ४३३।

शक सं १ ४१ बट-फू)[६५] बसाक के निकट मेकांग नदी पर शक सं १ ११ तथा मोम-प्रह[६६] (कोरट स्याम के दक्षिण पश्चिम) में मिले हैं और इनसे यह प्रतीत होता है कि इसने कम्बुज के दोनों राज्यों पर अधिकार कर लिया था। बट-फू के लेख में इसकी राज्याभिषेक-तिथि शक सं १ १४ (१११२ ई)और मोम-प्रह के लेख में १ १५ (१११३ ई) दी हुई है। बट-फू के लेख में उल्लिखित दो राज्यों को एक में मिलाना (श्रीसूर्यवर्म्मदेवोऽभ्यराज्यम् द्वयसमासतः) इस बात का संकेत करता है कि धरणीन्द्रवर्मन् के समय में अथवा जयवर्मन् षष्ठ के राज्यकाल मे ही कम्बुज राज्य के दो भाग हो गये थे। डा मजुमदार के मतानुसार[६७] एक भाग पर धरणीन्द्रवर्मन् राज्य कर रहा था और दूसरे पर हर्षवर्मन् तृतीय का कोई वंशज राज्य कर रहा था। सूर्यवर्मन् द्वितीय ने दोनों को हराकर सम्पूर्ण कम्बुज देश पर राज्य किया।[६८] मृत्यु-पश्चात् इसे 'परम निष्कलपद' नाम मिला।

सूर्यवर्मन् द्वितीय की यशोगाथाएँ

नोम सण्डक लेख[६९] के अनुसार सूर्यवर्मन् द्वितीय शक स १ १४ (१११२ ई) में सिंहासन पर बैठा। यह जयवर्मन् षष्ठ और धरणीन्द्रवर्मन् की बहिन का दौहित्र था।[७०] इसकी मा का नाम नरेन्द्रलक्ष्मी था। इसके अभिषेक मे दिवाकर पंडित का मुख्य हाथ था और उसी ने इसे 'सिद्धगुह्य' (तंत्र शास्त्र) की शिक्षा दी तथा सम्राट् ने कोटिहोम लक्षहोम महाहोम और पितरों के लिए यज्ञ किये। इसी समय मध्येश्वर पद मे जिसका प्रसिद्ध मन्दिर बट-फू मे था शिवलिंग शंकर, नारायण विष्णु तथा ब्रह्म श्री गुरु की मूर्तियां शक सं १ १४ १ ४४ १ ४९ मे और दो

६५ वही नं १७९, पृ ४१७।
६६ वही नं १७३ पृ० ४१८।
६७. कम्बुज देश पृ १२२।
६८. मजुमदार, कम्बुज, लेख नं १७३ पृ ४४ ।
६९. नं ६६।
७० कम्बुज लेख नं १७४ पृ ४५६।
७१ वही, नं १६८, पृ० ४११।

अन्य तिथियों पर स्थापित की गयीं। सूर्यवर्मन् ने अपने राज्य की सीमा बढ़ाने के हेतु अन्य देशों को जीतने के लिए सेनाएं भेजीं। बहुत-से द्वीपों के शासकों ने आत्मसमर्पण कर दिया पर अन्य राज्यों को उसने जीतकर रघु की कीर्ति को भी धूमिल कर दिया।[७२] सुंग-वंश के इतिहास के अनुसार उसने १११६ और ११२ ई. के बीच में दो राजदूत चीन भेजे और चीन के साथ पुनः राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किया जो आठवीं शताब्दी के बाद बन्द हो चुका था।[७३] चीन के सम्राट् ने सूर्यवर्मन् को उच्च उपाधियों से विभूषित किया। चीनी स्रोतों के अनुसार उसका राज्य चम्पा से दक्षिण ब्रह्मा तक सीमित था और इसमें मलाया प्रायद्वीप का उत्तरी भाग बैंडों की खाड़ी तक सम्मिलित था।[७४]

यद्यपि सूर्यवर्मन् के लेखों में केवल सम्राट् की दिग्विजय का साधारण रूप से उल्लेख है, पर चीनी स्रोतों के आधार पर मास्पेरो ने इसका विस्तृत रूप से विवरण दिया है।[७५] ११२३ तथा ११२४ से दाई-विएट (अनम) के विरुद्ध जहां कम्बुज और चम भागकर शरण ले चुके थे संघर्ष आरम्भ हो गया। ११२८ में उसने २ सेना लेकर अनम के न्घेअन पर आक्रमण किया। उसी समय ७ जहाजों का बेड़ा चम्पा की सेना के साथ सहायता के लिए बढ़ा। स्थलसेना हुम्री के दर्रे से अनामी पहाड़ियों को पार कर जो मिएम में पहुंची पर बेड़ा अभी वहां पहुंच नहीं पाया था। अनमी सेना ने कम्बुजसेना पर धावा बोलकर उसे हरा दिया। कई महीने बाद जहाजी बेड़े ने पहुंचकर न्घेअन और थन हुआ नामक स्थानों को लूटा। ११३२ में चम्पा की सेना के साथ एक और कम्बुज सेना ने न्घेअन पर आक्रमण किया पर कम-

७२ वही नं. १०२, पृ ४१८।

७३ 'स्वर्गं प्रयाय दिवतो प्रयेभे रघुप्रभृत्ता कथयाग्यकार' सं० १७१, पृ ४५१ पद १५।

७४ सिडो ए हि पृ २७।

७५ इसका विस्तृत वृत्तान्त मा-त्वान-लिन ने दिया है। अंकोर के चित्रों में भी कम्बुज सेनापतियों की अध्यक्षता में स्यामी सैनिक लड़ते दिखाये गये हैं। मजुमदार, कम्बुज देश पृ १२३ बु ई फा २६, पृ १८। आर्ट एव भ्नू १ पृ ११८।

७६ चम्पा, पृ १५५ ६।

हुआ के प्रान्तीय शासक ने उन्हें हरा दिया। अनम के साथ सन्धि हो गयी और वहां राजदूत भेजे गये। दो वर्ष बाद कम्बुजसेना ने पुन: अनम पर आक्रमण किया पर चम्पा की सेना ने ख्मेरों का साथ दिया और कम्बुजसेना हार गयी। चम्पा के दक्षिणी भाग मे एक नये राजा जयहरिवर्मन् का राज्याभिषेक हुआ। सूर्यवर्मन् ने चम्पा पर अधिकार करने के लिए अपने सेनापति शंकर को भेजा और उसके साथ कम्बुज-अधीन विजय की सेना भी थी। चम्पा के लेखों से प्रतीत होता है[77] कि जयवर्मन् की सेना ने ख्मेरों का राजपुर के मैदान में ११४७ ई में हरा दिया और कम्बुज सेनापति मारा गया। दूसरे वर्ष सूर्यवर्मन् ने एक विशाल सेना चम्पा के विरुद्ध वीरपुर में भेजी पर हरिवर्मन् ने इसे भी हरा दिया।[78] हरिवर्मन् की ओर से आक्रमण की सम्भावना के डर से उसने विजय में अपनी प्रथम सम्राज्ञी के छोटे भाई को वहां का शासक बना दिया और उसकी रक्षा के लिए कम्बुजसेना रख दी। जयहरिवर्मन् हरिदेव के विजय पहुंचने से पहले ही वहां सेना लेकर पहुंच गया और नगर घेर लिया। महीश के मैदान में जयहरिवर्मन् ने हरिदेव को हरा दिया और ख्मेरों का अधिकार चम्पा से जाता रहा। यह ११४९ की घटना है। दूसरे वर्ष ११५ में सूर्यवर्मन् ने अनम के विरुद्ध पुन: सेना भेजी पर प्राकृतिक सुविधा के बिना वह लौट आयी।[79] सूर्यवर्मन् का राज्यकाल युद्ध करते-करते बीता। अन्य सूत्रों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि सूर्यवर्मन् की बराबर पराजय होती गयी किन्तु उसके लेखों में लिखा है कि अपनी दिग्विजयों से वह रघु से भी आगे बढ़ गया (रघुम्लानतं लघयाम्बकार)। चीनी सूत्रों के अनुसार इसका राज्य चम्पासे दक्षिण बहुत तक फैला था और मत्स्य देश की बैंडो की खाड़ी तक का प्रान्त उसके अधिकार मे था।[80] सूर्यवर्मन् ने अंकोरवाट की स्थापना की थी और मृत्यूपरान्त इसे 'परमविष्णुलोक' नाम से सम्बोधित किया गया। इस सम्राट् का झुकाव वैष्णव धर्म की ओर था। अंकोरवाट मे विष्णु-कृष्ण के जीवन की लीलाएं अंकित हैं। १२वी शताब्दी मे कम्बुज और जावा में भक्तिमार्ग जोर पकड़ रहा था और इसी लिए

७७. मजुमदार चम्पा पृ १६ से। चम्पा लेख नं ७२, ७४ ७५
७८. सिडो ए हि पृ २७१।
७९ मासपेरो बु इ फ्रा १८।३।पृ १४
८ ए हि पृ २७३।

यह आश्चर्यजनक बात नहीं कि सूर्यवर्मन् जिसने दिवाकर पंडित से गुह्यसूत्र की दीक्षा ली थी अब शैववाद से भक्तिवाद की ओर प्रेरित हो गया तथा कृष्ण-विष्णु की भक्ति में लीन हो गया। सम्राट् के राज्यकाल के अंतिम वर्षों का इतिहास अंधकारमय है। ११५५ ई० में एक दूत यहाँ से चीन भेजा गया था[८१] पर इस सम्बन्ध में अन्य किसी स्रोत से प्रकाश नहीं मिलता है। सूर्यवर्मन् द्वितीय के बाद धरणीन्द्र-वर्मन् द्वितीय कम्बुज का राजा हुआ।

धरणीन्द्रवर्मन्–यशोवर्मन् द्वितीय

धरणीन्द्रवर्मन् का सूर्यवर्मन् द्वितीय के साथ कोई सम्बन्ध न था। सिदो के मतानुसार इसका पिता महीधरादित्य सूर्यवर्मन् की माता नरेन्द्रलक्ष्मी का भाई था। अतः यह सूर्यवर्मन् के मामा का लड़का था। उसने हर्षवर्मन् तृतीय की पुत्री श्रीजयराजचूड़ामणि के साथ विवाह किया था।[८२] इसी विद्वान् का मत है कि राज-प्रासाद में किसी विप्लव के कारण इसे सम्राट् बना दिया गया होगा। इस सम्राट् का कोई लेख नहीं मिलता है। यह बौद्ध था और इसके समय में बौद्ध धर्म की वृद्धि हुई। इसके बाद यशोवर्मन् द्वितीय गद्दी पर बैठा पर इसका गत सम्राट् से कोई सम्बन्ध न था। बन्ते-छमर के एक लेख[८३] से इसके राज्यकाल पर प्रकाश डाला जा सकता है। इस लेख में सम्राट् यशोवर्मदेव का उल्लेख है जिसकी यशोवर्मन् प्रथम से तुलना नहीं की जा सकती है वरन् सिदो के मतानुसार यह यशोवर्मन् द्वितीय था।[८४] इसके समय में भरतराहु सम्वृद्धि नामक व्यक्ति ने विप्लव खड़ा कर दिया जिसने भीषण रूप धारण कर लिया। जब भरतराहु प्रासाद पर अधिकार करने के लिए बढ़ा और रक्षक सेना भाग खड़ी हुई तो श्री इन्द्रकुमार लड़ा और उसकी सहायता सञ्जक अर्जुन और सञ्जक श्रीधरदेवपुर ने की। भरतराहु हार गया। लेख के साथ अंकित चित्र में राहु द्वारा सूर्य को ग्रसित करते हुए दिखाया गया है। श्री इन्द्रकुमार, जिसने विप्लव शान्त किया कदाचित् भावी सम्राट् जयवर्मन् सप्तम था

८१ वही पृ २७५।
८२ बु इ फ्रा २९, पृ ११।
८३ मजुमदार, कम्बुज लेख नं १८३ पृ ५१८।
८४ बु इ० फ्रा २९, पृ ३ ५१९ हि पृ ३७८।

पुत्र था। इसी इन्द्रकुमार की अध्यक्षता में एक सेना चम्पा के विरुद्ध पहले भेजी गयी थी जो शत्रु को जीतकर लौट आयी थी। लौटते समय सेना के पिछले भाग पर चमों ने आक्रमण कर दिया और केवल ३ व्यक्ति बाकी बचे। श्री इन्द्रकुमार की सम्बक श्रीदेव तथा सम्बक श्रीवर्द्धन ने रक्षा की पर उन्होंने वीरगति प्राप्त की। कम्बुजसेना वीरता से कई स्थानों पर लड़ी पर उसे वापस आना पड़ा। इन्द्रकुमार की मृत्यु युवावस्था में ही हो गयी थी और उसकी मूर्ति सम्बकों की मूर्तियों के साथ स्थापित की गयी। चम्पा की ओर से अशान्ति बनी हुई थी और इसलिए जयवर्मन् के सेनापतित्व में एक और सेना विजय (मध्य चम्पा) भेजी गयी। इसी समय कम्बुज में एक और विप्लव हुआ और त्रिभुवनादित्य यशोवर्मन् का वध कर वहां का शासक बन बैठा।[८५] यह समाचार मिलते ही जयवर्मन् ने कम्बुज की ओर प्रस्थान किया पर वह देर से पहुंचा और त्रिभुवनादित्य वहां का शासक घोषित हो चुका था। यह घटना ११६५ ई की है।[८६]

त्रिभुवनादित्य

त्रिभुवनादित्यवर्मन् का अधिक समय युद्ध करते बीता। इसका राज वंश से कोई सम्बन्ध न था। चम्पा के साथ इसके संघर्ष का उल्लेख कम्बुजलेखों[८७] जय इन्द्र वर्मन् चतुर्थ के पो नगर लेख[८८] तथा चीनी स्रोतों से मिलता है। मास्पेरो ने तीन स्रोतों के आधार पर इसका विस्तृत रूप से वर्णन किया है।[८९] इनके अनुसार जय इन्द्रवर्मन् ने ११७ ई में कम्बुज पर आक्रमण किया और यह युद्ध ७ वर्ष तक चलता रहा। ११७७ में एक बड़ा बेड़ा मकांग नदी के मुहाने से राजधानी की ओर बढ़ा। उसे लूटकर वह वापस चला गया। इस संघर्ष में त्रिभुवनादित्यवर्मन्

८५ मजुमदार, कम्बुज, लेख नं १८२, पृ ५११।

८६ सिडो ए हि पृ ९७६।

८७. जयवर्मन् का प्रसत तोर लेख कम्बुज लेख नं १८ पृ ५ १ पद ६५, ६९। सिडो इ क १२२७। इसी शासक का फिमीनक लेख नं १८२, पृ ५१५। सिडो, इ क २, पृ १६१। फिनो बु इ फ्रा २५, पृ ३७२।

८८. मजुमदार, चम्पा, नं ८ पृ १९८।

८९. चम्पा, पृ १६४ से।

मारा गया पर कम्बुज देश की रक्षा जयवर्मन् ने की। उसने चमों को समुद्री युद्ध में हराया और चार वर्ष बाद वह सम्पूर्ण कम्बुज का सम्राट् घोषित हुआ।[९] इस सामुद्रिक विजय का चित्रण बे योन तथा अंग्कोर थम की शिल्पकला में अंकित है।

जयवर्मन् सप्तम

१२वीं शताब्दी के अंतिम भाग में कम्बुज देश की गिरती हुई राजनीतिक परिस्थिति को जो चमों के आक्रमण और गृहयुद्ध के कारण अत्यन्त गंभीर हो चली थी सँभालने का श्रेय जयवर्मन् को है। ११७७ के चमों के आक्रमण से देश पर घोर आपत्ति आ गयी थी। त्रिभुवनादित्य जिसने अनधिकृत रूप से राज्य प्राप्त किया था इसको न रोक सका और उसे अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ा। इसी समय धरणीन्द्रवर्मन् द्वितीय के पुत्र ने जिसका पिता तथा माता की ओर से कम्बुज सिंहासन पर अधिकार पहुँचता था कम्बुज शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। जयवर्मन् का जन्म ११२५ ई० के बाद ही हुआ था और उसने जयराजदेवी से विवाह किया। सूर्यवर्मन् द्वितीय के शासनकाल में वह युवक रहा होगा।[१०] एक अनिश्चित तिथि में वह एक सेना लेकर चम्पा की राजधानी विजय (बिन-दिन्ह) गया वहाँ यशोवर्मन् द्वितीय की मृत्यु और त्रिभुवनादित्य के अनधिकृत रूप से राज्य प्राप्त करने का समाचार मिलते ही वह स्वदेश वापस लौटा। चमों के आक्रमण और उनकी पराजय के बाद ११७७ ई० से ११८१ ई० तक का समय कम्बुज देश के लिए शान्ति का युग था। उसने राजधानी का पुनः निर्माण किया और उसके चारों ओर खाइयाँ खुदवायीं।

दिग्विजय

मा-त्वान-लिन के मतानुसार[११] उसने सिंहासन पर बैठते ही चमों से बदला

९ मजुमदार कम्बुज लेख नं० १९ पृ० ५४१ पद ४। बु० इ० फ्रा० २५, पृ० ३९३।

१० बु० इ० फ्रा० ३९, पृ० ३४।

२ ब० इ० फ्रा० २८, पृ० ५८-५९।

११ सिदो ए० हि० पृ० २८७।

वर्मन् (रघुपति) की हार हुई और वह मारा गया। चम्पा के दोनों भाग सूर्यवर्म-देव के हाथ आ गए। जयहरिवर्मन् और-धनुष ने जिसे जयवर्मन् ने सहायता के लिए भेजा था सूर्यवर्मदेव के विरुद्ध उपद्रव खड़ा कर दिया। पर बाद में उसे सूर्यवर्मदेव ने हरा दिया तथा उसका वध करके वह सम्पूर्ण चम्पा का एकमात्र अधिकारी बन बैठा। जयवर्मन् ने सूर्यवर्मदेव के इस स्वतन्त्र रूप को दबाने का ११ ३—४ में दो बार प्रयास किया पर उसे असफलता का मुंह देखना पड़ा। सूर्यवर्मदेव अधिक समय तक शान्तिपूर्वक राज्य न कर सका। १२ ३ ई में कम्बुज सम्राट् ने उसके चाचा युवराज ओं-धनपतिग्राम को उसके विरुद्ध भेजा। यह युवराज भी सूर्यवर्मदेव की भांति चम्पा से भागकर कम्बुज आया था और इसने वहां शरण ली थी। इसने भी मलयग के विद्रोह को शान्त करने में प्रमुख भाग लिया था और यह भी सम्राट् का कृपापात्र बना। अपने भतीजे को हराकर यह चम्पा का शासक बना और इसने जयवर्मन् का आधिपत्य स्वीकार किया। इसी समय में चम्पा के कई भागों में विद्रोह हुए जिसमे आसापु के विद्रोह को दबाकर उसे कम्बुज सम्राट् के पास भेज दिया गया। सम्राट् ने प्रसन्न होकर १२ ७ ई में विधिपूर्वक उसे चम्पा का शासक घोषित किया। १२ ७ से लेकर १२१८ ई तक अनामियों से भी संघर्ष चलता रहा। पो-नगर के लेख [१] के अनुसार ११२८ शक सं १२ ७ ई में सम्राट् द्वारा युवराज को चम्पा के सिंहासन पर बैठाने के बाद कम्बुज से आयी स्यामी और पुकम (पगान) की सेना का उत्तर में अनामियों के साथ संघर्ष हुआ। दोनों ओर बड़ी सैनिक क्षति हुई शक सं ११४२ (१२२ ई) में ख्मेरों ने चम्पा को छोड़ दिया और श्री जय परमेश्वरवर्मन् द्वितीय शक सं ११४८ (१२२६ ई) में चम्पा का सम्राट् हो गया। यह कहना कठिन है कि उस समय जयवर्मन् सप्तम कम्बुज का शासक था अथवा मर चुका था।

उत्तर पूर्व के अतिरिक्त पश्चिमी क्षेत्र में भी जयवर्मन् को अन्य शक्तियों के साथ संघर्ष करना पड़ा। पगान और स्यामी सैनिकों का कम्बुज राज्य की ओर से अनामियों के विरुद्ध चम्पा में लड़ना यह संकेत करता है कि कम्बुज का इन दोनों देशों अथवा इनके कुछ भागों पर अवश्य अधिकार हो गया होगा। ११वीं शताब्दी के मध्य भाग से पगान राज्य की शक्ति बढ़ रही थी और रमञ्ञ देश पर अधिकार

१९. मजुमदार, चम्पा लेख सं ८६, पृ २ ९।

पश्चात् उसने जातक कथाओं के आधार पर एक नाटक की रचना की और उसे खेला जिसमें भिक्षुणियों ने भाग लिया था। जयवर्मन् की दोनों सम्राज्ञियों ने सम्राट् की धार्मिक प्रवृत्ति में बड़ा अंशदान दिया था जिसके फलस्वरूप उसने जनता के कल्याण के लिए चिकित्सालय और विश्रामशालाओं का भी निर्माण कराया। ता-प्रोम के स्तम्भ लेख में इनका विवरण विस्तृत रूप से मिलता है। राजविहार अथवा ता प्रोम के मन्दिर के लिए जहाँ उसने अपनी माँ की प्रज्ञापारमिता के रूप में मूर्ति स्थापित की ११,१२५ व्यक्ति नौकर थे और १४ [illegible] मात्रा की आय का उसमें व्यय होता था। एक अमूल्य मन्दिर के लिए सोना चाँदी हीरा मोती तथा अन्य रत्नों का दान किया गया। सम्पूर्ण राज्य में ७९८ मन्दिर और १०२ चिकित्सालय थे जिनमें से १५ चिकित्सालयों का स्थान लेखों के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है।[103] इन स्थानों में चिकित्सालयों के प्रशासन के लिए एक ही प्रकार के नियम लिखे हुए हैं। सम्राट् ने मुख्य मार्गों पर १२१ वह्निगृह अथवा धर्मशालाएं भी बनवायीं जो यात्रियों तथा पथिकों के आराम के लिए थीं। सम्राट् स्वयं बौद्ध था और मृत्यु पश्चात् उसे 'महापरमसौगत' नाम से सम्बोधित किया गया। वह महायान सम्प्रदाय का अनुयायी था तथा लोकेश्वर का उपासक था। प्रह-खन लेख के अनुसार शक सं० ११११ (११९१ ई०) में उसने बोधिसत्व लोकेश्वर के रूप में अपने पिता की मूर्ति वहाँ के मन्दिर में स्थापित की। पर बौद्ध होते हुए भी उसके यहाँ ब्राह्मणों का आदर होता था। राजपुरोहित के पद पर नरपतिदेश कदाचित् बर्मा से आया हुआ हृषीकेश नामक भारद्वाजगोत्रीय एक ब्राह्मण था और उसके दो उत्तराधिकारियों के समय में भी वह इसी पद पर रहा।[105]

कलात्मक क्षेत्र में अंशदान

जयवर्मन् ने अपने जीवन काल में धार्मिक के अतिरिक्त कलात्मक क्षेत्र में भी अंशदान दिया। अंकोर-थोम और उसकी वीथी में अंकित चित्र पाँच तोरण और

१०२ वही नं १७७, पृ ४५१। बु इ फ्रा १ पृ ४४।
१०३ बु इ फ्रा ४ नं १४४।
१०४ मजूमदार कम्बुज लेख नं १७८, पृ ४७५।
१०५ वही नं १९ पृ ५४१।

बीच में बेयोन का विशाल मन्दिर, बन्ते-क्दाई, ता-प्रोम प्रह्-खन निएक पिएन बन्ते चमर, बट चौकोर उसकी कृतियां हैं। बन्ते-क्दाई अथवा पूर्व तथागत का मन्दिर कदाचित् सबसे पहले बना और ११८६ में राजविहार (वर्तमान ता-प्रोम) बना जिसमें सम्राट् की मां जयराजचूडामणि की मूर्ति प्रज्ञापारमिता के रूप में स्थापित की गयी।[१५] पांच वर्ष बाद ११९१ में जयश्री का मन्दिर (वर्तमान प्रह् खन) बना जिसमें इसके पिता धरणीन्द्रवर्मन् द्वितीय की मूर्ति बोधिसत्त्व लोकेश्वर के रूप में जयपरमेश्वर नाम से स्थापित की गयी।[१] राजश्री (वर्तमान निएक-पिएन) का मंदिर झील के बीच में बनाया गया। राज्यकाल के अन्तिम वर्षों में मन्दिरों की वीथियों तथा बेयोन के मन्दिर का निर्माण हुआ जो बिलकुल बीच में स्थित है और इसके चारों ओर वीथियां हैं जिनमें चित्र अंकित हैं। कलात्मक दृष्टि से इन कृतियों पर आगे विचार किया जायगा।

जयवर्मन् ने २ वर्ष से अधिक काल तक राज्य किया।[१७] उसका अंतिम तिथि सबंधी लेख संमोर में शक स ११२१ का मिला है। इसके पहले जयवर्मन् की अंतिम तिथि १२ १ मानी जाती थी।[१८] प्रसत-लिक (कन्जल) प्रान्त से प्राप्त शक सं ११२८ (१२ ६ ई) का लेख मिला है जिसमें केवल यवर्म्मदेव लिखा है और सिदो ने इसे जयवर्म्मदेव (जयवर्मन् सप्तम) माना है। यदि इसे जयवर्मदेव ही मान लें तो इस सम्राट् का अन्तिम लेख ११२८ शक सं अर्थात् १२ ६ ई का मिलता है और इसने २५ वर्ष तक राज्य किया।

१ ६. सिदो पु इ क्रा ६, पृ ७५।

१ ७. पु इ क्रा ४१ पृ १८८। ए हि पृ २९४।

१ ८. जयवर्मन् सप्तम के लेख ता-प्रोम (शक सं ११ ८) प्रह्-खन सदोंग प्रसत तोर (शक सं १११७ अथवा १११८) प्रसत भुन छिमेनक, बन्ते चमर तथा संमोर (११२१) से मिले हैं। इनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसने लगभग ९ वर्ष तक राज्य किया होगा। (मजूमदार, कम्बुज लेख क्रमांक १७७ से १८४ तक, पृ ४५६, ५१)।

१ ९. पु इ क्रा २८, पृ १ २।

११ मजूमदार, कम्बुज लेख नं १८५, पृ ५११। इ क इ पृ ११६।

जयवर्मन् अष्टम

इन्द्रवर्मन् द्वितीय के बाद जयवर्मन् अष्टम कम्बुज का शासक हुआ।[115] अंकोर के श्रीमद्जयवर्मन् के एक लेख से[116] पता चलता है कि नरपति देश के भारद्वाजीय ब्राह्मण जय महाप्रधान ने भी इन्द्रवर्मन् की आत्मा की शान्ति के लिए ११६५ (१२४३ ई०) में प्रार्थना की। कदाचित् उसकी इसी वर्ष मृत्यु हुई थी। उसने श्रीप्रभा से विवाह किया था जिसकी पुत्री चक्रवर्ती राजदेवी जयवर्मन् अष्टम की सम्राज्ञी हुई। इस लेख में यह भी लिखा है कि उसने अपने जामाता श्री इन्द्र के लिए अपना सिंहासन छोड़ दिया और शक सं० १२२९ में श्री इन्द्र भी तप करने के लिए जंगल चला गया।[117] सं० ११६५ (१२४३ ई०) और १२२९ (१३०७ ई०) के बीच के काल में हम जयवर्मन् अष्टम तथा उसके जामाता श्री इन्द्र को रख सकते हैं। इसी समय में मंगोलों का भी चम्पा और कम्बुज की ओर धावा हुआ। १२८३ में मंगोल सेनापति सोगातु उत्तर और मध्य चम्पा की ओर बढ़ा। कम्बुज की ओर से कुबलई खाँ को १२८५ में भेंट भेज दी गयी और देश मंगोलों के आक्रमण से बच गया।[118] चेऊ-ता-कुवान ने जो १२९६ में कम्बुज आया लिखा है कि थोड़े समय पहले मुंगोलों के बाइयों के साथ संघर्ष के फलस्वरूप देश को बड़ी क्षति पहुंची थी। जयवर्मन् का सिंहासन त्याग और उसके जामाता का इस पर आरूढ़ होना नाटकीय ढंग से हुआ था। जयवर्मपरमेश्वर के थकारयान के लेख[119] से पता चलता है कि सम्राट् का होता (होतृ) शिवाविमल आर्यदेशीय व्यक्ति था और उसने इन्द्रवर्मन् युवराज का अभिषेक किया था।

और लेख वत्ते-माई में मिला (नं० १८९, पृ० ५१५) पर इसमें तिथि नहीं है।

११५ बु० इ० फ्रा० २५, पृ० २९१।

११६ मजुमदार, कम्बुज लेख नं० १९ पृ० ५४।

११७ मूर्त्वा भावि पुण्ड्रं (बामा) तुर्भोग्रभूपती।
विभ्रमु राज्य यो बहुतामयं गतः। वही पद ४१ पृ० ५४६।

११८ सिडो ए० हि० पृ० १४ पिलिओ बु० इ० फ्रा० २१४।

११९ कम्बुज लेख नं० १९१ पृ० ५४८।

कम्बुज के अन्तिम शासक

चेऊ-ता-कुएन के समय मे श्रीन्द्रवर्मन् कम्बुज सम्राट् था और उसने १३ ७ ई तक राज्य किया फिर अपने पुत्र युवराज को सिंहासन देकर जंगल चला गया। इसके कई लेख मिलते है।[१२०] वत्ते-भाई का लेख शक सं १२२९ का है और कोक-स्वे कापाली का लेख १२१ (१३ ९ ई)का है। इस लेख से कम्बुज में लंका के हीनयान मत के प्रवेश का संकेत है। इसमें एक विहार तथा बुद्ध मूर्ति की स्थापना का उल्लेख है। श्री इन्द्रवर्मन् ने अपने पुत्र युवराज के पक्ष मे १३ ७ में सिंहासन छोड़ दिया और नये शासक ने श्रीन्द्रजयवर्मन् के नाम से २ वर्ष तक राज्य किया। इसके समय का एक लेख[१२१] अंकोर में मिलता है। इसमें उसके पुरोहित जय महाचार्य ब्राह्मण की १ ४ वर्ष की आयु में मृत्यु तथा राजधानी मे उसकी मूर्ति स्थापना का उल्लेख है। १३२ ई मे चीन से एक विशिष्ट मंडल हाथी खरीदने कम्बुज आया था। १३२७ मे जयवर्माधिपरमेश्वर सिंहासनारूढ़ हुआ। इसका उल्लेख बे-श्रोम के एक ख्मेर लेख तथा अंकोरवाट के एक संस्कृत लेख[१२२] मे मिलता है। इसमें विद्याविशेष श्रीमन्त नामक एक ब्राह्मण का श्री इन्द्रवर्मन् श्री इन्द्रजयवर्मन् तथा जयवर्माधिपरमेश्वर के राज्यकाल मे राजपद पर नियुक्त होने का उल्लेख है। १३३ ई० में इसने एक दूत चीन भेजा तथा १३३५ मे एक मंडल अनम आया।[१२३] कम्बुज का अन्तिम इतिहास दो निकटवर्ती राज्यों के संघर्ष की कहानी है। एक तो सुखोदै के राज्य के बाद अयूथिया में स्थापित थाई राज्य था और दूसरा अनम का राज्य था जिसका चम्पा पर अधिकार हो गया था। १३५२ मे अयूथिया के प्रथम शासक रम थिपति ने अंकोर पर अधिकार कर लिया और वहां अपने पुत्र को बैठा दिया। उसके बाद १३५७ में दो और कुमार वहां स्याम की ओर से शासन करते रहे। १३५७ में संपोग राजा जिसने लाओस मे शरण ली थी सूर्यवंश राजाधिराज

१२ वही नं १८७ १८८, १८९ (प व)।

१२१ वही नं १९ पृ ५४ । सिडो बु इ का ३६ १५।

१२२ बु इ फ्र ४ पृ २४ नोट ५। सिडो ए हि पृ ३७९।

१२३ कम्बुज लेख नं १११ पृ ५४८। सिडो : बु इ फ्र २८ पृ १४५।

१२४ सिडो : ए हि पृ ३७९।

के नाम से गद्दी पर बैठा।[१२५] उसने स्यामियों के नये आक्रमणों को रोका और उत्तर में कोरत तथा पश्चिम में अंचिन तक अपना राज्य कायम रखा। उसने २ वर्ष तक राज्य किया। 'मिंग वंश का इतिहास' के अनुसार १३७९ में एक नवीन राजा कम्बुज में राज्य कर रहा था जिसका नाम समल्क कम्बुजाधिराज था और उसके बाद उसका पुत्र धम्माशो राजाधिराज हुआ। स्याम की ओर से १३९३ ई में पुनः आक्रमण हुआ और इन्द्र राजगद्दी पर बैठाया गया पर थोड़े समय बाद उसका वध कर दिया गया। १४वीं शताब्दी के बाद का कम्बुज का इतिहास अन्धकारमय है। विपक्षी राजनीतिक शक्तियाँ दो ओर से कम्बुज को दबा रही थीं। शक्ति और सम्मान से क्षीण होकर यह देश केवल अपने अतीत काल के गौरव की चादर ओढ़े सदा के लिए सो गया। यशोवर्मन् सूर्यवर्मन् तथा जयवर्मन् के निर्मित विशाल मन्दिरों को प्रकृति ने अपने आँचल में ढक लिया। १८५४ तक फ्रांसीसियों ने यहाँ अपने पैर पूरी तरह जमा लिये और १ वर्ष के ऊपर तक इनका यहाँ अधिकार रहा।

१२५. वही, पृ १९१

अध्याय ७

शासन-व्यवस्था

कम्बुज लेखों से उस देश की शासन-व्यवस्था पर पूर्णतया प्रकाश डाला जा सकता है। यहां यह ध्यान देने योग्य बात है कि विस्तृत कम्बुज राज्य जो दक्षिण और चम्पा तथा स्याम की सीमाओं से घिरा था और जिसमें विभिन्न जाति के लोग रहते थे एक राजनीतिक सूत्र में बांधा जा सका और लगभग ७ वर्ष तक यहां की राजकीय व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रही। देश में पहले स्त्री राज्य था और भारतीय कौण्डिन्यों ने आकर यहां अपना शासन जमाया। शासक पद पर ज्येष्ठ पुत्र के अतिरिक्त माता की ओर के सम्बन्धी भी अधिकारी हो सकते थे। इसी कारणवश उत्तराधिकारी का प्रश्न कभी-कभी जटिल समस्या बन जाया करता था पर राजकीय व्यवस्था को कायम रखने का श्रेय उस शासनप्रणाली को था जो भारतीय परम्परा पर आधारित थी और जिसके अन्तर्गत शासक के प्रति श्रद्धा की भावना ओत-प्रोत थी। देश प्रान्तीय और स्थानीय जनपदों में विभाजित था और व्यवस्था में गणतन्त्रवाद के भी लक्षण पाये जाते थे। लेखों में राज-सभा सभापति तथा ग्राम-वृद्धों द्वारा स्थानीय शासक को चुनने के प्रमाण मिलते हैं जिनसे गणतंत्रवाद का संकेत होता है। प्रायः पिता के बाद पुत्र ही राज-सिंहासन प्राप्त करता था और इसी लिए इस शासन-व्यवस्था में किसी प्रकार की कमी नहीं रह गयी थी। उपर्युक्त दृष्टिकोण से हम कम्बुज की शासन-व्यवस्था में सम्राट् के पद, उसके अधिकार, राजकीय प्रासाद, प्रान्तीय शासन शासन पदाधिकारी भिन्न पदाधिकारी न्याय स्थानीय शासन भूमि बिक्री प्रबन्ध सैनिक शासन नियुक्तियां और शपथ तथा अन्य सम्बद्ध विषयों पर प्रकाश डालेंगे।

सम्राट् का पद और उसके अधिकार

लेखों में अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र का उल्लेख है[1] और शासक के पद की

1 मजुमदार, कम्बुज लेख नं १ पृ १८, श्लो ६।

पूर्णतया व्याख्या की गयी है। कम्बुज देश में सम्राट् को देवता स्वरूप माना जाता था और इसे धर्म का रूप दिया गया था। एक लेख में जयवर्मन् का शिव के ही अंग से पृथ्वी पर जन्म लेना कहा गया है। शासन-व्यवस्था में सम्राट् सर्वोत्तम पदाधिकारी था तथा वही विधान का भी स्रोत था। सेना का भी वह सबसे उच्च अध्यक्ष था और उसी के द्वारा प्रान्तीय शासकों की नियुक्ति होती थी। वह सब मामलों में हस्तक्षेप कर सकता था। उसकी सहायता के लिए मन्त्री तथा अन्य पदाधिकारी होते थे। एक लेख में 'राज्यसभाधिपति' का उल्लेख है। किन्तु उसके सम्राट् के साथ सम्बन्ध तथा उसके अधिकारों का कहीं भी वर्णन नहीं है। सम्राट् की रक्षा का भार राष्ट्र पर था और इसी लिए 'नृपान्तरंग' तथा 'द्वाराध्यक्ष' नामक उसके अंग रक्षक रहते थे। 'शयनगृह परीक्षक' और 'नरेन्द्रपरिचारक' इत्यादि राजप्रासाद के विशेष रूप से रक्षक थे। चीनी सूत्रों के अनुसार उसके सहस्रों अंगरक्षक थे। सम्राट् के प्रति जनता अपने संचित पुण्यों को अर्पित करने के लिए सदा ही उत्सुक

'तस्य तौ मन्त्रिणावास्तां सम्मतौ कृतवेदिनौ।
धर्मशास्त्रार्थशास्त्रज्ञौ धर्मार्थाविव रूपिणौ ॥'

एक लेख में सम्राट् को सर्वोपधा-शुद्ध कहा गया है। नं १२ पृ १८, पद १२। जिससे उसके शुद्ध आचरण का संकेत होता है। देखिए, अर्थशास्त्र १ अध्याय १ ।

२ कम्बुज लेख नं १४ पृ ४५, पद २३।
'तस्य नियमसहस्रारामं
सर्वप्रमाक्लीबम् जितं श्री जयवर्मणा ॥'

३ प्रायः विषयपति पद पर नियुक्ति के पहले उसे अन्य छोटे पदों पर भी काम करना पड़ता था। चीनी स्रोतों के अनुसार प्रान्तीय शासक के पद पर प्रायः राजकुमारों की ही नियुक्ति होती थी। इस विषय पर विस्तृत रूप से आगे विचार किया जायगा।

४ मजुमदार, कम्बुज लेख, नं १६, पृ ४१।
५ वही नं १४ पृ ४६ पद १६।
६ वु ह मा पृ २६४।

रहती थी जैसा कि लेखों में उल्लेख है। कभी-कभी सम्राट् के कोई विशेष कृपापात्र पदाधिकारी भी होते थे।

प्रान्तीय शासन

वृहत् कम्बुज साम्राज्य बहुत-से प्रदेशों में विभाजित था जो चीनी सूत्रों के अनुसार ३ थे। लेखों में भी कई एक का उल्लेख है जैसे तंडग्रपुर, ताम्रपुर, भाव पुर भेज्पुर, मलपुर, भुवपुर, धन्विपुर ज्येष्ठपुर विक्रमपुर, उग्रपुर और ईशानपुर। बाडमपुर का शासक सिंहदत्त सम्राट् का भिषग् भी था[७] और धर्मपुर का शासक ब्राह्मण था। एक लेख में मलपुर और ज्येष्ठपुर के शासकों द्वारा दिये गये दानों के सम्बन्ध मे उल्लेख है।[८] इनकी नियुक्ति सम्राट् द्वारा होती थी। ये प्रायः राजवंश के पर कभी-कभी उच्च पदाधिकारी भी प्रान्तीय शासक नियुक्त होते थे। एक लेख में धर्मस्वामिन् के ज्येष्ठ पुत्र का भुवपुर के शासक के पद पर नियुक्त होने का उल्लेख है। वह पहले 'महाश्वपति' पद पर रह चुका था। लेख में 'पुनर्दुपुर प्राप्त' यह संकेत करता है कि या तो वह पहले भी यहीं शासक रह चुका था अथवा अपने पिता के बाद उसकी इस पद पर नियुक्ति हुई थी। पैतृक रूप से नियुक्ति व्यक्तित्व और विद्वत्ता पर भी आधारित थी। राजाविहार नामक एक सामन्त का नाम एक लेख में मिलता है और एक अन्य लेख में ताम्रपुर के सामन्त का उल्लेख है जिसके अधिकार में चक्रांगपुर, अमोघपुर और भीमपुर थे।[१]

अन्य पदाधिकारी

कम्बुज लेखों में कुछ उच्च पदाधिकारियों की समानता प्राचीन भारतीय

७ मजुमदार कम्बुज लेख नं १३९, पृ ३४४। नं १४८, पृ ३६१। पृ ३३४।

८. वही नं १६, पृ १६।

९. वही नं १४ पृ ५५।

१ वही, नं १२ पृ ११।

११ वही नं १४ पृ ४४।

१२ वही, नं २५, पृ १।

शासन-व्यवस्था के पदाधिकारियों से की जा सकती है। इनमें क्रमशः कुमारमंत्री[13] बलाध्यक्ष मंत्री[14] राजभिषक[15] और राजकुल-महामंत्री[16] उल्लेखनीय हैं। कुमार मंत्री की समानता उत्तरी भारत के लेखों में उल्लिखित कुमारामात्य से की जा सकती है।[17] ये राजकुमारों के साथ में रहते थे और प्रायः इनका कर्तव्य उन पर नियन्त्रण रखना तथा उनके द्वारा सम्राट् के आदेशों का पालन करना भी था। बलाध्यक्ष का उल्लेख भी भारतीय लेखों में है और इसकी समानता बलाधिकृत से की जा सकती है।[18] यह सेनापति से भिन्न था जो सेना के साथ युद्धभूमि में जाता था। बलाधिकृत कदाचित् राजकीय मंत्रालय में सेना सम्बन्धी विषयों का अध्यक्ष था और उसके लिए युद्धभूमि में जाना अनिवार्य न था। मंत्री का भी कई लेखों में उल्लेख है। उसकी नियुक्ति सम्राट् करता था। मन्त्रियों की संख्या एक से अधिक रहती थी क्योंकि किसी लेख में दो मन्त्रियों का उल्लेख है और वे प्रायः उच्च कुल के ही होते थे। चीनी सूत्र के अनुसार ईसा की सातवीं शताब्दी में सम्राट् के सम्मुख पाँच प्रकार के उच्च पदाधिकारी आसन ग्रहण करते थे और सम्राट् उनसे परामर्श करता था। अंकोरवाट के चित्रों में भी इस प्रकार की राजकीय सभा दिखायी गयी है। अन्य पदाधिकारियों में पुरोहित द्वाराध्यक्ष[21] सभाधिपति[22] गुण-दोषपरीक्षक[23] होते थे। कुछ अन्य छोटे पद विहारों से सम्बन्धित

१३ वही, नं० ६६, पृ० १९७ पद १६।
१४ नं० ७१ (अ) पृ० १४९, पद ४१।
१५ नं० ६७, पृ० १३३ पद १६।
१६ नं० ३ पृ० ३९।
१७ नं० १ पृ० २६६।
१८ भंडारकर, लिस्ट आफ इंसक्रिप्शंस नं० १२७ १२७१ १२७२ इत्यादि।

१९ 'बलाध्यक्ष' और 'बलाधिकृत' पर्यायवाची प्रतीत होते हैं। महाभारत ७ १८९ हरिवंश १५ ८४१। एपीग्राफिया इंडिका १ पृ० ८५। १४ पृ० १८२।
२० चटर्जी इंडियन कलचरल इन्फ्लुएंस (इ० क० इ०) पृ० ६१।
२१ मजुमदार कम्बुज लेख नं० ६१ पृ० ८८।
२२ मजुमदार कम्बुज लेख नं० ८६, पृ० १७६, पद ६।
२३ वही, नं० ८७, पृ० १७६।

थे। प्रसत कोमनप के लेख[24] में इस प्रकार के बहुत-से छोटे पदाधिकारियों का भी विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के विहारों से सम्बन्ध था जिनका यशोवर्मन् ने निर्माण किया था। इनमें राजकुटीपाक पुस्तकरक्षक लेखक थे। उत्सेकधारक छत्राधिहारक पाणिग्रहारक पत्रकारक ताम्बुलिक तन्दुलकारिन्य और धूपक चतुर की श्रेणी में थे और उनका शासन से सम्बन्ध न था। लेखक की समानता कायस्थ से की जा सकती है और जिसका उल्लेख भारतीय लेखों में मिलता है।[25] 'पुस्तक-रक्षक' कदाचित् राजकीय विहारों के पुस्तकालय की देखभाल करता था और उनको नष्ट होने से बचाता था। इसके कर्तव्यों में पत्रों की रक्षा करना भी था। राजकुटीपाक राजकीय मोहर को रखता था। इन छोटे-छोटे पदाधिकारियों का धार्मिक विहारों के साथ सम्बन्ध आश्चर्यमय प्रतीत नहीं होता है। शासन-व्यवस्था में राजहोती[26] का भी स्थान था। धार्मिक वात्सल्य तथा जनहित के कार्यों में ख्मेर सम्राटों की रुचि थी और राष्ट्र तथा धर्म का एकीकरण हो गया था। इसीलिए धार्मिक क्षेत्र में भी छोटे पदाधिकारियों की नियुक्ति शासकों द्वारा ही की जाती थी।

सैनिक शासक

कम्बुज राज्य की भौगोलिक पृष्ठभूमि को देखते हुए यह अनिवार्य था कि स्थल और जल सैनिक व्यवस्था का सुचारु रूप से प्रबन्ध हो। लेखों मे बहुत से पदाधिकारियों का उल्लेख है जिनका इन दोनो अंगों से सम्बन्ध था। एक लेख मे महाश्वपति महानौमिक और सामन्तनौवाह का उल्लेख है। 'सहस्रवर्गाधिपति' एक सहस्र सैनिकों के ऊपर नियुक्त होता था। अश्व सेना का अध्यक्ष महाश्वपति कहलाता था।[27] अंकोर में अंकित चित्रों से भी कम्बुज सेना के बारे मे जानकारी प्राप्त होती है। इसमें सेनाध्यक्ष अपने अंगरक्षकों के साथ खड़े

२४ वही नं ६६, पृ ११९।
२५. एपीग्राफिया इंडिका १४ पृ १११ से।
२६. मजुमदार कम्बुज लेख नं ७१ (अ) पृ १४८।
२७. वही, नं ३४ पृ ४६।
२८. वही नम ११।

दिखाये गये हैं। बख्तर पहने एक व्यक्ति हाथी पर सवार है उसके कंधे पर भाला है और बायें हाथ में ढाल है। उसके पीछे एक रक्षक छत्र लिये खड़ा है। उसके पीछे चार घुड़सवार हैं। अंगरक्षकों में संजक नामक व्यक्ति अपना जीवन अर्पित करने के लिए सदैव तत्पर रहता था। सम्राट् के लिए राजप्रासाद में व्यक्तिगत रक्षक रहते थे और उनका अध्यक्ष नरेन्द्र-परिचारक कहलाता था। वे भी शस्त्र लिये हुए दिखाये गये हैं। ग्रामीय सैनिक प्रबन्ध का अध्यक्ष 'सर्वोप-भायुक्त' कहलाता था। वह सम्राट् के प्रति अपनी स्वामिभक्ति का परिचय कई बार दे चुका होता था और इस पद पर इसकी नियुक्ति राजकीय उलट-पलट की आशंका को रोकने के लिए ही की जाती थी।

न्यायव्यवस्था

कम्बुज लेखों में न्यायव्यवस्था का वर्णन है। एक लेख[30] में 'व्यवहारा-धिकारी' तथा 'धर्माधिकरणपाल' नामक न्यायव्यवस्था से सम्बन्धित अधिकारियों का उल्लेख है। इसी में देवताओं की सम्पत्ति (अमृतकपम) के परीक्षक तथा सम्पत्तिरक्षक और 'पुष्पदोषपरीक्षक' का भी उल्लेख है जिसके अधीन ये दोनों पदाधिकारी काम करते थे। पृथ्वीन्द्र पंडित नामक एक व्यक्ति का उल्लेख एक अन्य लेख में मुख्य न्यायाधीश के रूप में हुआ है जो अन्य न्यायाधीशों के साथ में दिये हुए निर्णय को सम्राट् के पास भेज देता था। वास्तव में सम्राट् ही उच्च न्यायाधीश था। वह दंड देता था तथा उसके पास प्रार्थनापत्र मूल रूप से भी भेजा जाता था। एक लेख में वीरपुर क्षेत्र के अध्यक्ष मृतामकुर को सीमा उल्लंघन और खेत की उपज काटने के अपराध में १ बीस सोने का जुर्माना किया गया था और उसके छोटे भाई को पीठ पर १ २ बेंत मारने का दंड दिया गया था। एक और लेख में पृथ्वीन्द्र पंडित को जो कि प्रथम श्रेणी के दीवानी

२९. वहीं इ क इ पृ २ १।
३०. मजूमदार कम्बुज, लेख नं १५६, पृ ३१४।
३१. वही नं १२२, पृ ३११।
३२. वही, नं ९८, पृ २६९।
३३. वही, नं १४६, पृ ३४९।

न्यायालय का अध्यक्ष था सम्राट् की ओर से दंड का आदेश देकर भेजा गया। एक ख्मेर लेख में एक दीवानी के मुकदमे का उल्लेख है जिसमें आयकर पकड़े हुए दास को पुनः देवालय में अर्पित कर दिया गया था। इसमें न्यायाधीश उसके अधीन दो निम्न पदाधिकारियों तथा गवाहों का भी उल्लेख है। तुओल प्रसत के लेख में[15] पृथ्वीन्द्र पण्डित द्वारा दिये गये निर्णय का उल्लेख है।

भूमिविक्री व्यवस्था

प्रसत कोक के लेख में[16] भूमि की बिक्री व्यवस्था और इससे सम्बन्धित पदाधिकारियों का विस्तृत रूप से उल्लेख है। सबसे पहले भूमि चाहनेवाले अपना प्रार्थनापत्र भजते थे। इस पर गुणदोषपरीक्षक उसकी जांच करता था और फिर नगर-सभा में बचनेवाले बुलाये जाते थे। मूल्य निर्धारित करने का कार्य न्यायाधीश के आदेशानुसार व्यवहाराधिकारी करता था और उसकी सहायता के लिए धर्माधिकरणपाल' तथा अमृतवचननिरीक्षक' होते थे। जनता की ओर से पुरुषप्रधान ग्रामवृद्ध तथा चारों दिशाओं के प्रतिष्ठित व्यक्ति इस कार्य में भाग लेते थे। ढोल पीटकर भूमि का अधिकार प्रार्थी को सौंप दिया जाता था। इसी लेख में भूमिविक्री सम्बन्धी कई और अधिकारियों का भी उल्लेख है जैसे 'मुख्याचार्य' न्याय का प्रधान 'गुणदोषपरीक्षक' धर्मशास्त्र को जाननेवाला, स्थानीय बालकों का परीक्षक (बालपरिचारक) राजकीय सम्पत्ति का अधिकारी। लोक सीमा व्यवस्था में जिन पदाधिकारियों का हाथ रहता था तथा जो इसमें भाग लेते थे उनकी तुलना दामोदरपुर के लेख में उल्लिखित पदाधिकारियों से की जा सकती है।

एक अन्य लेख में राजकीय प्रशस्ति द्वारा भूमि के विनिमय का भी उल्लेख[17] है। इस कार्य में निकटवर्ती ग्रामों के प्रतिष्ठित व्यक्ति और सेना आकर सीमा निर्धा-

१४ आर्कोलोजि कम्बुज भाग १ पृ २८७। चटर्जी इ क० ई पृ १४९।

१५ मजूमदार कम्बुज लेख नं १२१ पृ १११।

१६ मजूमदार, कम्बुज लेख नं १२५, पृ १११।

१७ वही, नं १० पृ १८५।

रित करते थे। उन वृद्धों में जो इसमें भाग लेते थे १ गांवों का अध्यक्ष 'वयक-ग्राम' अन्य १ गांवों का अध्यक्ष 'ग्रामवृद्ध' १ अन्य गांवों का एक अध्यक्ष तथा और बहुत-से व्यक्ति साक्षी के रूप में भाग लेते थे। एक दूसरे लेख में ब्राह्मण सभा द्वारा सीमा निर्धारित करने का उल्लेख है। यह भूमि बहुत-से पदाधिकारियों के दान का फल थी जो जयसेन देवता को दी गयी थी। भूमि बेचनेवाले इस बात की शपथ लेते थे कि इसका पुनः क्रय का प्रयास नहीं करेंगे।

स्थानीय शासन

स्थानीय शासन में गणतन्त्रवाद के लक्षण थे। गांव का नेता ग्रामिक कहलाता था जिसका कहीं उल्लेख नहीं है किन्तु जयवर्मन् के प्रसत क्षपन लेख में[१९] १ गांवों के अध्यक्ष का उल्लेख है। इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक गांव का एक अध्यक्ष रहा होगा। इसी लेख में 'ग्रामवृद्ध' और 'पुरुष प्रधान' का भी उल्लेख है जो अपने अनुभव के आधार पर स्थानीय क्षेत्र की सीमा निर्धारित करने में सहायता देते थे।

नियुक्ति और शपथ

शासन प्रबन्ध को सुचारु रूप से चलाने के लिए यह आवश्यक था कि पदाधिकारियों की नियुक्ति उचित रूप से की जाय। इस सम्बन्ध में उनकी विद्वत्ता और सम्राट् के प्रति भक्ति ही मुख्य रूप से देखी जाती थी। प्रायः पुत्र ही पिता के पद पर नियुक्त किया जाता था यदि वह विद्वान् हो और उसने अपने गुणों का प्रदर्शन किया हो। एक लेख में[२०] धर्मस्वामी नामक एक विद्वान् ब्राह्मण का उल्लेख है जो धर्मपुर का अध्यक्ष था और उसके पुत्र ने बहुत-से पदों को सुशोभित किया था जैसे 'महाश्वपति' 'भद्रपुरस्वामी' तथा भद्रपुर का अध्यक्ष इत्यादि। उसका छोटा भाई प्रचण्डसिंह भी उच्च पद पर था और वह क्रमशः प्रासाद-रक्षकों का संरक्षक (नृपांतरंग) 'स मन्त्र नौवाहन' 'सहस्रवर्गाधिपति' आदि पदों को

१८. वही, नं १४५, पृ ३४७।
१९. मजूमदार कम्बुज लेख नं १११ पृ ३११।
२०. वही नं १४ पृ ४४।

जयवर्मन् पंचम के शक संवत् ८९१ (९६९ ई) के लेख में[४५] इसका उल्लेख है जो कोम्ह-रोसाई नामक स्थान में एक शिला पर अंकित मिला। यह अंकोर के निकट कुलेन पर्वत से ढाई मील पूर्व की ओर है। इस लेख में उन कुलों का उल्लेख है जो अपनी कन्याएं उच्च पदाधिकारियों को दे दिया करते थे। स्वामिभक्त संजक सम्राट् के अंगरक्षक थे और युद्ध में उसकी रक्षा करते थे। सम्राट् की ओर से इनको मुफ्त धन मिलता था जो किसी दूसरे को नहीं दिया जा सकता था। इन संजकों के पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध शासक के ऊपर था। जयवर्मन् पंचम के दूसरे लेख में[४६] जो शक संवत् ८९६(९७४ ई) का है सम्राट् के तीन संजकों का उल्लेख है जिनको कुमुक और कर्मान्तर जाति की स्त्रियों से विवाह करने की अनुमति प्रदान की गयी थी। तीसरा लेख[४७] जयवीरवर्मन् का है। इसकी तिथि ९२८ अथवा १ ६ ई है और यह प्रसत नपन रुप में मिला। इसमें सम्राट् के ज्योतिष पंडित को दिये गये भूमिदानों में साक्षी के रुप संजकों का उल्लेख है। जिन संजकों के नाम दिये गये हैं उनमें धर्मशास्त्र के ज्ञाता तथा प्रथम द्वितीय और तृतीय वर्ग के *'भांडागारिक'* और *'पुस्तकपाल'* भी थे। *इस लेख से प्रतीत होता* है कि संजक सैनिक कार्य के अतिरिक्त दीवानी का कार्य भी कर सकते थे। चौथा लेख[४८] सिसफोन प्रान्त के प्रसत-चेन में मिला है। इसमे शक संवत् ९४८ क एक भेंट-दान का उल्लेख है जो सूर्यवर्मन् के समय में दिया गया था। इसमें सात संजकों का उल्लेख है जो इस दान के साक्षी थे। अंतिम लेख बन्ते-चमर के मंदिर में प्राप्त हुआ जो[४९] सिसफोन प्रदेश मे है। इसमे चार संजको की साहसिक वीरता का उल्लेख है। उन्होने अपना जीवन देकर सम्राट् को बचाया था। सिदो के मता नुसार यह जयवर्मन् सप्तम के समय का लेख है और कुमार श्री इन्द्रकुमार सम्राट् का पुत्र था। इस लेख से प्रतीत होता है कि संजक केवल सम्राट् के ही रक्षक नही

४५ मजुमदार नं ११ पृ २८३।

४६. वही, नं ११ (अ) पृ ५८८।

४७. वही नं १११ पृ ३३१।

४८. वही, कम्बुज लेख नं १४ पृ ३४४।

४९. सिदो बु इ फा २९, पृ ३ १। मजुमदार कम्बुज लेख नं० १८३ पृ ५२८।

फु—१८

होते थे वरन् राजकुमारों की रक्षा का भार भी उन पर होता था। ये पांचो लेख शक सं ८९१ (७६९ ई) से लेकर जयवर्मन् सप्तम के समय के हैं जिसने लगभग ११८१ ई से १२ ४ ई तक राज्य किया। ये लेख राजधानी के निकट ही मिले। यह ठीक भी था क्योंकि संजकों का सम्राट् के साथ रहना आवश्यक था। उनकी संख्या अधिक नहीं थी। जयवर्मन् पंचम के कुल तीन मुख्य संजक अंगरक्षक थे और जैसा कि वत्से-चमर के लेख से प्रतीत होता है राजवंश के कुमारो की रक्षा का भार भी इन्हीं पर था। कदाचित् संजक स्वयं मर तथा उसके बाद उसके पुत्र भी राजवंश की सेवा करते थे और सम्राट् के मरने के पश्चात् व उसके उत्तराधिकारी की रक्षा के लिए नियुक्त हो जाते थे यहां पर यह कह देना उचित है कि सम्राट् की मृत्यु के पश्चात् उसके अंगरक्षक उसके साथ अपना बलिदान नहीं करते थे। जैसी कि पाश्चात्य देशों में किसी समय में प्रथा थी।

बामोनिये के मतानुसार[51] संजकों से उन राजभक्त और वीर सैनिकों का संकेत है जो विशेष संस्कार के पश्चात् सम्राट् के प्रति स्वामिभक्ति की शपथ लेते थे। ये संजक शासन व्यवस्था में भी अपना अंशदान देते थे तथा धार्मिक कृत्यों और दानों से सम्बन्धित कार्यों में भी भाग लेते थे। यह भी प्रतीत होता है कि इसी प्रकार की प्रथा कम्बुज के अतिरिक्त भारत तथा लंका में भी किसी समय में प्रचलित थी[52]। यह कहना कठिन है कि कम्बुज में यह प्रथा थोड़े ही दिनों तक रही क्योंकि इसके बाद के लेखों में इसका कोई उल्लेख नहीं है।

न्याय और दण्ड

लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शासन का दीवानी मामलों

५ कम्बुज, भाग २, पृ १ ५।
५१ बु इ का २८, पृ ९१ नोट १।
५२ पुरी, प्रोसीडिंग इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस अन्नामलैनगर।
उपर्युक्त लेख में केरल के अमूक्कल अथवा अमोची नामक व्यक्तियों का उल्लेख है जो सम्राट् की रक्षा के लिए अपने जीवन अर्पण की शपथ लेते थे। केरल इतिहास १ पृ ५११। मारकोपोलो ने भी लंका के कुछ व्यक्तियों का उल्लेख किया है जो सम्राट् के प्रति स्वामिभक्ति की शपथ लेते थे और उनके मृतक शरीर के साथ वे भी दफन कर दिये जाते थे।

में हस्तक्षेप करने का अधिकार रहता था। सीमाएं निर्धारित करने के लिए शासन की ओर से पदाधिकारी नियुक्त थे जो अपने कृत्यों का पूर्णतया पालन करते थे। अपने अधिकारों का अनौपचारिक रूप से प्रयोग करने पर उसके लिए उन्हें भी दंड दिया जाता था। सम्राट् सम्पूर्ण सम्पत्ति का मालिक था। एक लेख में मृतक धन का उल्लेख है।[५३] जनता को कर देना पड़ता था और सम्राट् इसमें कमी भी कर सकता था। एक ख्मेर लेख में कर एकत्रित करनेवालों के अध्यक्ष को एक दैव कर के रूप में दिया गया।

लेखों के आधार पर कम्बुज शासन-व्यवस्था का यह केवल आकार खींचा जा सका है। यह व्यवस्था अर्थ और धर्मशास्त्र पर आधारित थी[५४] भारतीय व्यवस्था की भाँति यहाँ भी सम्राट् का सबसे उच्च स्थान था। शासन में मंत्रि-परिषद्, प्रान्तीय शासक तथा पदाधिकारी उसकी सहायता के लिए नियुक्त होते थे। नियुक्ति के समय पूर्वजों की सेवाओं का विचार किया जाता था। स्थानीय शासन में प्रजातन्त्रवाद का बीज था। यह सूक्ष्म रूप से कहा जा सकता है कि कम्बुज की शासन-व्यवस्था भारतीय थी तथा यह सुचारु रूप से चलायी गयी थी।

५३ मजुमदार कम्बुज लेख नं १८१ पृ ५२८।

५४ 'तस्य तौ मंत्रिणावास्तां स मनी इन्द्रवैरिणौ।
धर्मशास्त्रार्थशास्त्रज्ञौ धर्माधर्मविव रूपिणौ॥

मजुमदार, कम्बुज लेख नं ३ पृ १६, पद ६

एक लेख में सम्राट् के एक विश्वसनीय पदाधिकारी का उल्लेख है जो 'सर्वोपधाशुद्ध' था (लेख नं ३१)। उपधा अथवा प्रलोभन द्वारा परखा जा... उल्लेख अर्थशास्त्र में भी है। (१ अध्याय १)।

अध्याय ८

सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था

कम्बुज लेख देश की तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था पर पूर्णतया प्रकाश डालते हैं। भारत से गये हुए ब्राह्मणों का उस देश मे उत्तम आदर इस बात का साक्षी है कि नवीन आगन्तुको मुख्यतया ब्राह्मणों का समय-समय पर वहाँ सत्कार हुआ और राजकुल में उनके वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित हुए। देश की सामाजिक व्यवस्था भारतीय वर्णाश्रम धर्म के आधार पर बनी थी। इसमें अन्तर्जातीय विवाह का भी स्थान बन गया था। स्थानीय मातृक व्यवस्था उक्त देश में प्रचलित थी। भारतीय सामाजिक परम्परा मे जिसमे पिता से ही वंशावली चलती है स्थानीय व्यवस्था को मिटाने का प्रयास नहीं किया। लेखों से कम्बुज सम्राटों ने कौण्डिन्य के अतिरिक्त सोमा को भी अपने पूर्वजों की श्रेणी मे स्थान दिया है तथा पुत्र के अतिरिक्त माता की ओर के सम्बन्धी भी राज्य पर अपना अधिकार समझते थे। कम्बुज लेखों में कुछ नाम भारतीय तथा ख्मेर शब्दो से मिलकर बने हैं। भारतीय रक्त स्थानीय रक्त में पूर्णतया प्रधान था पर स्थानीय संस्कृति का उसमें अवदान था। लेखों के आधार पर हम वर्ण-व्यवस्था वैवाहिक सम्बन्ध तथा स्त्रियों के स्थान वेष-भूषा भोजन-पान, मनोरंजन क्रीडा दास व्यवस्था तथा दाहसंस्कार इत्यादि विषयों पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

वर्ण-व्यवस्था

कम्बुज लेखो मे चतुर्वार वर्णों का उल्लेख है। ब्राह्मण वर्णों का समाज में सबसे श्रेष्ठ स्थान था और उनके वैवाहिक सम्बन्ध राजवंश मे भी स्थापित होते

१ मजुमदार कम्बुज लेख नं १७९, पृ ४९७ पद १९।

ब्राह्मणों के बीच ही हुआ करते थे। शिवकैवल्य और उसके वंशजों ने कोई ढाई सौ वर्ष तक राज्यपुरोहित के पद को सुशोभित किया। वामशिव नामक एक आगन्तुक ब्राह्मण इन्द्रवर्मन् का पुरोहित था।[१०] ब्राह्मणों ने सर्वोच्च पद प्राप्त कर लिया था और वे राजवंश में भी विवाह कर सकते थे।

सूर्यवर्मन् के समय में जातियों का पुनः विभाजन हुआ[११] और क्षत्रियों को सामाजिक व्यवस्था में सबसे उच्च स्थान दिया गया। व्यवसाय चुनने के लिए जन्म-जाति किसी प्रकार बाधक न थी। एक लेख में ब्राह्मण कुल के लोगों द्वारा हाथी हाँकना वणिक सवारी कमीर और पुरोहित का कार्य करना लिखा है। जयवर्मन् पंचम के समय में सुमुक और कर्मान्तर नामक दो नयी जातियों के निर्माण का उल्लेख है तथा सप्तवर्ग के धार्मिक व्यक्तियों और आचार्यों की श्रेणी से प्रत्येक के लिए २ आदि सदस्य चुने गये। सप्तवर्ग की समानता अरब इतिहासकार द्वारा भारतीय समाज के सात वर्गों में विभाजन से की जा सकती है।[१४] इन नयी जातियों के लिए चुने गये आदि सदस्यों का विवाह तीन ऊँचे वर्णों में हो सकता था। सम्राट् ने भी इन नयी जातियों के निर्माण में अपनी स्वीकृति दी थी। अंकोरवाट के चित्रों में भी विभिन्न जाति के व्यक्ति अपनी वेशभूषा में दिखाये गये हैं।

इन जातियों के अतिरिक्त अन्तर्जातीय विवाहों से उत्पन्न सन्तानों का भी लेखों में उल्लेख है जिन्होंने दान दिये। एक लेख में[१५] त्रिभुवनराज द्वारा विवा-

१० मजुमदार नं १५३ पृ ३६६।

११ वही पृ ३५३।

१२ वही कम्बुज लेख नं १५८, पृ ४१। इस सम्बन्ध में भारतीय लेखों तथा स्मृतियों में भी व्यवसाय बदलने का उल्लेख है। आपत्तिकाल में ब्राह्मण नीच वर्ग का कार्य भी कर सकता था। (गौतम अध्याय ७ मनु १०।८१) याज्ञवल्क्य ३।३५)। कुछ मध्यकालीन लेखों में भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जैसे वणिक नैगम (एप. इन. १ पृ १६९) ब्राह्मण-कृषक (कामन लेख) इत्यादि।

१३ मजुमदार, कम्बुज लेख नं ११ पृ ५८९।

१४ इलियट और डाउसन हिस्ट्री आफ इंडिया भाग १ पृ १६ १७। ७४ ९३। इनके नाम क्रमशः सबकुफ्रिया ब्रह्म कतरिया सुदरेय बसुरिया सण्डालिया तथा लाहुद थे।

१५ मजुमदार, कम्बुज लेख नं १११ पृ २९९।

धीश्वर की मूर्ति-स्थापना का उल्लेख है। उसकी बहिन का नाम तेनबई तथा बहनोई का नाम सोमवश था। लेखों में कुछ ऐसे नाम भी मिलते हैं जिनमें स्थानीय और भारतीय सम्मिश्रण है। जैसे लोञ युधिष्ठिर, मृतोम धमेन्द्र पंडित मृतोय-पृथ्वीन्द्र पंडित। यह प्रतीत होता है कि वे स्थानीय और भारतीय वैवाहिक सम्बन्ध से उत्पन्न सन्तान थे।

वैवाहिक सम्बन्ध

यह पहले ही कहा जा चुका है कि ब्राह्मण जिस वर्ण में चाहें विवाह कर सकते थे पर ब्राह्मण कन्याएं ब्राह्मणों के अतिरिक्त केवल राजकीय वंश में ही दी जा सकती थीं। भववर्मन् प्रथम की बहिन का सोमशर्मन् नामक एक ब्राह्मण से विवाह हुआ था और अरुन्धती की भांति वह साध्वी थी।[१६] यशोवर्मन् की मां इन्द्रदेवी अगस्त्य कुल की थी जो बड़ा विद्वान् था और आर्य देश से कम्बुज आया था।[१७] जयवर्मन् द्वितीय ने भवस्वामिनी नामक एक ब्राह्मणी से विवाह किया था और योगेश्वर पंडित इसी कुल की सन्तान था। जयवर्मन् सप्तम की दोनों रानियां ब्राह्मण कुल की थीं [१८] और जयवर्मन् अष्टम ने नरपति देश से आये हुए एक ब्राह्मण की प्रभा नामक कन्या से विवाह किया था।[१९] वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने में किसी प्रकार की बाधा न थी। यशोवर्मन् ने अपने मामा की पुत्री से विवाह किया था जो उत्तरी भारत में वर्जित है और दक्षिणी भारत में इसका अब भी चलन है। वैवाहिक सम्बन्ध प्रायः पिता द्वारा जोड़े जाते थे। एक लेख में मृतोञ श्री सर्वाधिकार की पौत्री मेसौक द्वारा स्वयं विवाह का प्रस्ताव लेकर आने का उल्लेख है और दहेज में उसने भीम सहित एक जोड़ा तथा कुछ और पदार्थ दिये।[२१] अनेक पति की प्रथा का संकेत भी एक लेख में मिलता है, जिसमें ४१

१६ वही नं १३ पृ १९। 'पतिव्रता धर्मरता द्वितीयारुन्धतीव या।
१७. वही नं १८९, पृ ५१५।
१८. वही नं १४८, पृ ३५१।
१९. वही, नं १८९, पृ ५१५।
२ वही, पृ ५४१।
२१ वही, नं १९ (अ) पृ ५८१।

दास और उनकी ९ स्त्रियों का उल्लेख है।[22] कदाचित् ये दास और ये दासियाँ भीच वर्णों में उत्पन्न रहे होंगे। सुई-वंश के इतिहास के अनुसार विवाह के समय कन्या को सुन्दर वेषभूषा से आभूषित किया जाता था और दोनों वर्ग के लोग आठ दिन तक एक साथ रहते थे। दीप बराबर जलता रहता था और विवाह के बाद पति अपनी स्त्री को लेकर अलग रहता था।[23] एक लेख में विधवा विवाह का भी उल्लेख है।[24] हिरण्यवर्मन् के सबसे छोटे पुत्र युवराज के मरने पर उसकी विधवा स्त्री ने क्रमशः उसके दो बड़े भाइयों के साथ विवाह किया। यह भारतीय धर्मशास्त्र के विरुद्ध है क्योंकि विधवा का विवाह उसके दिवंगत पति के छोटे भाई के साथ ही हो सकता था।

वस्त्र आभूषण और श्रृंगार

इस सम्बन्ध में अंकोरवाट में अंकित चित्र तथा चीनी वृत्तान्त के आधार पर विवरण दिया जा सकता है। चित्रों में भारतीय धोती मुख्य रूप से दिखायी गयी है। यह कमर के चारों ओर बांधी जाती थी और इसमें चुन्नट होती थी। इसका उल्लेख चीनी चेओ-त-कुआन ने भी किया है।[25] कन्धे को ढकने के लिए एक प्रकार के दुपट्टे का प्रयोग होता था और सिर पर ऊँची मौलि (जयमुकुट) रहती थी। बेयोन के एक चित्र में धोती पहने राजा दिखाये गये हैं और वे गले में हार पहने हैं। साधारणतया पुरुष आधी टाँगों तक नीची धोती पहनते थे जिसकी चुन्नट अंकित चित्रों में दिखाई पड़ती है। चीनी सूत्र के अनुसार धोती का ही प्रयोग होता था और यह पश्चिम देश से मंगायी जाती थी। एक लेख[26] में चीनी कौशेय (चीनांशुक) का भी उल्लेख है। 'दक्षिण-सिंग का इतिहास' के अनुसार उच्च वर्ग के लोग कढ़े हुए रेशमी वस्त्र पहनते थे।[27] स्त्रियाँ नीचा लहँगा पहनती थीं। पुरु

२२ मजुमदार, नं २३ पृ २९।
२३ मजुमदार, कम्बुज देश पृ ६५।
२४ मजुमदार, कम्बुज लेख नं १७४ पृ ५४६।
२५. पिल्लियो पृ इ फ्रा १ पृ २९६।
२६. मजुमदार, कम्बुज लेख पृ ४९६।
२७. चटर्जी इ इ का पृ २२९।

वंश का इतिहास' में लिखा है कि सम्राट् कौशेय (रेशम) पहनते थे जिस पर काम बना रहता था।[१४] अंकित चित्रों में सम्राट् की भाँति ब्राह्मण भी कुण्डल पहने दिखाये गये हैं पर वीर क्षत्रिय कानों में कुछ नहीं पहने हैं। सम्राट् श्री उदया दित्यवर्मदेव ने यज्ञ के बाद जो आभूषण दक्षिणा में दिये उनमें मुकुट, कुंडल केयूर, कटक तथा मुकुटवेणी थे।[१५] शृंगार के लिए दर्पण का प्रयोग होता था।[१६] लेखों में चाँदी की मूठ वाले दर्पण का उल्लेख है। चीनी वृत्तान्त से पता चलता है कि स्त्रियाँ अपने हाथ-पैरों को रँगती थी और बाल सँवारकर ऊपर जूड़ा बाँधती थी। ता-प्रोम के लेख से' ज्ञात होता है कि चन्दन का प्रयोग होता था जिसका विलेपन बनाया जाता था।

भोजन भाजन

लेखों के अनुसार तंडुल ही कम्बुज के निवासियों का मुख्य भोजन था (भोजनं तंडुलम्) जो कि पकाया जाता था (पाक्यतंडुल)। व्यंजन के लिए नमक जीरा तथा इलायची डाली जाती थी तथा अदरक तेल और मधु का भी प्रयोग होता था।[१७] ता प्रोम के लेख में भोजन-पदार्थों में धान्य मक्त मुद्ग घृत दधि और गुड़

१८. पिलियो बु इ फ्रा १ पृ १५४। देखिए बोसेलिए, ला स्कल्प्चर ख्मेर (ख्मेर मूर्ति) भाग २, चित्र ७१ (अ)।

१९. मजुमदार, कम्बुज लेख नं १५२, पृ ३६९। तूरेन के संग्रहालय में प्रसिद्ध नर्तकी की मूर्ति मुकुट, केयूर, कटक, कुंडल और हार पहने है। स्टर्न ला आर्ट दु चम्पा (चम्पा की कला) चित्र ५९। बोसेलिए, पृ ४ चित्र १४ (अ) ५।

१ एक चीनी ग्रन्थ के अनुसार पश्चिमी भारत से फूनान आये हुए जहाज पर एक स्फटिक का शीशा था जिसका व्यास कोई १६ फुट ५ इंच था और यह ४ पौंड से भी अधिक भारी था। (पिलियो बु इ फ्रा १ पृ २८१)।

११ मजुमदार, कम्बुज लेख नं १७७, पृ ४७१ पद १ १।

१२ वही नं १११ पृ २९।

१३ वही, नं १३५, पृ १४८।

मधु और तेल का उल्लेख है।[33] मक्खन का भी एक लेख में उल्लेख है।[34] 'सुई वंश का इतिहास' तथा 'तांग वंश का इतिहास' में भी कम्बुज के भोज्य तथा पेय पदार्थों का उल्लेख है। प्रथम ग्रन्थ के अनुसार कम्बुज निवासियों का भोजन मुख्यतया मक्खन, मलाई, शक्कर और मिलेट था जिसकी रोटी बनती थी। वे भुने हुए मांस को रोटी के साथ नमक लगाकर खाते थे। दूसरे ग्रन्थ में लोगों के शराब पीने का भी उल्लेख है।[35] भाजनों में घट, कड़ाही, कलश, शराब (सुराही) तथा बड़े-बड़े घड़ों का भी उल्लेख है और सोने-चाँदी के बर्तनों का भी प्रयोग किया जाता था।[36]

मनोरञ्जन इत्यादि

नृत्य, गायन और नाटक मनोरंजन के मुख्य साधन थे। नर्तकियाँ गायन और वादन में पारंगत थीं और वे वीणा, दुंदुभि और ताल का प्रयोग करती थीं।[37] इसके अतिरिक्त पुरुष भी नृत्य-कला में प्रवीण थे।[38] नर्तकियाँ प्रायः मन्दिरों को अर्पित की जाती थीं। एक लेख में सात नर्तकियों, ग्यारह गायकों और चार वीणा, कंजरी और ढाक पर वाद्य वादन करनेवालों के मन्दिर के प्रति अर्पण करने का उल्लेख है।[39] गायन तथा वाद्यवादन में पुरुष भी निपुण होते थे।[40] एक लेख में[41] एक प्रवीण गायक के विषय में लिखा है जिसका पिता बमवर्मन् अरनीश्वरवर्मन् प्रथम

३४ मजूमदार, कम्बुज लेख नं १७७, पृ ४६७।
३५ वही नं १७१ पृ ५८७।
३६ मजूमदार, कम्बुज देश पृ ६५।
३७ मजूमदार, कम्बुज लेख नं ६६, पृ ३११।
३८ वही, नं ५६, पृ ६४ पद १६, "वीणादिवाद्यवादिन्यो देवदास्य विभागशः।
३९ वही नं १११ पृ २८८।
४० वही पृ ५५९।
४१ मजूमदार, कम्बुज लेख, नं ५६, पृ ६४ पद १६। नृत्यगीत गान्धर्वादिविशारदा।
४२ वही नं १८ पृ ५३।

तथा सूर्यवर्मन् द्वितीय के समय में एक उच्च पदाधिकारी था। प्रह्-खाह्म-कोधी के लेख में बहुत-से वाद्यों वादन यन्त्रों का उल्लेख है। जैसे पटह वीणा घंटा मृदंग पणव भेरी और काहल इत्यादि।[४३] बहुत-से कुटुम्ब गायन और वादन के लिए प्रसिद्ध थे। नाटक भी खेले जाते थे और जयवर्मन् सप्तम की रानी ने एक नाटक रचा था जिसका विषय जातकों से लिया गया था।[४४] जयवर्मन् पंचम का गुरु यज्ञवराह कथाकार और नाटककार भी था।[४५] इनके अतिरिक्त मनोरंजन के साधनों मे मुष्टियुद्ध[४६] तथा उत्सवों का भी उल्लेख है। वसन्तोत्सव धूमधाम से मनाया जाता था और इसका भी एक लेख में उल्लेख है।[४७] जयवर्मन् सप्तम के समय में आढ्य-पुर के सामन्त ने वसन्त में शिवरात्रि के उपलक्ष्य में एक धार्मिक उत्सव मनाया जिसमें नृत्य का भी आयोजन किया गया था।

कौटुम्बिक जीवन और स्त्रियों की दशा

समाज में स्त्रियों का आदरणीय स्थान था और इसका कारण मातृक व्यवस्था तथा भारतीय संस्कृति का प्रभाव है। कुछ लेखों में माँ की ओर से वंशावली दी गयी है। पर प्राय पिता का श्रेष्ठ स्थान होता था और उसी से पुत्र को भी अधिकार प्राप्त होते थे। एक लेख में पुत्र द्वारा पिता की दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिए तर्पण का उल्लेख है। कुटुम्ब मे वृद्ध को भी आदरणीय स्थान प्राप्त था। एक लेख में वृद्ध पुरुष के दांत को सुरक्षित रखने का उल्लेख है।[४८] इससे कोई विशेष महत्त्वपूर्ण बात नही प्रतीत होती है। कदाचित् वृद्ध पुरुष की विद्वत्ता को सुरक्षित

४३ मजुमदार, नं १११ पृ २८८, पद ७।

४४ वही नं १८२, पृ ५२४।

४५ वही नं १ ९, पृ २१४।

४६ वही नं १ ६ पृ ५८४।

४७ वही, नं १७७, पृ ४७ पद ८१ से। इस उत्सव में नर्तक और नर्तकियाँ अपनी कला का प्रदर्शन करते थे।

४८ वही कम्बुज लेख नं १ पृ ४१।

'पितुर्दन्तावरंयस्तु तोयः सुमकरनिस्मृतः।' (पद २१)

४९ वही नं ४९, पृ ५५।

रखने के लिए ऐसा किया गया होगा। स्त्रियों को भी बहुत-से दान दिये गये जिनका लेखों में उल्लेख है और कदाचित् सामूहिक कुटुम्बव्यवस्था प्रचलित थी।

दास प्रथा

कम्बुज लेखों से पता चलता है कि देश में दास-प्रथा प्रचलित थी। कुछ दास बालक थे कुछ पैतृक रूप से और कुछ जीते हुए देशों से बंदी के रूप में दास बनाये गये थे। अधिकतर ये मंदिरों को अर्पित कर दिये जाते थे। दास-दासियों में वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित हो जाते थे और एक लेख में ४२ दासों एवं उनकी ९ पत्नियों का उल्लेख है।[४९] इससे प्रतीत होता है कि एक दासी के कई पति होते थे। एक अन्य लेख में दासी के पुत्रों का भी उल्लेख है।[५०] मह सन के लेख में १ ९ दास और १७२ दासियों का उल्लेख है जो चम्पा यवन पुकम (पगान, ब्रह्मा) और श्याम के रहनेवाले थे। दास अपने स्वामी की सम्पत्ति थे और यदि कोई भाग जाता था तो पकड़े जाने पर उसके नाक-कान काट दिये जाते थे। ये लोग अपने स्वामी की ओर से खेती-बाड़ी भी करते थे और एक लेख में उनके विभिन्न स्वामियों के बीच बटवारे का उल्लेख है।[५१]

मृतक-संस्कार

इस सम्बन्ध में 'सिमंग-वंश का इतिहास' से पता चलता है कि मृतक का चार प्रकार से अन्तिम-संस्कार किया जाता था। जलाकर, मृतक शरीर को नदी में फेंक कर, भूमि में गाड़कर और खेत में पशु-पक्षियों के खाने के लिए छोड़कर। यह कर्म करते समय मूछ और बाल कटवा लिये जाते थे। 'सुई वंश का इतिहास' में भी इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण वृत्तान्त मिलता है।[५२] इस ग्रन्थ के अनुसार मृतक के बंधुगण सात दिन तक न तो कुछ खाते थे और न बाल बनवाते थे और बराबर चिल्लाया करते थे। मृतक शरीर के साथ पुरोहित प्रार्थना करते थे और बाजे

५ यही नं ८१ पृ १६६।
५१ यही, नं ५१ पृ ५६।
५१ कम्बुज लेख पृ ५८९।
५१ सिदिमी पृ द ब्र ३ पृ ५८९।

हुए जाते थे तथा सब प्रकार के वृक्षों की लकड़ियों पर शरीर को रखकर दाह-संस्कार करते थे। एक सोने अथवा चांदी के पात्र में राख रख दी जाती थी और यह पात्र किसी नदी में फेंक दिया जाता था। कभी-कभी शरीर जंगली पशुओं के लिए छोड़ दिया जाता था।

इस प्रकार लेखों चीनी सूत्रों तथा कला के आधार पर प्राचीन कम्बुज देश की सामाजिक व्यवस्था का केवल रेखाचित्र ही खींचा गया है। भारतीय संस्कृति का प्रभाव कम्बुज पर पूर्णतया पड़ा। वर्ण-व्यवस्था में यद्यपि वैश्यों का कहीं उल्लेख नहीं है, पर वे भी समाज के अंग थे। ब्राह्मणों की प्रधानता भारतीय सामाजिक व्यवस्था की भाँति कम्बुज में भी मानी जाती थी और उनका राजकीय वंश में भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होता था। ब्राह्मण और क्षत्रियों के परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध से 'ब्रह्म-क्षत्रिय' वंश की उत्पत्ति हुई। इसका उल्लेख हमें चम्पा के लेखों में भी मिलता है। इनके अतिरिक्त बहुत-से व्यापारी वर्ग के व्यक्ति भी थे जो वैदेशिक व्यापार करते थे। यहाँ के निवासियों की वेशभूषा और आभूषण पूर्णतया भारतीय थे और इस सम्बन्ध में धोती का विशेष महत्त्व था। पुरुष और स्त्रियाँ दोनों आभूषण पहनते थे और विशेषतया स्त्रियाँ ही इनसे अपने को अलंकृत करती थीं। कुटुम्ब में माँ और पुत्री का मातृक समाज-व्यवस्था होने के कारण आदरणीय स्थान था पर भारतीय संस्कृति के प्रभाव के फलस्वरूप पिता और पुत्र के स्थान को माता और पुत्री न ले सकी। हमने भोजन मनोरंजन तथा क्रीड़ा के साधनों पर भी प्रकाश डाला है। आजकल की भाँति उस समय भी तंदुल या पके हुए चावल ही यहाँ के निवासियों का मुख्य भोजन था और नर्तक-नर्तकी गायक तथा धोमक मनोरंजन के साधन थे। मृतक का दाह-संस्कार किया जाता था पर मृतक शरीर का अन्य तरह से भी अन्तिम संस्कार किया जाता था। कम्बुज की सामाजिक व्यवस्था में दास-दासियों का अलग स्थान था। वे समाज के अंग थे और मुख्यतया मन्दिरों को अर्पित कर दिये जाते थे। उनका पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्ध संकेत करता है कि पैतृक रूप से दास ही केवल आजन्म अपनी उस स्थिति में नहीं रहता था वरन् उसके पुत्रों को भी वही स्थान प्राप्त था और उनके लिए नियम कठोर थे। यह प्रथा भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल प्रतीत होती है। यद्यपि मनु ने भी कई प्रकार के दास-दासियों का उल्लेख किया है। वास्तव में कम्बुज की सामाजिक व्यवस्था भारतीय संस्कृति और समाज का ही सुदूरपूर्व में एक अंग बनी रही।

आर्थिक व्यवस्था

किसी देश के सामाजिक स्तर को उच्च बनाने के लिए वहाँ की आर्थिक व्यवस्था को सुगठित रखना आवश्यक है। देश की उपज अधिक होनी चाहिए, जिससे राष्ट्रीय सम्पत्ति बढ़े और इसकी खपत के लिए विदेशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध और सम्पर्क होना भी आवश्यक है। मुद्रा तथा विनिमय आर्थिक व्यवस्था के प्रतीक हैं। यह भी आवश्यक है कि देश की जनता विभिन्न व्यवसायों में लगी हो और बेकारी कम से कम हो। व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से राष्ट्र-निर्माण में जनता का पूर्ण रूप से सहयोग ही देश को आर्थिक क्षेत्र में सम्पन्न और शक्तिशाली बना सकता है। कम्बुज की आर्थिक व्यवस्था किस आधार पर बनी थी और भारतीय औपनिवेशिकों का इसमें क्या योगदान था इसका अंकन तो केवल लेखों से प्राप्त सामग्री तथा अन्य सूत्रों के आधार पर ही हो सकता है। इस सम्बन्ध में सामग्री पूर्णतया पर्याप्त नहीं है फिर भी हमको कृषि पशुपालन विभिन्न व्यवसायों, मुद्राओं बाट व्यापार तथा अन्य सम्बन्धित विषयों पर लेखों तथा चीनी सूत्रों से जानकारी प्राप्त हो सकती है और आर्थिक व्यवस्था का आकार खींचा जा सकता है। कम्बुज देश के मन्दिर तथा उनके लिए दिये गये दानों से राष्ट्र तथा जनसाधारण की आर्थिक प्रवृत्ति के अतिरिक्त सम्पन्नता का भी संकेत मिलता है।

कृषि और पशुपालन

कम्बुज देश में सदा से ही चावल की उपज मुख्य रही है और इसका कई लेखों में उल्लेख है। ईशानवर्मन् के वट-चक्र के लेख में ग्रामों बैलों तथा चावल के खेतों के दान का उल्लेख है। सोम-बसेरे के शक संवत् ९ २-३ के लेख[54] में श्रीसोम-विजयामीश्वर के प्रति भाजन ग्रामों बैलों और धान क्षेत्रों के दान का विवरण है। एक और ख्मेर लेख[55] में गुणपतिवर्मन् ब्राह्मण द्वारा विभिन्न वस्तुओं के बने पात्रों, एक हाथी एक घोड़ा कुछ कपड़ा और चावल के बदले धान के क्षेत्र और उद्यानों के विनिमय का उल्लेख है। देश में धान की उपज का कारण वहाँ का अनुकूल

५४ मजुमदार, कम्बुज लेख नं २३ पृ २९।
५५. वही नं १३३ पृ २९९।
५६ वही नं १७५ अ, पृ १४७।

जलवायु है और चावल (तंडुल)[57] ही यहां के निवासियों का मुख्य भोजन रहा है। इससे यह न समझना चाहिए कि उस देश में किसी अन्य पदार्थ की उपज नहीं होती थी। लेखों में मुद्ग और तिल का भी उल्लेख है तथा भक्त से पानी में उबाले हुए किसी भी अन्न का संकेत हो सकता है।[58] यह प्रतीत होता है कि कृषि के लिए श्रमिक आसानी से मिल जाते थे और प्रायः इस कार्य में खरीदे हुए दास लगाये जाते थे। इनको 'दासकृपीवल' कहते थे।[59] इनके वेतन का कहीं उल्लेख नहीं है। एक लेख में इन दासों द्वारा पैदा की हुई उपज के विभाजन का उल्लेख है।[60] चीनी सूत्रों के अनुसार[61] यहां के निवासी साल में एक बार अन्न बोते थे और १ वर्ष तक उसे काटते थे। कृषि के अतिरिक्त वे पशुपालन भी करते थे। बहुत-से लेखों में बैल गाय तथा भैंसों के दान का उल्लेख है और वे विनिमय में भी काम आते थे।

व्यवसाय और उनका संगठन

बहुत-से लेखों में व्यवसायों तथा श्रेणियों में उनके संगठन का उल्लेख है। श्रेणी का निर्माण अति प्राचीन है और इसका उद्देश्य समस्त श्रेणी को व्यवसाय के लिए सुरक्षा प्रदान करना था। एक लेख[62] में सुवर्णकार संघ का उल्लेख है (चामीकरकारवर्ग)। जयवर्मन् सप्तम के एक लेख में[63] इनके संघ के प्रमुख का उल्लेख है तथा एक अन्य लेख में[64] भेष्ठपुर विषय के कर्मचारी संघ का विवरण है। इन संघों या श्रेणियों के अधिकार और कर्तव्यों का विवेचन किसी भी लेख में नहीं किया गया है। यद्यपि भारतीय स्रोत के अनुसार[65] उनका कार्य अपने व्यवसायों के

५७. मजुमदार नं १११ पृ २९ पद २६।
५८. वही नं १७७, पृ ४६७, पद ५४।
५९. वही, नं ६६, पृ १२६, पद १ २।
६० वही, नं ७१ पृ १६६।
६१ पिलियो बु इ फ्र ४ पृ २५४।
६२ मजुमदार, कम्बुज लेख नं १२६, पृ ३२१।
६३ वही, नं १८७, पृ ५३२।
६४ वही नं १७६, पृ ४३७।
६५ नारद १७, १४। बृहस्पति १४५। एपी इण्डिका २१ पृ ५५

अधिकारों और उनकी उपज की बपत का प्रबन्ध तथा उनके पारस्परिक झगड़ों को निपटाना तथा ब्याज देकर धन जमा करना था। कम्बुज के बहुत-से लेखों में शिल्पी का भी उल्लेख है।[६६] यह 'स्थपत्याचार्य' से भिन्न था।[६७] यह केवल गृह-निर्माण से ही सम्बन्धित था। शिल्पियों का अन्य व्यवसायों से भी सम्बन्ध था और इनकी समानता कमीर से की जा सकती है। भारतवर्ष के मध्यकालीन कमान के एक लेख में इन स्थपतियों की श्रेणी का उल्लेख है (श्रेण्या स्थपतिनाम)।[६८] सुवर्णकारों को चामीकरकार कहा जाता था और कदाचित् उनका व्यवसाय अच्छा था। उनके बनाये हुए आभूषणों की कम्बुज में बहुत मांग थी। आभूषणों का बहुत-से लेखों में उल्लेख है और वे कई प्रकार के बनाये जाते थे। एक चीनी ग्रन्थ के अनुसार कम्बुज निवासी अपने आभूषणों में नक्काशी भी करवाते थे।[६९]

कम्बुज लेखों में कुछ अन्य व्यवसायों का भी उल्लेख है, जिनमें हीरा या ज्योतिषी बाजार बो कवाक र थे अध्यापक माई (पूरक)[७०] बुरुषी (कनु-चाय) हाथी हाँकने वाले[७१] तथा मांचिक[७२] विशेषतया उल्लेखनीय हैं। पुरोहितों में एक वंश ने राजपुरोहित पद को २५ वर्ष तक सुशोभित किया।[७३] एक अन्य

इत्यादि। श्रेणी तथा उसके संगठन और कर्तव्य पर प्राचीन भारतीय साहित्य तथा लेखों में उल्लेख मिलता है। चामीकरकार, सुवर्णकार अथवा हिरण्यकार का पर्याय-वाची शब्द है जिसका उल्लेख प्राचीन साहित्य तथा लेखों में मिलता है। बृहस्पति १ पृ ४७२। बृहस्पति १५ २१। एपी इंडिका भाग १।

६६. नं १२६, १५८, १९२।

६७ एपी इंडिका २४ पृ ११५।

६८. पु इ ग्र १।

६९. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं १९२ पृ० ५५७।

७ यही नं १७, पृ १२६।

७१ यही नं १७७ पृ ५६८।

७२ यही नं १५८ पृ ४४१।

७३ यही, नं १६१ पृ ४२५।

७४ यही नं १५१ पृ ५५७।

लेख में मम्मदेसा-मामिनी का उल्लेख है[75] जो मन्दिरों में पुष्प लेकर जाती थी। पान बेचनेवाले ताम्बूलिक कहलाते थे।[76] व्यवसाय चुनना जाति पर आधारित नहीं था।

एक लेख के अनुसार[77] ब्राह्मण कुल के लोग हाथी हाँकने वाले मणिका सेवकी शिल्पी और पुरोहित होते थे। लेखों में अन्य व्यवसायों का उल्लेख नहीं मिलता है। कुछ लेख इस बात का संकेत करते हैं कि उस देश की आर्थिक व्यवस्था में बहुत-से व्यवसायों का हाथ था जिनमें से कुछ का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

तौल और मान

इस सम्बन्ध में कम्बुज लेखों में विशेष सामग्री मिलती है। कम्बुज देश में भारतीय तौल के मापदण्डों का चलन था और वे क्रमश 'खारिका'[78] 'द्रोण'[79] 'प्रस्थ'[80] और 'कुडव'[81] थे। 'कुडव' अन्तिम सबसे छोटा बाट था यह लगभग एक पाव के बराबर था। 'प्रस्थ' लगभग एक सेर के बराबर था। प्राचीन बटखरों में इससे बड़ा 'आढक' था पर इसका उल्लेख लेखों में नहीं है। यह चार सेर का बाट था और कदाचित् यह भी काम में लाया जाता था। १६ सेर के बाट को 'द्रोण' कहते थे और 'खारिका' सबसे बड़ा बाट था जो २५६ सेर होता था। एक लेख में[82] ११1२ 'खारिका तंडुल' का उल्लेख है। 'अर्द्धप्रस्थ तंडुल' तथा 'द्रोण तंडुल' का भी उल्लेख मिलता है।[83] 'काक' नामक एक और बाट का भी उल्लेख है, पर

७५ मजुमदार, नं १३४ पृ १७।
७६ वही।
७७ वही, नं १५८, पृ ४११।
७८ वही, नं ६६, पृ १९५, पद ८४।
७९ वही कम्बुज लेख नं १२५, पृ ३१६, पद १२।
८ वही, नं ६६, पृ १२५।
८१ वही, नं १७७, पृ ४६६, पद ४१।
८२ वही, नं ६६, पृ १९५।
८३ वही, नं १२५, पृ ३१६, पद ११

अधिकारों और उनकी उपज की खपत का प्रबन्ध तथा उनके पारस्परिक झगड़ों को निपटाना तथा ब्याज लेकर धन जमा करना था। कम्बुज के बहुत-से लेखों में शिल्पी का भी उल्लेख है।[६५] यह 'स्थपत्याचार्य' से भिन्न था।[६६] यह केवल गृह-निर्माण से ही सम्बन्धित था। शिल्पियों का अन्य व्यवसायों से भी सम्बन्ध था और इनकी समानता कर्मार से की जा सकती है। भारतवर्ष के मध्यकालीन कमान के एक लेख में इन स्थपतियों की श्रेणी का उल्लेख है (श्रेष्ठा स्थपतिवार)। सुवर्णकारों को चामीकरकार कहा जाता था और कदाचित् उनका व्यवसाय अच्छा था। उनके बने हुए आभूषणों की कम्बुज में बहुत मांग थी। आभूषणों का बहुत-से लेखों में उल्लेख है और वे कई प्रकार के बनाये जाते थे। एक चीनी लेख के अनुसार कम्बुज निवासी अपने आभूषणों में नक्काशी भी करवाते थे।[६८]

कम्बुज लेखों में कुछ अन्य व्यवसायों का भी उल्लेख है जिनमें हीरा या ज्योतिषी[६९] व्यापार को बनाकर ले अध्यापक भाई (पुरुक)[७०] पुजारी (पञ्चगव्य)[७१] हाथी हांकने वाले[७२] तथा नाविक[७३] विशेषतया उल्लेखनीय हैं। पुरोहितों में एक वंश ने राजपुरोहित पद को २५ वर्ष तक सुशोभित किया।[७४] एक अन्य

इत्यादि। श्रेणी तथा उसके संगठन और कर्तव्य पर प्राचीन भारतीय साहित्य तथा लेखों में उल्लेख मिलता है। चामीकरकार, सुवर्णकार अथवा हिरण्यकार का पर्यायवाची शब्द है जिसका उल्लेख प्राचीन साहित्य तथा लेखों में मिलता है। महावस्तु १ पृ ४४२। बृहस्पति १५ २१। एपी इंडिका भाग १।

६६ नं १२६, १५८, १९२।

६७. एपी इंडिका १४ पृ ११५।

६८ बु इ का १।

६९. मजुमदार, कम्बुज लेख नं १९२, पृ ५५७।

७० वही नं १७, पृ १२६।

७१ वही नं १७७, पृ ५६८।

७२ वही, नं १५८, पृ ४४१।

७३ वही, नं १६१ पृ ४२५।

७४ वही नं १९२, पृ ५५७।

लेख में मणवेधा-मालिनी का उल्लेख है[75] जो मन्दिरों में पुष्प लेकर जाती थी। पान बेचनेवाले ताम्बूलिक कहलाते थे।[76] व्यवसाय जन्मना जाति पर आधारित नहीं था।

एक लेख के अनुसार[77] ब्राह्मण कुल के लोग हाथी हाँकने वाले मणिका संबंधी शिल्पी और पुरोहित होते थे। लेखों में अन्य व्यवसायों का उल्लेख नहीं मिलता है। कुछ लेख इस बात का संकेत करते हैं कि उस देश की आर्थिक व्यवस्था में बहुत-से व्यवसायों का हाथ था जिनमें से कुछ का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

तौल और मान

इस सम्बन्ध मे कम्बुज लेखों में विशेष सामग्री मिली है। कम्बुज देश में भारतीय ढंग के मापदण्डों का चलन था और वे क्रमशः 'खारिका'[78] 'द्रोण'[79] 'प्रस्थ'[80] और 'कुडब'[81] थे। 'कुडब' अन्तिम सबसे छोटा बाट था यह लगभग एक पाव के बराबर था। 'प्रस्थ' लगभग एक सेर के बराबर था। प्राचीन बटखरों में इससे बड़ा 'आढक' था पर इसका उल्लेख लेखों मे नहीं है। यह चार सेर का बाट था और कदाचित् यह भी काम में लाया जाता था। १६ सेर के बाट को 'द्रोण' कहते थे और 'खारिका' सबसे बड़ा बाट था जो २५६ सेर होता था। एक लेख में[82] ११।२ 'खारिका तंडुल' का उल्लेख है। 'अर्द्धप्रस्थ तंडुल' तथा 'द्रोण तंडुल' का भी उल्लेख मिलता है।[83] 'काक' नामक एक और बाट का भी उल्लेख है, पर

७५. मजुमदार, नं १३४ पृ १७।
७६. वही।
७७. वही नं १५८, पृ ४११।
७८. वही, नं ६६, पृ १२६, पद ८४।
७९. वही कम्बुज लेख नं १२६, पृ ३१६, पद १२।
८ वही, नं ६६, पृ १२५।
८१ वही, नं १७७, पृ ४६६, पद ४१।
८२ वही, नं ६६, पृ १२५।
८३ वही, नं १२६, पृ ३१६, पद १।

इसका अनुपात नहीं निश्चित किया जा सकता है।[८४] मानों में 'पाद'[८५] 'वटी' 'तुला'[८६] 'पल'[८७] तथा 'सीस'[८८] का उल्लेख मिलता है। पाद द्वारा मक्खन घी तथा मधु की नाप होती थी और यह १५ ग्रेन का था। वटी या कुम्हार की इकाई का प्रयोग भी तौलने या नापने के लिए होता था। 'भूतवटी' से इसके विशेष प्रयोग का संकेत होता है। तुला १ पल के बराबर थी यद्यपि इसका प्रयोग अनुमान के लिए भी हो सकता है। 'पल' से मुद्रा और तौल दोनों का ही संकेत हो सकता है।[८९] यह २ माशे या ४ 'काकिणी' का होता था। 'सीस' का प्रयोग अधिकतर सम्भवतः करते थे। इन तौल तथा माप-यंत्रों के प्रयोग से प्रतीत होता है कि कम्बुज देश का आर्थिक जीवन पूर्णतया परिपक्व था।

व्यापार

व्यापार सम्बन्धी कुछ विषयों पर भी लेखों से जानकारी प्राप्त होती है। विक्री के लिए शासन की ओर से अधिकारी नियुक्त होते थे। भूमि बेचते समय सीमा निर्धारित करने के लिए ग्रामवृद्ध तथा अन्य पदाधिकारी सहायता देते थे। इनके द्वारा व्यापारिक समस्याएँ शीघ्र ही हल हो जाती थीं। कभी-कभी विनिमय का भी प्रयोग होता था। पर मुद्रा और अनुपात तथा माप के पैमानों से यह प्रतीत होता है कि प्रायः आर्थिक जीवन में इनका पूर्णतया प्रयोग होता था। बिक्री-कर का कहीं उल्लेख नहीं है पर चीनी दूतों के अनुसार शासक को व्यापारिक कर सोना चाँदी मुक्ता तथा गंध-वस्तु के रूप में दिया जाता था।[९०] देशीय के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी पूर्णतया विस्तृत था। एक लेख में चीनांशुक का भी

८४ 'अर्घं कालेषु दातव्यं अर्धप्रस्थकमद्भुतम्। नं १६७ पृ ११६ पद ८।
८५ वही, नं १६१ पृ ४९५।
८६ 'धूर्तवटी विकुटवं दधिक्षीरमेघुनि तु' वही, नं १७७, पृ० ४१६ पद ४।
८७ वही पृ ३२९ पद १७०।
८८ वही, पृ ४१९, पद ७२।
८९ वही, पृ ४६८, पद ११।
९ मोनियर विलियम्स : संस्कृत-डिक्शनरी पृ ५२१०.२।
९१ बु इ फा १ पृ २०८।

उल्लेख है[12] जिससे प्रतीत होता है कि कदाचित् चीन से यहाँ रेशम आता था। एक और लेख में सम्राट् सूर्यवर्मन् द्वारा शक संवत् ८४४ में वापचीन नामक व्यक्ति के माल को छोड़ देने का आदेश दिया गया है जिसमें दास, सोना, चाँदी, हाथी, बैल इत्यादि थे। कदाचित् यह कोई चीनी व्यक्ति था जो कम्बुज देश में व्यापार के सम्बन्ध से आया था। लिअंग-वंश के इतिहास (ई ५ २-५११) के अनुसार भारत और पार्थिया से व्यापार के लिए बहुत-से व्यापारी फूनान आते थे और प्रायः हर एक वस्तु यहाँ बिकती थी। देश में सोना, चाँदी, ताँबा, टीन, हाथीदाँत, मोर, मछली और पाँच रंग के तोते बिक्री के पदार्थ थे। टंग-वंश के नवीन इतिहास में लिखा है कि कम्बुज (फूनान) का व्यापार उत्तर में टौंकिन और पश्चिम में भारत के साथ होता है और यहाँ पर हीरा, चन्दन तथा अन्य पदार्थ मिलते हैं।[13] यहाँ एक प्रकार का हीरा भी मिलता था। एक और चीनी स्रोत के अनुसार[14] पश्चिमी भारत से एक बड़ा जहाज फूनान आया था जिसमें बिक्री के लिए एक बड़ा भारी शीशा था जो नीले स्फटिक का था और उसका व्यास कोई ११ फुट ५ इंच था तथा वह लगभग ४ पौंड वजन का था। 'इशिंग-त्सि का इतिहास' में कम्बुज देश के व्यापारिक पदार्थों में सोना, चाँदी, रेशम का उल्लेख है।[15] व्यापार अधिकतर सामुद्रिक मार्ग द्वारा ही होता था किन्तु स्थल मार्ग का भी प्रयोग होता था। देश की उपज में कपास, मधु, लिनन, चावल और अदरख, बताशे तथा इलायची थी जिनका एक दान के लेख में उल्लेख है। यातायात के साधनों में नावों का प्रयोग होता था और आन्तरिक व्यापार के लिए स्थल मार्ग में हाथी काम में लाये जाते थे।

सामग्री का अभाव होते हुए भी कम्बुज देश के आर्थिक जीवन सम्बन्धी कुछ तथ्यों का संकेत किया गया है। कम्बुज का पश्चिम में भारत और उत्तर-पूर्व में चीन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था और खुदाई में प्राप्त सामग्री से यह भी

१२ मजूमदार, कम्बुज लेख नं. १७७ पृ. ४६६।
१३ वही नं. ८९ पृ. ११७।
१४ बु. इ. फा. ३ पृ. २७५।
१५ वही पृ. २८१।
१६ वही पृ. २६१।
१७ वही नं. ५३ पृ. ५७।

प्रतीत होता है कि इस देश का रोम के साथ भी व्यापार होता था। देश की उपज अधिक थी और इसी लिए राष्ट्रीय सम्पत्ति भी बढ़ती जाती थी। समृद्धिशाली होने के नाते समय-समय पर घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों के होते हुए भी यह अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम रख सका। भारतीय औपनिवेशिकों ने देश के समृद्धिशाली होने में पूर्ण रूप से सहयोग दिया। कम्बुज शासकों तथा जनता ने बहुत-से सार्वजनिक कार्यों के लिए दान दिये। जयवर्मन् सप्तम ने बहुत-से अस्पताल बनवाये। यह खेद का विषय है कि कम्बुज के लेख उक्त देश के व्यवसायों का पूर्ण रूप से उल्लेख नहीं कर सके और न कोई वहाँ की मुद्रा ही मिली। लेकिन इसमें सन्देह नहीं है कि आर्थिक जीवन में तौल तथा माप और मुद्राओं का प्रयोग होता था।

अध्याय ९

शिक्षा और साहित्य

कम्बुज के लेखों से उक्त देश की शिक्षाप्रणाली तथा साहित्य का पूर्णतया ज्ञान होता है। कम्बुज देश में भारतीय शैक्षिक परम्परा का अनुकरण किया गया था जैसा कि अध्ययन विषय, शिक्षा प्रणाली, विभिन्न स्तर के शिक्षक, शैक्षिक केन्द्र इत्यादि से प्रतीत होता है। प्राचीन भारतीय साहित्य के तीनों अंगों संस्कृत, पालि और प्राकृत को अपनाया गया यद्यपि संस्कृत को ही सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। एक लेख में[1] गुणाढ्य का भी उल्लेख है जिससे प्रतीत होता है कि प्राकृत भाषा के भी अध्ययन का प्रचार था, पर प्राकृत भाषा में कोई लेख नहीं मिला है। अतः [illegible] यह प्रतीत होता है कि कम्बुज में आये हुए ब्राह्मण आगन्तुकों ने अपनी भाषा की शिष्टता को पवित्र रखना चाहा। लेखन के लिए ब्राह्मी लिपि का ही प्रयोग हुआ यद्यपि कहीं-कहीं पर दक्षिणी पल्लव लिपि में भी लेख मिले हैं। इस सम्बन्ध में विद्वानों के विचारों में मतभेद रहा है[2] और इसी आधार पर यहाँ के भारतीय औपनिवेशिकों का उद्गम स्थान उत्तरी अथवा दक्षिणी भारत माना गया है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन कम्बुज देश में विदुषियों का अभाव न था और स्त्रियों को अपनी बुद्धि के आधार पर ज्ञान प्राप्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। शैक्षिक क्षेत्र में भारत के साथ में भी कम्बुज देश का सम्पर्क रहा और यहाँ से विशेष विषयों की शिक्षा के लिए भारतीय विद्वान् बुलाये जाते थे। कभी-कभी कम्बुज के पंडित भी भारत में अध्ययन के लिए आते थे। शिक्षाकेन्द्रों में आश्रमों

१ मजुमदार, कम्बुज लेख नं ६२, पृ ९३ तथा ६३ पृ १ ५।
'धारक स्थिरकस्याणो गुणाढ्यः प्राकृतप्रिय'। पृ १ ९, पद ६९।

२ देखिए, बी आर चटर्जी इंडियन कल्चरल-इन्फ्लुएन्स (१ क पृ १११ से)।

का विशेष स्थान था। कुछ विद्वान् ब्राह्मण भी अपना विद्यार्थी-आश्रम चलाते हुए थे। उनका साहित्यिक प्रयास किसी प्रकार कम न था। उन्होंने नवीन ग्रन्थों की भी रचना की। जैसे यशोवर्मन् ने 'महाभाष्य' पर टीका लिखी है। इस अध्याय में हम अध्ययन विषयों शिक्षक और विद्यार्थी शैक्षिक सम्पर्क शिक्षा स्थान और तथा साहित्यिक रचनाओं इत्यादि विषयों पर लेखों के आधार पर विचार करेंगे।

अध्ययन विषय

विद्यार्थी और शिक्षक की इच्छा तथा विद्वता के अनुकूल विषयों का पठन-पाठन होता था। इन्द्रवर्मन् के गुरु शिवसोम ने शास्त्र वेद तर्क काव्य पुराण भारत शेष कथाचित् महाभारत और व्याकरण का अध्ययन किया था। जयवर्मन् तृतीय के शिक्षक भागवत का पिता शिवस्वामी भी वेद व्याकरण तर्क में पारंगत था। कवीन्द्र पंडित ने भी पंच व्याकरण (पंचव्याकरणान्वय) धर्म अर्थ आयत शास्त्र काव्य सम्पूर्ण महाभारत तथा रामायण का पूर्ण रूप से अध्ययन किया था। सम्राट् यशोवर्मन् के विषय में कहा जाता है कि वह सब शास्त्रों तथा शस्त्रों में पारंगत था तथा शिल्प शास्त्र लिपि भाषा नृत्य गीत तथा विज्ञान आदि का अच्छा पंडित था और उसने महाभाष्य पर टीका लिखी थी। उसके पालक के भी कम्बुज के सम्राटों को विद्वान् तथा धर्मशास्त्रज्ञाता कहा गया है। जयवर्मन् स्वयं बड़ा विद्वान्

३ मजुमदार कम्बुज लेख नं ५८, पृ ७ पद ७, ८।
'श्रीस्वामी यस्य च पिता वेदव्याकरणोत्तमः।
तर्काभिपारगो विप्रो बहुवेदं गुणान्वयत्॥

४ वही नं ५८, पृ ७१।
'वेदव्याकरणोत्तम तर्काभिपारग।

५ वही नं १११ पृ ११७।
'सव्याख्यागमशास्त्राणि काव्यं भारतविस्तरम्।
रामायणं च योऽधीत्य शिष्यानध्यापयच्छ्रीमयम्॥ (पद २८)

६ मजुमदार कम्बुज लेख नं ६१ पृ ८६, पद ५१।
'य शस्त्रशास्त्रेषु शिल्पभाषालिपिष्वपि।
नृत्यगीतादिविज्ञानेष्वादिकर्तेव पण्डितः॥

भारवि वसुबन्धु तथा गुणाढ्य का भी उल्लेख है।[१६] प्रवरसेन के 'सेतुबन्ध' 'विमल कोष्ठिन्याय' तथा गौतम के 'न्यायसूत्र' का भी एक लेख में उल्लेख है।[१६] कदाचित् कौटिल्य के अर्थशास्त्र की भी जानकारी थी।[१७] संस्कृत के अलंकारों का अच्छी तरह से प्रयोग किया गया है और इससे यह प्रतीत होता है कि लेखरचयिताओं को छन्द शास्त्र का पूर्णतया ज्ञान था। उपर्युक्त उदाहरणों से यह प्रतीत होता है कि शिक्षा के लिए वैदिक विषय वेद तथा वेदांग व्याकरण मुख्यरूप से पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' जिसका उल्लेख कई लेखों[१८] में है तथा एक में तो एक सूत्र ही उद्धृत है 'महाभाष्य' तर्क तथा 'षट्दर्शन' जिसमें योग और सांख्य का विशेष रूप से उल्लेख है[१९] शब्द, उसकी ध्वनि और स्फोट तथा अर्थ जिससे 'निरुक्त' का भी संकेत है, श्रुति[२०] धर्म शास्त्र रामायण महाभारत पुराण ज्योतिष (होराशास्त्र) तथा चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन होता था।[२१] उपनिषदों का कहीं उल्लेख नहीं है पर कदाचित् श्रुति के अन्तर्गत वे भी थीं। रामायण तथा महाभारत के रचयिता क्रमशः वाल्मीकि तथा व्यास का तथा प्रमुख पात्रों का भी उल्लेख मिलता है। संस्कृत साहित्य ने कम्बुज में अपना यथेष्ट स्थान बना लिया था और इसका विस्तृत रूप से आगे वृत्तान्त दिया जायगा।

शिक्षक और विद्यार्थी

लेखों में उपाध्याय[२२] तथा अध्यापक[२३] का उल्लेख मिलता है। विद्यार्थियों

१६. मजुमदार, कम्बुज लेख, नं ६३ पृ ९७।

१७. 'धर्मशास्त्रार्थशास्त्रज्ञो धर्मार्थाविव रूपिणौ। वही, नं १ पृ १८ पद ६।

१८ वही नं ६४ पृ १०७ पद ८४। नं ९७, पृ २११। नं १९ पृ ५४४।

१९. वही नं ९३ पृ २१८, पद २१।

२ एक लेख में पुष्कुठ का नाम मिलता है (नं ६८, पृ ८९, पद ४९) ज्योतिष शास्त्र के ज्ञाता होराज्ञ कहलाते थे। (नं ७४ पृ १५६ पद ८)।

२१ वही नं ६४ पृ ११ पद ८१। नं ४१ पृ ५१।

२२ वही नं ७ पृ ११।

२३ वही, नं १९ पृ ५४४।

इनको बड़ा प्रोत्साहन मिला था और इसी लिए भारत के साथ शैक्षिक सम्पर्क बना हुआ था। कम्बुज मे भारतीय विद्वान् आगन्तुकों में आर्यावर्त का निवासी अगस्त्य वेद और वेदांगों में पारंगत था।[१०] सर्वज्ञ मुनि नामक आर्यावर्त निवासी ब्राह्मण चारों वेदों और आगमों का ज्ञाता तथा शिवभक्त था। कम्बुज देश में आकर उसने तथा उसके वंशजों ने उच्च पदों को सुशोभित किया।[११] हिरण्यदाम नामक तांत्रिक शिवकैवल्य को 'ब्रह्मविमानशिर' 'नयोत्तर' 'संमोह' तथा 'शिरच्छेद' नामक चार ग्रन्थों मे शिक्षा देने के लिए भारत से कम्बुज आया था। भारत के अतिरिक्त गरमति देश (कदाचित् ब्रह्मा) से धर्ममहाप्रभाग नामक ब्राह्मण कम्बुज के विद्वानों के साथ सम्पर्क स्थापित करने यहां आया था।[१२] कम्बुज देश से जो विद्वान् शिक्षा प्राप्त करने भारत गये उनमें इन्द्रवर्मन् के गुरु शिवसोम ने भगवान् शंकर के चरणों में शास्त्रों का अध्ययन किया था।[१३] सिदो के मतानुसार गौड़ शैली में लिखे कुछ लेख यह संकेत करते हैं कि इनके लेखक या तो पूर्वी भारत के रहनेवाले थे अथवा कुछ दिन वहां रह चुके थे।[१४] भारत के साथ शैक्षिक सम्पर्क इनके शिक्षा के स्तर को उच्च करने में सहायक सिद्ध हुआ।

शिक्षण केन्द्र

धार्मिक आश्रम और मंदिर ही शिक्षा के केन्द्र थे। यशोवर्मन् ने इस प्रकार के १ आश्रम तथा प्रत्येक के साथ मे एक-एक मंदिर का निर्माण किया था।[१५] इनका

१० मजुमदार, कम्बुज देश, पृ १ ८। कम्बुज लेख नं ६ पृ ७४।

११ मजुमदार, कम्बुज लेख नं १९१ पृ ५४८।

१२ वही नं १५२, पृ १६३।

१३ मजुमदार, कम्बुज लेख नं १९ पृ ५४१।

१४ सिदो इंसक्रिप्शंस कम्बुज (इ क १ पृ ३७)। मजुमदार, कम्बुज देश पृ १ ९ तथा कम्बुज लेख नं ५८, पृ० ७ । नीलकंठ शास्त्री 'जरनल ओरिएंटियल इंस्टीट्यूट मद्रास, ११ नं ३ पृ २८५। कुछ विद्वानों का विचार है कि इसमें स्वामी शंकराचार्य का संकेत है। मजुमदार, पृ सं । पर नीलकंठ शास्त्री ने इसका विरोध किया है। (पृ सं)।

१५ मजुमदार कम्बुज लेख पृ १६२। कम्बुज देश पृ १ ९।

१६ वही नं ६१ पृ ८२ तथा अन्य सम्बन्धित लेख।

प्रमुख 'कुलाध्यक्ष' कहलाता था। लेखों मे इसके प्रशासन सम्बन्धी नियम भी दिये हुए है। वैष्णव आश्रमों में इस तरह सुविधाएं प्रदान की जाती थीं—आगन्तुकों के आदर-सत्कार के सम्बन्ध में वैष्णव आश्रम में तीन वेदों के ज्ञाता आचार्य वार्षिक ब्रह्मचारी पूर्व क्रम से आदर पात्र थे। पंचरात्र और व्याकरण के शिक्षक को विशेष आदर स्थान प्राप्त था। शैव आश्रमों में शैव और पाशुपत आचार्यों तथा वैयाकरणों को आदरणीय स्थान और सुविधाएं प्राप्त थीं। शिक्षक ज्ञाता से अधिक मान्य था। बौद्ध आश्रमों मे भी विद्वान् ब्राह्मणों को केवल बौद्ध व्याकरण और सिद्धान्त के ज्ञाता से उच्च स्थान प्राप्त था। बौद्ध धर्म तथा व्याकरण में से किसी एक का शिक्षक इन विषयों के ज्ञानी से अधिक आदरपात्र समझा जाता था।[37] सभी आश्रमों मे दो लेखक दो पुस्तकरक्षक और दो राजकुलीपाक तथा छ पत्रकार रहते थे। ये आश्रम शिक्षाकेन्द्र थे और इनमें जातीयता को स्थान न था। ग्रन्थों की प्रतिलिपि तैयार करने के लिए पत्रकारों की नियुक्ति की जाती थी। लेखनी तथा दावात (मसी) और ताम्रपत्रों का भी उल्लेख है।[38] एक लेख में आश्रम के लिए सम्पूर्ण शास्त्रों की हस्तलिखित प्रतिलिपि के दान का उल्लेख है।[39] एक अन्य लेख में ब्राह्मण दिवाकर द्वारा त्रिपेतापुर में स्थापित विद्याश्रम का उल्लेख है जहा विष्णु-महेश्वर की मूर्ति स्थापित की गयी थी।[40] आश्रमो में अध्यापक तथा अन्तेवासियो के लिए राज्य तथा उच्च श्रेणी के पुरुषों की ओर से सहायता के अतिरिक्त कृषीबलो तथा व्यापारियों से भी अन्न तथा वस्त्र प्राप्त होता था।[41] बन्तेआई के जयवर्मन् पचम के समय ८ के लेख मे[42] मन्दिर के अध्यक्ष को आदेश दिया गया है कि वहां अध्यापको द्वारा बराबर वेद का पाठ होता रहे (अध्यापकेन वाच्छितं वह्रासमक्षतिमिया) (पद १८)। ये ही आश्रम

३७ मजुमदार कम्बुज लेख नं ५७ पृ ११ पद ५८।
३८. वही पृ १२६, पद ९८।
३९. वही, नं ५७, पृ १३१ पद ८४।
४ वही नं १७३ पृ ४४।
४१ वही नं ११२, पृ २९३।
४२ वही नं १७७, पृ ४६।
४३ वही नं १ ९, पृ २७१।

शिक्षा के बड़े केन्द्र थे और यहीं से ब्राह्मण तथा बौद्ध विद्वान् शिक्षा प्राप्त कर निकलते थे।

बौद्ध शिक्षा

तेप-मानम के लेख में[४४] यशोवर्मन् द्वारा बौद्ध आश्रमों के प्रति दिये गये दानों का उल्लेख है। इस प्रकार के बहुत-से बौद्ध शिक्षाकेन्द्र थे जो सौगताश्रम के नाम से प्रसिद्ध थे। यहाँ बौद्ध धर्म और व्याकरण का अध्ययन होता था। जयवर्मन् पंचम का मंत्री कीर्तिवर्मन् नामक एक विद्वान् विदेशों से बहुत-से ग्रन्थ लाया था और उसने माध्यमिक शास्त्र की ज्योति यहाँ जलायी थी।[४५] सूर्यवर्मन् ने भी बौद्ध शिक्षा के प्रसार में अनुराग दिया और उसने एक केन्द्र भी खोला। जयवर्मन् सप्तम की द्वितीय सम्राज्ञी इन्द्रादेवी ने सम्पूर्ण बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन किया था और वह नगेन्द्रतुंग तिलकाकोट्टर तथा नरेन्द्र आश्रम की बौद्ध भिक्षुणियों को शिक्षा देती थी। उसने अपनी छोटी बहिन को भी जो सम्राट् की प्रथम पत्नी थी शिक्षा दी थी और चम्पा से विजय प्राप्त कर लौटने के पश्चात् सम्राट् के सम्मान में उसने एक नाटक खेला था जो जातकों के आधार पर रचा गया था।[४६] इसमें भिक्षुणियों तथा अन्य नर्तकियों ने भाग लिया था। बौद्ध शिक्षा तथा स्त्री शिक्षा का भी बौद्ध आश्रमों में समुचित प्रबन्ध था। यहाँ बौद्ध साहित्य तथा व्याकरण और भाष्य के अतिरिक्त योगाचार दर्शन की भी शिक्षा दी जाती थी।

राजकीय प्रतिपालन

भारतीय संस्कृति सभ्यता विचार तथा शिक्षा का कम्बुज देश में इतनी तेजी से प्रसरण न होता यदि राजकीय प्रोत्साहन का अभाव होता। ज्ञान के क्षेत्र में यशोवर्मन् सूर्यवर्मन् द्वितीय और जयवर्मन् सप्तम ने विशेषतया केन्द्रों की स्थापना कर शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। वे कवियों को भी प्रोत्साहित करते थे और

४४. मजुमदार, कम्बुज लेख नं १७ पृ १२७।
४५. सिडो ए हि पृ २ १।
४६. मजुमदार, कम्बुज लेख नं १८२ पृ ५१५।
४७. वही नं १७ पृ २११ २७५।

देश में उस प्रकार के कवि-सम्मेलनों का आयोजन किया जाता था जैसा कि राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में उल्लेख किया है। जयवर्मन् तृतीय का गुरु भागवत कवि था जो श्रीनिवास कवि कहलाता था और उसने अन्य पृथ्वीन्द्र पंडित की उपाधि प्राप्त की थी तथा उसे एक छाते की पालकी भी मिली थी। जयेन्द्र पंडित के एक शिष्य फलप्रिय को भी कवीन्द्र पंडित की उपाधि से सुशोभित किया गया।[४८] यह प्रतीत होता है कि कवि सम्मेलनों में कभी-कभी इस प्रकार की प्रतियोगिता भी होती थी। एक लेख में धुर का अपने प्रतिद्वन्द्वी भीमक को हराने का उल्लेख है[४९] तथा इसी लेख में एक और कवि भौर्म का भी नाम है। राजकुमार की शिक्षा के लिए पुरोहित विद्वानों की नियुक्ति होती थी। यशोवर्मन् की शिक्षा शिवसोम के शिष्य वामशिव द्वारा हुई थी जो इन्द्रवर्मन् का भी शिक्षक था।[५] जयेन्द्रवर्मन् ने भी उदयादित्यवर्मदेव को शिक्षा दी थी।[५] जयवर्मन् की तुलना पाणिनि से की गयी है।

साहित्य और लेखन-कला

ग्रन्थों के अध्ययन का उल्लेख पहले ही हो चुका है। वेद वेदांग सूत्र न्याय व्याकरण षड्दर्शन रामायण महाभारत पुराण स्मृति काव्य छन्द संस्कृत साहित्य के दिग्गज कालिदास भारवि तथा अन्य साहित्यकारों की रचनाओं मनुस्मृति कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा वात्स्यायन कामसूत्र इत्यादि का कम्बुज मे अध्ययन होता था। लेखों से प्रतीत होता है कि प्रशस्तिकार शुद्ध संस्कृत लिख सकते थे और साहित्यिक क्षेत्र मे उनका अच्छा नाम था। कम्बुज के विद्वान् भी भारतीय साहित्य मे अपना अनुदान दे रहे थे। यशोवर्मन् ने स्वयं महाभाष्य पर टीका लिखी थी। विद्वानों की कमी न थी। भारतीय साहित्य कम्बुज देश में मूल रूप मे ही पहुंचा था और उसको सुरक्षित रखने का पूर्णतया प्रयास किया गया।

४८. मजुमदार, नं ५८, पृ ७१।
४९. वही नं १५७ पृ ४ ।
५. वही नं ६४ पृ १ ५।
५१ वही नं १५६, पृ १८५।
५२ वही कम्बुज लेख नं १५२, पृ ३६३।

यशोवर्मन् के आश्रम-नियम सम्बन्धी लेखों में लेखक और पत्रकारों का उल्लेख है जो मूल ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ बनाते थे। कम्बुजनिवासियों का साहित्यिक ज्ञान विस्तृत था। वेदों रामायण महाभारत और पुराणों से उद्धत आख्यान तथा आख्यायिकाओं का भी उल्लेख मिलता है। स्मृतियों से श्लोक उद्धत किये गये हैं तथा साहित्य के पात्रों से कम्बुजशासकों की उपमाएं दी गयी हैं। अलंकार और छंद का पूर्णतया ज्ञान था। यहां की लेखन-शैली भारतीय पल्लव अथवा उत्तर भारत की लिपि से मिलती थी और भारतीय वर्णमाला का भी प्रयोग होता था। लियन-वंश के इतिहास में जिसमें २६५ से ४१९ ई तक का विवरण है, फूनान की लिपि और वर्णमाला का उल्लेख है जो हू प्रान्त (मध्यभारत) से मिलती-जुलती थी। एक दूसरे ग्रन्थ टॉग-टिएन के जिसकी रचना ८वीं शताब्दी में हुई थी और जो एक प्रकार का विश्वकोष है, अनुसार कम्बुज लिपि व वर्णमाला भारतीय थी। इस देश में संस्कृत भाषा तथा ब्राह्मी लिपि में लिखे लेख इसकी पुष्टि करते हैं।

कम्बुज देश के शिक्षाप्रणाली सम्बन्धी विविध विषयों पर इस अध्याय में प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। यह पूर्णतया विदित है कि यहाँ भारतीय वैदिक परम्परा को अपनाया गया। यहाँ तक कि लेखों में विद्या को धन धन माय तथा दान से भी ऊपर माना गया है। देश की राजनीतिक स्थिति भी साहित्यिक प्रगति के प्रतिकूल न थी। यशोवर्मन कम्बुजशासक स्वयं विद्वान् थे और उन्होंने विद्वान् ब्राह्मणों का सत्कार किया। भारत से आये ब्राह्मणों के राजवंश में विवाह के कई उदाहरण मिलते हैं।

५१ बु इ का १ पु २५४।

के अनुसार कम्बुज देश में जावा से भी ब्राह्मण आये थ। जावा के ब्राह्मणों के आगमन से यहां की राजनीति पर कुछ प्रभाव पड़ा। भारत से हिरण्यदाम नामक तांत्रिक ब्राह्मण शिवकैवल्य को तंत्र विद्या सिखाने गया था जिसके वंशज २५ वर्ष तक राजपुरोहित के पद पर आसीन रहे। आमन्त्रुक ब्राह्मणों का देश में बड़ा मान होता था।

लेखों म ब्राह्मण धर्म की विभिन्न विचारधाराओं के प्रचलन का भी उल्लेख है। जैसे यज्ञ भक्ति तप तंत्र इत्यादि। शिव की पूजा लिंग तथा पार्थिव रूप में की जाती थी। वैष्णव धर्म भी प्रचलित था और लेखों में विष्णु के भी बहुत-से नाम मिलते है। त्रिमूर्ति तथा बहुत-से ब्राह्मण देवताओं तथा देवियों का उल्लेख भी यहाँ मिलता है। संयुक्त मूर्तियों की स्थापना मे शंभु, विष्णु, शंकर नारायण तथा हर और अच्युत का भी उल्लेख है। इस प्रकार की संयुक्त मूर्तियों की स्थापना का चलन उत्तरी भारत म भी था। वैदिक यज्ञ भी किये जाते थे और तपस्वियों का अभाव न था। इससे प्रतीत होता है कि देश में ब्राह्मण धर्म अपने सभी स्वरूपों मे विद्यमान था जिनमें देवताओं की उपासना यज्ञ तप इत्यादि सम्मिलित थे। इस सम्बन्ध में लेखो के आधार पर विविधत विचार करना आवश्यक है।

शैव मत

शैवमत राजकीय धर्म था और बौद्ध शासक भी इसको मानते थे। इसको देवराज के नाम से सम्बोधित किया जाता था जिसमें कदाचित् तीन बातों का समावेश था ऊँचे स्थान पर लिंग की स्थापना करना शासक को किसी देवता का स्वरूप मानना और पितरो की उपासना तथा उनकी मूर्ति स्थापित करना। इस मत का तंत्रवाद से भी सम्बन्ध था और हिरण्यदाम नामक ब्राह्मण ने ब्रह्म विनाशिख के अनुसार एक धार्मिक क्रिया की तथा 'ब्रह्म विनाशिख' 'सम्मोहन संमोह' और 'शिरच्छेद' नामक ग्रंथों की शिवकैवल्य को शिक्षा दी। इनमें से प्रथम तीन के विषय में कुछ ज्ञान नही है पर 'शिरच्छेद' से देवी के आगे शीश काटकर चढ़ाने का संकेत होता है जिसका उल्लेख 'कथासरित्सागर' तथा 'हितोपदेश' में मिलता है और इसका भारतीय शिल्पकला में भी चित्रण है। इस मत के अनुसार राष्ट्र

२ सिडो ए हि पृ ९९।

और धार्मिक संघ का एकीकरण किया गया है और इसमें शिव-शक्ति की उपासना के अतिरिक्त पूर्वजों की उपासना तथा सम्राट् को देवता स्वरूप माना गया है। इसलिए देवालय के मंदिर में देवताओं के अतिरिक्त देश के शासकों की मूर्तियां भी स्थापित हैं। इस मत पर आगे चलकर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला जायगा। शैव धर्म को सैद्धान्तिक रूप से शिव-पार्वती की मूर्तियों द्वारा ही प्रदर्शित किया गया है। वट-विहार मंदिर में मिले लेखों[३] में शिव और पार्वती का उल्लेख है और इन दोनों की मूर्तियां भी उस मन्दिर में मिली जिसमें पार्वती शिव की बायीं जांघ पर बैठी दिखायी गयी है। सम्राट् इन्द्रवर्मन् ने भी शिव तथा तीन अन्य देवताओं की मूर्तियों की स्थापना शक सं ८ १ (८७९ ई) में की थी। अमरत्मन नामक एक साधु ने भी जो यशोवर्मन् और इन्द्रवर्मन् का कृपापात्र था शिव की एक सोने की उत्सव मूर्ति बनवायी थी जिसे जुलूस में ले जाया जाता था। बन्ते-श्राई में रावण द्वारा कैलाश उठाने का प्रयास बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित है और उसमें शिव और पार्वती एक साथ बैठे दिखाये गये हैं। एक लेख में[४] यज्ञवराह द्वारा उमा-महेश्वर की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है तथा एक दूसरे लेख में[५] शिव और दुर्गा की मूर्तियों की स्थापना का विवरण मिलता है।

शिवलिंग की स्थापना भी कई लेखों में उल्लिखित है। बहुत-से लेखों में उपासक के नाम पर शिवलिंग का नामकरण किया गया है। शिवजी के वैदिक नामों में शम्भु, गिरीश, त्रियम्बक, शंकर, महेश्वर तथा ईशान का लेखों में उल्लेख है। शासकों द्वारा रखे गये नाम जैसे आम्रातकेश्वर, गंभीरेश्वर, पिंगलेश्वर, सिद्धेश्वर[६]

३ मजुमदार, कम्बुज लेख नं ७, पृ ८।
४ मजुमदार, कम्बुज लेख नं ५५, पृ ६१।
५ वही, नं ७५, पृ १५७।
६ वही नं १ ९, पृ २०१।
७. वही, नं ६१ पृ ८१।
८ वही नं २८ पृ १६, नं १४ पृ ४४।
९. वही नं ४-५, पृ ७।
१ वही नं १४ पृ ४४।
११ वही नं ९१ पृ १९४।

इत्यादि भी मिलते हैं। लेखों में शिव का वर्णन तथा उनकी स्तुति भी की गयी है। उनके शीश पर गंगा तथा इन्दु विराजमान हैं। एक लेख में शिव की आठ प्रकार की मूर्ति (अष्टमूर्ति) की स्थापना का उल्लेख है। कदाचित् उससे आठ शैव मन्दिरों के निर्माण का संकेत होगा। मूर्ति स्थापना के लिए बड़े और ऊँचे मन्दिर बनाये जाते थे। एक लेख में ८१ फुट की ऊँचाई पर शिवलिंग की स्थापना का उल्लेख है। लिंग के साथ अन्य मूर्तियों की स्थापना की जाती थी। राजेन्द्रवर्मन् के मेबोन के लेख में एक लिंग और पार्वती की ही दो मूर्तियाँ, विष्णु और ब्रह्मा की मूर्तियों एवं अपने नाम पर एक शिवलिंग की स्थापना का विवरण है। ब्रह्मा विष्णु और महेश की त्रिमूर्ति का कई लेखों में उल्लेख है।[१६]

शैव मत के अनुयायी विभिन्न समुदायों में विभाजित थे। जयवर्मन् प्रथम के समय के एक लेख में एक आश्रित का उल्लेख है जो पंचरात्र क्रियाओं का पूर्ण रूप से ज्ञाता था। यशोवर्मन् के नोम प्रह लेख में[१७] विद्यापुष्प नामक सम्राट् के एक अधिकारी के दानों का उल्लेख है। यह व्यक्ति पाशुपत सम्प्रदाय का आचार्य था। इस लेख का विशेषतया महत्त्व है क्योंकि यह चाओ-ता-कुएन के जो १२९६ में चीन से कम्बुज आया था दिये हुए पाशुपत वृत्तान्त की पुष्टि करता है। इसका उल्लेख यशोवर्मन् के आश्रम सम्बन्धी लेखों में भी है जिसमें शैव तथा पाशुपत सिद्धान्तों के शिक्षक को अधिक आदर का पात्र समझा गया है। शिव की प्रधानता कला के क्षेत्र में भी रही जैसा कि वहाँ के मन्दिरों से ज्ञात होता है और इसका विस्तृत रूप से उल्लेख कला के अध्याय में किया जायगा।

वैष्णव मत

विष्णु की उपासना कई लेखों में की गयी है तथा उनका वासुदेव माधव

१२ मजुमदार कम्बुज लेख नं ५६, पृ १७, पद २५।

१३ वही नं ८५, पृ १०२।

१४ वही नं ९३ पृ १२४।

१५. वही नं ७४ पृ १५५ ७। नं ८, पृ १११। नं १७, पृ १११ इत्यादि।

१६. वही नं २७ (अ) पृ ५९।

१७. वही नं १ पृ ११।

हरि, नारायण कृष्ण पद्मनाभ त्रिविक्रम इत्यादि नामों से सम्बोधित किया गया है। एक प्राचीन लेख में[18] गुणवर्मन् द्वारा विष्णु देवता की मूर्ति के प्रति दिये हुए दान का उल्लेख है और इसे स्वामिन् कहा है। जयवर्मन् की महिषी कुलप्रभावती ने कुम्भनगर में जहाँ ब्राह्मण रहते थे विष्णु देवता की एक मूर्ति स्थापित की थी। कम्बुज देश का यह सबसे प्राचीन लेख है और इसमें सम्राट् की समानता फनान के राजा जयवर्मन् से की गयी है जिसने ४७४ से लेकर ५१४ ई तक राज्य किया। एक और लेख में इनके पुत्र गुणवर्मन् द्वारा चक्रतीर्थ-स्वामिन् विष्णु के पदचिह्नों की स्थापना का उल्लेख है।[19] जयन्द्रवर्मन् के पुत्र अमृतगर्भ ने ८८३ ईसवी में हरि के एक मंदिर की स्थापना की।[20] एक अन्य लेख मे 'यशोवर्मन् के समय में विष्णु की एक मूर्ति की स्थापना सम्राट् के मामा ने की थी तथा उसके प्रति दान भी दिया था। जयवर्मन् पंचम के गुरु यज्ञवराह के सम्बन्धी प्रवीण पंडित न भी विष्णु की एक मूर्ति की स्थापना बन्तेःश्राई मे की।[21] कम्बुज लेखों म कृष्ण और उनकी लीलाओं का भी उल्लेख मिलता है। सूर्यवर्मन् के समय के शक सं ९११ के लेख में गरुड़ पर बैठे कृष्ण की मूर्ति का उल्लेख है जिसके प्रति दान दिया गया था।[22] इसके पहले शक संवत् ८५ का एक लेख प्रसत निएंग ख्मो के एक मन्दिर में मिला जिसमें विष्णु की आराधना की गयी है और निकट के दूसरे मन्दिर में कृष्ण को गोवर्धन उठाते हुए तथा विष्णु को वामन के रूप में तीन पगों में संसार को नापते हुए चित्रित किया गया है।

यहाँ पर यह कह देना उचित है कि देश के इतिहास में शैव और वैष्णव धर्म पारस्परिक रूप से एक दूसरे के बहुत निकट थे और एस बहुत-से लेख मिलते हैं जिनमे एक मत के अनुयायियों ने दूसरे मत के देवता की मूर्ति स्थापित की। मत

१८. मजुमदार, नं १ पृ १।
१९. वही कम्बुज लेख नं ३ पृ २।
२ वही नं ५८, पृ ७१।
२१ वही नं ७७ पृ १६१।
२२ वही नं १ ८, पृ २८२।
२३ वही, नं १४४ पृ ३४६।
२४ वही नं ८३ पृ ५७७।

पूजन किया है। एक लेख में धामग्रामस्वामी और आदित्यस्वामी का उल्लेख है तथा लेख के साथ में धामग्राम और सूर्य की प्रतिमाएँ फलक पर अंकित हैं।[35] देवियों में मुख्यतया दुर्गा[36] गंगा इन्द्राणी वागीश्वरी[37] चतुर्भुजा गौरी सरस्वती[38] का उल्लेख मिलता है। शिव के साथ में उमा तथा पार्वती का उल्लेख पहले ही हो चुका है। ये मूर्तियाँ प्रायः शिव या विष्णु के मन्दिर में ही स्थापित की जाती थीं और कुछ के स्वतन्त्र रूप से अपने मन्दिर थे। लेखों से प्रतीत होता है कि भक्ति मार्ग ने देश के धार्मिक क्षेत्र में अपना दृढ़ स्थान बना लिया था। लोगों को पाप पुण्य का ज्ञान था और देवी-देवताओं की उपासना में वे अपना कल्याण समझते थे। लेखों में कहीं-कहीं सोने की मूर्तियों की स्थापना का भी उल्लेख मिलता है।

यज्ञ इत्यादि

भक्ति-मार्ग और पौराणिक देवी देवताओं की उपासना से वैदिक यज्ञ तथा तप का लोप नहीं हुआ था। लेखों से प्रतीत होता है कि देश में यज्ञ इत्यादि किये जाते थे। शिवाचार्य सम्राट् ईशानवर्मन् द्वितीय जयवर्मन् हर्षवर्मन् तथा राजेन्द्रवर्मन् का होता (होतृ) था।[39] सम्राट् श्री उदयादित्य वर्मदेव के समय में भी जयेन्द्रवर्मन् राजगुरु था और उसने भुवनाध्व तथा लक्षयज्ञ किये और महोत्सव पूजा की पर यह भृगुपद (शम्पान) के अन्तर्गत थी।[40] याज्ञिक को यजमान की ओर से दक्षिणा भी दी जाती थी। सूर्यवर्मन् द्वितीय ने लक्ष होम और कोटि होम के पश्चात् दिवाकर पण्डित को बहुत दक्षिणा दी।[41] यज्ञ केवल राजवंश तक ही सीमित न थे।

३५ मजुमदार, नं ४ पृ ५।
३६ वही नं ५६, पृ ९७।
३७. वही नं ५६, पृ ९७।
३८. वही नं ९२ पृ १८५।
३९. वही, कम्बुज लेख।
४० वही नं २७ पृ ३५।
४१ वही नं ७१ पृ १५१।
४२ वही नं १२९, पृ ३२३।
४३ वही नं १५२ पृ ३६९।
४४ वही, नं १६८, पृ ४११।

गया है विषय में विद्वानों ने समय-समय पर अपने विचार प्रकट किये हैं।[51] बास के मतानुसार यह कम्बुज देश में मध्य जावा से आया था और चम्पा में भी फैला। जावा में दक्षिण भारत के कुञ्जरकुंज प्रान्त से अगस्त्य मत पहुँचा था और कदाचित् इसका भी उस मत से सम्बन्ध रहा होगा। डा. मजुमदार के मतानुसार इस मत के विषय में निश्चित रूप से कोई धारणा नहीं बनायी जा सकती है। इसके अन्तर्गत राजकीय उपासना का मुख्य अंग शिव की मूर्ति को माना गया है या लिंग के रूप में बहुत ऊँचाई पर, जिससे कैलास का संकेत हो स्थापित की जाती थी। इसके साथ ही कुछ तान्त्रिक क्रियाएँ भी की जाती थीं जिनका उल्लेख स्दोक काक के लेख में है और उसके विधान के लिए भारत से हिरण्यदाम कम्बुज देश आया था। उक्त लेख के अनुसार कम्बुज पर जावा के प्रभाव को हटाने का उल्लेख है। इस कारण यह कहा जा सकता है कि उसका उत्कर्ष धार्मिक के अतिरिक्त राजनीतिक भावनाओं के कारण हुआ और धीरे-धीरे इसमें अन्य भावनाओं का भी समावेश हुआ जिसमें सम्राट् को देवत्वस्वरूप प्रदान करना तथा मरने पर उसकी मूर्ति स्थापित करना भी है।

इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण उदयादित्यवर्मन् का स्दोक काक लेख है।[52] इसमें सम्राट् परमेश्वर जयवर्मन् द्वारा जावा से लौटने पर एक राजकीय देवता की जिसे ख्मेर भाषा में 'कम्रतें जगत न राज' और संस्कृत में देवराज कहा गया है, मूर्ति महेन्द्रपर्वत पर स्थापित करने का उल्लेख है। स्दोक काक लेख में हिरण्यदाम

[51] देवराज मत के विषय में विद्वानों ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। इसमें शिवलिंग का ऊँचाई के स्थान जिससे कैलास का संकेत हो, पर स्थापना तंत्रवाद की क्रियाओं तथा सम्राट् में देवत्वस्वरूप मानकर मरने पर उसकी मूर्ति स्थापित करना इत्यादि का समावेश है। देखिए, मेंगेस सिस्टम तथा पृ. २ -२। बी. ए. इ. का. २५, पृ. ३११। ति. वि. श्री. ६४ पृ. २२७ से। सिदो ए. हि. पृ. १०७ से। मजुमदार कम्बुज देश पृ. ७७ १ ८। चटर्जी : इ. क. इ. पृ. ७८ से। बागची इ. एच. क्व. ५, पृ. ७५४ से। इ. प. १७। इण्डियन हिन्दूइज्म और बुद्धिज्म भाग ३ पृ. ११७ से। नीलकण्ठ शास्त्री। देवराज कल्ट : दोलकरिन् सोसायटी दक्षिण भारत।

[52] मजुमदार कम्बुज लेख नं. १५२ पृ. ३६२ से।

नामक एक ब्राह्मण को जनपद (कदाचित् भारत) से ब्रह्मविनाशिक संस्कार करने के लिए बुलाया था और उसने इस देवता के निमित्त पूजा करने के लिए यहाँ के राजपुरोहित शिवकैवल्य को 'ब्रह्मविनाशिख' 'नयोत्तर' 'सम्मोह' और 'शिरच्छेद' की शिक्षा दी थी। इस बात का भी प्रण किया गया था कि शिव-कैवल्य और उसके वंशज के अतिरिक्त इस देवता की और कोई पूजा नहीं करेगा। इसी लिए शिव-कैवल्य और उसके वंशज २५ वर्ष तक राजपुरोहित के पद पर आसीन रहे। लेख से यह भी प्रतीत होता है कि देवता की मूर्ति कम्बुज-सम्राट् द्वारा बराबर विभिन्न राजधानियों में ले जायी गयी। जिस रूप में देवसम्राट् की इस मूर्ति का स्थापन करने का उद्देश्य यह था कि कम्बुज जावा पर आधारित न रहे। जब सम्राट् महेन्द्र पर्वत से हरिहरालय गये तो देवराज की मूर्ति वहाँ ले जायी गयी और यशोवर्मन् के समय में यह नयी राजधानी यशोधरपुर गयी। शिवकैवल्य के भतीजे वामशिव ने सम्राट् के साथ इस लिंग मूर्ति की स्थापना में भाग लिया जो एक भव्य पहाड़ी के मन्दिर में की गयी थी। इसी पुरोहित का एक अन्य लिंग तथा भगवती की मूर्ति स्थापना में भी हाथ था जो भद्रपट्टन में हुई थी। शिवकैवल्य के वंशज ही देवराज के पुजारी थे जिनमें से कुछ आचार्य अथवा आचार्य-होम थे और वे ही यज्ञ भी करा सकते थे। हर्षवर्मन् प्रथम (रुद्रलोक) तथा ईशानवर्मन द्वितीय (परमरुद्रलोक) के समय में इस वंश के लोग राजपुरोहित के पद पर आसीन रहे और उनका इस देवता की उपासना में मुख्य हाथ था। जयवर्मन् चतुर्थ (परमशिवपद) यशो-धरपुर से कोक गर्ग्यार (को कर) गया और उसी के साथ-साथ राजकीय देवता की मूर्ति भी वहाँ ले जायी गयी। वामशिव का भतीजा ईशानमूर्ति उस वंशज होने के नाते उस समय मुख्य आचार्य था। उसने स्टुक रौस में एक लिंग की स्थापना की। हर्षवर्मन् द्वितीय (ब्रह्मलोक) के समय में ईशानमूर्ति का भतीजा आत्मशिव कुलपति भी था तथा राजकीय देवता और आचार्य होम का अधिष्ठाता था। राजेन्द्रवर्मन् (शिवलोक) के यशोधरपुर से वापस आने पर राजकीय देवता की मूर्ति भी उसके साथ लौट आयी। आत्मशिव राजपुरोहित और आचार्य होम पद पर रहा। जयवर्मन् पंचम (परमवीरलोक) के समय में आत्मशिव का भतीजा पौत्र राजपुरोहित था। सूर्यवर्मन् प्रथम (निर्वाणपद) ने उन लोगों के विरुद्ध सेना भेजी जिन्होंने भद्रपट्टन और स्टुक रौस के मन्दिरों को क्षति पहुँचायी थी। उनका जीर्णोद्धार किया गया तथा शंकर नारायण और पार्वती की मूर्तियों की स्थापना की गयी। उस समय शिवाचार्य का भतीजा सदाशिव राजकीय देवता का

पुरोहित था और उस वंश का कुलपति था। उसने सम्राज्ञी की छोटी बहिन के साथ विवाह किया था और उसे जयेन्द्रपंडित की उपाधि प्रदान की गयी थी। उदयादित्य वर्मन् के समय में जयेन्द्रपंडित राजगुरु था।

इस लेख के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजकीय देवता की मूर्ति भी राजधानी के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान को जाती थी और इस के साथ ही एक ही कुल के राजपुरोहित अपना स्थान बदलते रहते थे। नयी राजधानियों में भी लिंगमूर्ति की पुनः स्थापना के लिए एक उच्च निर्धारित स्थान चुना जाता था तथा राजपुरोहित को भी अपना पुनर्निवास बनाने के लिए भूमि तथा मुद्राओं का दान मिलता था। प्नोम ब्लोन्स्त्रेर फिमानक बफून तथा अंकोरथोम के बेयोन का निर्माण इसी हेतु हुआ। ब्लोन्स्त्रेर में जयवर्मन् चतुर्थ ने एक बहुत ऊँचा पिरामिड बनवाया जो सात मंजिल का था और उस पर राजकीय लिंग की त्रिभुवनेश्वर नाम से शक सं ८४३ में स्थापना की। लेख में जयवर्मन् द्वारा त्रिभुवनेश्वर के प्रति दिये गये दानों का उल्लेख है। उन्हीं के प्रसाद से वह सम्राट् हुआ था। पूर्वी गापुरम् पर अंकित ख्मेर लेख में सिवाविन्दु और श्री वीरेन्द्रारिमथन द्वारा 'कम्रतें अद्य जगत त राज' (देवराज) की लिंगमूर्ति के प्रति दान का उल्लेख है।

राजेन्द्रवर्मन् के मबोन लेख में इस राजकीय मत के विषय में और भी वृत्तान्त मिलता है। यशोधरपुर के जिसका निर्माण यशोवर्मन् ने किया था बीच में राजेन्द्र वर्मन् ने एक मंदिर का निर्माण कराया। उसकी चारों कोनों पर उसने अपने माता-पिता की शिव और उमा तथा विष्णु और ब्रह्मा के रूप में मूर्तियाँ स्थापित कीं और बीच में राजेन्द्रेश्वर नाम से लिंग स्थापित किया। प्रे रूप के शक सं ८८३ (९६१ ई०) के लेख में मंदिर निर्माण का उल्लेख है और उसमें राजेन्द्रेश्वर नाम से लिंग की स्थापना की गयी। इसके अतिरिक्त चार और मन्दिरों का निर्माण किया गया जिसमें दो में शिव तथा अन्य दो में उमा और विष्णु की मूर्तियाँ स्थापित की गयीं। ये कदाचित् चारों कोनों पर बनाये गये थे और बीच में राजकीय देवता का मन्दिर था। उमा की मूर्ति उसकी मौसी जयदेवी (हर्षवर्मन् की मां) का प्रतीक

५३ मजुमदार कम्बुज लेख नं ८ पृ १६५।
५४ वही, नं ९३ पृ १ ३ से।
५५ वही नं ९७, पृ २३४।

नामक एक ब्राह्मण को जनपद (कदाचित् भारत) से ब्रह्मविनाशिख संस्कार करने के लिए बुलाया था और उसने इस देवता के निमित्त पूजा करने के लिए वहाँ के राजपुरोहित शिवकैवल्य को 'ब्रह्मविनाशिख' 'नयोत्तर' 'सम्मोह' और 'शिरश्छेद' की शिक्षा दी थी। इस बात का भी प्रण किया गया था कि शिव-कैवल्य और उसके वंशज के अतिरिक्त इस देवता की और कोई पूजा नहीं करेगा। इसी लिए शिव-कैवल्य और उसके वंशज २५ वर्ष तक राजपुरोहित के पद पर आसीन रहे। इस से यह भी प्रतीत होता है कि देवता की मूर्ति कम्बुज-सम्राट् द्वारा बराबर विभिन्न राजधानियों में ले जायी गयी। लिंग रूप में देवसम्राट् की इस मूर्ति को स्थापित करने का उद्देश्य यह था कि कम्बुज जावा पर आधारित न रहे। जब सम्राट् महेन्द्र-पर्वत से हरिहरालय गये तो देवराज की मूर्ति वहाँ से लायी गयी और यशोवर्मन् के समय में यह नयी राजधानी यशोधरपुर गयी। शिवकैवल्य के भतीजे वामशिव ने सम्राट् के साथ इस लिंग मूर्ति की स्थापना में भाग लिया जो एक भव्य पहाड़ी के मन्दिर में की गयी थी। इसी पुरोहित का एक अन्य लिंग तथा भगवती की मूर्ति स्थापना में भी हाथ था जो भद्रपट्टन में हुई थी। शिवकैवल्य के वंशज ही देवराज के पुजारी थे जिनमें से कुछ आचार्य अथवा आचार्य होम थे और वे ही यज्ञ भी करा सकते थे। हर्षवर्मन् प्रथम (रुद्रलोक) तथा ईशानवर्मन द्वितीय (परमरुद्रलोक) के समय मे इस वंश के लोग राजपुरोहित के पद पर आसीन रहे और उनका इस देवता की उपासना में मुख्य हाथ था। जयवर्मन् चतुर्थ (परमशिवपद) यशो-धरपुर से कोह गर्म्यर (चो गर) गया और उसी के साथ-साथ राजकीय देवता की मूर्ति भी वहाँ ले जायी गयी। वामशिव का भतीजा ईशानमूर्ति उस वंश होने के नाते उस समय मुख्य आचार्य था। उसने स्दुक रंसि में एक लिंग की स्थापना की। हर्षवर्मन् द्वितीय (ब्रह्मलोक) के समय मे ईशानमूर्ति का भतीजा आत्मशिव कुलपति भी था तथा राजकीय देवता और आचार्य होम का अधिष्ठाता भी। राजेन्द्रवर्मन् (शिवलोक) के यशोधरपुर से वापस आने पर राजकीय देवता की मूर्ति भी उसके साथ लौट आयी। आत्मशिव राजपुरोहित और आचार्य होम पद पर रहा। जयवर्मन् पंचम (परमवीरलोक) के समय में आत्मशिव का भतीजा पौत्र राजपुरोहित था। सूर्यवर्मन् प्रथम (निर्वाणपद) ने उन लोगों के विरुद्ध सेना भेजी जिन्होंने भद्रपट्टन और स्दुक रंसि के मन्दिरों को क्षति पहुँचायी थी। उनका जीर्णोद्धार किया गया तथा शंकर, नारायण और पार्वती की मूर्तियों की स्थापना की गयी। उस समय शिवाचार्य का भतीजा सदाशिव राजकीय देवता का

पुरोहित था और उस वंश का कुलपति था। उसने सम्राज्ञी की छोटी बहिन के साथ विवाह किया था और उसे जयेन्द्रपण्डित की उपाधि प्रदान की गयी थी। उदयादित्यवर्मन् के समय में जयेन्द्रपंडित राजगुरु था।

इस लेख के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजकीय देवता की मूर्ति भी राजधानी के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान में लायी जाती थी और इस के साथ ही एक ही कुल के राजपुरोहित अपना स्थान बदलते रहते थे। नयी राजधानियों में भी लिंगमूर्ति की पुनः स्थापना के लिए एक उच्च निर्धारित स्थान चुना जाता था तथा राजपुरोहित को भी अपना पुनर्निवास बनाने के लिए भूमि तथा मुद्राओं का दान मिलता था। अंगकोर थोम, कोह-केर, फिमानक बपून तथा अंकोरथोम के बेयोन का निर्माण इसी हेतु हुआ। कोह-केर में जयवर्मन् चतुर्थ ने एक बहुत ऊँचा पिरामिड बनवाया जो सात मंजिल का था और उस पर राजकीय लिंग की त्रिभुवनेश्वर नाम से शक सं ८४३ में स्थापना की। लेख में जयवर्मन् द्वारा त्रिभुवनेश्वर को प्रतिदिन भेंट देने का उल्लेख है। उन्हीं के प्रसाद से वह सम्राट् हुआ था। पूर्वी गोपुरम् पर अंकित ख्मेर लेख में शिवबिन्दु और श्री वीरेन्द्रारिमथन द्वारा कम्भनद कमतेन राज (देवराज) की लिंगमूर्ति के प्रतिदान का उल्लेख है।

राजेन्द्रवर्मन् के मेबोन लेख में[55] इस राजकीय मत के विषय में और भी कुछ ज्ञात होता है। यशोधरपुर के जिसका निर्माण यशोवर्मन् ने किया था बीच में राजेन्द्रवर्मन् ने एक मंदिर का निर्माण कराया। उसकी चारों कोणों पर उसने अपने माता पिता की शिव और उमा तथा विष्णु और ब्रह्मा के रूप में मूर्तियाँ स्थापित कीं और बीच में राजेन्द्रेश्वर नाम से लिंग स्थापित किया। प्र रूप के शक सं ८८३ (९६१ ई.) के लेख में मन्दिर निर्माण का उल्लेख है और उसमें राजभद्रेश्वर नाम से लिंग की स्थापना की गयी। इसके अतिरिक्त चार और मंदिरों का निर्माण किया गया जिसमें दो में शिव तथा अन्य दो में उमा और विष्णु की मूर्तियाँ स्थापित की गयीं। ये चारों मन्दिर चारों कोणों पर बनाये गये थे और बीच में राजकीय देवता का मन्दिर था। उमा की मूर्ति उसकी मौसी जयदेवी (हर्षवर्मन् की मां) का प्रतीक

५३ मजुमदार कम्बुज लेख नं ८ पृ १६५।
५४ वही, नं ९३ पृ १२३ स।
५५ वही नं ९७ पृ २१४।

थी और ईश्वर राजेन्द्रवर्मेश्वर से उसके मौसेरे भाई हर्षवर्मन् का संकेत था। इस लेख से यह विशेषतया ज्ञात होता है कि राजकीय देवता के साथ साथ पूर्वजों की भी मूर्तियं स्थापित की जाती थी। इस सम्बन्ध में पूर्वजों की मूर्तियां स्थापित करना भी देवराज मत का एक अंग था और यह विचारधारा भारत में पायी भी जाती थी जिसका उल्लेख आगे चलकर किया जायगा। इसी से सम्बन्धित एक अन्य भावना के अन्तर्गत राजाओं को उनकी मृत्यु के पश्चात् दूसरा नाम दिया जाता था जिससे यह प्रतीत हो कि उन्होंने देवत्व स्वरूप प्राप्त कर लिया है जैसे परमरुद्रलोक (हर्षवर्मन् प्रथम) परमशिवपद (जयवर्मन चतुर्थ) ब्रह्मलोक (हर्षवर्मन् द्वितीय) निर्वाणपद (सूर्यवर्मन् प्रथम) महापरमसौगत (जयवर्मन् सप्तम) इत्यादि। बौद्ध नामों से प्रतीत होता है कि बुद्ध का राजकीय देवता से संयुक्त हो चुका था।

सम्राट् को देवत्व स्वरूप तथा उसी का रूप मानने की भावना भारत में भी थी और भारतीय कुषाण शासकों को देवपुत्र कहा गया है। डा टामस के मतानुसार[56] देवपुत्र की उपाधि चीनी टिएन-त्सू पर आधारित है जिसका अर्थ 'स्वर्गपुत्र' है और संसार में राजवंश में उत्पन्न होने से पहले वे स्वर्ग में रहते थे। वास्तव में 'देवपुत्र' भारतीय परम्परा पर आधारित है और यह भारतीय नामकरण अथवा उपाधि है जिसे अन्य शासकों ने भी ग्रहण किया। इसका उल्लेख 'सुवर्णप्रभासोत्तम' सूत्र में भी है, जिसमे शासको का देवपुत्र नाम से सम्बोधित करने के प्रश्न पर विचार किया गया।[57] राजवंश मे पैदा होने से पहले ये नृप देवताओं के लोक मे रहते थे और वहाँ के ३३ देवताओं के अंश से बनकर वे पृथ्वी लोक पर आते थे। राजाओं के देवत्व स्वरूप का उल्लेख मनु ने भी किया है।[58] कम्बुज लेखों में 'देवपुत्र' के स्थान पर 'देवराज' शब्द का प्रयोग किया गया है और कदाचित् ये दोनों पर्यायवाची थे।

५६ जी सी ला जाकूम भाग २।
५७ सिबी जू ए नं ३१४ (१९३४) पृ १ से।
५८. येन मनुष्यसंभूतो राजदेवस् तु प्रोच्यते।
देन च हेतुना राजदेवपुत्रस तु प्रोच्यते॥
अपि त्रै देवसंभूतो देवपुत्रः स उच्यते।
च त्रिंशद्देवराजेन्द्रैर्मात्रा दत्तो नृपस्य हि।
पुत्रत्वे सर्वदेवैश्च निर्मितो मनुजेश्वरः॥

का भी उल्लेख है। नोम-सङ्कि-कोम के लेख[९६] में सम्राट् सूर्यवर्मन् ने भूताम्स्लोन की वीरवर्मन् को कुमार श्री समरवीरवर्मन् उसकी पत्नी तथा माँ को उस समय स्वर्गीय देवता में मिल चुकी थी द्वारा दिए दानों को लिखवाने का आदेश दिया है। यह लेख मृतक व्यक्ति के उसके देवता में सम्मिलित होने का संकेत करता है। जयवर्मन् सप्तम के प्रह-खन के लेख[९७] में नृत्य करते हुए शिव (कम्बेश्वर) की दो सोने की मूर्ति तथा उसके पिता की एक मूर्ति स्थापित करने का उल्लेख है। इसी लेख में बोधिसत्त्व लोकेश्वर की मूर्ति को उसके स्वर्गीय पिता की मूर्ति कहा है जिसका परमेश्वर नामकरण हुआ था। बेयोन के एक लेख में[९८] देवराज की सोने की मूर्ति के स्थान पर बुद्ध की एक विशाल मूर्ति तथा निर्माता की अपनी मूर्ति की स्थापना का उल्लेख है। यह मूर्ति चतुर्मुखी थी (समन्तमुख) इससे प्रतीत होता है कि शिव के अतिरिक्त बुद्ध को भी देवराज का स्वरूप प्रदान किया गया। इस सम्बन्ध में विष्णु की मूर्ति को भी देवराज का स्थान मिला और दानियों ने अपने नाम पर विष्णु की मूर्तियाँ स्थापित की। प्रसत-कोक के लेख[९९] में विष्णुरत्न द्वारा उसी की आकृति की विष्णु की मूर्ति स्थापना का विवरण मिलता है। इन लेखों से प्रतीत होता है कि देवराज के मत का सम्बन्ध केवल शिव से ही न था बुद्ध और विष्णु को भी इसमें स्थान मिला तथा इसके साथ संतुलन हुआ। दानी अपने जीवनकाल में ही अपने नाम पर किसी देवता की मूर्ति स्थापित करते थे तथा मरने के बाद उनके वंशज उनके नाम पर मूर्ति की स्थापना करते थे। धारणा यह थी कि मृतक व्यक्ति की आत्मा उसके इष्ट देवता में ही प्रवेश कर गयी है।

इस दूसरे स्वरूप का जिसके अन्तर्गत मृतक की मूर्ति स्थापित की जाती है भारत में भी प्रचलन था। कवि भास के प्रतिमा नाटक[१००] में प्रतिमा मंडप में दशरथ की मूर्ति को अन्य पूर्वजों की मूर्तियों के पास रखने का उल्लेख है। मथुरा में कुषाण की देवशाला प्रसिद्ध थी जहाँ कुषाण-सम्राट् की मूर्तियाँ थी और जहाँ चष्टन तथा कनिष्क

९६. वही, नं ११६, पृ १४।
९७. वही, नं १४८, पृ १५९।
९८. सिडो ए हि पृ २९५।
९९. वही, नं १२४ पृ ११२।
१००. कीथ संस्कृत ड्रामा, पृ १ ।

की भी मूर्तियाँ मिलीं। 'राजतरंगिणी' में सुरा नामक व्यक्ति द्वारा विष्णु के मंदिर के निर्माण का उल्लेख है और उस मूर्ति का नाम सूर्यवर्मस्वामिन् कहा गया है।[71] एक सूर्यप्रतिहार लेख में[72] भी वत्स द्वारा विष्णु-मंदिर में स्थापित विष्णु की मूर्ति को वैस्लभट्टस्वामिन् के नाम से सम्बोधित किया गया है। इसी प्रकार पृथ्वीश्वर देवता की मूर्ति का नामकरण भी पृथ्वीसेन नामक एक ब्राह्मण के नाम पर हुआ था।[73] दक्षिण भारत में भी दानियों के नाम पर मंदिरों के देवताओं का नामकरण हुआ।[74] सम्राट् के अतिरिक्त गुरुजन तथा वीर सैनिकों की मूर्ति स्थापना का भी विवरण मिलता है। यह उनके जीवनकाल तक या मृत्यूपरान्त की जाती थी। स्दोक काक लेख में[75] उदयादित्यवर्मन् द्वितीय द्वारा उसके गुरु जयेन्द्रवर्मन् के जीवनकाल में ही जयेन्द्रवर्मेश्वर नाम से लिंग-स्थापना की गयी। वत्ते-चमर के लेख[76] में भरतराहु के विद्रोह में जिन सैनिकों ने अपने प्राणों की आहुति दी थी उनको यशोवर्मन् ने वीर की उपाधि प्रदान की तथा उनकी मूर्तियाँ मन्दिर के विभिन्न कमरों में स्थापित की गयी।

इस मत से सम्बन्धित कुछ तांत्रिक संस्कार भी थे जो हिरण्यदाम ने किये थे और तांत्रिक ग्रन्थों का उल्लेख भी स्दोक काक लेख में है। 'शिर-विनाशिन' 'नय-त्तर' और 'सम्मोह' के विषय में कुछ ज्ञान नहीं है किन्तु 'निरच्छेद' से उपासक का प्रत्यक्ष रूप से देवता के सम्मुख अपना शीश अर्पण करने का संकेत है, जैसा कि भारत में भी पल्लवकाल के एक चित्र में चित्रित है जिसका उल्लेख फोगल ने किया है। इसमें देवी के सम्मुख शीश अर्पण किया जा रहा है। इस धार्मिक भावना का उल्लेख शूद्रक और वीरवर की कथाओं में भी मिलता है जो 'कथासरित्सागर' और 'वेतालपंचविंशति' में उल्लिखित है।[77] हीरालाल ने भी कुछ ऐसे सम्प्रदायों का उल्लेख

७१ ५ पद २१।

७२ मजूमदार लिस्ट नं ३५।

७३ वही नं १२७ ।

७४ ई आई इ १ पृ ११२४ पृ २७९।

७५ मजूमदार कम्बुज लेख नं १८३ पृ ५२८।

७६ कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम इंडिकेरम एण्ड मंदीरम स्टडीज (बु इ ऍ ओ० म स्ट) ६ पृ ५१०।

७७ पेंजर कथासरित्सागर भाग ४ पृ १७३ १८१।

किया है जो अपना सिर और ग्रीवा काटकर देवी को भेंट कर देते हैं। इसके लिए एक विशेष मंडप बनाया जाता है।[७८] कम्बुज में भी बहुत-सी देवियों की मूर्तियाँ स्थापित हुई जिनमें दुर्गा और बौद्ध देवी प्रज्ञापारमिता विशेषतया उल्लेखनीय हैं।

अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि देवराज मत का शिव-शक्ति की उपासना से सम्बन्ध था जिसमें पूर्वजों की मूर्तियों की स्थापना और स्थानीय देवताओं की उपासना भी सम्मिलित थी। ख्मेर लेख में 'कम्रतें अड् जगत ता राज' अथवा पहाड़ी पर के देवता की स्थापना का उल्लेख है। इस मत के अन्तर्गत सम्राट् को देवता की शक्ति अथवा सिद्धि का प्रतीक माना गया है, जिससे देश को राजनीतिक सूत्र में बांधा जा सके और विदेशी आक्रमण के समय एकता रहे। इन सम्राटों की मूर्तियां भी स्थापित की गयीं। अंत में पूर्वजों तथा सम्बन्धियों की मूर्तियां भी स्थापित की गयीं जो मनोवैज्ञानिक और धार्मिक प्रेरणा का प्रतीक थीं। इलियट के मतानुसार सम्पूर्ण पूर्वी एशिया में पूर्वजों की उपासना धर्म का एक अंग बन गयी थी। यह भी विश्वास था कि ईश्वर मनुष्य के रूप में पृथ्वी पर अवतार लेता है और उसी मूर्ति द्वारा देवराज की उपासना की जाती थी। सम्राट् को दैवत्व स्वरूप प्रदान कर धर्म और राष्ट्र का एकीकरण किया गया। बेयोन का मन्दिर कम्बोडिया का वेस्टमिंस्टर ऐबे था जिसमें देवताओं और देश के महान् व्यक्तियों की समाधियाँ बनी हुई थीं। इस समय में कुछ सेवकों की मूर्तियां भी स्थापित की गयी। ये मूर्तियां केवल उनके धर्म की प्रतीक थीं। उपर्युक्त वृत्तान्त के आधार पर यह कहा जा सकता है कि देवराज मत के अन्तर्गत बहुत-सी धार्मिक भावनाओं का समावेश था जिसका मुख्य ध्येय सम्राट् को ईश्वरीय स्वरूप देना था। इसके साथ पितरों की उपासना भी की जाती थी। यद्यपि देवराज मत का संकेत प्रारम्भ में केवल शिवलिंग की स्थापना से ही था किन्तु बाद में विष्णु और बुद्ध की मूर्तियां भी इसी मत के अन्तर्गत स्थापित होने लगी। सीओक के हीनयान मत के प्रादुर्भाव ने शैव और बौद्ध संघ-कम को पुनः अलग कर दिया पर विष्णु का इससे सम्बन्ध बना रहा।

बौद्ध धर्म

कम्बुज देश में बौद्ध धर्म के महायान मत का पहले प्रवेश हुआ और यह

७८. जर्नल बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी १९, पृ १४४।

ब्राह्मण धर्म के प्रतिद्वन्द्वी रूप में ही विस्तृत नहीं हुआ वरन् सहायक सिद्ध हुआ। इसी लिए इसका शैव मत के साथ संतुलन हो सका और बुद्ध को भी त्रिमूर्ति में स्थान मिला। आगे चलकर लंका के हीनयान बौद्ध धर्म के प्रभाव से इस संतुलन को विभिन्नता में परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार यह भारतीय बौद्ध धर्म से भिन्न था जिसका आरम्भ प्राचीन वैदिक धार्मिक परम्परा के विरोध से हुआ था जिसमें ब्राह्मणों के आधिपत्य तथा यज्ञों का विरोध किया गया। इसके अन्तर्गत अर्हत की अवस्था प्राप्त करना ही ध्येय माना जाता था। कम्बुज देश में यह बात विशेष रूप में देखने को मिलती है कि बौद्ध धर्म का ब्राह्मण मत से कभी भी संघर्ष नहीं हुआ। कम्बुज के कुछ शासक बौद्ध होते हुए भी राजकीय देवराज मत का विरोध न कर सके पर बुद्ध को भी त्रिमूर्ति में स्थान दिया गया तथा देवराज के मन्दिर में उनकी मूर्ति स्थापित हुई। शैव और बौद्ध मत का एकीकरण हो चुका था और एक लेख में पद्मभव (ब्रह्मा) अम्भोजनेत्र (विष्णु) तथा बुद्ध की त्रिमूर्ति का उल्लेख है।[79] इस सम्बन्ध में कम्बुज के सम्राटों ने भी अपनी उदारता और विस्तृत दृष्टिकोण का परिचय दिया और उनके व्यक्तिगत धर्म ने जनता के धार्मिक विचारों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। उन्हीं के प्रभाव से राजकीय पदाधिकारी भी अपने दृष्टिकोण को उदार रख सके। कवीन्द्रारिमथन जिसने प्रज्ञापारमिता की मूर्ति स्थापित की थी ब्राह्मण सम्राट् तथा राजकीय मत का पूर्णतया भक्त था।

कम्बुज देश में बौद्ध धर्म का सर्वप्रथम लेख छठी शताब्दी के अंत या सातवीं शताब्दी के आरम्भ का मिलता है। इसमें प्रशान्तचन्द्र द्वारा तीन बोधिसत्वों— शास्ता मैत्रेय तथा अवलोकितेश्वर के प्रति दास और दासियों के दान का उल्लेख है। इन बोधिसत्वों को 'वाह् कम्रता आज' की इतर उपाधि से सम्बोधित किया गया है जो ब्राह्मण देवताओं के लिए भी प्रयुक्त की गयी।[80] अवलोकितेश्वर का उल्लेख किसी और लेख में नहीं है किन्तु शक संवत् ७११ के प्रसत-त-कम के लेख में लोकेश्वर की मूर्ति स्थापना का विवरण है। ईसा की सातवीं शताब्दी में पहले भी

७९. हिन्दूइज्म और बुद्धिज्म भाग ३ पृ ११७।
८० मजुमदार, कम्बुज लेख सं १५६ पृ ३९९।
८१ मार्गोलिये कम्बोज भाग १ पृ ४४१।
८२ मजूमदार कम्बुज लेख, सं ५२ (अ) पृ ५३१।

बौद्ध धर्म के कम्बुज देश म प्रवश होने का संकेत मिलता है जैसा कि जयवर्मन् के वत प्राई (व नोम प्रास्त) के लेख से प्रतीत होता है जिसका काल एक शक् ५८७ है।[८३] इस लेख में दो भिक्षुओं रत्नभानु और रत्नसिंह का उल्लेख है जिनकी माबी को धार्मिक सम्पत्ति की प्रयोग में लाने का सम्राट् द्वारा अधिकार दिया गया था। इसमें किस ब्राह्मण देवता का उल्लख नही है पर भिक्षुओं से ज्ञात होता है कि वे बौद्ध थे। कमेर लेख में इन दोनों भिक्षुओं द्वारा बाह को दान देने का उल्लेख है जिसका प्रयोग बुद्ध ब्राह्मण देवता तथा सम्राट् के लिए भी किया गया है। बौद्ध भिक्षुओं के नाम से इस लेख का बौद्ध धर्म से सम्बन्ध प्रतीत होता है और यही इस धर्म का सबसे प्राचीन लेख है।

लगभग दो शताब्दी तक कोई और बौद्ध लेख नहीं मिला। इसका कारण कदाचित् किसी शासक की इस धर्म के प्रति अवहेलना थी जिससे इसे क्षति पहुँची। इसका उल्लेख इत्सिंग ने किया है।[८४] यह शासक भववर्मन् अथवा ईशानवर्मन् या जयवर्मन् रहा होगा। इस प्रकार की बौद्ध धार्मिक व्यवस्था बहुत समय तक चलती रही। बौद्ध धर्म के ऊपर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध अथवा इसे क्षति पहुँचाने का उल्लेख हमको किसी लेख में नहीं मिलता है किन्तु बौद्ध धर्म से सम्बन्धित लेखों का अभाव इस धर्म के उस युग में पूर्णतया विकसित होने पर सन्देह प्रकट करता है। कोक-सम्रो लेख में[८५] पहले सघ फिर बुद्ध और धर्म (बौद्ध त्रिमूर्ति के अन्य दो अंग) के प्रति उपासना की भावना प्रदर्शित हुई है (ममस संसार संभुत्तरणं प्रणमामि धर्मम्)। यह लेख राजेन्द्रवर्मन् के समय का है जिसकी आगे चलकर इस मे प्रशसा की गयी है। इसी सम्राट् के समय के एक अन्य लेख मे[८६] बौद्ध धर्म के योगाचार मत का उल्लेख है।

कम्बुज देश म अन्य बौद्ध देवी-देवताओं की उपासना और मूर्ति-स्थापना का कई लेखों मे वर्णन है। वत-पुलोक (वटमवंग) से प्राप्त जयवर्मन् पंचम के शक सं ९११(९८८ ई) के लेख में बुद्ध प्रज्ञापारमिता लोकेश्वर, वज्रिन् मैत्रेय और

८३ मजुमदार, नं ३९, पृ ३७।
८४ तक्कुसु, पृ १२।
८५ मजुमदार, कम्बुज लेख नं १ ई, पृ ५८३।
८६ वही, नं ९७, पृ २६४ व २७५।

इन्द्र की उपासना कही गयी है।[87] इन देवी-देवताओं की मूर्तियों की उपासना धर्मदेवपन नामक बौद्ध साधु ने की थी और उनमें से कुछ की कल्पना मंदिर के निकट पायी हुई कुछ मूर्तियों से की जा सकती है। शक सं ९०३ (९८१ ई) में त्रिभुवनराज द्वारा बुद्ध की माता की एक मूर्ति स्थापित करने का उल्लेख नोम-बन्ते के लेख में[88] है तथा लोकेश्वर और प्रज्ञापारमिता की आराधना भी कही गयी है।

जयवर्मन् सप्तम के फिमानक लेख में त्रिकाय बुद्ध और लोकेश्वर की आराधना कही गयी है। सम्राट् की दोनों रानियाँ बौद्ध थीं। दूसरी प्रथम की बड़ी बहिन थी और बौद्ध साहित्य में पारंगत थी। उसने नगेन्द्रतुंग तिलकोत्तर और नरेन्द्राश्रम के बौद्ध विहारों में बौद्ध भिक्षुणियों को शिक्षा दी थी। उसी ने अपनी छोटी बहिन को भी बौद्ध धर्म में दीक्षा दी थी जिससे वह अपने पति की अनुपस्थिति में उनकी प्रतिमा देख सके तथा उसकी पूजा कर सके। पति के लौटने पर एक विशाल समाज का आयोजन किया गया और एक नाटक खेला गया जो जातकों पर आधारित था और इसमें भिक्षुणियों ने भाग लिया था। अपनी छोटी बहिन की मृत्यु के पश्चात् सम्राट् ने उससे विवाह किया और उसने बहुत-से बौद्ध विहारों में शिक्षा देने का काम प्रचलित रखा। इस लेख से बौद्ध साहित्य तथा धर्म के कम्बुज में प्रचलन तथा राजवंश में उसके पूर्णतया प्रवेश पर प्रकाश पड़ता है।

कम्बुज देश में महायान के बाद हीनयान का प्रवेश हुआ। हीनयान मत सम्बन्धी केवल एक ही लेख सूर्यवर्मन् प्रथम के समय का मिला जिसकी तिथि शक सं ९४४-४७ है[89] और यह स्थान के लोपबुरि से प्राप्त हुआ। इसमें सूर्यवर्मन् के उस आदेश का उल्लेख है जिसके अनुसार पवित्र स्थान मंदिर, विहार यति तथा हीनयान मत के स्थविर और महायान मत के भिक्षुओं को सम्राट् के प्रति अपने पुण्य अर्पित करने को कहा गया है। इस लेख के आधार पर उस समय बौद्ध धर्म के दोनों मतों के प्रचलन का संकेत मिलता है। महायान मत सम्बन्धी लेख प्रसत प्रह (अंकोर) प्रसत त कम (सिएम-राप) वत प्राई (व नोम) कोक-संप्री (बटमबन) बन-सुकोक (यही) नोम-बन्ते (अंकोर के दक्षिण) तथा

८७ मजुमदार, नं ११३ पृ २९९।
८८ वही नं १८२ पृ ५१५।
८९ वही कम्बुज लेख नं ११६, पृ [illegible]।

फ्मिानक (अंकोर थोम) क्षेत्र मे मिले। इनसे प्रतीत होता है कि महायान मत का प्रवेश उत्तर-पश्चिम से कदाचित् स्थल मार्ग द्वारा हुआ और हीनयान मत भी पहले इसी मार्ग से आया था किन्तु बाद में सीलोन से आये हुए यात्रियों के साथ समुद्री मार्ग से यहां आया। इसका प्रथम लेख कोक-स्वे-चैक[*] (पश्चिमी बारे से दो मील दक्षिण) में शक सं १२१ का श्रीन्द्रवर्मन् वाला है। इसमें सम्राट् द्वारा महाथेर सिरि सिरिचमोलि (श्री श्रमौलि) को एक गांव देने का उल्लेख है और १२११ ई मे एक विहार का निर्माण हुआ जहां एक बौद्ध प्रतिमा स्थापित की गयी। सम्राट् ने इस विहार को चार गांव प्रदान किये। सीलोन के हीनयान का बौद्ध मत से सम्बन्धित यह सर्वप्रथम लेख है।

चीनी स्रोत से भी कम्बुज-फूनान मे बौद्ध मत पर कुछ प्रकाश पड़ता है। ५ ३ ई में एक मूंगे की बुद्ध की मूर्ति चीनी सम्राट् वु ति को फूनान से भेजी गयी। उस देश के निवासी दिव्य विभूतियों की कांसे की मूर्तियां भी बनाते थे। स्यू-तो-पा-मो अर्थात् जयवर्मन् ने चंदन की एक बुद्ध की मूर्ति चीनी सम्राट् को भेजी और ५१९ ई में बुद्ध का १२ फुट लंबा एक केश भी भेजा। संघपाल और मन्द्र नामक फूनान के दो बौद्ध भिक्षु भी चीन गये जहां उन्होंने बौद्ध ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया। ६७५ ई में भारत से आते समय इ-त्सिंग नामक चीनी यात्री ने पो-नन अथवा फूनान देश का वर्णन किया है। उसका कथन है कि यहां के रहनेवाले पहले देवताओं को पूजते थे किन्तु बाद में यहां बौद्ध धर्म फैलने लगा। एक दुष्ट राजा ने बौद्ध सम्प्रदाय के लोगों को नष्ट कर दिया और इससे बौद्ध धर्म को बड़ी क्षति पहुंची।[११] इससे प्रतीत होता है कि वा नोम क्षेत्र में जो कि हिन्द चीन के दक्षिण-पूर्वी भाग में था बौद्ध धर्म प्रचलित था और जैसा कि चीनी स्रोत से प्रतीत होता है, यहां से बौद्ध विद्वान तथा बुद्ध की मूर्ति चीन भेजी गयी। कदाचित् जयवर्मन् या उसके किसी वंशज ने इस धर्म को क्षति पहुंचायी। बौद्ध धर्म यहां १ वी शताब्दी से १३वी शताब्दी तक अपनी उन्नति के शिखर पर था और यहां के राजाओं में सर्वप्रथम सूर्यवर्मन्, जिसने निर्वाण पद प्राप्त किया था तथा जयवर्मन् सप्तम ने इस धर्म को बहुत प्रोत्साहन दिया। बौद्ध धर्म के

* मही नं १८८, पृ ५११।

११ इण्डियन हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म भाग ३ पृ १ ९।

अनुगामी होते हुए भी उन्होंने राजकीय मत का अनुसरण किया। यशोवर्मन् ने शैव और वैष्णव आश्रम की भाँति सौगत आश्रम की भी स्थापना की।

बौद्ध धर्म के प्रसारण में कुछ प्रमुख व्यक्तियों का भी हाथ था। सत्यवर्मन् ने फिमानक के निर्माण में प्रमुख भाग लिया था।[92] राजेन्द्रवर्मन् के मंत्री कवीन्द्र मथन ने बुद्ध वज्रपाणि प्रज्ञापारमिता तथा लोकेश्वर की मूर्तियाँ स्थापित कीं। जयवर्मन् पंचम के मंत्री कीर्तिवर्मन् के प्रयास से बौद्ध धर्म रूपी चन्द्र अधास्तिमय वातावरण के घने बादलों से पुनः बाहर निकल आया।[93] उसके समय में 'महाविभाग' और 'तत्त्वसंग्रह' की टीका बाहर से कम्बुज देश में आयी। तारानाथ के मतानुसार वसुबन्धु के एक शिष्य ने हिन्द चीन में बौद्ध धर्म फैलाया था।[94]

कम्बुज देश में बौद्ध धर्म का ब्राह्मण धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था और बुद्ध को ब्राह्मण त्रिमूर्ति में स्थान मिला। उदयार्कवर्मन् के शक सं ९८९ के प्रसत-प्रह-खेत शिलालेखानुसार[95] संकर्ष द्वारा पुनः शिवलिंग की स्थापना के साथ ब्रह्मा विष्णु और बुद्ध की मूर्तियाँ स्थापित की गयी। इनको चतुर्मूर्ति के नाम से सम्बोधित किया गया। शक सं ८९९ के प्रह-पुत-लो के लेख में[96] तथागत घ तथा कुछ अन्य मूर्तियों की स्थापना का उल्लेख है। इन लेखों से यह प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म से संतुलित हो चुका था और स्पर्धालु के रूप में न था। इसी लिए बुद्ध को त्रिमूर्ति में स्थान मिला।

बौद्ध धर्म से सम्बन्धित अन्य सार्वजनिक कार्यों का भी उल्लेख लेख में है। अशोक की भाँति जयवर्मन् सप्तम के ता प्रोम[97] के लेख में सम्राट् द्वारा किये गये सार्वजनिक कार्यों का विवरण है। इसमें बुद्ध धर्म संघ लोकेश्वर और प्रज्ञापारमिता की आराधना के बाद सम्राट् की माता तथा गुरु की प्रतिमाओं के स्थापन का उल्लेख है। सम्राट् ने १ १ चिकित्सालय बनवाये जिनके प्रबन्ध का विस्तृत

९२ आमोनिये भाग १ पृ २६१
९३ इलियट, भाग ३ पृ १२१।
९४ मसजिमो बैंडालाग, १२४४ १२४८।
९५ मजुमदार, कम्बुज लेख नं १५६ पृ १९८।
९६ मजुमदार, कम्बुज लेख नं ९ पृ १७९।
९७. वही नं १७७ पृ ४५९।

वृत्तान्त एक दूसरे लेख में है जो लाओस में मिला।[५८] इनमें प्रवेश के लिए किसी प्रकार का भेद भाव न था।

इन लेखों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि कम्बुज में बौद्ध धर्म का प्रवेश स्थल तथा जलमार्ग से हुआ। पहले बौद्ध धर्म को कुछ क्षति पहुँची किन्तु ९ वीं शताब्दी के बाद से महायान मत उन्नति करता गया। इसका ब्राह्मण धर्म के साथ विरोध न था और तथागत को भी ब्राह्मण धर्म में स्थान दिया गया था। ब्राह्मण धर्म को बौद्ध धर्म से भी कोई क्षति नहीं पहुँची। उपर्युक्त वृत्तान्त से यह भली-भाँति विदित हो जायगा कि विस्तृत दृष्टिकोण और उदारता के कारण कम्बुज में बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म की तरह भलीभाँति फूलता-फलता रहा और इसने सूर्यवर्मन् प्रथम और जयवर्मन् सप्तम आदि कम्बुज सम्राटों से आदर प्राप्त किया।

५८ इंस्क्रिप्शन्स, पृ सं पृ १२४

अध्याय ११

कला

कम्बुज-कला के विकास में भारतीय स्थापत्य और शिल्प कला का बड़ा हाथ रहा है। यहां के प्राचीन मन्दिरों के सम्मुख दर्शक को गुप्तकालीन किसी प्राचीन मन्दिर अथवा दक्षिण भारत के गोपुरम् की याद आती है। कम्बुज देश में भी कला का विकास भारत की भाँति धर्म को लेकर ही हुआ और इसी के अन्तर्गत मन्दिर तथा विहारों का निर्माण हुआ। इनकी बनावट और सजावट में भारतीय परम्परा को अपनाया गया पर धीरे-धीरे स्थानीय प्रभाव बढ़ता गया और कला नवीन दिशा की ओर मुड़ी। स्थानीय कलाकारों ने अपनी बुद्धि और कुशलता का परिचय देकर उसे स्वतन्त्र रूप धारण कराने का प्रयास किया जिसके अन्तर्गत मन्दिरों का निर्माण स्थानीय प्रवृत्ति के आधार पर हुआ। कलाकार ने उत्तरी कम्बुज के प्राचीन रूढ़ियों के प्रतीकों से प्रेरणा ली और उसी आधार पर भारतीय धर्म और देवताओं के निमित्त इस युग में भी मन्दिर बने। देवराज मत से सम्बन्धित लिंग स्थापना तथा पूर्वजों की मूर्तियाँ स्थापित करने के लिए मन्दिरों का निर्माण स्थानीय स्थापत्य-कला परिपाटी के अन्तर्गत हुआ। इसके अनुसार शिव का स्थान कैलास पर्वत है इसी लिए मन्दिर का पर्वत अथवा पर्वत की भाँति ऊँचे स्थान पर ही निर्माण करना चाहिए। इसी लिए इन पर्वत-मन्दिरों का निर्माण इस युग की विशेषता है। कम्बुज देश के बौद्ध शासकों ने भी अपना अनुदान दिया और जिन मन्दिरों का निर्माण हुआ उनमें जयवर्मन् सप्तम का बेयोन का मन्दिर चारों दिशाओं में लोकेश्वर के विशाल मुख के लिए प्रसिद्ध है।

आदि ख्मेर कला

ख्मेर कला के प्राचीन रूप को हिन्द ख्मेर कला भी कहते हैं क्योंकि इस पर भारतीय प्रभाव सबसे अधिक है। कुछ विद्वानों का विचार है कि दक्षिण भारत के पल्लव और यहां की ख्मेर कला एक ही शैली के समानान्तर रूप हैं। गोमतिए

के मतानुसार कम्बुज की प्राचीन कला को ख्मेर न कहकर यदि भारतीय ही कहा जाय तो ठीक होगा। यह भारतीय कला सुदूरपूर्व में सामुद्रिक मार्ग से पहुंची और फूनान में विभिन्न कलात्मक प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण हुआ जहाँ के क्षेत्र से प्राचीन ख्मेर कला के अवशेष मिलते हैं। आदि ख्मेर कला का काल ईसा की ६—८वीं शताब्दी निर्धारित किया गया है और इसका मुख्य केन्द्र संबोर तक पाई जुक है जो कपोंग के निकट फूनान की प्राचीन राजधानी रही होगी। स्थापत्य कला के अन्तर्गत इस युग के मन्दिरों का निर्माण पूर्णतया भारतीय ढंग से हुआ और उन पर स्थानीय प्रभाव नहीं है। मन्दिर प्रायः ईंटों के बने हैं, पर पत्थर का भी प्रयोग किया गया। ये मन्दिर छोटे तथा गर्भगृह तक ही सीमित हैं। भारत के गुप्तकालीन भूमारा मन्दिर की भाँति बाहर की दीवार और मन्दिर के देवस्थान के बीच में एक छोटी-सी वीथी (गैलरी) है। यह चापाकार है, दीवारें साधारण हैं जिनमें चौकोर खम्भे (पाइलस्टर) भी हैं तथा ऊपर की छत साधारण रूप से सीधी बेसर परिपाटी की है। छत और दीवारों के मध्य में गोल कार्निस या बाहर को निकली हुई कार्निस है और बीच में चैत्याकार मेहराब हैं

१ कुमार स्वामी हिस्ट्री आफ इंडियन—इंडोनेशियन आर्ट पृ १८१। इस विषय में बहुत-से फ्रांसीसी विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। पार्मांतिये ने सर्वप्रथम इस ओर ध्यान आकर्षित किया। (बु इ फा २१ पृ ४१८) ग्रोस्लिए, पृ १८। मजूमदार के मतानुसार उत्तरी भारत की कला का भी सामुद्रिक मार्ग से सुदूरपूर्व में प्रवेश हुआ और विभिन्न कलात्मक परिपाटियों का मिश्रीकरण फूनान में हुआ (ज ग्रे इ सो ९, पृ १२१-७)। मिसूस ने भी ख्मेर कला पर भारत-प्रभाव सम्बन्धी लेख में अपने विचार प्रगट किये हैं (इंडियन आर्ट १ से ७, पृ ११ से)। विस्तृत रूप से पसे ने अपने ग्रन्थ हस्ट्वार दु एक्स्ट्रीम ओरियन्ट (सुदूर पूर्व का इतिहास) (इ ए ओ) भाग २, पृ ५७२ में इस पर विचार किया है। भारतीय प्रभाव स्थापत्य तथा शिल्प कला के क्षेत्रों में पड़ा। द्वारों के ऊपर के उभरे छज्जे (पेडीमेन्ट) भारतीय चैत्याकार मेहराब से लिये गये हैं जैसा कि सोमनाथ आदि नाम वाले इत्यादि गुफामन्दिरों में मिलता है। गुहाद्वारी (लिन्टल) के दोनों किनारों पर मकर हैं जो बैल को निगलते दिखाये गये हैं जैसा कि भारतीय मन्दिरों में भी मिलता है। अजन्ता गुफामन्दिर १९। द्रौपदी रथ महाबलिपुरम्।

जिसमें मूर्तियों का शीर्ष है, जैसा कि गुप्त तथा पल्लव कला में भी मिलता है। ईंटों के बने इन मन्दिरों की समानता उत्तरी भारत के भीतरगाँव तथा सिरपुर से की जा सकती है और बाहरी भाग में नक्काशी की हुई ईंटों का भी प्रयोग किया गया है। ईंटों के अतिरिक्त पत्थर के मन्दिरों में सम्भोर के निकट ह्वंछि तथा प्रसात-बोम के प्राई-क्रुक के मन्दिर उल्लेखनीय हैं। ह्वंछि का मंदिर पत्थर का बना है और इसके प्रवेश द्वार की सुहावटी (लिंटल) पर चतुर्भुज अनन्तशयन की प्रतिमा अंकित है। इसकी छत भी सीधी और साधारण है तथा इसकी समानता आइहोल के लाड्-खान मन्दिर से की गयी है।[1] प्राई क्रुक का मन्दिर आयताकार पत्थर का गृह है जिसमें ड्योढ़ी (ओसारा) नहीं है। किनारे पर दीवार में पतले स्तम्भों (पाइलस्टर) पर नक्काशी की हुई है। मन्दिर के नीचे की चौकी (पेडस्टल) और ऊपर की चारों ओर की कार्निस और छत के बीच मेहराबों में देवताओं के चेहरे दिखाये गये हैं। सम्भोर की भाँति प्राई क्रुक क्षेत्र में भी ईंटों के बहुत-से मन्दिरों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इनकी दीवारें अलंकृत हैं और द्वार की सुहावटी पर मकर हैं।

बेयोंग का प्राचीन मन्दिर भी प्राचीन परिपाटी के अन्तर्गत ईसा की सातवीं शताब्दी के प्रथम वर्षों में बनाया गया। इसमें भी ईंटों का प्रयोग किया गया है। इस आयताकार मन्दिर का नीचे का भाग भूमारा मन्दिर की भाँति है। गर्भगृह और बाहर की दीवार के बीच में प्रदक्षिणा-पथ है। ये मन्दिर तीन मंजलिय (मंजिल) ऊँचे हैं और ऊपर के भाग नीचे से छोटे होते जाते हैं। यह मंजिल केवल अलंकरण हेतु है इसका कोई वास्तविक प्रयोग नहीं था। दीवारों में नकली चैत्य खिड़कियाँ बनी हुई हैं। मंजिलों की छत बेसर परिपाटी के अन्तर्गत है, जैसी कि काँचीपुर के कैलाश मन्दिर या मामल्लपुरम् के रथों में है।[1]

१ गौसलियर, ग्रौसलिए रेचर्सेज सुर ल कम्बोडियेन (कम्बोडिया पर खोज) अध्याय २४। कुमार स्वामी, पृ १८१-२। रावलैंड दि आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर आफ इंडिया (आ इ आ ई पृ २२५।

१ रावलैंड, आ इ आ ई पृ २२६। चित्र १११ अ, ११७ ब। पार्से : इ ए ओ भाग १, पृ ५७१४।

स्थापत्य कला के अतिरिक्त इस युग की शिल्पकला पर भी भारतीय प्रभाव पूर्णरूप से प्रतीत होता है। इस काल की मूर्तियाँ भी गुप्तकाल की मूर्तियों से बहुत मिलती-जुलती हैं। उनको देखने से प्रतीत होता है कि वे भारतीय कलाकार की ही देन हैं। शिल्पी शब्द का प्रयोग यशोधरपुर के मन्दिर से संबंधित लेख में मिलता है। उस समय स्थानीय शैल रूपकारों ने अपना अस्तित्व स्थापित कर लिया होगा पर तकेओ और प्राई क्मस से प्राप्त मूर्तियों की वेशभूषा किरकोटी मुकुट (ट्रसिपैरेन्ट ड्रेपरी) ओठों पर मुस्कान कमानीदार भवें तथा खुली आँखें का होना ही इस बात का असंदिग्ध प्रमाण नहीं प्रतीत होता कि भारतीय कलाकारों ने ही उनका निर्माण किया। प्राकृतिक सौन्दर्य और मूर्ति में स्फूर्ति की भावना तथा गम्भीरता विशेषतया उल्लेखनीय है। विशिष्ट मूर्तियों का उल्लेख आगे किया जायगा।

शास्त्रीय युग—कला-विकास

आठवीं शताब्दी के आरम्भ से ख्मेर कला का दूसरा युग आरम्भ होता है जिसे शास्त्रीय युग की कला के नाम से भी सम्बोधित किया गया है। इस युग में भी विषय भारतीय ही रहे और कलाकारों ने मन्दिरों विहारों प्रासादों तथा ब्राह्मण और बौद्ध धर्म सम्बन्धी मूर्तियों का निर्माण किया। पर कलाकार एक नये मोड़ की ओर चल पड़े थे जिसमें उन्हें स्वतंत्रता थी और भारतीय परिपाटी के अन्तर्गत कोई प्रतिबन्ध नहीं रह गया था। इसी लिए ख्मेर कलाकारों ने जहाँ कहीं भी मन्दिर बनाये उसमें कुछ न कुछ नवीनता अवश्य डाल दी। कला के प्रसरण में विशेष रूप से राजकीय हाथ रहा इसी लिए कुछ विद्वानों ने शासकों के नाम पर कला का नामकरण किया जैसे इन्द्रवर्मन् की कला या यशोवर्मन् की कला इत्यादि। रावलैंड के मतानुसार इस शास्त्रीय ख्मेर कला का प्रथम युग ८वीं से १०वीं

४ 'यशोधरपुरे रम्यं मन्दिरं विबुधप्रियः।
शिल्पविद् विश्वकर्मेव यो नरेन्द्रेण कारितः॥ मजुमदार, कम्बुज लेख, नं १९५ पृ २११ पद ९८। ईंटों के बने मन्दिरों का उल्लेख कम्बुज लेखों में भी मिलता है। मजुमदार वही नं २२, पृ २७। नं ५८ पृ ७१।

५ बु इ का १९१९।

६ आ ए आ ई पृ २२८।

कर अंकोर थोम नामक नगर की स्थापना की। उसके बौद्ध होने के नाते इस समय महायान मत प्रधान था। बेयोन की स्थापना लगभग १२ ई में हुई। इसी समय में ता प्रोम (११८६) प्रह खन अंकोर-थोम के गोपुरम् बन्ते-श्रमर तथा प्रासाद भी बने। यही ख्मेर कला का अन्तिम युग था। स्यामियों के साथ संघर्ष के फलस्वरूप १४वीं शताब्दी में कला का अन्त हो गया।

विशेषताएँ

शास्त्रीय युग की कला में स्थानीय लकड़ी के प्रासादों के आधार पर तथा भारतीय नियम और विशिष्ट कला को लेकर मन्दिरों का निर्माण हुआ। पार्मान्तिये के मतानुसार[८] प्राचीन लकड़ी की इमारतों में लम्बे दालान या वीथियाँ (गैलरी) होती थी और ऊपर की छत डाक टाइलों द्वारा पाटी जाती थी। कभी-कभी ऊपर का भाग शुंडाकार (पिरामिडल) रूप भी धारण कर लेता था। इस सम्बन्ध में उत्तरी स्थापत्य परम्परा के, जो चेन ला से आयी थी अन्तर्गत शिखर तथा सम्मिलित वीथियो का मुख्य स्थान था। दक्षिणी परम्परा में जो फूनान से ली गयी थी केवल शिखर का ही प्रधान स्थान था। इन्हीं पर आधारित कम्बुज देश की शास्त्रीय स्थापत्य कला विकसित हुई, जिसके मूल अंग थे ऊँची मेढ़ी या सोपान चढ़कर कैलास की भाँति ऊँचे स्थान पर देवस्थान का निर्माण[९] शिखर तथा वाप-आकार रूप में मन्दिरों का एक-दूसरे से मिलाकर बनाना और अन्तर्वीथियों का निर्माण जिससे दर्शक प्रदक्षिणा कर सके तथा उसमें दीवारों पर शिल्पचित्र अंकित किये गये। आगे चलकर मन्दिर के चारों ओर खाई बनायी जाने लगी जिसे पार

८. हिस्ट्री आफ ख्मेर आर्किटेक्चर, ईस्टर्न आर्ट ३ (१९३१) पृ १७० से।
उपर्युक्त विद्वान् के मतानुसार इसी प्रकार के पिरामिड कम्बुज, स्याम तथा बर्मा में अब भी पाये जाते हैं।

९. मन्दिरों के निर्माण में दो बातों पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। प्रथम उनका निर्माण कैलास की भाँति ऊँची पहाड़ी या बने हुए स्थान पर होना चाहिए, जैसा कि एक लेख में शिवलिंग की स्थापना ८१ फुट की ऊँचाई पर होने का उल्लेख है। मजुमदार कम्बुज लेख नं ८५, पृ १७२। दूसरी आवश्यकता यह थी कि मन्दिरों में एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने में सुगमता के लिए वीथियों का

करने के लिए पुल या बाँध बनाये गये तथा खाई के पास नागों की मूर्तियाँ स्थापित की गयी। इसके अतिरिक्त इस शास्त्रीय युग के मन्दिरों के तीन द्वार, स्तम्भ के रूप में गरुड़ की मूर्ति मेहराब तथा कमानीनुमा छतें (वाल्टेड रूफ) ऊँचे शिखर, नोकीली कमानीदार तोरण (ओजिव) तिकहे (टिम्पेनम) तथा लम्बी-लम्बी वीथियाँ विशेषताएं हैं। प्रमुख मन्दिरों में केवल कुछ ही का उल्लेख किया जा सकता है।

कोके के मन्दिर

कोके के मन्दिरों का कम्बुज की कला के क्षेत्र में अपना स्थान है। यशोवर्मन् द्वारा बनवाये गये इन मन्दिरों का स्वरूप शिखर तथा अलंकरण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये मन्दिर एक ही स्थल (टेरेस) पर अर्ध-आकार के क्रम से बनाये गये हैं। बाहरी भाग में प्रवेशद्वार की सुहावटी खुदे हुए चित्रों से अलंकृत है। द्वार के दोनों ओर दीवार में खुदे हुए आले हैं जिनमें द्वारपाल की खड़ी मूर्तियाँ हैं। द्वार के ऊपर चैत्याकार फलक है जिसके किनारों पर मकर बने हैं। छत से कलश तक का शिखर कई भागों में विभाजित है जो क्रमशः नीचे से ऊपर छोटा होता जाता है। इन भागों में भी उसी प्रकार चैत्याकार मेहराबें तथा ईंटों के स्तम्भ (पार क्स्टर) हैं। कई मंजिलों के शिखर दक्षिण भारत के गोपुरम् की याद दिलाते हैं। ऊपर का कलश भी द्रविड़ परिपाटी का प्रतीत होता है। इन मन्दिरों के द्वार तथा आले पत्थर के हैं, पर शिखर ईंटों का बना है। आलों में द्वारपाल की मूर्तियाँ महीन चूने (स्टक्को) की बनी हैं। कोके के मन्दिरों का एक दूसरे के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। इनका निर्माण शिव-पार्वती की मूर्तियों के स्थापन हेतु हुआ था। ये मन्दिर आदि ख्मेर कला जो पूर्णतया भारतीय थी और शास्त्रीय कला के मध्य युग के हैं।"

निर्माण किया गया। वास्तव में ख्मेर स्थापत्य कला के केवल तीन ही मुख्य अंग हैं पुष्पाकार वेदी जिस पर मन्दिर का निर्माण हो, मन्दिर का शिखर और वीथियाँ (गैलरी)। इन्हीं तीनों को लेकर स्थापत्य कला का क्रमरूप से विकास हुआ। वीथियों में चित्र अंकित किये गये।

१ मूलों ने अपने एक लेख में ९वीं शताब्दी के कम्बुजों के मन्दिरों पर जावानी प्रभाव दिखाने का प्रयास किया है (बु ए सितम्बर १९३१ पृ १९ से)।

बकसइ चम्क्रा और नोम बखेंग

ख्मेर कला स्थानीय परिपाटी के अन्तर्गत आगे मुड़ गयी थी। मन्दिरों के निर्माण में इस बात पर ध्यान दिया जाने लगा कि वे बड़ी ऊँचाई पर हों। एक लेख में एक शिवलिंग की ८१ फुट की ऊँचाई पर स्थापना का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त मन्दिरों में सुगमता से यात्रियों के एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए मन्दिर के अन्दर वीथियों (गैलरी) का होना आवश्यक था। पांच-मन्दिर का साधारण प्रतीक बकसेई चम्क्रों का मन्दिर है जिसका निर्माण ९४७ ई में हुआ था। कोल के मन्दिरों की भांति इसका शिखर भी उसी आकार का है, पर यह समतल भूमि पर नहीं बना है। प्रवेशद्वार तक पहुँचने के लिए चारों ओर सोपान हैं और मन्दिर पांच मंजिल के सुपाकार (पिरामिड) स्थल पर है। कदाचित् पहले हर मंजिल की सीढ़ी पर पहुँचने के स्थान पर सिंह बैठे थे। इस मन्दिर में कोई शिव-मूर्ति नहीं मिली और इसका निर्माण किसी पूर्वज की मूर्ति-स्थापना हेतु हुआ होगा।

नोम बखेंग का मन्दिर अंकोर थोम के निकट एक पहाड़ी पर है, जिसका निर्माण यशोवर्मन् ने कराया था जैसा कि वहीं से प्राप्त जयवर्मन् पंचम के पक स ८९ के लेख से प्रतीत होता है। इसमें यशोधरेश्वर नामक शिवलिंग की स्थापना की गयी थी। इसमें एक पहाड़ी का पांच मंजिल के सुपाकार में परिवर्तन किया गया है। सबसे ऊपर की मंजिल पर पत्थर के पांच शिखर हैं और उनके छोटे प्रतीक नीचे सीढ़ियों पर बने हैं। कदाचित् ऊपर के शिखर-मन्दिरों के

उनके मतानुसार जावानी प्रभाव नोम कुलेन (महेन्द्र पर्वत) जो जयवर्मन् द्वितीय की कुछ समय तक राजधानी रहा तथा रूलो (हरिहरालय, अस्थिर राजधानी) के मन्दिरों पर पड़ा। इस सम्बन्ध में गोलोव्यू ने भी बोरोबुदूर के एक तोरण की प्रसा-कोकन्यो (८५७) की एक [illegible] (लिन्टल) से समानता दिखायी है जिसमें काल का शीश और मकर भी है। काल-मकर-तोरण का प्रभाव नोम बखेंग नोम-बोक वाले आदि तथा अंकोर तक पड़ा। दीवारों में बने स्तम्भों (पाइलस्टर) को अलंकृत करने तथा द्वारपाल और अप्सराओं में भी यह प्रभाव प्रतीत होता है।

११ पू सं नं ८५, पृ १७२।

१२ मजुमदार, कम्बुज लेख नं १ ६ पृ २०९।

बीच में एक बड़ा देवस्थान रहा होगा जिसका देवराज मत से सम्बन्ध होगा। प्रत्येक मंजिल में सोपान के दोनों ओर पत्थर के सिंह बैठे दिखाये गये हैं। फिमानक (आकाश-विमान) का निर्माण ? वीं शताब्दी में यशोधरपुर के प्रांगण में हुआ था और कदाचित् यह एक सहायक मन्दिर के रूप में था। तीन मंजिल की ऊँचाई पर यह गुहाकार मेढ़ी पर स्थित है तथा ऊपर पहुँचने के लिए सोपान हैं जिनके दोनों किनारों पर सिंह बैठे दिखाये गये हैं। नोम-बखेंग की भाँति इसकी मंजिलों पर शिखर नहीं हैं। ऊपरी भाग पर खुली हुई वीथी है जो कदाचित् यात्रियों के व्हरने अथवा ध्यानहेतु धान्य रखने के लिए बनायी गयी थी। ता-कियो के बीच मन्दिर भी जो अंकोर के पूर्व और ता-प्रोम के उत्तर में है इसी प्रकार गुहाकार मेढ़ी पर स्थित है। ऊपरी भाग पर आठ शिखर बने हुए हैं जिनसे कदाचित् शिव के आठ नामों अथवा स्वरूपों का संकेत रहा होगा। फिमानक की भाँति यहाँ भी वीथियाँ हैं।

अंकोरवाट (नगरमन्दिर)

कम्बुज कला में ऊँचाई और चौड़ाई के संतुलन का सफल प्रयास सूर्यवर्मन् द्वारा बनाये गये अंकोरवाट में मिलता है। इस विशाल मन्दिर को देखते ही कोई भी दर्शक चकित और विस्मित होकर सोचने लगता है कि यह मनुष्य अथवा देवता द्वारा बनाया गया होगा। ढाई मील के घेरे में स्थित इस विशाल मन्दिर के चारों ओर खाई है और प्रवेश के लिए एक पुल बना है, जिसके कटघरे (बालस्टर) के दोनों ओर नाग हैं जिनके फन सबसे आगे हैं। ३ फुट चौकोर पत्थर की मेढ़ी पर ग्राम आकार क्रम में विशाल मन्दिर बना है। प्रवेशद्वार से अन्दर जाते ही एक लम्बी वीथी (गैलरी) मिलती है जो कोई आधे मील की परिधि में है और इसमें २५ फुट की लम्बाई तक विष्णु तथा यम से सम्बन्धित कथानक-चित्र अंकित हैं। यह बन्द प्रदक्षिणा-पथ (क्लायस्टर्ड आरकेड) मन्दिर की बाहरी परिधि का प्रथम अंग है। मुख्य द्वार से ऊपर चढ़ने के लिए सोपान हैं जहाँ से ऊपर पहुँचने पर आयताकार चार आँगन हैं और उसी प्रकार की वीथी चारों ओर चली गयी है।

११ पारमेंटिए दी टेम्पुल आफ अंकोरवाट, ए वि इ आर १९११ पृ ४१ से। रालैंड वि आ इ आ इ पृ २११ से।

किनारों पर शिखर हैं। यहाँ से दूसरे जीने से चढ़ने पर पुनः एक विशाल आँगन में पहुँचते हैं जिसके किनारों पर शिखर हैं। इस मेढ़ी से ऊपर चढ़ने के लिए पुनः सीढ़ियाँ बनी हुई हैं जहाँ बीच में सूंडाकार मेढ़ी पर मन्दिर बना है। देवस्थान में पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। यह देवस्थान पृथ्वी से २ फुट की ऊँचाई पर है जहाँ देवराज की मूर्ति स्थापित थी। मन्दिर में बीच का शिखर सबसे ऊँचा है और चार कोनों पर चार और शिखर बने हुए हैं। इन शिखरों की तुलना भुवनेश्वर के मन्दिर के शिखर से की जा सकती है पर अंकोरवाट के मन्दिर का शिखर भी भागों में है और यह प्रतीत होता है कि थोड़ी-थोड़ी दूरी पर मोतियों की माला लपेटी हुई है जो भुवनेश्वर के मन्दिर के शिखरों में नहीं है। इन शिखरों को एक दूसरे और बीच के देवस्थान से बन्द वीथियों द्वारा मिला दिया गया है और यही प्रयास दूसरी तथा प्रथम मंजिल पर भी किया गया है। इस विशाल मन्दिर के निर्माण में समतल (हारीजान्टल) और सिंतिज (वरटिकल) प्रयोगों का संतुलन किया गया है। मन्दिर के बाहरी भाग की बनावट, घुमाव और मोलाई में कम्बेर कलाकार ने अपनी बुद्धि और स्वतंत्र विचार से काम लिया है यह भारतीय परम्परा पर आधारित नहीं है। वीथी और शिखरों के गुम्बज कड़ोटियाकार (कारबेल) सिद्धान्त को लेकर बने हैं जिसके अन्तर्गत आगे बढ़े हुए पत्थर का भार पिछले पत्थर पर रहता है। इस सम्पूर्ण मन्दिर में कहीं पर भी चूने या पलस्तर का प्रयोग नहीं हुआ है। स्थापत्य कला के सुन्दर प्रतीक के अतिरिक्त अंकोरवाट अपनी शिल्पकला के लिए भी प्रसिद्ध है जिसका उल्लेख आगे किया जायगा।

अन्तिम युग

भारतीय परिपाटी के अन्तर्गत कम्बुज में कला का अन्तिम युग विशेष रूप से महत्त्व रखता है। यह सिद्ध करता है कि राजनीतिक परिस्थिति कम्बुज-वासियों की क्रियात्मक प्रवृत्तियों को रोक न सकी। अंकोरवाट के निर्माण के बाद चमों ने कम्बुज देश पर आक्रमण किया और यशोधर तक पहुँचकर बड़ी क्षति पहुँचायी। जयवर्मन् सप्तम ने चमों को हराकर अपनी नयी राजधानी अंकोरथोम के चारों ओर दीवार जिसमें पाँच बड़े द्वार हैं तथा बड़ी खाई बनवायी और बीच में बेयोन का विशाल लोकेश्वर का मन्दिर बनवाया जिसके ५४ शिखरों में प्रत्येक कोने पर लोकेश्वर का मुख पत्थर पर अंकित है। इसके अतिरिक्त सम्राट् ने प्रह्-खान ता-प्राम, बन्ते कदेई व विशाल और भिन्न-भिन्न के छोटे मन्दिर का भी निर्माण किया।

कम्बुज में कला की मन्दिरों में बन्ते-श्राई का गोपुरम् भी है जिसका निर्माण श्री सूर्यवर्मन् के गुरु द्वारा ११ ४१ में हुआ था।[१४] इसमें एक पीठे (बेसमेंट) पर तीन मन्दिरों का निर्माण हुआ जो शिव की लिंगमूर्ति-हेतु बनाये गये थे। दो और स्थान मन्दिर-पुस्तकालय का काम देते थे। संमोर और लोले की भाँति ये सब एक ही मेढ़ी पर बने हैं और इनके चारों ओर घेरा है जिसमें दक्षिण भारत की भाँति गोपुरम् है। आयताकार आधार पर मन्दिरों का निर्माण हुआ और प्रवेशद्वार की भाँति तीन ओर नकली द्वार थे। बन्ते-श्राई के मन्दिरों का महत्त्व शिल्पकला के कारण और भी बढ़ जाता है जिसका उल्लेख आगे किया जायगा।

अंकोरथोम का निर्माण अंकोरवाट रचना से एक शताब्दी बाद हुआ। इस प्रासाद-नगर के चारों ओर दीवारें तथा खाई है जो प्रत्येक दिशा में कोई ३१ गज लम्बी हैं। खाई दीवारों से कोई १ गज की दूरी पर है और अन्दर आने के लिए पाँच पुल हैं जिनके किनारे पर देवता और असुर शेषनाग लिये दिखाये गये हैं। नगर के चारों ओर की दीवारों में पाँच फाटक हैं जिनके ऊपर शिखर हैं जो ७ फुट ऊँचे हैं और इन पर चारों दिशाओं में लोकेश्वर की मूर्ति अंकित है। बेयोन का मन्दिर नगर के बीच में है जहाँ से दीवार तक पहुँचने के लिए चारों ओर रास्ते बने हैं। यह मन्दिर बौद्ध धर्म से सम्बन्धित था[१५] जैसा कि लोकेश्वर की मूर्तियों तथा वहाँ से प्राप्त बुद्ध की मूर्ति से प्रतीत होता है। इसकी वीथियों की छतें भी

१४ इस मन्दिर का निर्माण एक पुराने मन्दिर के अवशेष पर हुआ था जिसकी तिथि ९९९ है और पहले वर्तमान मन्दिर की यही तिथि निर्धारित की जाती थी। अंकोरथोम से यह कोई २५ किलोमीटर की दूरी पर है (रावलैंड, पृ २६७, नोट ११)। ह्वीलर के मतानुसार इसकी तिथि दसवीं शताब्दी के दूसरे भाग में रखनी चाहिए।

१५ सिदो के मतानुसार इसका सम्बन्ध पूर्वजों से था (पु इ का ३१ पृ १ ३)। कुमार स्वामी का कथन है कि इसमें देवराज लिंग के अतिरिक्त और बहुत-से देवताओं की मूर्तियाँ भी स्थापित की गयीं यथा ब्राह्मण देवताओं में शिव विष्णु, देवी तथा इनके अन्य रूप—बुद्ध के अतिरिक्त भैषज्यगुरु वैडूर्य प्रभाराज-भिषक के रूप में बुद्ध, संरक्षक देवता जिनका कम्बुज देश के मुख्य नगरों में मान था तथा देवता रूप में पूर्वज और उनके प्रतीक जिनका नाम मृतप्राय शासकों को दिया

किनारों पर शिखर हैं। यहां से दूसरे जीने से चढ़ने पर पुनः एक विशाल आंगन में पहुँचते हैं जिसके किनारों पर शिखर हैं। इस मेढ़ी से ऊपर चढ़ने के लिए पुनः सीढ़ियाँ बनी हुई हैं जहां बीच में पुंजाकार मेढ़ी पर मन्दिर बना है। देवस्थान में पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। यह देवस्थान पृथ्वी से २   फुट की ऊंचाई पर है जहां देवराज की मूर्ति स्थापित थी। मन्दिर में बीच का शिखर सबसे ऊंचा है और चार कोनों पर चार और शिखर बने हुए हैं। इन शिखरों की तुलना भुवनेश्वर के मन्दिर के शिखर से की जा सकती है, पर अंकोरवाट के मन्दिर का शिखर भी भागों में है और यह प्रतीत होता है कि थोड़ी-थोड़ी दूरी पर मोतियों की माला लपेटी हुई है जो भुवनेश्वर के मन्दिर के शिखरों में नहीं है। इन शिखरों को एक दूसरे और बीच के देवस्थान से बन्द वीथियों द्वारा मिला दिया गया है और यही प्रयास दूसरी तथा प्रथम मंजिल पर भी किया गया है। इस विशाल मन्दिर के निर्माण में समतल (हारीजान्टल) और क्षितिज (वरटिकल) प्रयोगों का संतुलन किया गया है। मन्दिर के बाहरी भाग की बनावट, घुमाव और गोलाई में ख्मेर कलाकार ने अपनी बुद्धि और स्वतंत्र विचार से काम लिया है यह भारतीय परम्परा पर आधारित नहीं है। वीथी और शिखरों के गुम्बज कपोटियाकार (कारबेल) सिद्धान्त को लेकर बने हैं जिसके अन्तर्गत क्रमशः बढ़े हुए पत्थर का भार पिछले पत्थर पर रहता है। इस सम्पूर्ण मन्दिर में कहीं पर भी चूने या पलस्तर का प्रयोग नहीं हुआ है। स्थापत्य कला के सुन्दर प्रतीक के अतिरिक्त अंकोरवाट अपनी चित्रकला के लिए भी प्रसिद्ध है जिसका उल्लेख आगे किया जायगा।

अन्तिम युग

भारतीय परिपाटी के अन्तर्गत कम्बुज में कला का अन्तिम युग विशेष रूप से महत्व रखता है। यह सिद्ध करता है कि राजनीतिक परिस्थिति कम्बुज-वासियों की क्रियात्मक प्रवृत्तियों को रोक न सकी। अंकोरवाट के निर्माण के बाद चम्पों ने कम्बुज देश पर आक्रमण किया और [illegible] बड़ी क्षति पहुँचायी। जयवर्मन् सप्तम ने चम्पों को हराकर अपनी नयी राजधानी अंकोरथोम के चारों ओर दीवार जिसमें पांच बड़े द्वार हैं तथा बड़ी खाई बनवायी और बीच में बेयोन का विशाल लोकेश्वर का मन्दिर बनवाया जिसके ५४ शिखरों के चारों कोनों पर लोकेश्वर का मुख पत्थर पर अंकित है। इसके अतिरिक्त सम्राट् ने ता-प्रोम या प्रोम बन्ते-सरई के शिखरों और भिन्न-भिन्न के छोटे मन्दिर का भी निर्माण किया।

कपोताकार गुम्बज (कारबेल वाल्ट) भी है पर बाहरी भाग में अंकोरवाट की तरह टाइलें लगी हुई हैं। शिखरों में किसी प्रकार के चूने का प्रयोग नहीं हुआ है। यद्यपि मन्दिर बौद्ध है पर इसमें सैनिक चित्रों के अतिरिक्त रामायण के चित्र भी अंकित हैं। इसका निर्माता जयवर्मन् स्वयं बौद्ध था। जयवर्मन् सप्तम ने ११९१ में अपने पिता की मूर्ति लोकेश्वर के रूप में स्थापित करने के लिए प्रह खन का मन्दिर बनवाया जो विशाल घेरे के अन्दर है। इस मन्दिर का केन्द्र प्रथम घेरे का क्रूसाकार शिखर-मन्दिर है और इसके साथ में कम्बुज स्थापत्यकला के अन्य अवयव यथा वीथियाँ (गैलरी) गर्भगृह गोपुरम् तथा खाई और प्रवेश के लिए द्वार इत्यादि भी हैं। शिल्पकला का भी सुन्दर विषय है। ता-प्रोम का मन्दिर भी इसी सम्राट् का बनवाया हुआ था और इसमें उसकी माँ की मूर्ति स्थापित की गयी।

निएक-पेम

अंकोरथोम के क्षेत्र में १२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध भाग का एक अन्य मन्दिर निएक-पेन के नाम से प्रसिद्ध है। कमलाकार सोपानयुक्त वेदी पर यह मन्दिर बना है जिसके चारों ओर दो नागों का घेरा है। बीच का मन्दिर क्रूसाकार आकृति पर निर्मित है और मन्दिर के शिखर का आमलक कमल की तरह है। इसकी द्वार पर येमोन की भाँति लोकेश्वर की प्रतिमा अंकित है। कम्बुज की स्थापत्यकला का यह सुन्दर प्रतीक है।

कम्बुज देश की स्थापत्यकला में स्थानीय कलाकारों ने पूर्णतया योगदान दिया और मन्दिरों की विशालता ऊँचाई तथा लम्बाई-चौड़ाई का सन्तुलन शिखरों का निर्माण तथा वीथियों का एक दूसरी से मिलाना पूर्ण रूप से इन तीनों बातों में कलाकारों की बुद्धि और ज्ञान के विकास का परिचय देता है। वे भारतीय कला परिपाटी से अनभिज्ञ न थे उनके सामने पहले के मन्दिर मौजूद थे जो गुप्तकालीन उत्तर भारतीय अथवा दक्षिण भारत के पल्लव मन्दिरों से बहुत कुछ मिलते जुलते थे। यशोवर्मन् के समय से कला के क्षेत्र में विशेष प्रगति हुई। मन्दिर केवल देवता के गर्भगृह तथा उसके ऊपर के शिखर तक सीमित न थे। उनके स्थान

गया था। इसलिए बेयोन सभी प्रकार की धार्मिक विचारधाराओं का सम्मिलन था (हिस्ट्री इंडियन एण्ड इंडोनेशियन आर्ट पृ १८९)।

पर अब पर्वत पर स्थित कैलास-मन्दिर का रूप दिया जाने लगा। पहाड़ी या ऊँचे स्थान तक पहुँचने के लिए सोपान बनाये गये और उन पर विशाल मन्दिर तथा प्रदक्षिणापथ के लिए मन्दिर के चारों ओर वीथियों और किनारे पर शिखरों का निर्माण हुआ। स्थापत्य कला के इन तीनों अवयवों को लेकर कलाकारों ने इसे आगे बढ़ाया। धार्मिक के अतिरिक्त लौकिक स्थापत्य कला के अन्तर्गत नगर के चारों ओर लम्बी दीवारों और उनके आगे बड़ी खाइयों का निर्माण हुआ, जिससे नगर और उसके मन्दिरों की रक्षा की जा सके। अन्त में राजनीतिक परिस्थितियों ने ख्मेर राज्य को केवल क्षति ही नहीं पहुँचायी वरन् इसका अन्त कर दिया और उसके साथ ही कला का भी ह्रास हुआ। प्रकृति ने इन प्राचीन अवशेषों को अपनी हरी चादर से ढक लिया और कई सौ वर्ष तक इन विशाल मन्दिरों के केवल शिखर ही वन में कमल की भाँति जंगलों में इधर-उधर दिखाई पड़ते थे। फ्रांसीसी विद्वानों तथा पुरातत्त्व-वैज्ञानिकों के सफल प्रयास से इन मन्दिरों के प्राचीन स्वरूप का उद्घाटन किया जा सका। स्थापत्य कला के अतिरिक्त ये मन्दिर शिल्पकला के भी भंडार हैं जिसका अध्ययन किया जा सकता है।

शिल्पकला

कम्बुज देश की शिल्पकला का विकास धार्मिक भावना को लेकर तथा मन्दिरों को अलकृत करने के लिए हुआ। आदि ख्मेर काल में स्थापत्य की भाँति शिल्पकला के प्रतीक भी पूर्णतया भारतीय थे और यह प्रतीत होता है कि मानो भारतीय कलाकारों ने ही इनको बनाया होगा। आँखें पूर्णतया खुली हुई हैं ओठों पर हल्की सी मुसकान है और मूर्तियों के वस्त्र में वही मुकुट तथा किरणमेखला (ड्रापरी) है जो गुप्तकालीन मूर्तियों में मिलती है। मूर्तिकला पूर्णतया भारतीय रही। शास्त्रीय विधान के अन्तर्गत मूर्तियों के लक्षण भी वही रहे। धार्मिक भावना के आधार पर ब्राह्मण तथा बौद्ध मूर्तियों का रूप नहीं बदला पर ख्मेर कलाकारों ने अपनी बुद्धि और कला का परिचय उन मूर्तियों के भाव और अलंकार प्रदर्शन में दिया। वेशभूषा अलंकार, प्रदर्शन कला तथा प्रसंग विषय में कलाकारों ने नवीनता और विशेषता प्रदान की। शिल्पकारों ने ख्मेर कला में लौकिक विषयों को कहीं भी स्थान नहीं दिया यद्यपि संसार यहाँ पूर्ण रूप से विकसित था। इसी लिए कला की मुद्रा धार्मिक भावना का प्रतीक बनकर ही रह गयी। अलंकृत चित्रों के लिए रामायण महाभारत तथा पुराणों की कथाओं का ही आश्रय लिया

गया। आगे चलकर मुख्यतया अंकोर थोम बाये बयोन के मन्दिर में बाहरी दीवारों पर दैनिक चित्र तथा कम्बुज जीवन की झांकी भी अंकित थी। इसी लिए शिल्पकला की प्रवृत्ति धार्मिक भावना को लेकर मन्दिरों को अलंकृत करने तथा रूप से धार्मिक मूर्तियों के निर्माण तथा मन्दिर के अन्दर वीथियों में पौराणिक चित्र रचना के लिए हुई। इसमें कम्बुज सम्राटों की उनके इष्ट देवता के स्वरूप में मूर्तियों का स्थापना भी की जाती थी। मूर्तियां पत्थर की ही बनीं पर कम्बुज-शिल्पकला के कांसे के प्रतीक भी मिलते हैं। विद्वानों ने मूर्तियों के निर्माण तथा कला के विकास का अध्ययन स्थान के आधार पर किया है। बोसलिए के मतानुसार मूर्तिकला को ना मया संभोर, प्राई कुक प्राई-थम तथा कोसो-प्रह कुलेन प्रह को कलेन कोह-केर बन्त-स्राई स्थान अंकोरवाट बेयोन तथा इसके बाद की कला के अन्तर्गत रखा जा सकता है। उन्होंने विभिन्नता दिखाने के लिए वेषभूषा मौलि कर्णकुण्डल मूर्तियों के आकार, विभिन्न भागों के संतुलन उनके मुखभाव प्रदर्शन इत्यादि का आश्रय लिया है। आदि ख्मेर या प्राचीन काल की मूर्तियां और शास्त्रीय युग की मूर्तियां ब्राह्मण और बौद्ध धर्म से सम्बन्धित होते हुए भी एक दूसरे से भिन्नता दिखाती हैं। इसलिए यहां पर केवल कालानुसार तथा धार्मिक क्रमानुसार मूर्तियों का परिचय तथा पौराणिक चित्रों का वर्णन और शासकों की मूर्तियों तथा दैनिक जीवन के कुछ चित्रों का वृत्तान्त ही दिया जा सकेगा।

ब्राह्मण मूर्तियां

ब्राह्मण देवी-देवताओं में विष्णु, शिव ब्रह्मा गणेश हरिहर, बलराम लक्ष्मी उमा महेश्वर इत्यादि की मूर्तियां ख्मेर कला में बनायी गयीं और इन देवी देवताओं से सम्बन्धित बहुत-से कथानक-चित्र भी अंकित किये गये। त्रिमूर्ति में ब्रह्मा का नाम पहले आता है। ब्रह्मा (प्रह्‌ प्रोम) को कला में प्रधान रूप नहीं मिला। चतुर्मुखी मूर्ति कम्बुज देश में बनायी गयी और इसके कई प्रतीक मिलते हैं। इनमें खड़ी हुई हंस पर बैठी तथा केवल शीर्षयुक्त हैं। खड़ी हुई ब्रह्मा की मूर्तियों में

१९. ल स्कल्पुएर ख्मेर ए सो एवोल्यूसन (ख्मेर मूर्तियां और उनका विकास) (ले ख्मे) भाग १ पृ १६-१७।

हुसलोट (कपोताक)[१७] से प्राप्त तथा गोम प्रसत राक से प्राप्त मूर्तियाँ विशेषतया उल्लेखनीय हैं। चतुर्मुख और चार हाथ की मूर्तियों में स्थूलता है मुख पर गंभीर भाव है, कान लम्बे और छिदे हुए हैं और शीश पर जटाकार मौलि है। गोम कोक वाला ब्रह्मा का शीश भी[१८] कला की दृष्टि से बड़ा सुन्दर है। मोटे ओठों पर मुसकान है, तिरछी मूँछें हैं, बड़ी आँखें खुली हुई हैं दोनों भौंहें मिली हुई हैं। शीश पर सुन्दर वेष्ठ है जिस पर आयताकार मौलि है। सबसे सुन्दर ब्रह्मा की बैठी हुई मूर्ति है जो बसेत से प्राप्त हुई[१९] और म्यूजेगिमे (पेरिस) में है। इसमें ब्रह्मा पद्मासन में बैठे हैं बाँहें टूटी हैं मुख पर उसी प्रकार की गंभीरता का भाव है पर ओठों पर मुसकान है। मौलि भी पूर्ववत् है। बन्ते श्राई में एक फलक पर पुष्पलताओं के बीच में हंस पर सवार ब्रह्मा की मूर्ति अंकित है।

विष्णुमूर्ति तथा सम्बद्ध चित्र

विष्णु को ख्मेर कला में विशेष स्थान प्रदान किया गया और इनके विभिन्न अवतारों और उनसे सम्बन्धित वृत्तान्तों को चित्रण करने का प्रयास किया गया है। विष्णु की मूर्ति खड़ी अथवा शेषनाग की शय्या पर लेटी दिखायी गयी है। खड़ी मूर्तियों में सबसे सुन्दर और अच्छी दशा में प्रसत क्रम काप[२०] से प्राप्त (इस समय म्यूजगिमे) विष्णु की मूर्ति है जो साधारण होते हुए भी बड़ी आकर्षक है। विष्णु शंख चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए हैं। मुख पर प्रसन्नता का भाव है। ये कोन से प्राप्त विष्णु की एक कांसे की मूर्ति[२१] के जो पूर्णतया टूटी हुई है दाहिने भाग के दो हाथों की मुद्राएं, मुख का गंभीर भाव नेत्रों के ऊपर कमानीदार चौड़ी भौंहें जो एक दूसरे से अलग हैं कंठमाला तथा बाजू के कुंडल इसमें विशेषता प्रदान करते हैं। यह युवावस्था की मूर्ति है। तुओल-बसंत की गुहावटी (विस्टक) पर विष्णु

१७. बोसलिये स्टे स्मे भाग २ चित्र नं ५१।
१८. वही नं ५४ (अ)।
१९. वही, नं ४ ।
२ बोसलिये स्टे स्मे भाग २ चित्र नं ४२ (अ)।
२१ वही नं २७।
२२ वही, नं १ ६।

की शेषनाग-शय्या पर शयनमूर्ति सुन्दरता से प्रदर्शित है। उनकी नाभि से निकले कमल पर ब्रह्मा बैठे हैं।[२३] ख्मेर कलाकारों ने विष्णु के कूर्मावतार, नरसिंहावतार तथा वाराह अवतार को चित्रण करने का भी प्रयास किया तथा राम और कृष्ण से सम्बन्धित लीलाएं चित्रित कीं। अंकोर थोम में भी विष्णु से सम्बन्धित बहुत से चित्र हैं।[२४] रामायण से उद्धृत चित्रों में मारीच का आखेट[२५] सीता का हरण बालि-सुग्रीवयुद्ध[२६] अशोकवाटिका में सीता और हनुमान का प्रवेश राम और सुग्रीव की मित्रता[२७] रावण का अपने रथ पर माना[२८] तथा राम-रावण युद्ध सुन्दरता से चित्रित हैं। कलाकारों ने कृष्णलीला में गोवर्धन पर्वत उठाना भी दिखाया है।[२९]

शिव

त्रिमूर्ति के तीसरे अंग शिव की बहुत-सी मूर्तियाँ खड़ी तथा बैठी अवस्था में मिली हैं। इनके अतिरिक्त शरीर का अर्द्धभाग मुख तथा धीष भी कई स्थानों से प्राप्त हुआ है। लिंग की भी उपासना की जाती थी। शिव की मूर्तियों में एक अक्षरित मूर्ति म्यूजे अल्बर्ट सराऊ में है तथा यहीं पर बकोन से प्राप्त एक और मूर्ति भी है जिसके हाथ टूटे हैं।[३] मुकुट में बालचन्द्र भी है। शिव की बैठी अवस्था में प्राप्त मूर्तियों में बसाक से प्राप्त मूर्ति (अब म्यूजे अल्बर्ट सराऊ में है) में उनका बाँया घुटना मुड़ा हुआ है और उसी पाँव पर बाँया हाथ है। दाहिना हाथ उठे घुटने पर

२३ वही नं ९५।
२४ वही नं १५९ (ब)।
२५ हैकिन एण्ड अदर्स एशियाटिक माइथालोजी पृ २१६, चित्र २४।
२६ वही पृ २१७ नं २५ (१ २)।
२७ वही, पृ २१८, नं २७।
२८ हैकिन एंड अदर्स एशियाटिक माइथालोजी नं २६।
२९ वही पृ २२१ नं १।
१ वही, पृ २२ नं २९। बोसलियै स्टै क्मे चित्र नं १।
११ बोसलियै वही चित्र नं १२।
१२ वही, नं ११।
१३ वही, नं ५६।

है। माथे पर तीसरा नेत्र है। मूर्ति साधारण है पर कलाकार ने घुटने मोड़ने का प्रयास किया है। इस प्रकार से मुड़े हुए घुटने पर उमा या पार्वती बैठी हुई बन्ते-भाई से प्राप्त एक मूर्ति में दिखायी गयी है। कांसे की एक छोटी-सी मूर्ति जो प्राईवेंग से प्राप्त हुई (अब म्यूजे अल्बर्ट सराऊ में है) उसमें शिव उमा सहित नन्दी पर आसीन है।[१४] इस सम्बन्ध में सबसे सुन्दर चित्रण बन्ते-भाई की मुखापटी (टिम्पेनम) पर रावण द्वारा कैलाश उठाने का है। शिव पार्वती के साथ कैलास पर्वत पर बैठे हैं। उनके साथ में उनके गण तथा जटाधारी ऋषि भी हैं। इस चित्र में गणेश भी हाथ जोड़े बैठे हैं। ऋषि आपस में कुछ परामर्श कर रहे हैं। नीचे दस शीश का रावण कैलाश को उठाने का प्रयास कर रहा है। पर्वत की गुफा में बाघ सिंह हाथी तथा हिरन डरे और भागते हुए दिखाये गये हैं। शिल्पकार ने स्थानों को सुन्दरता से अंकित किया है। इसी प्रकार का चित्रण एलोरा के कैलाश मन्दिर में भी है, पर ख्मेर कलाकारों ने नवीनता दिखाने का प्रयास किया है। तांडव नृत्य करते शिव की कोई मूर्ति नहीं मिली है यद्यपि चम्पा में इस दशा में शिव की मूर्ति बनायी गयी थी। कलाकार इससे अनभिज्ञ न थे। नृत्य करती बहुत सी मूर्तियाँ मिली[१५] हैं, विशेषतया अप्सराओं को नृत्य करते दिखाया गया है। शिव की मूर्ति का केवल मुख भी कई स्थानों में मिला है।[१६] नोम-बोक से प्राप्त शिवमुख में माथे पर त्रिनेत्र और मौलि में चन्द्र x के अतिरिक्त कलाकार ने मुड़ी पतली-सी मूँछ और हल्की-सी दाढ़ी भी दिखायी है जो अन्य मूर्तियों में भी मिलती है।

अन्य ब्राह्मण मूर्तियाँ तथा दृश्य

अन्य ब्राह्मण मूर्तियों में हरिहर (विष्णु और शिव के संयुक्त रूप) की कई मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।[१७] राम अथवा बलराम भी मूसल लिये दिखाये गये हैं।[१८] और

१४ बोसलिये, नं ४९ (अ)।
१५ वही नं १ १।
१६ एम० आई० पु २२१ चित्र नं ३११
१७ बोसलिये चित्र नं ८२।
१८ वही, नं १० अ, ४ अ ४४ अ।
१९ वही, नं ७ ११ १७ १९ ९८।
४ वही नं ५, ६।

पर चढ़े कार्तिकेय और ऐरावत हाथी पर आरूढ़ इन्द्र को भी कला में स्थान मिला कुछ और देवी देवताओं की मूर्तियाँ भी मिलें पर उनकी समानता दिखाना कठिन है।[४१] ख्मेर कला में अप्सराओं तथा यक्षों पक्षियों राक्षसों और असुरों को भी उचित स्थान मिला।[४२] इसके अतिरिक्त द्वारपाल की मूर्तियाँ भी मन्दिरों के रक्षक के रूप में बनायी गयीं। अप्सराओं की मूर्तियाँ सबसे सुन्दर हैं। अंकोरवाट की दीवारों से ये बाहर उभरी हुई तथा विभिन्न मुद्राओं में दिखायी गयी हैं। महाभारत से लिये गये चित्रों में अंकोरवाट में बाणशय्या पर पड़े भीष्म का युधिष्ठिर को उपदेश देना चित्रित किया गया है।[४३] इसके अतिरिक्त सूर्य और चन्द्र का विष्णु के पास राहु के विरुद्ध अमृत चुराने का सन्देश लेकर जाना तथा देवनाग की रस्सी बनाकर देवताओं और असुरों द्वारा समुद्र मन्थन भी दिखाया गया है[४४] तथा शिव द्वारा कामदेव का भस्म करना भी चित्रित है। अंकोरवाट की वीथियों में कृष्ण-लीला और विष्णु से सम्बन्धित कथाएँ चित्रित हैं। कलाकारों ने अभी कम्बुज जीवन की झाँकी के चित्रण का प्रयास नहीं किया था पर बेयोन के मन्दिर में दैनिक जीवन और जयवर्मन् की वीरता सम्बन्धी चित्र भी अंकित हैं। इसमें बाहरी दीवार पर हाथी पर सवार जयवर्मन् धनुष-बाण लिये दिखाया गया है और उसकी सेना आगे बढ़ रही है।[४५] ख्मेर जीवन की झाँकी का चित्रण बेयोन में चित्रित है। कुछ व्यक्ति बड़ी नाव में नदी पर भ्रमण कर रहे हैं। चित्र में बड़ी मछलियाँ मगर तथा उड़नेवाले बड़े पक्षी भी दिखाये गये हैं। विशाल झील में मछलियाँ तथा उनका पकड़ना भी दिखाया गया है। एक चित्र में हाट (बाजार) में बही लिये एक व्यक्ति किसी दुकानदार के सामने आता चित्रित है और वह पीछे मुड़कर कई व्यक्तियों का आपस में मोल-भाव करते देख रहा है। एक अन्य चित्र में मुर्गों की लड़ाई दिखायी गयी है जो कदाचित् कम्बुज देश के निवासियों के मनोरंजन का साधन थी।[४६] [illegible] लड़ाई में एक स्त्री के लिए दो व्यक्ति झगड़ते हुए दिखाये गये हैं।

४१ बोसलिये नं ४१ अ, ५७ अ १९ अ १२ अ १४ १८।
४२ वही नं ३५ अ १८ अ ७८ अ।
४३ एम मार्ई पृ २१५, नं १३। पृ० २१९, नं ४।
४४ एम मार्ई पृ २१९, नं १८।
४५ रावकेड, १५१ अ।
४६ मार्ग १ (४) पृ० २४ चित्र १०।

वे दोनों उसके हाथ पकड़े हैं और उनके हाथों में मूसल हैं। दोनों ओर दो-दो व्यक्ति उसे देख रहे हैं।

बुद्ध तथा बौद्ध मूर्तियाँ

कम्बुज-कला में बुद्ध बोधिसत्त्व मैत्रेय अवलोकितेश्वर तथा लोकेश्वर और प्रज्ञापारमिता की मूर्तियाँ भी बनी। बुद्ध की खड़ी मूर्तियों में प्राई केमास[४७] (म्यूजे अल्बर्ट सरौ) वात-रोमलोक[४८] (इसी संग्रहालय में) तथा तुओल-प्राह थाट[४९] से प्राप्त मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रथम दो मूर्तियों के हाथ टूटे हुए हैं पर तीसरी का दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है। संघाटी से सम्पूर्ण शरीर ढका हुआ है। केश घुंघराले हैं। निचले भाग और संघाटी से इन मूर्तियों की तुलना सारनाथ से प्राप्त बुद्ध (बोधिसत्त्व) मूर्तियों से की जा सकती है पर घुंघराले बाल गन्धार-कला की बुद्धमूर्तियों के समान हैं। अकोरवाट की एक बुद्धमूर्ति में वे अभय मुद्रा में दिखाये गये हैं। उनका उष्णीष तथा संघाटी अलंकृत है। वात-रोमलोक से प्राप्त बुद्ध की पद्मासन मुद्रा की मूर्ति मथुरा-कला की मूर्तियों से मिलती-जुलती है पर एक अन्य बुद्धमूर्ति में बुद्ध पैर नीचे किये दिखाये गये हैं जो भारतीय कला में नहीं मिलती है। नाग पर पद्मासन में बैठे बुद्ध की कई मूर्तियाँ मिली हैं। उनके ऊपर नाग फन फैलाये खड़ा है। कुषाणकालीन ऐसी बहुत-सी मूर्तियाँ मथुरा में मिली हैं। नाग राज मुचिलिन्द उनको ध्यानावस्था में सुरक्षित रखने के लिए उनके ऊपर अपना फन फैलाये खड़ा है। बोधिसत्त्व लोकेश्वर की जिसका ख्मेर महायान मत से सम्बन्ध था चार भुजाओंवाली कई मूर्तियाँ मिली हैं।[५०] दया के यह प्रतीक हैं और इनकी मौलि

४७ बोसलिये रो ब्रमे चित्र ५२।
४८. रामकेर आ आ ई चित्र १५३।
४९. बोसलिये रो ब्रमे चित्र नं ८७।
५ वही नं ८८।
५१ वही नं १ २।
५२ वही नं ८९ अ।
५३ वही नं ८९ ब।
५४ वही नं ९४ ९३ ९५ अ ९८ १ ।
५५. मार्ग पू सं पु २८। बोसलिये ४९ ब ६७ ७७ अ ८३ १ १।

में ध्यानी बुद्ध की मूर्ति है। इनके चार हाथों में ब्रह्मा की भांति अमृत की बोतल, पुस्तक माला और कमल का फूल है। एक मूर्ति में केवल दो ही हाथ हैं। कम्बुज कलाकारों ने प्रज्ञापारमिता की मूर्ति भी बनायी।[५९] इसके अतिरिक्त हेवज्र की नृत्य करती अवस्था में कांसे की मूर्ति बड़ी ही सुन्दर है जो बन्तेकदेई से प्राप्त हुई और इस समय म्यूजे अल्बर्ट सुरौ में है।[६०] यह बौद्धधर्म सम्बन्धी शक्ति-देवता था।

कम्बुज देश के कलाकारों ने भारतीय धार्मिक परम्परा के अन्तर्गत ब्राह्मण और बौद्ध मूर्तियों का निर्माण किया। उन्होंने इस सम्बन्ध में अपनी बुद्धि और कुशलता का परिचय दिया उनकी मूर्तियों के निर्माण अथवा दीवारों पर खुदे चित्रों में स्थानीय प्रभाव पूर्णरूप से विदित होता है। कला में वह उत्तेजना न भी हो, पर चेहरे की मुद्रा आन्तरिक भावना का प्रतीक है। कलाकारों ने शान्ति संतोष, मुसकान और राक्षसों के रौद्र रूप को भली भांति प्रदर्शित किया है। उनकी मौलि श्मश्रु (मूंछ) तथा वस्त्रों में स्थानीय प्रभाव है। हो सकता है कि घुंघराले बाल जिनकी समानता गंधार से मिलती है वैदेशिक प्रभाव के अन्तर्गत हों जिसमें रोम से आये व्यापारियों का हाथ हो पर इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। जावानी प्रभाव भी ख्मेर कला पर पड़ा जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण काल मुख का प्रवेश है। ख्मेर स्थापत्य और शिल्पकला ने क्रमशः स्वतंत्र रूप धारण किया और इसमें इसे सफलता भी मिली पर इसके प्रसरण में भारतीय विषय और आदि भारतीय कलाकारों का मुख्य हाथ है, जिन्होंने स्थानीय कलाकारों को प्रेरणा दी और उनके सम्मुख उदाहरण रखे जिनको लेकर यह कला आगे बढ़ी। चीन के साथ कम्बुज का बराबर राजनीतिक सम्बन्ध रहा पर इस और उस क्षेत्र का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा।

५९. बोसलिये, ८१।
६०. वही, नं १११ अ १११ ब।

चतुर्थ भाग—शैलेन्द्र साम्राज्य

अध्याय १

शैलेन्द्र राज्य

ईसा की आठवीं शताब्दी में दक्षिण-पूर्वी एशिया में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना हुई, जिसके शासक शैलेन्द्र-वंशज थे। शैलेन्द्र नाम की व्याख्या तथा इसके उद्गम स्थान के विषय में विशेष रूप से पूर्वी विद्वानों में मतभेद रहा है और चीनी भारतीय अरबी तथा स्थानीय लेख इस वंश के उत्कर्ष पर प्रकाश डालते हुए भी किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचने में असमर्थ हैं। इसके अतिरिक्त मुख्य तथा चीनी और अरबी स्रोतों में जिस साम्राज्य का उल्लेख है उसकी समानता श्रीविजय से भी की जा सकती है। वास्तव में शैलेन्द्र वंश का प्रारम्भिक इतिहास केवल चार पांच लेखों पर ही आधारित है और उन्हीं का आश्रय लेकर हम इस वंश के इतिहास की रूपरेखा प्रदर्शित करने का प्रयास करेंगे। इस सम्बन्ध में लेखों के अतिरिक्त अन्य स्रोत चीनी तथा अरबी वृत्तान्त का आश्रय केवल पुष्टि के हेतु ही लिया जायगा।

लेख-सामग्री

लेखों में सर्वप्रथम ७७५ ई का लिगोर (मलाया) का लेख है। इस लेख के दो भाग हैं—प्रथम भाग (अ) में श्रीविजयनरराज की प्रशस्ति है तथा श्री

१ डा मजूमदार सुवर्णद्वीप पृ २९५, २९७। ज ग्रे इ सो० १ पृ ११ से। बु इ फ्रा ११ पृ १२१ से। सिडो, ज ग्रे इ सो १ पृ ६१ से। ए हि पृ १५२ से। मिजुसिमा? ज ग्रे इ सो ९, पृ ९९ से। नीलकंठ शास्त्री तिज-मल-जैन ७५, पृ ६११। विंस्टेड ज म ब्रा रो सो ७ १९५ पृ ८९ से। बिल्स इ० आ० १ लि० ९, पृ १ से। स्टुटरहाइम ए जावानी पीरियड इन सुमात्रान हिस्ट्री १९२९। कोम बु इ फ्रा १ (५) पृ १२७ से।

विजयेश्वर भूपति द्वारा बौद्ध देवताओं के लिए तीन मन्दिरों के बनवाने का उल्लेख है। राजपुरोहित (राजस्वाधिर) जयन्त ने सम्राट् के आदेश पर तीन स्तूपों का निर्माण कराया और उसकी मृत्यु के बाद उसके शिष्य और उत्तराधिकारी अविमुक्ति ने दो चैत्यों का निर्माण करवाया। अन्त में श्रीविजयनृपति द्वारा जिसकी तुलना देवेन्द्र से की गयी है शक सं ६९७ (७७५ ई) में स्तूपों की स्थापना का उल्लेख है। दूसरे भाग (ब) में केवल एक ही पद अंकित है तथा दूसरे के कुछ अक्षर मिले हैं। इसमें विष्णु नामक शासक की प्रशंसा की गयी है। अन्तिम पंक्ति ठीक से नहीं पढ़ी जा सकी पर शैलेन्द्र वंश निश्चित है। सिडो के मतानुसार[३] यह शैलेन्द्र वंश प्रभु निमवत तथा डा मजुमदार के मतानुसार द्वितीय संयुक्त शब्द 'निवहिता' है।[३] शासक का नाम श्री महाराज है, पर यह ठीक से नहीं कहा जा सकता कि इसकी समानता विष्णु राजाधिराज से करनी चाहिए अथवा यह कोई अन्य व्यक्ति था।

द्वितीय लेख[४] जावा के कलार्टा प्रान्त में कलसन नामक गाँव में मिला और इसकी तिथि शक सं ७ (७७८ ई) है। इसमें आर्य तारा देवी की उपासना का वर्णन है और इसी का एक मन्दिर शैलेन्द्र शासक के गुरु द्वारा महाराज पंचपण पणंकरण की सहायता अथवा अनुमति से बनवाने का उल्लेख है। शैलेन्द्र वंश-तिलक के राज्य में गुरुआचार्य तारा का मन्दिर शक सं ७ में बना और इसके लिए कलसन गाँव संघ को अर्पित कर दिया गया। मन्दिर के साथ में विनय महायान में पारंगत भिक्षुओं के रहने का भी प्रबन्ध था। इस लेख में शैलेन्द्रराज तथा महाराज पणंकरण का उल्लेख है। बोगेल के मतानुसार ये दो अलग व्यक्ति थे जिनमें शैलेन्द्रराज सुमात्रा का शासक था जिसके गुरु ने मन्दिर निर्माण में बड़ा भाग लिया था और पणंकरण कोई शैलेन्द्र-वंशज था जो जावा में राज्य कर रहा

२ पु इ क्ष १८, पृ ४४८।
३ ज ग्रे इ सो १, पृ १२।
४. डी भी भी ११ पृ २४ १६ । ज बा बा रा ए सो १७ (२) पृ १, १ । डी भी भी ६८ (१९२८) पृ ५७ से।
५. भी के आई ७५, पृ ६१४। मजुमदार ज ग्रे इ सो १ (१) पृ १२। घटर्जी एण्ड चक्रवर्ती इंडिया एण्ड जावा (भाग २) पृ ४४।

था क्योंकि इस दान की रक्षा का भार शैलेन्द्र-वंशज श्रीमान् करियान पनंकरण को सौंपा गया था।

तीसरा लेख कलुरक[1] में मिला जो पकालोंगन प्रान्त में स्थित लोरो जोंगरंग मन्दिर के उत्तर में है। यह शक सं. ७०४ (७८२ ई.) का है और इसमें गौड़-निवासी (गौड़द्वीप-गुरु) कुमार घोष द्वारा मञ्जुश्री की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है। इस राजगुरु ने वहाँ के शासक श्री संग्राम धनंजय का आतिथ्य स्वीकार किया था। लेख में सर्वप्रथम त्रिरत्न बुद्ध धर्म और संघ की प्रार्थना की गयी है। इसके बाद शैलेन्द्र वंश-तिलक शासक इन्द्र का उल्लेख है, जिसने सब दिशाओं में राजाओं को जीता था तथा सबसे बलवान् शत्रु को पराजित किया था। गौड़निवासी (गौड़द्वीप-गुरु) राजगुरु कुमार घोष की चरणरज से उसका शरीर पवित्र हो गया। इसके द्वारा स्थापित मंजुश्री की मूर्ति में ब्रह्मा विष्णु तथा महेश का संतुलन था। भविष्य के शासकों को इस धर्मसेतु की रक्षा का भार सौंपा गया है।

इन तीनों लेखों —एक मलाया और दो जावा से प्राप्त— के अतिरिक्त नालन्दा से प्राप्त चौथा लेख[2] विशेषतया उल्लेखनीय है और यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह लेख पालसम्राट् देवपाल के ३९वें वर्ष का है और इसमें सुवर्णद्वीप के शासक बालपुत्रदेव (सुवर्णद्वीपाधिप महाराज श्री बालपुत्रदेव) के अनुरोध पर देवपाल द्वारा पाँच गाँवों के दान का उल्लेख है। बालपुत्र के वंश तथा पूर्वजों का भी उल्लेख इस लेख में है जो विशेष महत्त्व रखता है। शैलेन्द्रवंश-तिलक यवभूमिपाल नामक शासक पराक्रमी शत्रुओं का मर्दन करने वाला था (वीर वैरिमथनानुगताभिधान)। उसका समराग्रवीर नामक पुत्र था जो युद्धभूमि में अजेय योद्धा था। इसकी स्त्री तारा चन्द्रवंशज सम्राट् धर्मसेतु की पुत्री थी और देवीस्वरूप थी। इसके पुत्र का नाम भी बालपुत्र था जिसने नालन्दा में विहार बनवाया था और उसी के लिए देवपाल से पाँच गाँव (लगभग ८१५–८५४ ई.) दान में देने के लिए इस सुवर्णभूमि-महाराज ने अनुरोध किया था।

दो शैलेन्द्र शासकों का उल्लेख राजराज प्रथम के उस बड़े लेख में मिलता

१. जीम टी बी जी (१९२८) पृ. १से। चटर्जी एण्ड चक्रवर्ती वही पृ. ५।

२. ई. आई. १८, पृ. ३१। चटर्जी एण्ड चक्रवर्ती वही, पृ. ४१।

है जो इस समय लाइडेन (हॉलैंड) में है। इसके संस्कृत भाग में 'शैलेन्द्रवंशप्रसूतेन श्रीविषयाधिपतिना कटाहाधिपत्यमातन्वता (पंक्ति ८०–८१) कटाहाधिपति (पंक्ति ९ १) तथा तमिल भाग में किडारत्त अरैयन (पंक्ति १) और कडारत्त अरैयन लिखा है। उपर्युक्त वृत्तान्त के अनुसार शैलेन्द्रवंश का शासक श्रीविषयाधिपति तथा कटाहाधिपति भी था। श्रीविषय की समानता श्रीविजय से की जा सकती है जो सुमात्रा में एक राज्य था और जिसकी राजधानी पलम्बंग थी। इस शैलेन्द्र सम्राट् को 'कटाहाधिपति' भी कहा गया है, जैसा कि 'कटाहाधिपत्यमातन्वता' से प्रतीत होता है। तमिल भाग में कटाह के स्थान पर किडार अथवा कडार है जिसकी समानता मलाया प्रायद्वीप के केडा से की जाती है। लाइडेन (हॉलैंड) का यह लेख राजेन्द्र चोल प्रथम के समय का है जिसने १ ११ ई में इसे लिखवाया और इसमें उसके पिता राजराज द्वारा चूडामणि विहार के हेतु दान में दिये गये एक गाँव का उल्लेख है। इस लेख में मारविजय तुंग वर्मन् को शैलेन्द्रवंशज तथा श्रीविजय और कटाह का सम्राट् कहा है। सिक्कों के मतानुसार श्रीविजय (पलम्बंग) और कटाह (मलाया प्रायद्वीप के केडा) पर शैलेन्द्र-वंशज मारविजय तुंगवर्मन् का अधिकार था। अरब भौगोलिक वृत्तान्त-कारों से इस कथन की पुष्टि की है कि जावक के महाराज उस समय श्रीबुज और कलह (क) शासक थे।

लाइडेन वाले राजेन्द्र चोल के लेख से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ११वीं शताब्दी में शैलेन्द्र-शासक श्री मारविजयोत्तुंगवर्मन् का राज्य उत्तर में कटाह (केडा मलाया) तक फैला था और दक्षिण-पश्चिम में सुमात्रा के श्रीविजय पर भी इसका अधिकार था। शैलेन्द्र-शासक मूल रूप से श्रीविजय-निवासी न थे अन्यथा श्री मारविजयोत्तुंग को इस लेख में 'श्रीविषयाधिपति' न कहा जाता। उपर्युक्त चोल लेखों से शैलेन्द्रशासक चूडामणि तथा श्री मारविजयोत्तुंग के चोल शासक राजराज तथा राजेन्द्र के साथ सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है और नालन्दा के लेख से बालपुत्र देव का बंगाल के शासक देवपाल के साथ राजनीतिक सम्बन्ध प्रतीत होता

८. ई आई २२, पृ २२९। बर्नेल आ स स ई।
९. सेल्स ने इसकी समानता चाया से की है। इ आ के ५, पृ ४।
 ए हि पृ २३९।

है। मलाया के लिगोर तथा जावा के कलसन लेख से शैलेन्द्रवंश का सुमात्रा (श्रीविजय) तथा जावा पर अधिकार स्थापित करना पूर्ण रूप से विदित है। ये सब घटनाएं ईसा की ८वीं शताब्दी के अन्तिम भाग की हैं। ११वीं शताब्दी के चोल लेखों से शैलेन्द्र-चोल सम्पर्क मित्रता और संघर्ष का पता चलता है। इस वंश के उत्कर्ष वैभव तथा पतन पर प्रकाश डालने के लिए अरबी तथा चीनी स्रोतों की सहायता लेनी पड़ेगी जिनमें शैलेन्द्र वंश का नाम नहीं मिलता है, पर कुछ शैलेन्द्र शासकों के नाम अवश्य मिलते हैं। इस वंश का इतिहास जानने से पहले इसकी उत्पत्ति और आदि स्थान पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

वंश-उत्पत्ति और आदि स्थान

डा मजुमदार के मतानुसार[1] शैलेन्द्र वंश की उत्पत्ति शैल शैलोद्भव तथा गांग वंशों के साथ हुई, जो उड़ीसा और कलिंग क्षेत्र में ईसा की ६-७वीं शताब्दी में राज्य कर रहे थे। शैलवंश के एक लेख के अनुसार इस वंश की उत्पत्ति हिमालय (शैलेन्द्र) की पुत्री गंगा से हुई और इसके प्रथम शासक ने यही उपाधि धारण की जो जावा और मलाया के शैलेन्द्र शासकों ने धारण की थी। एक स्थानीय किंवदन्ती के अनुसार गांग वंश का एक राजकुमार दक्षिण ब्रह्मा में जाकर वहाँ का शासक बन बैठा और उसी के नाम से वहाँ के लोग तलिंग अथवा तलैंग कहलाये। इसी राजकुमार के साथ महायान मत और नागरी लिपि का भी ब्रह्मा में प्रवेश हुआ। ७७५ ई के कुछ बाद उन्होने श्रीविजय से संबंध स्थापित किया जैसा कि लिगोर के लेख के दूसरे भाग से प्रतीत होता है और फिर सम्पूर्ण मलाया प्रायद्वीप को जीतकर वे जावा और सुमात्रा की ओर बढ़े। डा मजुमदार के मतानुसार इनकी राजधानी लिगोर केडा क्षेत्र में थी जिसे चोल लेखों में 'कटाह' कहा गया है।

निलो ने शैलेन्द्र वंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कम्बुज के कुछ लेखों का उल्लेख किया है[2] जिनमे फूनान के शासक को कुरुग'—'गिरिशासक' या शैलेन्द्र कहा है और एक अप्रकाशित लेख में ईशानवर्मन् को शैलराज कहकर संबोधित किया

११ ज ग्रे इ सो १ (२) पृ १ से। सुवर्णद्वीप भाग १ पृ १४९ से। पु इ क्वा ३३ पृ १२१ से।
१२ ब ऐ इ सो १ पृ ६६, ६७।

गया है (चुन-प्राह-कोन)। इनके मतानुसार ईशानवर्मन् द्वारा फूनान पर अधिकार करने के बाद फूनान के शासक दक्षिण-पश्चिम फूनान या मलाया अथवा जावा चले गये जहाँ वे ७वीं शताब्दी तक रहे। प्रिजुलुस्की ने सिडो के मत का खंडन करते हुए फूनानवंश की जावा के शैलेन्द्र वंश के साथ समानता दिखाने का प्रतिवाद किया है। उनके विचार में शैलेन्द्र की समानता गिरीश से की जा सकती है और मूल शैलेन्द्रवंश-प्रवर्तक शिव थे जिनका निवासस्थान भारतीय धार्मिक स्रोत के अनुसार कैलाश पर्वत था। जावानी शैलेन्द्र वंश में भारतीय और हिन्देशियायी धार्मिक विचारधारा का समन्वय है जिसके अन्तर्गत शिव और बुद्ध को एक साथ संयुक्त किया गया है। प्रो नीलकंठ शास्त्री ने उपर्युक्त विद्वानों के मतों की विवेचना की है और उनके मतानुसार शैलेन्द्रवंश की उत्पत्ति शिव से अवश्य हुई और जावा में शैव मत का प्रवेश दक्षिण भारत से अगस्त्य की उपासना के साथ हुआ और कदाचित् पाड्य क्षेत्र से ही वहाँ भारतीय गये। इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता है और इस प्रश्न को इसी रूप में छोड़ देना ठीक होगा।"

१३ वही २, पृ २५, ३६।

१४ बी बी बी ७५, पृ १११।

१५ इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विचारों का उल्लेख मिश्र ने अपने लेख में किया है (ज म ओ सो १९९ पृ ७ से)। तीस वर्ष पहले श्रीविजय (पलमबंग) को ही शैलेन्द्र राज्य की राजधानी माना जाता था। मोर्जेस के विचार में भारत से जावा तथा मलय देश जाते समय शैलेन्द्र कुछ थोड़े समय तक ठहरे थे (जे आर ए स मलाया ब्रांच, १८, २४१)। बोश का कथन है कि शैलेन्द्र भारतीय अवश्य थे पर उनका निवास स्थान मलाया था। ई आर ६, के ६, १ ११५। स्टटरहाइम ने उनका आदि निवासस्थान तथा कर्मक्षेत्र जावा माना है ('ए जावानी पीरियड इन सुमात्रन हिस्ट्री' बी बी बी ११(१९२९ पृ १९३)। मिश्र ने इस विषय को विवादास्पद माना है। उनके मतानुसार केवल इतना ही निश्चय है कि इसका सर्वप्रथम उल्लेख कलसन के लेख (ई ७७८) में है और यह वंश चंगल के लेख (७१२ ई) के समय नहीं था। कलसन और केलूरक लेखों की नागरी लिपि उत्तर भारतीय है जिससे इनके मूल स्थान का संकेत मिलता है (पृ सं)।

उपर्युक्त पाँचों लेख बौद्ध धर्म से सम्बन्धित हैं और किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए इस बात पर ध्यान देना पड़ेगा।

राज्य-विकास

लिगोर के लेख (ए ब) से यह पूर्ण रूप से प्रमाणित है कि मलाया में शैलेन्द्रों का राज्य स्थापित हो चुका था और ७७५ ई में (लेख अ की तिथि) श्रीविजय से बढ़कर उन्होंने मलाया का वह भाग जीत लिया था। कलसन और केलुरक के लेख जिनकी तिथि क्रमश ७७८ और ७८२ ई है जावा के मध्य भाग पर शैलेन्द्र शासकों के अधिकार का संकेत करते हैं। नालन्दा लेख में उल्लिखित प्रथम शैलेन्द्र शासक का नाम यवभूमिपाल दिया गया है और उसे वीर शत्रुओं को क्लेश देने वाले 'वीरवैरिमथनानुगताभिधान' की उपाधि भी दी गयी है तथा उसे 'शैलवंश तिलक' भी कहा गया है। केलुरक के लेख मे इस शासक को भी 'शैलेन्द्रवंश-तिलक' की उपाधि दी गयी है तथा उसे भी 'वैरिवरवीरविमर्दन' या 'समस्त शत्रुओं का नाशकारी' कहा गया है। 'शैलेन्द्रवंशतिलक' की उपाधि कलसन के लेख में भी शैलेन्द्र शासक को दी गयी है। अत यह प्रश्न उठता है कि क्या श्रीमान् वरियानपत्कन्यम तथा इन्द्र की समानता मान ली जाय और नालन्दा लेख के यव-भूमिपाल को भी इसी वंश में रखा जाय तथा उपर्युक्त शासक अथवा शासकों से समानता दिखायी जाय? उसी से सम्बन्धित एक अन्य प्रश्न बालपुत्र देव के विषय में है जो नालन्दा लेख के यवभूमिपाल का पौत्र था और उसे सुवर्णभूमि का शासक कहा गया है। सुवर्णद्वीप से प्राय मलाया-सुमात्रा का ही संकेत माना गया है और इसी लिए यह विचार करना होगा कि जावा के शैलेन्द्र शासकों का सुमात्रा पर थोड़े दिनों के लिए अधिकार हो गया था अथवा शैलेन्द्र सुमात्रा के शासक थे और थोड़े काल तक वे जावा पर राज्य करते रहे। सिडो के मतानुसार[16] जावा के शैलेन्द्रो ने श्रीविजय पर अधिकार कर लिया था और वहीं पर अपने पिता समराग्रवीर की ओर से वह शासन कर रहा था। बालपुत्र से युवक राज कुमार का बोध होता है। प्रो नीलकण्ठ शास्त्री के मतानुसार[17] बालपुत्र सुमात्रा

१६. ए हि पृ १६ १८५, ६।
१७ श्रीविजय, पृ ५ ।

का स्वतंत्र शासक था (सुवर्ण द्वीपाधिप) और नालन्दा के लेख से शैलेन्द्रों के श्रीविजय राज्य (सुमात्रा) पर अधिकार का कहीं भी संकेत नहीं है। हो सकता है कि श्रीविजय के पहले भी कुछ शासक शैलेन्द्र रहे हों। जावा और श्रीविजय का बराबर मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध रहा और इन्होंने द्वीपसमूहों तथा हिन्द-चीन पर कई संयुक्त प्रयास किये। इस मत के अनुसार एक शैलेन्द्र वंश जावा में और दूसरा श्रीविजय सुमात्रा में शासन कर रहा था। लिगोर लेख का दूसरा भाग इन्हीं दो वंशों में से किसी एक के शासक ने खुदवाया होगा। डा मजूमदार के मतानुसार नालन्दा अभिलेख सुवर्णद्वीप और यवभूमि अलग-अलग स्थान अथवा राज्य न थे। सुवर्णद्वीप से मलाया प्रायद्वीप तथा सम्पूर्ण द्वीपों का संकेत है जिसे अलबेरुनी[19] तथा अन्य अरब लेखकों ने जावग के नाम से सम्बोधित किया है। वहां के शासक महाराज कहलाते थे और इब्न सैद के अनुसार श्रीबुज (श्रीविजय) इसमें सबसे बड़ा द्वीप था। डा मजूमदार का कथन है[20] कि जावा से बढ़कर शैलेन्द्र शासकों ने सम्पूर्ण अथवा अधिकतर भाग पर अधिकार कर लिया और यह ९वीं शताब्दी के मध्य भाग (नालन्दा लेख की तिथि) तक हो चुका था।

अरबी और चीनी स्रोत

लेखों से यह पूर्णतया निश्चित हो जाता है कि आठवीं शताब्दी के मध्य भाग तक शैलेन्द्र शासकों का मलाया सुमात्रा और जावा के कुछ भाग पर अधिकार हो चुका था। उनका राज्य विस्तृत था तथा तत्कालीन सामुद्रिक व्यापार और यातायात के मार्गों पर भी उनका पूर्ण रूप से नियंत्रण था। इसका उल्लेख अरबी और चीनी वृत्तान्तों में मिलता है जो इनकी महत्ता तथा कृत्यों पर प्रकाश डालते हैं। अरब इतिहासकारों तथा यात्रियों ने शैलेन्द्र शासकों को 'महाराज' नाम से सम्बोधित किया है। लिगोर के लेख के द्वितीय भाग (ब) में शासक का नाम महाराज दिया हुआ है और इसी लेख में सिडो के मतानुसार 'शैलेन्द्रवंश प्रभुनिगदत' भी लिखा मिलता है। अतः शैलेन्द्र और महाराज पर्याय प्रतीत होते हैं।

१८. मरेसा मिमसर्स पृ ४२।
१९. सचाओ अलबेरुनी भाग १ पृ २१ । भाग २ पृ १ ६।
२ पृ सं ।

अरब इतिहासकारों ने महाराज के अतिरिक्त जावग या जाबज का भी उल्लेख किया है जो इस वंश का दूसरा नाम था। इब्न खोरदाद्बेह (८४४) के अनुसार जावग का शासक महाराज कहलाता था। उसकी नित्यप्रति की आय दो सौ मन सोना थी जिसका एक चौथाई भाग मुर्गों की लड़ाई से प्राप्त होता था।[२१] सुलेमान (८५१ ई) ने जावग का वृत्तान्त विस्तृत रूप से दिया है। उसके मतानुसार कलहबार (मलाया प्रायद्वीप में का जलडमरूमध्य के निकट का क्षेत्र) जो भारत के दक्षिण में है, जावग साम्राज्य में है और दोनों का एक ही शासक है।[२२] इसी का उल्लेख इब्न-अल फकिह ने किया है और उसके अनुसार जावग के दक्षिण में कोई और देश नहीं है तथा वहाँ का शासक सबसे धनी है।[२३] इब्न-रोस्तेह (९०३ ई) ने जावग के शासक को महाराज (राजाओं का राजा) कहा है। भारतीय राजाओं में वह सबसे बड़ा न था क्योंकि वह द्वीपों का निवासी था। पर वह सबसे धनी और शक्तिशाली शासक था। विदेशों के साथ जावग के व्यापार का उल्लेख और भी कई अरब लेखकों ने किया है। अबू-जैद ने सुलेमान के वृत्तान्त की पुष्टि की है और[२४] उसके अनुसार जावग से साम्राज्य तथा राजधानी का बोध था। वहाँ का शासक महाराज कहलाता था और साम्राज्य का क्षेत्र ९ वर्ग परसंग था। शासक का अधिकार अन्य द्वीपों पर १ परसंग या इससे भी अधिक दूरी तक था। उसके राज्य में शीबुज (श्रीविजय) भी था जिसका क्षेत्र ४ वर्ग परसंग था तथा ८ वर्ग परसंग क्षेत्र का रामी द्वीप भी था। कलह नामक द्वीप अरब और चीन के बीच में था इसका वर्ग क्षेत्र ८ परसंग था कलह नगर प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था जहाँ से मुसब्बर, कपूर चन्दन हाथी-दाँत टीन आबनूस मसाले तथा और बहुत-सी चीजें बाहर भेजी जाती थीं। महाराज का इन सब द्वीपों पर अधिकार था और जिस द्वीप में वह रहता था वह बहुत घना बसा हुआ था। जावग से चीन जाने में एक महीना लगता था।

२१ जू ए २२ (१९२२) पृ ५८-५९।
२२ वही पृ ५९।
२३ वही पृ ५४-५५।
२४ जू ए पृ ५९।
२५ वही, पृ ५९ वि।

मसूदी (९४३ ई) ने भी जावग का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है[२६] और उसने पूर्वोक्त अरब लेखकों के वृत्तान्तों की पुष्टि की है। उसके मतानुसार जावग का देश महाराज के अधीन था जिसका अधिकार द्वीपों पर भी था। यह भारत की सीमा से मिला था और रूमेर राज्य यहाँ आने के मार्ग पर पड़ता था। इस सम्बन्ध में मसूदी ने उस कथानक का भी उल्लेख किया है जिसमें महाराज की सेना के रूमेर राज्य में प्रवेश तथा वहाँ के शासक के वध का विवरण है। महाराज के धन और विस्तृत साम्राज्य का भी उल्लेख है। असीमित विस्तृत साम्राज्य पर इसका अधिकार था और तेज जहाज भी इसका दो वर्ष में चक्कर नहीं लगा सकते थे। यहाँ की मसालों तथा अन्य पदार्थों की उपज से राज्य बड़ा धनी था। श्रीबुज (श्रीविजय) द्वीप भी महाराज के साम्राज्य में था। इसके मतानुसार यह महाद्वीप से ४ परसंग की दूरी पर था पर अब्बुजैद ने इसका क्षेत्र ४ वर्ग परसंग की दूरी पर माना है। बशिफ्फशाह (लगभग १ ई) ने श्रीबुज का क्षेत्रफल ४ वर्ग परसंग दिया है तथा उसके घने बसे होने का उल्लेख किया है।[२७] उसके मतानुसार विदेशी आक्रमण और अनेक युद्धों से तंग आकर चीनियों ने सम्पूर्ण द्वीपों और उनके नगरों को लूटा।

अलबेरूनी (लगभग १ १ ई) ने जावज (जावग) की समानता सुवर्णद्वीप से की है।[२८] उसके अनुसार समुद्र के पूर्वी द्वीप भारत की अपेक्षा चीन से अधिक निकट हैं। इन्हें हिन्दू सुवर्णद्वीप कहते हैं क्योंकि यहाँ की मिट्टी में बोने पर सोना मिलता है। उपर्युक्त अरबी वृत्तान्तों से प्रतीत होता है कि जावग साम्राज्य बड़ा विस्तृत था और श्रीबुज (श्रीविजय) इसके अधीन था जैसा कि अब्बुजैद, मसूदी और बशिफ्फशाह ने कहा है। अलबरूनी ने इस बात का उल्लेख नहीं किया है। जावग का शासक महाराज कहलाता था। इन वृत्तान्तों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस साम्राज्य का उत्कर्ष नवी शताब्दी के मध्य भाग से लेकर १ वी शताब्दी के अन्त तक रहा। इसका जावा पर भी अधिकार था और कम्बुज देश पर भी इसने आक्रमण किया था।[२९]

२६ वही पृ ९२ से। मजुमदार, ज ग्रे इ सो । (१।१) पृ २१।
२७ वही पृ ६३-६४।
२८ भाग १ पृ २१ । २ पृ १ ६।
२९ महाराज और रूमेर शासक के बीच संघर्ष का उल्लेख अरबी लेखकों ने

चीनी स्रोत

चीनी वृत्तान्तों में सन फोसि नामक राज्य का उल्लेख मिलता है, जहाँ से कई राजदूत चीन भेजे गये। ९ ४ या ९ ५ ई में राजधानी का शासक भेंट लेकर चीन गया और चीनी सम्राट् ने उसे 'दूर के विदेशी राज्यों को शान्त रखनेवाले सेनापति' की उपाधि प्रदान की।[1] इससे प्रतीत होता है कि सन-फो-त्सि का राज्य दूर दूर देशों तक फैल गया था। ९६ ई के ८वें मास में यहाँ के शासक चि लि हु त हिम लि तन ने लि च ति को भेंट लेकर चीन भेजा और ९६१ में वे लि हु म नामक शासक ने भेंट भेजी। उस समय सन-फो-त्सि को सिएन-लिए-ऊ कहा जाता था। ९६२ में वे लि हु ये ने तीन दूतों को भेंट देकर भेजा और ९७१ ९७२, ९७४ ९७५ में पुन राजदूत भेजे गये। ९८ और ९८३ ई में हिम चे (कदाचित् हजि शासकों की सामान्य उपाधि) ने भेंट लेकर राजदूत भेजे।

किया है। सुलेमान ने इसका वृत्तान्त दिया है जिसे अबूजैद ने उद्धृत किया। ख्मेर सम्राट् ने जावक के शासक का कटा शीश देखने की इच्छा प्रकट की और यह बात महाराज तक पहुँच गयी। उसने ख्मेर देश पर आक्रमण किया और वहाँ के शासक का शीश काटकर उसके पुत्र के पास भेजा गया। कम्बुज के प्रसिद्ध स्डोक काक थोम लेख के अनुसार ८ २ ई में जयवर्मन् द्वितीय ने जावा से कम्बुज लौटने पर एक धार्मिक प्रक्रिया की जिसका उद्देश्य यह था कि कम्बुज पुन जावा पर आश्रित न रहे (बु इ फ्रा १५, २, पृ ८७)। डा मजुमदार के मतानुसार शैलेन्द्रों का कम्बोज और जावा पर अधिकार ७७५ या ७७८ ई तक हो चुका था और यह सम्भव है कि उन्हें ख्मेर के विरुद्ध लड़ने पर थोड़े काल के लिए सफलता मिली हो। उसी समय में जावा वाले समुद्री बेड़े से चम्पा पर आक्रमण कर कोठार के मन्दिर से मूर्ति उठाकर ले गये। देखिए, सत्यवर्मन् का पो नगर लेख शक सं ७ ६। मजुमदार, चम्पा भाग १ पृ ४१। चीनी स्रोत के अनुसार ७६७ ई में को लोन (कुएन लुएन) और शावा (जावा) के सैनिकों ने ७६७ ई में ग्रन-नम पर आक्रमण किया। (ब फे इ ओ १ (१) पृ १८ १९)

१ बु ए २-२ (१९२२) पृ० १७ नोट। ब फे इ ओ १ (१) पृ २५।

११ वही, पृ १७। मजुमदार, वही।

राजनीतिक सम्पर्क के अतिरिक्त इस राज्य का चीन के साथ व्यापारिक सम्पर्क भी रहा। कैन्टन में अरब मलय प्रायद्वीप सन फो त्सि जावा बोर्नियो फिलिपीन तथा चम्पा से व्यापारी आते थे। ९८ ई में एक व्यापारी माल लेकर स्वातामा से चलकर यहाँ से यह माल कैन्टन गया।[1] उपर्युक्त वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि सन-फो-त्सि का चीन के साथ बराबर व्यापारिक और राजनीतिक सम्बन्ध १ वी शताब्दी में रहा और यह राज्य मलय तथा जावा से भिन्न था। पुरु-वंश के इतिहास के अनुसार[1] ९८८ ई में सन-फो-त्सि से एक राजदूत भेंट लेकर चीन आया। चीनी राजधानी से चलकर ९९ ई में वह कैन्टन पहुँचा जहाँ उसने अपने देश पर चो-पो (जावा) द्वारा आक्रमण का समाचार सुना। अत वह एक वर्ष रुक गया। ९९२ ई में वह चम्पा गया पर कोई सन्तोषजनक समाचार न मिलने पर वह पुन चीन वापस आया और उसने सम्राट् से अपने देश को चीन के अधीन रखने की प्रार्थना की। इस संघर्ष का विस्तृत रूप से कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। हो सकता है कि मध्य जावा के शासक धर्मवंश ने सन फो त्सि के ऊपर आक्रमण कर थोड़े समय के लिए सफलता प्राप्त कर ली हो पर यह अधिक समय तक नहीं रही जैसा कि १ १ में सन फो त्सि द्वारा चीन भेजे गये दूत से सकेतित होता है।[1] १ ६ ई में जावा का राज्य किसी कारणवश नष्ट हो गया पर शैलेन्द्र राज्य कायम रहा जैसा कि कुछ तमिल लेखों से पता चलता है जिनमें चोल और शैलेन्द्र के बीच सम्पर्क और संघर्ष का उल्लेख है।

शैलेन्द्र और चोल शासकों के बीच सम्पर्क और संघर्ष

प्रसिद्ध लाइडन के लेख का वर्णन पहले ही हो चुका है, इसके कुछ भाग संस्कृत और कुछ तमिल म हैं और ये क्रमश १ ४४ ई और १ ४९ ई के

१२ वही पृ १८। यही सिदो के मतानुसार सन-फो-त्सि की स्थापना सुमात्रा के श्रीविजय से की जानी चाहिए और ये राजदूत वहीं से भेजे गये थे। (ए हि पृ २२१ से)। इस पर आगे चलकर विस्तृत रूप से विचार किया जायगा।

१३ बु ए १२ (१९२२) पृ १८। ए हि पृ २२३-२४।

१४ बु ए २२ (१९२२) पृ १९।

है। इसमें राजराज राजकेसरिवर्मन् (राजराज महान्) के राज्यकाल के २१वें वर्ष में मारविजयोत्तुंगवर्मन् ने जो कटाह और श्रीविजय का शासक और शैलेन्द्र-वंशज था नागीपट्टन के बौद्ध विहार के लिए एक गांव दान में दिया और इसकी पुष्टि चोल शासक ने की। इस विहार का निर्माण मारविजयोत्तुंगवर्मन् के पिता चूडामणिवर्मन् ने किया था और उसी के नाम पर इसका नाम चूडामणि-वर्म-विहार पड़ा। सिडो के मतानुसार[15] सुंग वंश के इतिहास में इसका नाम मिलता है। १ १ ई में से लि यु व यु नि फु म ति श्री हु (श्री चूडामणिवर्मदेव) ने दो राजदूत भेंट देकर चीन भेजे और अपने देश में सम्राट् के दीर्घ जीवन की प्रार्थना हेतु एक बौद्ध विहार निर्माण की सूचना दी। १ ८ ई में से रि म ल पि (श्री-मारविजयो-त्तुंगवर्मन्) ने भी तीन राजदूत भेंट देकर भेजे।[16] भारतीय लेख के अनुसार १ ५ में ई श्री मारविजयोत्तुंगवर्मन् शासन कर रहा था और चीनी स्रोत के अनुसार १ ३ में उसका पिता से लि चु ल चु नि फु म तिओ हु (श्री चूडामणि वर्मनदेव) शासन कर रहा था। अतः इन दोनों तिथियों के बीच में चूडामणिवर्म-देव की मृत्यु और उसके पुत्र श्री मारविजयोत्तुंगवर्मदेव का सिंहासनारूढ होना निर्धारित किया जा सकता है। राजराज के लेख से यह भी प्रतीत होता है कि श्री मारविजयोत्तुंगवर्मन् कटाह और श्रीविषय (श्रीविजय) का शासक था। कटाह कडार अथवा किडार की तद्रूपता मलाया प्रायद्वीप के केडा से की जा सकती है अतः यह प्रतीत होता है कि वह मलाया का शासक था और उसका अधिकार श्रीविजय पर भी था। दक्षिण भारत का इन देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था और एक प्राचीन तमिल काव्य में कावेरी नदी के मुहाने पर काविरिप्पुम्पत्तिनम् में कलागम से व्यापारी जहाजों के आने का उल्लेख है। कलागम की तद्रूपता कडारम से की गयी है।

१५. बु इ का १६ (नं ६) मजुमदार, ज ग्रे इ सो नं १ (२) पृ ७२।

१६. बु ए ९-२ (१९२९) पृ १९।

१७. ज इ हि ९ पृ १८७। ज ग्रे इ सो १ (२) पृ ७२-३। मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ १७ ।

इस प्रकार चोल और शैलेन्द्र शासकों के बीच राजनीतिक और व्यापारिक सम्पर्क ११वीं शताब्दी के आरम्भ में जारी था पर यह अधिक समय तक न चल सका और शीघ्र ही किसी कारणवश दोनों शक्तियों के सम्बन्ध ने संघर्ष का रूप धारण कर लिया। चोल लेखों में शैलेन्द्र शासक के नाम तथा संघर्ष की तिथि और परिणाम का भी उल्लेख है।

राजराज के २१वें वर्ष (१ ७ ई) के मसुर्लिप से प्राप्त कई लेखों में कंडलूर शर्म में जहाजों के नष्ट होने तथा १२ हजार समुद्री द्वीपों का उल्लेख है।[३८] दस वर्ष बाद राजेन्द्र चोल के राज्यकाल के छठे वर्ष के (१ १७-१ १८) तिरुमलैमुंड के लेख में सम्राट की कराह-विषम तथा समुद्र पार कर सब राजाओं को अपने अधीन करने का उल्लेख है। इसका विस्तृत रूप से विवरण मलुर के मन्दिर (बंगलोर) के एक लेख में मिलता है, जो राजेन्द्र चोल के शासन काल के ११वें वर्ष (१ २४-२५ ई) का है।[३९] यही वृत्तान्त चोल शासक के तंजोर के लेख में भी है[४०] जिसकी तिथि उसके शासन का १९वां वर्ष (१ ३०-३१) है। इसके अनुसार राजेन्द्र चोल ने बहुत-से जहाज कडारम के शासक संग्रामविजय-तुंगवर्मन् के विरुद्ध भेजे और उसे बन्दी करने पर बहुत-से हाथी राजकोष तथा विद्याधर-तोरण मणियों के फाटक आदि अधिकार में आ गये। इन लेखों में उन अधीन राज्यों का भी उल्लेख है जिन पर चोल सम्राट का अधिकार हो गया था। वे क्रमशः निम्नलिखित थे। श्रीविजय (पलेमबंग) पनाई (सुमात्रा) तट पर

३८. इपीग्राफिया कर्नाटिका ९, पृ १५९, ६१ सं १२८, ११ ११८ ११९।

३९. ज स इ ए रि १९ १४। पृ ११४-५। सा इ ई भाग १ (१) पृ १८१ से। मजुमदार, ज ग्रे इ सो १ (२) पृ ७४। सुवर्णद्वीप पृ १७१।

४० इ क ९, पृ १४८-९ सं ८४।

४१ सा इ इ भाग २, पृ १ ५ से। इ इ ९, पृ २११ २।

४२ तंजोर लेख में उल्लिखित स्थानों की तद्रूपता दिखाने का प्रयास गा० मजुमदार तथा सिडो ने किया है। देखिए, सुवर्णद्वीप भाग १ पृ १७५ से। ज ग्रे इ सो १ (२) पृ ७८ से। सिडो ए हि पृ २४१ से।

पने जो मलाका के सामने है (मलैयूर) ७वीं शताब्दी का मलायु, जम्बि जाम्बो (मायिरुडिगम) मलाया प्रायद्वीप का कुछ भाग जिसे चीनियों ने जे-लो-तिंग कहा है। इलंगाशोगम (लंकासुक) माप्पप्पालम (पपफाल) जो महावंश के अनुसार पेगू तट पर था। मविलिबंगम (क्रा अन्तडमरूमध्य पर स्थित) कर्मरंग अथवा कामलंग वलैप्पन्दुर (कदाचित् पाण्डुरंग अथवा चम्पा) तलैत्तक्कोलम् (क्रा अन्तडमरूमध्य पर स्थित तक्कोला) जिसका उल्लेख टाल्मी के भूगोल और मिलिन्दपञ्हो में है। मादमालिंगम (ताम्रलिंग) चीनियों का तन-म-लिंग जिसका केन्द्र लिगोर में था। इलामुरिदेश (अरबों का लामुरि, मारकोपोलो का लम्बी जो सुमात्रा के सुदूर दक्षिण में था) मानक्कवारम (निकोबार द्वीप) तथा कडारम (कडा)। यह नहीं कहा जा सकता है कि जिस क्रम से इन स्थानों का उल्लेख है उसी क्रम से राजेन्द्र चोल की दिग्विजय भी हुई थी। उसने श्रीविजय पर आक्रमण कर संग्रामविजयतुंगवर्मन् को बन्दी बनाया और फिर सुमात्रा तट के मुख्य केन्द्रों तथा महाराज के मलाया प्रायद्वीप पर स्थित विभिन्न अधिकृत प्रांतों में और अन्य देशों पर अधिकार किया। मलाया स्रोतों के अनुसार तमिल शासक राजचोलन ने डिण्डिंग नदी पर स्थित गंगनगर का विध्वंस किया और आहार भी एक सहायक नदी लेंग्यि पर स्थित गाङ्गा को जीता और तुमसिक (जिस पर बाद में सिंगापुर बसा) पर अधिकार कर लिया।

राजेन्द्र चोल के आक्रमण का परिणाम शैलेन्द्र राज्य का जो मलाया तथा सुमात्रा तक फैला था और उसके शासक संग्रामविजयतुंगवर्मन् का अन्त था। सुंग-वंश के इतिहास के अनुसार से-लि-तिए-हुआ श्री देव नामक शासक ने एक दूत १०२८ ई० में भेंट देकर चीन भेजा।[४३] इससे प्रतीत होता है कि चोल-विजय स्थायी रूप न धारण कर सकी। तमिल लेखों में राजेन्द्र चोल के वंशजों द्वारा पुनः कडारम पर अधिकार करने का उल्लेख है। वीरराजेन्द्रदेव के ७वें वर्ष (१०६८-६९ ई०) के पैरुम्बेर लेख[४४] में उनके कडारम पर अधिकार तथा वहाँ के शासक को उसका राज्य पुनः वापस कर देने का उल्लेख है। कोलोत्तुंग चोल के २०वें वर्ष (१०८९

४३ सिदो ए० हि० पृ० २४१।

४४ सा० इ० ई० भाग ३ (१) पृ० २०२। मजुमदार, स० ए० ई० लो० २ (१) पृ० ८४। सुवर्णद्वीप, पृ० १८१।

१ ई) के लेख में[४५] किडार के शासक के दूत राजविद्याधर सामन्त और अभिमानोत्तुंग सामन्त के अनुरोध पर कोलोत्तुंग ने शैलेन्द्रचूड़ामणि-वर्म-विहार के लिये दिये गये गाँव को कर से मुक्त कर दिया। पेरम्बोर लेख से यह प्रतीत होता है कि वीरराजेन्द्रदेव के राज्यकाल से पहले कडारम अथवा केडा के शासक ने पुनः स्वतंत्रता प्राप्त कर ली थी और चोल सम्राट को उसे फिर से जीतना पड़ा। इस विजय ने धर्मविजय का रूप ग्रहण किया और कडारम (केडा) के शासक को उसका राज्य पुनः वापस मिल गया। शैलेन्द्र और चोल शासकों का युद्ध लगभग ९ वर्ष तक चलता रहा। कदाचित् भौगोलिक परिस्थितियों तथा यातायात की असुविधाओं के कारण चोल अपना अधिकार मलाया पर कायम न रख सके और उनकी सुदूरपूर्व की विजयकांक्षा का अन्त हुआ।

शैलेन्द्र राज्य का पतन

वास्तव में संग्रामविजयतुंगवर्मन् जिसे राजेन्द्र चोल की सेना ने १०२५ ई. में हराया था अन्तिम शैलेन्द्र शासक था क्योंकि उसके बाद शैलेन्द्र नाम नहीं मिलता है। हो सकता है कि संग्रामविजयतुंगवर्मन् के वंशज केवल मलाया में ही राज्य करते रहे हों अथवा किसी दूसरे वंश ने अपना अधिकार जमा लिया हो। कोलोत्तुंग चोल के समय में किडार के जिस शासक ने अपने दूत राजविद्याधर और अभिमानोत्तुंग चोल सम्राट् के पास भेजे थे उसका शैलेन्द्र-वंशज होना निश्चित नहीं है। चीनी लेखों के अनुसार सन् फो त्सि नामक राज्य कई शताब्दियों तक कायम रहा और ११५६ में वहाँ के महाराज की ओर से चीन दूत भेजे गये तथा ११७८ में वहाँ से माल लेकर पुनः राजदूत चीन गये।[४६] मा त्वान लिन के अनुसार इन दूतों ने चीनी सम्राट् को बताया कि उनके शासक की मृत्यु ११५६ ई. में हो गयी और उसका पुत्र सिंहासन पर बैठ चुका है। सम्राट् ने नवीन शासक को

४५ आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ साउथ इंडिया ४ पृ. २२६। मजूमदार सुवर्णद्वीप, पृ. १८२।

४६ हौपकिन्स नोट्स पृ. ६७। फेरेंड जू. ए. ११ (१९२२), पृ. ११ प. हि. पृ. २८३।

४७ वही, प. हि. पृ. २८३।

उपाधि तथा भेंट भेजकर मान्यता प्रदान की। सन-फो-त्सि तथा उसके अधीन राज्यों का वृत्तान्त १३वीं शताब्दी में चाऊ-जु-कुआ ने दिया है जो फुकिएन में विदेशी माल के परीक्षक पद पर नियुक्त था।[48] अधीन राज्यों की सूची में बंडोंगाह के दक्षिण में मलाया के सभी प्रान्त तथा पश्चिमी द्वीपों का उल्लेख है। इसमें श्रीविजय का नाम नहीं है और पा लिन फोंग (पलेमबंग) को सन फो त्सि के अधीन रखा गया है। अधिकतर विद्वानों ने सन फो त्सि की समता श्रीविजय से की है[49] जिसका उल्लेख चीनी स्रोतों में सबसे पहले ८०४ ई० में हुआ और १४वीं शताब्दी के अन्त में इस राज्य का वृत्तान्त मिलता है। प्रो० नीलकंठ शास्त्री के मतानुसार[50] सन फो त्सि की समता श्रीविजय से करनी चाहिए। चूड़ामणि और उसके पुत्र मारविजयत्तुंग वर्मन् को लाइडेन के लेख में श्रीविजय-कटाह का शासक कहा गया है और सुंग वंश के इतिहास में उन्हें सन फो त्सि का शासक माना गया है। चाऊ जु कुआ की सूची में उल्लिखित सन फो त्सि के अधीन राज्यों में से बहुतों की समता राजेन्द्र चोल के तंजोर-लेख में श्रीविजय-कटाह के अधीन देशों से की जा सकती है। अतः यह प्रतीत होता है कि सन-फो-त्सि (श्रीविजय) पर शैलेन्द्र शासकों का कुछ समय तक अधिकार रहा पर श्री मारविजयत्तुंग वर्मन् की चोलों द्वारा पराजय के बाद उस वंश का अधिकार सन फो त्सि से जाता रहा। जावा शैलेन्द्रों के हाथ से पहले ही निकल चुका था। कहा जाता है कि संग्राम-विजयधर्म-प्रसादोत्तुंग देवी ने १०१० से १०४१ के बीच में जावा के सम्राट् एरलंग से यहाँ उच्च पद प्राप्त किया। कदाचित् नाम की समानता से प्रतीत होता है कि यह तो विजयतुंगवर्मन् की कोई विधवा पुत्री रही होगी और सम्भवतः उसने ऐरलंग के साथ विवाह कर लिया होगा। इससे शैलेन्द्र वंश का अन्त संकेतित होता है। कटाह में श्रीदेव नाम का कोई दूसरा शासक राज्य कर रहा था और श्रीविजय में दूसरा स्वतन्त्र राज्य था जिसका उल्लेख चीनी स्रोतों में मिलता है। उसने कई शताब्दियों तक अपना अस्तित्व कायम रखा तथा उसके अधीन सुमात्रा के अतिरिक्त दक्षिणी मलाया तथा पश्चिमी जावा के राज्य भी थे। शैलेन्द्रों के स्थान पर अब श्रीविजय का उत्कर्ष आरम्भ होता है।

४८. ज० ग्रे० इ० सो० २ (१) पृ० १४।
४९. बु० ए० १९२२। बु० इ० का० ४ पृ० २७३। ए० हि० २२१।
५०. बु० इ० का० ४ पृ० २७३।

अध्याय २

श्रीविजय राज्य[1]

आदि श्रीविजय राज्य के प्रारम्भिक इतिहास का उल्लेख पहले किया जा चुका है। फेरन के मतानुसार रामायण और चीनी स्रोतों में ही इसका उल्लेख मिलता है। रामायण-कथित यवद्वीप से कदाचित् इसी का संकेत है और कालोक द्वारा १९२ ई में 'बुद्ध की बारह अवस्थाओं के सूत्र' के अनुवाद, ये सूत्र देश लिन में भी इसका संकेत है। ५१९ ई में 'लिन स्यू चि लिन' में उपर्युक्त ग्रन्थ उद्धृत है

१ श्रीविजय राज्य के इतिहास तथा स्थान पर कई पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों में मुख्यतया प्रो नीलकंठ शास्त्री ने अपने विचार विस्तृत रूप से लिखे हैं। देखिए— सिडो 'ला रोयाम द् श्रीविजय' (श्रीविजय का राज्य) (बु इ फ्रा १८ ६) लेस इंस्क्रिपशियां मलेसे दू श्रीविजय (श्रीविजय का मलय लेख) (बु इ फ्रा ३ पृ २९-८) फेरां जू ए अक्तूबर-दिसम्बर १९१९, पृ २७१ ३२६)। बैल्स इ आर १ के ९ (१९३५) पृ १११। सिडो, ज ग्रे ए सो मलाया १४ (१९३६) पृ १९। मेजमेल ए वी र १९२४ पृ ११। मोएन्स 'श्रीविजय याव आल कदाह् तिज क्त ७७ (१९३७) पृ ३१३-३१५। प्रो नीलकंठ शास्त्री 'श्रीविजय' बु इ फ्रा ४० पृ २३९ ३१ तथा इन्हीं के 'श्रीविजय' पर मद्रास यूनिवर्सिटी में दिये गये मायर्स लेक्चर्स। इस अध्याय में दिया गया श्रीविजय सम्बन्धी वृत्तान्त उपर्युक्त ग्रन्थों मुख्यतया प्रो नीलकंठ शास्त्री के 'श्रीविजय' तथा सिडो के ग्रन्थों और प्रकाशित लेखों एवं उनकी पुस्तक 'ऐंसे हिन्दुआ (हिन्दू राज्य) पर आधारित है। उपर्युक्त लेखों को मूल रूप से भी देख लिया गया है।

२ जू ए १९२९, अक्तूबर-दिसम्बर, पृ २१। प्रो शास्त्री, बु इ फ्रा ४ (१९४) पृ २४१।

और इसमें समुद्र के २५ राज्यों का उल्लेख है। स्यू लिनायक राज्य में केवल बौद्ध धर्मानुयायी ही रहते थे। चौथे राज्य चो ये में पि प (लम्बी मिर्च) तथा हू सिओ (मिर्च) का उत्पादन होता था। 'फन फन मु' नामक व्याख्या में चो ये की तद्रूपता 'श्रम' से की गयी है और फेरंड के मतानुसार यही श्रीविजय था। यदि फेरंड के मत को मान लिया जाय तो श्रीविजय का राज्य चौथी शताब्दी में भी था और यह बाद में भी नाम मात्र के लिए अपना अस्तित्व बनाये रहा। कुछ विद्वानों ने इसकी तद्रूपता चीनी स्रोतों के सन-फो-त्सि से भी की है जो पहले कन टो ली कहलाता था पर सन फो-त्सि अथवा कन टो ली को मलाया में रखा गया है और श्रीविजय राज्य का केन्द्र सुमात्रा (पलेम्बंग) था। इसलिए प्रारम्भिक काल में इन दोनों को अलग मानना चाहिए पर बाद में इसकी तद्रूपता श्रीविजय से की जाने लगी।[1] चीनी इतिहासकारों ने अपने वृत्तान्तों में इन दोनों की भिन्नता तथा बाद में एकीकरण पर प्रकाश नहीं डाला है। इस राज्य का उत्कर्ष ईसवी सातवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ और इसका क्रमबद्ध इतिहास कुछ लेखों, चीनी स्रोतों तथा अरब इतिहासकारों के विवरण से ज्ञात होता है। चीनी यात्री इत्सिंग यहां कई वर्ष (६८९ ९२) रहा था और उसने इसका रोचक वृत्तान्त दिया है। बौद्ध धर्म तथा शिक्षा का यह प्रसिद्ध केन्द्र था तथा व्यापारिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस चीनी यात्री के मतानुसार मलयू देश (सुमात्रा के जाम्बि प्रान्त) उस समय श्रीविजय कहलाता था। इस राज्य का इतिहास लिखने के लिए सर्वप्रथम उपर्युक्त साधना का अवलम्बन करना होगा।

लेख-सामग्री

श्रीविजय राज्य से सम्बन्धित चार वर्ष के अन्तर वाले चार लेख दक्षिण

१ सिडो, ए हि पु २२१। वेल्स के मतानुसार श्रीविजय को चंडो की खाड़ी के ऊपर चाया में रखना चाहिए (इ आ १ से ९, १९३५, पु १११)। किन्तु सिडो के मतानुसार यह ठीक नहीं है। ए हि पु १४३ नोट १। देखिए, मजुमदार सु इ का सु सं पु १४२।

४ तकाकुसु, इत्सिंग, पु ३४ तथा १ ।

भारतीय लिपि में मिले हैं। प्रथम लेख पलमबंग के निकट केदुकनबुकित' से प्राप्त हुआ है। इसमें लिखा है कि १३ अप्रैल ६८३ में (तिथिगणना के अनुसार) सम्राट् नाव पर बैठकर सिद्धयात्रा के लिए गया और ८ मई को वह २ • सैनिक लेकर किसी एक स्थान से दूसरे स्थान को गया। लेख के अन्त में श्रीविजय जय सिद्धयात्रा सुमित्र' का उल्लेख है, जिससे श्रीविजय के हित के लिए सफल सिद्धयात्रा का संकेत प्रतीत होता है।

दूसरा लेख पलमबंग से पश्चिम में ५ किलोमीटर की दूरी पर मिला। इसकी तिथि ६ ६ शक सं (६८४ ई) की चैत्र सुदी द्वितीया है। इसमें भी जयनाग द्वारा श्रीक्षेत्र उद्यान की स्थापना का उल्लेख है। इस लेख में उसके प्रणिधान का भी उल्लेख है जिसके अन्तर्गत सम्राट् द्वारा दान तथा अन्य कार्यों का उल्लेख

५ बु इ फ्रा ३ पृ ३४। ४ पृ २४३। केल्न श्रीविजय सिद्ध, आरकिओल बोन ५१ १९३४ पृ ३६३। तिओ ए हि पृ १७३। ऐ ओ ९ १९२४ पृ २१।

६. 'सिद्धयात्रा' का उल्लेख कई लेखों में मिलता है महान मु (कम्पा) बु इ फ्रा ११ (१९११) पृ १ ३। महानाविक बुद्धगुप्त का लेख (मलाया) जे ए एस बी १ (१९३५)। जयगुप्त के कुडन बुकित लेख कोटाकपूर (बंका द्वीप) के लेख में जयसिद्धि लिखा है बु इ फ्रा १ (१९१) पृ ५१। तेलगबतु (पलमबाम) लेख में 'जयसिद्ध यात्रा सर्व सत्व' लिखा है। 'सिद्ध यात्रा' से कोई 'मनोरथ प्रक्रिया' का संकेत माना जाता है जिससे साधक को कोई गुप्त मंत्र विद्या प्राप्त हो सके और उसका कार्य सिद्ध हो जाय। इसको प्राप्त करने के लिए निश्चित स्थान में जाना पड़ता था। प्राचीन भारतीय साहित्य में 'पंचतन्त्र' और 'कथासरित्सागर' में इसका उल्लेख है और इसका सम्बन्ध योगी और उसकी 'सिद्धशक्ति' से दिखाया गया है। पुराणों में बहुत-से सिद्ध अथवा सिद्धि-क्षेत्रों का उल्लेख है। मत्स्य १ १ १२ वायु ५, १७५, ५ १८२। हो सकता है इसी प्रकार के सुदूरपूर्व मलाया, इण्डोनेशिया और हिन्दचीन में भी सिद्ध क्षेत्र हों जहाँ पर जाकर सिद्धि प्राप्त हो सकती थी। कम्बुज देश में 'देवराज' पन्थ के अन्तर्गत इसी प्रकार से सिद्धि और सफलता प्राप्त करने का प्रयास किया जाता था। श्री नीलकण्ठ शास्त्री ने इस विषय पर एक लेख लिखा है। ज ग्रे इ सो ४ ९ १२८ ३१।

उसकी सम्पूर्ण जनता का हित था। लेख में उसकी प्रजा द्वारा अच्छे कार्यों दान धैर्य तथा महासत्त्व और वज्र शरीर प्राप्त करने की इच्छा भी प्रकट की गयी है जिससे वह जन्म कर्म और क्लेश पर विजय प्राप्त कर सके और 'अनुत्तराभि सम्यक् सम्बोधि' अवस्था प्राप्त कर ले।

तीसरे और चौथे लेख का विषय एक ही है। तीसरा लेख वटंगहरि (जाम्बी की एक सहायक नदी) पर स्थित करंगवहि से प्राप्त हुआ। इसमें तिथि नहीं है, पर यह बंका द्वीप के कोटाकपूर से प्राप्त चौथे लेख की प्रतिलिपि है। इसकी तिथि शक सं ६ ८ (६८६ ई) की वैशाख शुक्ल द्वितीया है। इसमे श्रीविजय की सेना के जावा के विरुद्ध जाने का उल्लेख है जिसने श्रीविजय को आत्मसमर्पण नहीं किया था। श्रीविजय की रक्षा के लिए देवताओं की स्तुति की गयी है और जनता को चेतावनी दी गयी है कि वह श्रीविजय राज्य के विरुद्ध कोई कार्य न करे, अन्यथा उसको और उसके कुटुम्बियों को कठिन दंड दिया जायगा।

इन लेखों की महत्ता अधिक है। ये प्राचीन मलय भाषा में है और इन्हीं के आधार पर श्रीविजय का सातवीं शताब्दी का इतिहास लिखा जा सकता है। इसकी पुष्टि के लिए चीनी और अरबी स्रोतों का आश्रय लेना पड़ेगा। ये चारों लेख कदाचित् एक ही शासक के राज्य काल के हैं। केवल एक लेख में जयनाश (अथवा जयनाग) का नाम मिलता है। लगभग एक शताब्दी बाद के दो लेखों में भी श्रीविजयेन्द्रराज श्रीविजयेश्वरभूपति और श्री महाराज का उल्लेख है। शासक का नाम नहीं है। हो सकता है इस प्रकार की परम्परा वहाँ के शासकों मे हो जिसके अन्तर्गत उन्हे देश अथवा वंश-शासक के नाम से सम्बोधित किया जाता हो।

७. बु इ फ्रा ४ पृ २४३ यह लेख हिन्दनेशिया में बौद्ध धर्म के विकास-क्रमार्थ महत्त्वपूर्ण है। यह इत्सिंग के वृत्तान्त की पुष्टि करता है कि श्रीविजय महायान मत का प्रसिद्ध केन्द्र था। विज्ञानवादी असंग के 'योगाचार्यभूमि-शास्त्र' का यहाँ अध्ययन होता था। पूर्से सिलास्की आर्किवेन (भारतीय दर्शन) २, पृ ७-१४९। सिदो, ए हि पृ १४६।

८. बु इ फ्रा ४ पृ सं।

९. एही, १ पृ १ ५१ ४ पृ ३४४-४५।

इन चार लेखों की क्रमबद्ध तिथियों तथा उनमें उल्लिखित वृत्तान्तों से प्रतीत होता है कि ये चारों लेख जयनाश (अथवा जयनाग) नामक शासक के थे और इनमें उसकी विजय तथा धार्मिक कृत्यों का उल्लेख है।

६८४ ई में उसने जनता की भलाई तथा नैतिक और आध्यात्मिक स्तर ऊँचा करने के लिए श्रीक्षेत्र-उद्यान की स्थापना की थी तथा 'अनुत्तरामि सम्यक् सम्बोधि' अवस्था प्राप्त करने के लिए जनता को आदेश दिया था। बौद्धधर्म के इतिहास में यह महत्त्वपूर्ण घटना है और इससे श्रीविजय में तंत्रवाद के प्रवेश का संकेत मिलता है, जैसा कि सिदो का विचार है।[10] श्रीविजय राज्य में दक्षिण सुमात्रा (मलयु, पलमबंग) बंका द्वीप तथा पश्चिमी जावा के सम्मिलित होने का संकेत मिलता है। मोएन के मतानुसार जावा से प्राचीन राज्य तारुमा का संकेत मिलता है। वहाँ से ६६६–६६९ के बाद किसी राजदूत के चीन जाने का उल्लेख नहीं है। कदाचित् ६९५ ई में चीन भेजा गया राजदूत जयनाश की ओर से ही गया होगा। उसके पहले ६७०-६७३ के समय में कुछ दूत भेजे गये। ७ २, ७१६ और ७२४ में चे-लि-टो-लो-प-मो (श्री इन्द्रवर्मन्) की ओर से चीन को दूत गये और ७२८ तथा ७४२ में भी लियो-तेंग-वार्-मोन ने अपने दूत चीन भेजे।[11]

इत्सिग और श्रीविजय

श्रीविजय उत्तर में मलाका की खाड़ी और दक्षिण में सुंडा की खाड़ी पर अधिकार रखने के कारण पश्चिम से पूर्व की ओर जानेवाले व्यापारिक यातायात मार्गों पर अपना नियंत्रण रखे हुए था। यह बौद्ध धर्म का भी एक शैक्षिक केन्द्र था जहाँ १ से अधिक बौद्ध भिक्षु रहते थे। मध्य देश (भारत) की भाँति वे सभी विषयों का अध्ययन और उन पर अनुसंधान करते थे। भारत आने समय

१ प हि पृ १४६। इसमें फ्लाम पूसे तथा फुर्ते के विचार भी इस सम्बन्ध में उद्धृत हैं।

११ मोऐन, जिव बिद १९३७ पृ ११२। बु ई आ० ४ पृ २४६।

१२ सिदो प हि पृ १४५।

इत्सिंग यहाँ ६७१ में छ महीने ठहरा था और कैन्टन से ६८९ में लौटकर भी यहाँ उसने कुछ समय व्यतीत किया था। व्यापारिक केन्द्र होने के कारण श्रीविजय में विभिन्न देशों के व्यापारी आते थे। हरिनग कैन्टन से एक ईरानी व्यापारी के जहाज में रवाना हुआ और फिर श्रीविजय के शासक के जहाजों से वह पूर्वी भारत आया। लंका से वज्रबोधि नामक भिक्षु ३५ ईरानी जहाजों के काफिले के साथ श्रीविजय आया था।[१३]

चीनी स्रोत तथा श्रीविजय का आठवीं शताब्दी का इतिहास

आठवीं शताब्दी के श्रीविजय का इतिहास चीनी स्रोतों से ही मुख्यतया उपलब्ध है। चीन के साथ श्रीविजय का राजनीतिक सम्बन्ध पूर्णतया सातवीं शताब्दी के द्वितीयार्ध भाग में स्थापित हो चुका था। ६९५ ई में एक चीनी राजकीय घोषणा के अन्तर्गत चेन ला (कम्बुज) और हो लिंग (जावा) की भाँति चीन में स्थित श्रीभोज के दूतों को भी पाँच मास की भोजन सामग्री देने की व्यवस्था की गयी। फो-चे से ७ २ और ७१६ मे दूत चीन गये और ७२४ ई में कुमार ने सम्राट् को दो बौने एक जेंगी (नीग्रो) कन्या नायकों का एक दल और पाँच रंगीन तोते भेंट किये और सम्राट् ने कुमार को उपाधि के अतिरिक्त चीनी मलमल के १ थान तथा श्रीविजय के शासक शे-लि-टो-लो-प-मो (श्रीन्द्रवर्मन्) को उपाधि प्रदान की। ७४२ ई में श्रीविजय की ओर से एक और दूत चीन गया और चीनी सम्राट ने यहाँ के शासक को एक और उपाधि दी।[१४]

चीनी स्रोत के अतिरिक्त लिगोर के ७७५ ई के अभिलेख में भी श्रीविजय का उल्लेख है। प्रथम पक्ष में श्रीविजयेन्द्रराज की प्रशस्ति है। उसकी तुलना देवेन्द्र से की गयी है तथा उसे ब्रह्मा का अवतार भी माना गया है। इस श्रीविजये-श्वर भूपति को अन्य राजाओं का आधिपत्य प्राप्त था और उसने ईंटों के तीन मन्दिरों का निर्माण बौद्ध देवताओं के लिए कराया था। राजस्थविर जयन्त ने

१३ तककुसु, इत्सिंग पृ ४०-४१।
१४ बु इ फा ४ पृ ३३६। ४ पृ २५।
१५ जू ए अक्तूबर-दिसम्बर १९२२, पृ २१७-१८। बु इ फा ४ पृ ३३४-५। ४ पृ २५२।

मु-२४

सम्राट् की आज्ञा पर तीन स्तूपों का निर्माण कराया। जयन्त की मृत्यु के बाद उसके शिष्य और उत्तराधिकारी ने मिट्टी की ईंटों के दो चैत्यों का उपर्युक्त मन्दिरों के निकट निर्माण कराया। इस लेख में सम्राट् को श्रीविजय-नृपति श्रीविजये-श्वर भूपति[16] तथा विजयेन्द्रराज कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि श्रीविजय के इस शासक का अन्य राजाओं (भूपति) पर आधिपत्य था। इस लेख से यह प्रतीत होता है कि श्रीविजय राज्य मलाया तक पहुँच चुका था और वहाँ यह पूर्णतया स्थापित हो चुका था। प्रो नीलकंठ शास्त्री के मतानुसार[17] श्रीविजय राज्य मलाका की खाड़ी के दोनों ओर अपना आधिपत्य जमाये हुए था। जावा में शैलेन्द्र शासकों ने संजय और मतराम राज्य स्थापना के मध्य काल में राज्य किया जो ७१२ ई के बाद की घटना है। शैलेन्द्रों का सुमात्रा के श्रीविजय राज्य से कोई सम्बन्ध न था पर उनका पारस्परिक मैत्रीपूर्ण व्यवहार रहा होगा।[18] मध्य जावा में शैलेन्द्रों का राज्य था और पश्चिमी जावा श्रीविजय के अधिकार में था। इन दोनों शक्तियों का उस समय सुदूरपूर्व में बोलबाला था और हो सकता है इन्होंने संयुक्त होकर हिन्द चीन और अनाम पर आक्रमण किया हो, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। नवीं शताब्दी के आरम्भ में कम्बुज पूर्णतया स्वतन्त्र हो गया था और इस शताब्दी के मध्य भाग में एक शैलेन्द्र शासक ने श्री-विजय पर अधिकार कर इसे अपनी राजधानी बनाया था। उसका तथा उसके वंशजों का उल्लेख महाराज के नाम से अरबी लेखकों ने किया है। प्रो नीलकंठ

१६. इस लेख का सर्वप्रथम संपादन सिडो ने किया। बु इ फ्रा १८।१ पृ २९ १ । और डा भाण्डारकर ने संशोधन किया। जे ए एस बी १९३५ पृ २२-२। सिडो ने पुनः इस पर अपने विचार प्रकट किये। बु इ फ्रा ३१। स्टूटरहाइम के मतानुसार 'श्रीविजयेन्द्रराज' तथा 'श्रीविजयेश्वर भूपति' से यह संकेत मिलता है कि लिगोर लेख का शासक श्रीविजय के शासकों के ऊपर था, पर मूस और चीम ने इसका खंडन किया है। बु इ फ्रा २८, पृ ५२०-२१। सिनय १९, पृ १३८-५।

१७. बु इ फ्रा ४ पृ २९८।

१८. प्रो नीलकंठ शास्त्री ने इन राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा इनकी शक्ति पर प्रकाश डाला है।

फारसी के मतानुसार शैलेन्द्र वंश की एक शाखा ने जावा में थोड़े अधिक समय तक और दूसरे वंश ने सुमात्रा में राज्य किया।[19] चीनी और अरबी स्रोतों के आधार पर श्रीविजय और शैलेन्द्र राज्यों के सम्बन्ध तथा इनके इतिहास पर प्रकाश डाला जा सकता है।

जावग श्रीबुज और सन-फो-त्सि

नवीं शताब्दी के मध्य भाग से अरबी लेखकों ने महाराज नामक शासक का उल्लेख किया है और उसके साथ जावग तथा श्रीबुज का नाम भी लिया है। प्रथम से कदाचित् सम्पूर्ण पूर्वी द्वीपों का संकेत है और श्रीबुज से श्रीविजय का संकेत है।[20] १०वीं शताब्दी के प्रारम्भ से चीनी स्रोतों में सन-फो-त्सि का उल्लेख मिलता है, जहाँ से ९०४ ई० में चीन को दूत भेजे गये। १४वीं शताब्दी तक इसका वृत्तान्त मिलता है।[21] अब शे-लि-फो-चे का उल्लेख नहीं मिलता है। इस सम्बन्ध में सम्पूर्ण अरबी और चीनी स्रोतों से प्राप्त वृत्तान्त का उल्लेख करना आवश्यक होगा और उसके आधार पर इनका इतिहास लिखा जा सकेगा। अरब इतिहासकारों में इब्न खोरदादबेह (८४४-८४८ ई०) ने जावग (जावज) के शासक का नाम महाराज लिखा है जिसका श्रीविजय पर अधिकार हो चुका था। अबूजैद (९१६) ने सुलेमान (८५१ ई०) के वृत्तान्त की पुष्टि की है। कलाह बार और जावग पर एक ही शासक का अधिकार था। जावग एक नगर और द्वीप का भी नाम था और वहां के महाराज का ८   राज्यों पर अधिकार था जिनमें ४० परसंग का श्रीबुज भी था। मसूदी (९४३) ने भी श्रीबुज की इतनी लम्बाई रखी है उसके एक दूसरे ग्रन्थ (९५५ ई०) में उसने महाराज को जावग तथा कलाह और श्रीबुज नामक द्वीपों का अधिकारी कहा है। इब्न सैद (१३वीं शताब्दी) ने श्रीबुज द्वीप

१९. बु इ का ४ पृ २१८।
२०. वही पृ २७३।
२१. हिरो ए हि पृ २३१।
२२. बु इ का ४ पृ २७।
२३. एक परसंग ६ किलोमीटर के बराबर होता है।
२४. ज ए १९२२। अक्टूबर-दिसम्बर, पृ० ५५-६१।

की लम्बाई ४ मील और चौड़ाई १६ मील रखी है। इनके अतिरिक्त और भी अरबी वृत्तान्तकारों ने अपने विचार इस राज्य के विषय में प्रकट किये हैं। उपर्युक्त वृत्तान्तों से प्रतीत होता है कि जावग और श्रीबुज (श्रीविजय) को सभी ने अलग माना है। इब्न सैद ने श्रीबुज द्वीप की लम्बाई चौड़ाई दी है और इसी नाम के नगर को इसकी राजधानी लिखा है। जावग या जावक (चुम्बक के अनुसार) से प्रायः सम्पूर्ण मलय प्रायद्वीप का संकेत था और श्रीबुज या श्रीविजय अलग द्वीप था। यह महाराज के अधीन था जिससे शैलेन्द्र शासकों का संकेत हो सकता है।

चीनी स्रोतों में लगभग ९ ४ ई. से सन-फो-त्सि नामक राज्य का उल्लेख मिलता है और यह विवरण १४वीं शताब्दी (मिंगकाल) तक मिलता जाता है। फेरंग के मतानुसार सन-फो-त्सि की समानता श्रीविजय से करनी चाहिए।[25] लाइडेन के प्रसिद्ध लेख में चूड़ामणिवर्मन् और उसके पुत्र मारविजयोत्तुंगवर्मन् को श्रीविजय और कटाह का शासक माना गया है।[26] 'सुंगवंश के इतिहास' में इन्हें सन-फो-त्सि के शासक कहा गया है।[27] इसलिए श्रीविजय और सन-फो-त्सि की एकता मान ली जानी चाहिए। चाऊ-जू-कुआ द्वारा दी गयी सन-फो-त्सि के अधीन राज्यों की सूची राजेन्द्रपाल के तंजोर लेख से मिलती जुलती है। कुछ विद्वानों के मतानुसार सन-फो-त्सि की समानता श्रीविजय पलमबंग से नहीं करनी चाहिए,[28] पर इस प्रश्न पर पुनः विचार अनावश्यक है। चाऊ-जू-कुआ के मतानुसार पा-लिन-फोंग सन-फो-त्सि के अधीन राज्य था। उसने इन दोनों को अलग-अलग रखा है। इस सम्बन्ध में प्रो. नीलकंठ शास्त्री के मतानुसार श्रीविजय की राजधानी जाम्बी थी और पलमबंग उसके अधीन था।

२५. ज. ए. १९२२, अक्टूबर-दिसम्बर, पृ. १९९-७।

२६. चटर्जी एण्ड चक्रवर्ती 'इंडिया एण्ड जावा' भाग २ पृ. ५६ से।
'शैलेन्द्रवंशसम्भूतेन श्रीविषयाधिपतिना कटाहाधिपत्यमातन्वता चूडामणिवर्म्मणः पुत्रेण श्रीमारविजयोत्तुंगवर्म्मणा।

२७. ज. ए. अक्टूबर-दिसम्बर १९२२ पृ. १९। सिडो, ए. हि. पृ. २१८।

२८. मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ. २१८।

इसी लिए चाऊ-जु-कुआ ने जाम्बी का अलग से उल्लेख नहीं किया है।[11] सन-फो-त्सि वास्तव मे श्रीविजय ही है। इस पर कुछ समय के लिए शैलेन्द्र शासकों का राज्य हो गया था। इसी लिए सुलेमान ने कलाबार (कटाह मलाया) और जावग (सम्पूर्ण मलाया प्रायद्वीप) को एक ही शासक के अधीन रखा है और उसने श्रीबुज (श्रीविजय) द्वीप को भी जावग के महाराज के अधीन रखा है। शैलेन्द्रों का श्रीविजय पर अधिकार नवीं शताब्दी के बाद से रहा और सन-फो-त्सि का इतिहास इस युग मे वास्तव में शैलेन्द्र शासकों के अधिकार की कहानी है। सन-फो-त्सि से प्रथम राजदूत ९०४ ई में चीन गया। यह कहना कठिन है कि शे-ल-फो-चे-से का सन-फो-त्सि नाम में परिवर्तन होना शैलेन्द्र शासकों के श्रीविजय पर अधिकार के फलस्वरूप हुआ अथवा इसका कुछ और कारण था। लगभग दो शताब्दियों का यह वलय-इतिहास वास्तव में शैलेन्द्र शासकों की कहानी है जिसका मुख्य वृत्तान्त उनका पूर्वी भारत तथा दक्षिण भारत के शासकों के साथ संबंध और संघर्ष है। इसका उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है। लाइडन के लेख तथा अरब इतिहासकारों के वृत्तान्त के आधार पर यह निश्चित है कि केडा (कलाह) और श्रीविजय (श्रीबुज) एक ही शासक के अधीन थे और राजेन्द्र चोल के सामुद्रिक आक्रमण के समय में भी यही परिस्थिति थी। ११वीं शताब्दी में श्रीविजय बौद्ध धर्म और संस्कृति का प्रसिद्ध केन्द्र था और इसका उल्लेख १० वीं शताब्दी के अन्त अथवा ११वीं के आरम्भिक काल में मिलता है। इसमें 'सुवर्णपुरे श्रीविजयपुरे लोकनाथ' लिखा है। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अतिश (दीपंकर श्रीज्ञान) ने लगभग १२ वर्ष (१०११-२३) यहाँ बिताये थे और उसने धर्मकीर्ति से जो सुवर्णद्वीप के बौद्ध संघ का अध्यक्ष था शिक्षा प्राप्त की थी।

११वीं शताब्दी से श्री विजय का इतिहास

११वीं शताब्दी से श्रीविजय का महत्त्वपूर्ण इतिहास मिलता है। राजनीति

९८. सु इ का ४ पृ २७३।
१० सु प सु सं पृ १४ १७।
११ सु प पृ ४३। सु इ का ४ पृ १८४।
१२ सु इ का ४ पृ १८५।

व्यापार और धर्म ने श्रीविजय का प्राचीन पूर्वी द्वीपसमूह, भारत तथा चीन के साथ सम्बन्ध स्थापित कर दिया था। १ १७ में यहाँ के शासक हु-चि-सु-व-म-नु (हिम सुवर्णभूमि) ने सुवर्ण अक्षरों में लिखित एक पत्र दूत के हाथ अन्य भेंटें सहित जिनमें संस्कृत ग्रन्थ भी थे, चीनी सम्राट् के पास भेजा। १ २८ ई में एक दूसरा दूत भी चीन भेजा गया। इस बीच में संग्रामविजयोत्तुंगवर्मन् की चोल शासक राजेन्द्र द्वारा पराजय हो चुकी थी जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। श्रीविजय की राजनीतिक परिस्थिति बदल चुकी थी। शैलेन्द्रों का इस पर से अधिकार उठ चुका था क्योंकि संग्रामविजयोत्तुंगवर्मन् के किसी उत्तराधिकारी का उल्लेख नहीं मिलता है। इससे यह संकेत मिलता है कि श्रीविजय अब अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित कर चुका था। श्री संग्रामविजयधर्मप्रसादोत्तुंगदेवी जो पूर्व शैलेन्द्र शासक की पत्नी रही थी अब जावा सम्राट् ऐरलंग के यहाँ चली गयी थी और वहाँ पर उसने आदर का स्थान प्राप्त कर लिया था। क्राम के मतानुसार यह ऐरलंग की पुत्री थी।[13] हो सकता है कि पूर्व सम्राट की इस विधवा रानी ने ऐरलंग के साथ विवाह कर जावा और पूर्व शैलेन्द्र वंश के प्रति मित्रता स्थापित कर ली हो।[14] १ १०—१ १४ तक के समय का श्रीविजय का वृत्तान्त कहीं नहीं मिलता है। १ १४ में धर्मवीर नामक एक व्यक्ति का नाम जाम्बी से पश्चिम में सोलोक नामक स्थान से प्राप्त एक मकर-मूर्ति पर अंकित मिलता है, जिस पर जावा का प्रभाव प्रतीत होता है।[15] 'सुंगवंश के इतिहास' के अनुसार १ १७ ई में सन-फो-त्सि से टि-हुआ-कि-लो (दिवाकर अथवा देवकुल) नामक व्यक्ति चीन आया। १ ७८ १ ८५ के बीच काल में सन-फो-त्सि (श्रीविजय) से कई राजदूत चीन

१३ हि आ पो पृ १४५। बु इ आ ४ पृ २८८।

१४ श्रीविजय और शैलेन्द्र के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होना स्वाभाविक प्रतीत होता है। श्रीविजय को चोलों की ओर से भय था, अतः जावा के साथ सम्पर्क स्थापित रखना ही उसके लिए हितकर था। जावा में ऐरलंग (१ १९-४२) ने भी मित्रतापूर्ण नीति अपनायी। ऐरलंग ने १ ३५ में श्रीविजयाश्रम नामक एक विहार का निर्माण किया, जिससे प्रतीत होता है कि श्रीविजय और जावा के बीच अब मित्रता स्थापित हो गयी थी। (बु इ आ ४० पृ २८८)

१५ सिडो ए हि पृ २५।

भेजे गये। १ ८२ और १ ८३ में तीन दूत भेंट लेकर चीन पहुँचे और उन्हें उपाधियाँ प्रदान की गयी। १ ९४ १ ९७ के बीच में भी कई राजदूत श्रीविजय से चीन गये। ११वीं और १२वीं शताब्दी में सन-फो-त्सि का चीन के साथ राजनैतिक सम्बन्ध बना रहा। ११५६ ई में सन-फो-त्सि के शासक श्री महाराज ने भेंट देकर राजदूत चीन भेजा।[16] यहीं से ११७२ ई म भी एक दूत चीन भेजा गया जिसका उद्देश्य चीन से तांबा खरीदना तथा चीनी कारीगर प्राप्त करना था। ११७८ में अन्तिम बार श्रीविजय से दूत भेजा गया। मा-त्वान-लिन के अनुसार सन-फो-त्सि (श्रीविजय) के शासक ने यह भी समाचार भेजा कि ११६९ में अपने पिता की मृत्यु के बाद वह गद्दी पर बैठा है। सम्राट् ने शासक को उन सब उपाधियों से विभूषित किया जो उसके पिता को प्राप्त थी। इसी वर्ष चाउ-कू-फ्ई द्वारा लिखित लिन-वै-त-त ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। उसने सन-फो-त्सि के विषय में लिखा है कि व्यापारिक दृष्टिकोण से त-शि (अरब देश) शो-पो (जावा) के बाद सन-फो-त्सि का स्थान था। अरब व्यापारी यहीं से बड़े जहाजों में बैठकर चीन जाते हैं।[17] चाउ-कू-फ ई का वृत्तान्त ५ वर्ष बाद लिखा गया। इस ग्रन्थ में व्यापारिक क्षेत्र के देशो और बिकी की चीजों का उल्लेख है तथा सन-फो-त्सि का विस्तृत रूप से वृत्तान्त मिलता है।[18] इसने सन-फो-त्सि के अधीन राज्यों की सूची भी प्रस्तुत की है, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। चाउ-जू-कुआ ने प-लिन-फौंग को सन-फो-त्सि के अधीन राज्यों में रखा है। इससे प्रतीत होता है कि ये दोनों अलग-अलग राज्य थे पर वास्तव में श्रीविजय की राजधानी उस समय में पलमबग से उठकर अब जाम्बी चली गयी थी जिसका उल्लेख एक राज्य के रूप में पहले हो चुका है पर चाउ-जू-कुआ ने उसका अलग से उल्लेख नहीं किया है। इस सम्बन्ध मे ग्राहि से प्राप्त बुद्ध-मूर्ति की पीठ पर अंकित एक लेख से महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। इसकी तिथि शक सं ११ ५(११८३ ई)है और इसकी लिपि प्राचीन जावानी की तरह है पर भाषा प्राचीन ख्मेर जैसी है।

१६. यु इ अ ४ पृ २९१।
१७ वही पृ १९२।
१८. वही पृ १९१।
१९. त्रिवो ए हि पृ १ ११ ज वे इ लो ८ १९४१ पृ ९१।

इस लेख में कमतें अन् महाराज श्रीमत् त्रैलोक्यराजमौलिभूषणवर्मदेव के शासन पर महासेनापति गलानि द्वारा उस मूर्ति के निर्माण का उल्लेख है। इस शासक का नाम कम्बुज देश के किसी भी शासक से नहीं मिलता है। सिदो के प्रथम मत[४०] और प्रो. नीलकंठ शास्त्री[४१] के मतानुसार उपर्युक्त व्यक्ति श्रीविजय का शासक था।

श्रीविजय राज्य का अन्त

श्रीविजय राज्य के अन्त के सम्बन्ध में विद्वानों की विभिन्न धारणाएँ रही हैं। सिदो के वर्तमान मत के अनुसार ग्राहि के लेख से यह प्रतीत होता है कि उस समय श्रीविजय राज्य का पतन आरम्भ हो चुका था और ११वीं शताब्दी के अंत तक कम्बे और मलयु स्वतंत्र हो गये थे। १२३ में मलाया प्रायद्वीप में चन्द्रभानु ने अपना राज्य स्थापित कर लिया था।[४२] जाया के लेख में उल्लिखित चन्द्रभानु की अभिन्नता महावंश के जावकराज चन्द्रभानु से की गयी है,[४३] जो पराक्रम-

४० बु इ फा १८ (६) पृ १५३।
४१ बु इ फा ४ पृ० २९६।
४२ ए हि पृ ११।
४३ बु इ फा ४ पृ २९७। ए हि ११। सिंहली महावंश में चन्द्रभानु को जावक का शासक कहा गया है और पांड्य तथा दक्षिण भारत के अन्य लेखों में उसे शावकन की उपाधि दी गयी है। जिनकालमालिनी तथा उपर्युक्त लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि १२४७ ई. में एक शिष्ट-मंडल लंका गया जिसका उद्देश्य बुद्ध की एक मूर्ति और उसकी रत्न-कुण्डियाँ प्राप्त करना था। उसने संघर्ष करके लंका में जावकों का एक उपनिवेश स्थापित कर लिया। पांड्यों को १२५८, १२६३ में यहाँ प्रवेश करने पर दो सिंहली और एक जावक कुमार के साथ संघर्ष करना पड़ा। यह जावक कुमार कदाचित् चन्द्रभानु का पुत्र था और उसने पांड्य शासक जयवर्मन् वीर का आधिपत्य स्वीकार किया। १२७० में चन्द्रभानु की ओर से उसी उद्देश्य से पुनः सुसज्जित सेना भेजी गयी, पर वह हार गयी। इस सम्बन्ध में विशेष रूप से देखिए—शास्त्री 'श्रीविजय चन्द्रभानु और वीर पांड्य' तिजश्रिफ्त ७७, १९३७ पृ २५१।

बाहु द्वितीय का समकालीन था और सावकन के नाम से उसका उल्लेख पाण्ड्य लेखों में भी मिलता है। इसे ताम्बलिंगेश्वर भी कहा गया है जिससे उसका ताम्रलिंग के स्वतंत्र शासक होने का संकेत मिलता है। प्रो नीलकंठ शास्त्री के मतानुसार[44] तन-मा-लिंग (ताम्बलिंग) और सन-फो-त्सि (श्रीविजय) के बीच संघर्ष का संकेत चाउ-जु-कुआ ने नहीं किया है और पांड्य लेखों से जिनमें चन्द्रभानु को सावकन कहा है, भी यह संकेत नहीं मिलता है कि कडाराम श्रीविजय के हाथ से निकल चुका था। चन्द्रभानु के सीलोन पर आक्रमण और उसकी हार से श्रीविजय पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। वास्तव में उपर्युक्त स्रोतों के आधार पर श्रीविजय की घटती शक्ति का संकेत अवश्य मिलता है। सिडो का कथन है कि ताम्बलिंग की स्वतंत्रता वास्तव में ताम्बलिंग और सुखोदय के हीनयान और श्रीविजय के महायान मत के बीच संघर्ष चन्द्रभानु द्वारा लंका से बुद्ध की मूर्ति अथवा दाढ़ हड्डी प्राप्त करने के प्रयास और अन्त में ताम्बलिंग के सुखोदय राज्य में मिल जाने की कहानी है।[45] १२८६ ई. के एक लेख में जो जाम्बी नदी के ऊपरी तट से मिला अमोघपाश की मूर्ति को उसके १३ शिष्यों के साथ जावा से सुवर्ण भूमि लाने का उल्लेख है।[46] यह महाराजाधिराज श्रीकृतनगर विक्रमधर्मोत्तुंग देव के आदेश पर चार पदाधिकारियों द्वारा लायी गयी थी। इससे मलायु के सभी वर्ग—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रों तथा महाराज श्रीमद् त्रिभुवन-राज-मौलिवर्मदेव को बड़ी प्रसन्नता हुई। यह मूर्ति धर्माश्रय में स्थापित की गयी। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह लेख महत्त्वपूर्ण है और इससे सुमात्रा का जावा के अधीन होने का संकेत मिलता है। जावा के शासक श्रीकृतनगर की पदवी महाराजाधिराज है और सुमात्रा का शासक केवल महाराज कहा गया है। 'नागर कृतागम' और परारतों में भी जावा द्वारा सुमात्रा के विरुद्ध आक्रमण तथा उस पर अधिकार का संकेत मिलता है। परारतों के अनुसार शक सं. ११९७ (१२७५ ई.) में जावानी सेना मलायु के विरुद्ध गयी थी जहाँ से वह दो राजकुमारियों को लेकर

४४ बु इ फ्रा ४ पृ २९८।
४५ वही, पृ २९८।
४६. कोम हि था मे पृ १३५-६। शास्त्री, बु इ फ्रा ४ पृ २९९।

लौटी जिनमें से एक ने कृतराजस के साथ विवाह कर लिया और दूसरी का विवाह देव से हुआ जिसका पुत्र मलायु का एक शासक था। 'नागरकृतागम' के अनुसार कृतनगर के अधीन पहंग मलायु गुरुन और बकुलपुर थे। श्रीविजय (सन्-फो-त्सि) का उल्लेख अब नहीं मिलता है। मलायु से १२८१ में दो मुसलमान व्यापारी चीन गए। जिस समय मार्कोपोलो उत्तरी सुमात्रा आया उसने वहाँ आठ से छोटे-छोटे राज्य पाये। कुछ राज्यों के शासक इस्लाम धर्म ग्रहण कर चुके थे। इन राज्यों में श्रीविजय का कहीं भी उल्लेख नहीं है। स्याम में सुखोदय की बढ़ती हुई शक्ति ने मलाया में श्रीविजय राज्य के उत्तरी भाग पर अधिकार कर लिया था और दक्षिण में जावा के शासकों ने उग्र नीति से काम लेकर इस राज्य को बड़ी ठेस पहुँचायी। कृतनगर (१२६८–९२) कृतराजस जयवर्धन (१२९३–११) तथा उसके उत्तराधिकारियों ने श्रीविजय और सुमात्रा के अन्य राज्यों को अपने अधिकार में करना चाहा। अन्त में जावा का इस पर अधिकार हो गया और जैसा कि चीनी लेखों से प्रतीत होता है सन्-फो-त्सि जो कि समृद्धिशाली राजधानी थी जावा से अधिकृत होने पर उजाड़ हो गयी थी। वहाँ केवल कुछ व्यापारी ही जाते थे।[४९]

४७. बु इ का ४ पृ २९९।
४८. कोम हि कार्ल्मे पृ ३३६। बु इ का ४७ पृ० १ ।
४९. वही पृ ३४।

अध्याय ३

जावा के हिन्दू राज्य (८वीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक)

आठवीं शताब्दी ईसवी से मध्य जावा के इतिहास पर कुछ लेख प्रकाश डालते हैं। इनके आधार पर केवल इतिहास की रूपरेखा ही खींची जा सकती है। लेखों में राजाओं का नाम मिलता है और उन पर तिथि भी दी हुई है पर इनके अतिरिक्त विस्तृत रूप से किसी भी शासक के राज्यकाल की घटनाओं का उल्लेख नहीं मिलता। कुछ समय के लिए जावा पर शैलेन्द्र राजाओं का अधिकार हो गया था तब स्थानीय शासकों ने मध्य जावा छोड़कर पूर्वी जावा में शरण ली थी। सम्पूर्ण जावा के इस इतिहास में मतराम के संजय और उसके वंशज पूर्वी जावा के ऐरलंग और उसके वंशज तथा कडिरि और सिंहसारि राज्य पर हम सर्वप्रथम विचार करेंगे। आगे चलकर जावा के स्वतन्त्र राज्यों का एक सूत्र में बँधकर साम्राज्य का रूप प्राप्त करना दूसरी घटना है और इस पर विस्तृत एवं स्वतंत्र रूप से विचार किया जायगा।

मतराम राज्य

चंगल के लेख मे शक सं ६५४ (७३२ ई) मे सन्नाह के पुत्र संजय द्वारा

१ यह लेख केदू प्रान्त की गुनुर पहाड़ी पर चंगल में १८८४ में मिला। विशेष परिचय के लिए देखिए—कर्न वी जी भाग ७ पृ ११७ से। छाबड़ा, जे ए एस बी एल भाग १ पृ ३४ से। बु इ फा भाग ४६,१ पृ २१ नं १। मजुमदार और चक्रवर्ती भारत और जावा भाग २, पृ २९। स्टो-कर्म ने हिन्दनेशिया के लेखों का अध्ययन करके अपने लेख में कहा है कि 'संजय का पिता भारत से नहीं आया। वह यहीं स्थान का निवासी था। उसके पुत्र संजय की अभिन्नता मन्त्यासिह प्रथम के शक सं ८२९ के लेख के रकाई मतराम संयरतु संजय से की गयी है। बु इ फा भाग ४६, पृ २ नं १।

शिवलिंग की स्थापना का उल्लेख है। इस लेख में शिव ब्रह्मा और विष्णु की प्रार्थना के बाद जावा देश की प्रशंसा की गयी है जो धनधान्य से भरपूर था और जहाँ सोने की खानें थीं।[1] सम्राट् संजय का नाम सोलो लेख[2] के अन्तर्गत (९ ७ ई) भी है जिसमें श्री महाराज बतुकुर द्वारा दिये गये दान का उल्लेख है। इस लेख में एक वंशावली दी गयी है जो इस प्रकार है— रकाई मतराम संग रतु संजय श्री महाराज रकाई पनंगकरन श्री महाराज रकाई पनुंगगलन श्री महाराज रकाई वरक श्री महाराज रकाई गरुंग श्री महाराज रकाई पिकतन श्री महाराज रकाई क्युवगि श्री महाराज रकाई वतुहुमलंग और श्री महाराज रकाई बतुकुर। संजय के आगे 'रकाई मतराम' उपाधि दी गयी है जिससे प्रतीत होता है कि इसका मतराम स्थान से सम्बन्ध था जहाँ पर १६वीं शताब्दी के बाद से मुसलमान सुल्तानों ने राज्य किया और यह प्रतीत होता है कि उन्होंने प्राचीन परम्परा को कायम रखा। मजपहित के कुछ राजवंशजों ने भी अपना मतराम से सम्बन्ध दिखाया। डा स्टुटरहाइम के मतानुसार इस राज्य की राजधानी पहले ग्रंम में थी जिसकी अभिन्नता एक स्थानीय किंवदन्ती के आधार पर मेंडगकमुलन (सेमरंग में ग्रोबोगन) से मानी जा सकती है। क्रोम ने इसे प्रामबनम के निकट रखा है और पास ही बरो बोदूर प्रमबनन प्लाओसन और सविवन के प्राचीन मन्दिर भी इसकी पुष्टि करते हैं।[3] संजय के पिता का नाम अथवा सन्नाह

२ जावा का इसी प्रकार का वृत्तान्त वाल्मीकि रामायण में भी मिलता है—
'यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम्।
सुवर्णरूप्यकद्वीपं सुवर्णाकरमण्डितम्।।
यवद्वीपमतिक्रम्य शिशिरो नाम पर्वतः।
दिवं स्पृशति शृंगेण देवदानवसेवितः।। (रामायण, बम्बई ४ ४ १)

३ सिडो, ए हि पृ १५३।

४ क्रोम हन्दो जावानीच गेशिडन (इ ज ये) पृ १६९। मजुमदार, सुवर्णद्वीप पृ १६९।

५. पुमाना इतिहास में जावानी युग डी जी जी १९१ पृ ४१७ से। मजुमदार, पृ २३५।

६. इ ज ये पृ १७ । 'पुमाना इतिहास में जावानी युग।

नाम कोई स्थानीय उसका नाम होगा। लेख में कुंजरकुंज नामक स्थान का भी उल्लेख है जहाँ के वंश ने शिव के मन्दिर की स्थापना में योगदान दिया था (श्रीमत्कुंजरकुंजदेश निहितं वंशादिवीकाभृतं पद ७)। इस लेख पर कई विद्वानों ने टिप्पणी की है। कर्न के मतानुसार कुंजरकुंज के वंश ने यहाँ पर मूर्ति लाकर स्थापित की थी। पर बोस का कथन है कि यह शिव का मन्दिर कुंजरकुंज के मन्दिर की ही भाँति था इससे कुंजरकुंज के किसी वंश द्वारा लायी हुई मूर्ति का संकेत नहीं होता है। सिदो के मतानुसार कुंजरकुंज उस स्थान का नाम है जहाँ पर शिव के मन्दिर की स्थापना की गयी और जो केडू में स्थित था।[7] सन्न का इसके अतिरिक्त और कुछ वृत्तान्त नहीं मिलता है कि सन्न ने इस द्वीप में शत्रुओं को परास्त कर मनु की भाँति बहुत समय तक न्यायपूर्ण राज्य किया और पुत्रवत् अपनी प्रजा की रक्षा की (शास्ता सर्वप्रजानां जनक इव शिशो पद ८)। इसके बाद उसका पुत्र संजय सिंहासन पर बैठा।

संजय

चंगल लेख में संजय के गुणों और शौर्य की प्रशंसा की गयी है। विद्वानों में उसका बड़ा मान था तथा वह शास्त्रों के मर्म को जानता था (श्रीमान् यो मान्यमानो बुधजननिकरैःशास्त्रसूक्ष्मार्थवेदी पद १)। अपनी शूरता के कारण रघु के समान उसने बहुत-से सामन्तों को जीता था सूर्य के समान उसका तेज था उसकी कीर्ति सर्वत्र फैली हुई थी और उस समय वह न्यायपूर्ण राज्य कर रहा था (राजा शौर्यादिमुख्यो रघुरिव विजितानेक सामन्तचक्रः, राजा श्रीसञ्जयाख्यो रविरिव यशसा दिग्विदिक्ख्यात लक्ष्मी स्सूनुस्सन्नाह्वनाम्नस्सचतुर (न्या) यशस्यास्ति राज्यम्। पद ११)। संजय की विजय प्रशस्ति का उल्लेख एक अन्य ग्रन्थ 'चरितपरह्यन्यन्' में भी मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार जावा और बालि

७. चटर्जी और चक्रवर्ती, भारत और जावा पृ २९। हरिवंश के मतानुसार कुंजरकुंज दक्षिण की एक पहाड़ी थी जहाँ पर अगस्त्य का स्थान था। बृहत्संहिता में इसे पम्प और ताम्रपर्णी के बीच में रखा है।

८. सिदो ए हि पृ १८१।

९. टी बी जी १९२ पृ ४१७ से। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' भाग १ पृ ११।

पर विजय करने के पश्चात् संजय मजम्मु गया वह केमिर (ख्मेरों) से क्रम पर नग को हराया फिर वह केलिंग से बढ़ा संग श्रीविजय को हराया। वह वस्त से बढ़ा रत्नुजयराज को हराया। वह चीन से बढ़ा श्री कल्मर्ष को हराया। तब संजय समुद्र पार देशों की यात्रा से सकुशल लौटा। इस वृत्तान्त की ऐतिहासिक सत्यता की परख करना कठिन है। स्टुटरहाइम के मतानुसार उपर्युक्त वृत्तान्त को पूर्णतया सत्य मानना चाहिए। उनके मतानुसार संजय ने शैलेन्द्र वंश की नींव डाली थी और 'चरित परह्यन्यन्' में उल्लिखित समुद्र पार विजयों से चम्पा और कम्बुज के विरुद्ध ८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध भाग में शैलेन्द्रों की विजियन का संकेत है।[१०] क्रोम महोदय स्टुटरहाइम के मत से सहमत नहीं है और उनके विचार में 'चरित परह्यन्यन्' ग्रन्थ से संजय द्वारा समुद्र पार कुछ देशों की ओर प्रस्थान का संकेत मिलता है।[११]

स्टुटरहाइम ने संजय को केवल शैलेन्द्र-वंशज ही नहीं माना है उसने कुछ लेखों में उल्लिखित राजाओं में से कई एक की समानता कलसन तथा अन्य लेखों में उल्लिखित शैलेन्द्र राजाओं से मानी है। सर्वप्रथम द्वितीय राजा श्रीमहाराज रकाई पनंकरण् की समानता कलसन लेख के करियाण पनमकरण से की गयी है। इसके अतिरिक्त उसने संजय की समानता बालपुत्रदेव के पितामह वीर वैरिमथन शत्रुगणवामिथन से की है, जिसका उल्लेख नालन्दा के लेख में है। पनमकरण की जिसने कलसन लेख के अनुसार तारा का मन्दिर स्थापित किया था, समानता समरायवीर से की गयी है, जिसने नालन्दा के लेख के अनुसार तारा से

१० पूर्व उल्लिखित, मजुमदार, सुवर्णद्वीप भाग १ पृ २११। 'जावा और ख्मेर के बीच संघर्ष का उल्लेख सुलेमान अबुजैद तथा मसूदी ने भी किया है। (जौरेल यू ए २ २ (१९२२) पृ ५८ से)। मजुमदार, सुवर्णद्वीप पृ १५६। प्रसिद्ध स्दोक-काक लेख में सम्राट् जयवर्मन् द्वितीय का जावा से कम्बुज आना और एक धार्मिक संस्कार करना, जिससे भविष्य में कम्बुज जावा पर किसी प्रकार आधारित न रहे, ख्मेर राज्य के आठवीं शताब्दी में जावा के अधीन अथवा प्रभाव में होने का संकेत करता है। (बु इ फ्र भाग १५ (२) पृ ८०)। मजुमदार, कम्बुज लेख नं १५२।

११ पूर्व उल्लिखित पृ १२६। मजुमदार, सुवर्णद्वीप पृ २१।

विवाह किया। तारा के पिता धर्मपाल की समानता धर्मसेतु से की गयी।[१२] स्टुटर हाइम के मत से सहमत होना कठिन है क्योंकि ये समानताएं निराधार प्रतीत होती हैं। केवल केदुकेन के द्वितीय शासक पनंगकरन् की समानता कलसन लेख के शैलेन्द्र शासक पनमकरन से की जा सकती है, पर नाम की समानता वंश की समानता का संकेत नहीं कर सकती है।[१३] अतः केदु लेख के शासकों को शैलेन्द्र मानना कठिन है। बोस के मतानुसार[१४] केदु लेख के सभी शासकों को एक ही वंश का नहीं माना जा सकता है। उक्त सूची में तो केवल मतराम में रकाई मतुकुर से पहले के शासकों के नाम का ही उल्लेख है। संजय के लेख की तिथि शक सं ६५४ (७३२ ई) है और यदि द्वितीय सम्राट् रकाई पनंगकरन् की समानता कलसन लेख के करियान पनमकरन् से मान ली जाय तो इस लेख की तिथि शक सं ७ (७७८ ई) में मध्य जावा के वर्तमान कडू प्रान्त पर शैलेन्द्र वंश का अधिकार हो चुका था। संजय के वंशज मध्य जावा को छोड़कर पूर्वी क्षेत्र की ओर चले गये।

संजय के वंशज

'टंग वंश के नवीन इतिहास' में संजय-वंशजों द्वारा पूर्वी जावा में जाकर अपनी राजधानी स्थापित करने का उल्लेख है। इसके अनुसार उस समय शासक छो-पो (जावा) में रहता था। उसके पूर्वज किएन ने पूर्व की ओर पी-लु-किअ-स्सु में अपनी नयी राजधानी बनायी थी।[१५] दो अन्य चीनी वृत्तान्तों के आधार पर यह घटना ७४२-७५५ ई में हुई थी। जावा की नयी राजधानी पुरानी राजधानी से ८ दिन की यात्रा की दूरी पर थी।[१६] चीनी वृत्तान्त से इस बात की पुष्टि होती

१२ मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २१२।

१३ भारतीय इतिहास में भी सुंगवंश तथा पंचाल के स्थानीय राजाओं के एकीकरण का प्रयास किया गया है जो निराधार प्रतीत होता है। देखिए, 'इंडिया इन दि टाइम आफ पतंजलि।

१४ टी बी जी भाग ६९ (१९२९) पृ० ११६, मजुमदार, सुवर्णद्वीप पृ २११।

१५ पिलियो, बु इ फ्रा भाग ४ पृ २२४-२५।

१६ पिलियो 'ड्यू इटेनेररी' पृ २३५। फेरेंड, ज्यूरनल ए १९१९

है कि शैलेन्द्र राजाओं द्वारा मध्य जावा के बकालोगान्त पर अधिकार करने से संजय के वंशज पूर्वी जावा की ओर चले गये थे। चीनी कि-युन की समानता दिनाय के शक स १८२(७१ ई)के लेख में उल्लिखित कञ्जुरुहन से मानी जा सकती है,' जिसने अगस्त्य की मूर्ति स्थापित की थी और यह ब्राह्मणों का भक्त था (सम्भो शिलालिखितम् मजपामनामा पद ४)। इसका पिता देवसिंह था जो पुतिकेश्वर लिंग का रक्षक था। विद्वानों का विचार है कि यह संजय-वंशज था और यह ठीक प्रतीत होता है। 'पुतिकेश्वर' चम्पा के लेखों के भद्रेश्वर की भांति शिवलिंग का नाम प्रतीत होता है और सिदो के मतानुसार' इसमें शिवलिंग की उपासना और राजकीय भावना के उसके साथ सम्मिश्रण का संकेत मिलता है जैसा कम्बुज में देवराज मत में था। तंग वंश के इतिहास से ही हमें मध्य जावा की राजनीतिक इतिहास सम्बन्धी सूचना नवीं शताब्दी ईसवी के अन्तिम भाग की है। आठवीं शताब्दी के मध्य भाग में जब कि मध्य जावा पर शैलेन्द्रों का राज्य हो गया था और संजय-वंशजों को अपनी राजधानी पूर्वी जावा में १ ~१५ मील की दूरी पर ले जानी पड़ी तब से ९वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में जब राजधानी पुनः मध्य जावा के प्राचीन स्थान पर वापस आ गयी इस बीच का काल शैलेन्द्र राजाओं के उत्कर्ष का युग था। संजय-वंशज राजाओं के इतिहास पर कुछ लेख प्रकाश डालते हैं और यह प्रतीत होता है कि केदु क्षेत्र से उल्लिखित शासक मध्य जावा के पश्चिमी भाग तथा पूर्वी क्षेत्र पर राज्य कर रहे थे (शक सं ७४१)।[१८] कुछ विद्वानों के अनु-

मार्च-अप्रैल पृ १ ४ नोट १। फेरैंड ने भी लु चि त्सु की समानता जावानी वचन् पेसिर से की है जिसका अर्थ 'बालू का किनारा' है और यह जिसे नाम से पुरातन जावा का एक बन्दरगाह है। मोएन्स ने इसकी समानता वसह से की है जो केड़ा के दक्षिण पूर्व में प्राचीन राजधानी थी। सिदो पृ १५६, नोट १।

१७. जोम टी बी जी ५७, १९१६ पृ ४१०-४४। बरनो और चक्रवर्ती 'भारत और जावा' पृ ३५ से। कर्न के मतानुसार कि-युन की समानता जावानी उपाधि कयुन से की जा सकती है, पर पेलियो का कथन है कि उसके लिए चीनी स्रोतों में लो कि युन का प्रयोग हुआ है। सिदो ए हि पृ १५७, नोट १।

१८. सिदो ए हि पृ १५७।

१९. ओ वी १९२ पृ १११।

सार शक संवत् ७४१ (८१९ ई) के सुरकर्ता के वेंगिग नामक स्थान से प्राप्त लेख में रकरयान ई मर्कंग का उल्लेख है, जिसकी समानता केदु-लेख में दी गयी सूची के पाँचवें शासक से की जा सकती है। यद्यपि इस लेख में महाराज उपाधि का प्रयोग नहीं हुआ है पर 'आज्ञा' शब्द से शासक के स्वतंत्र अस्तित्व का पता चलता है। इसके बाद शक सं ७४९ (कुछ विद्वानों के अनुसार ७१९ या ७६९) (८७० ई) का लेख[20] ग्युमबुग्गन करग्गार्टेमाह (केदु) से प्राप्त हुआ है जिसमें समरोत्तुग का उल्लेख है। इसकी समानता शैलेन्द्र शासक समरग्रवीर से भी की गयी है, पर यह मान्य नहीं है, क्योंकि केवल नाम के आधार पर समानता दिखाना ठीक नहीं है। बाद के जावा के शासकों में भी इसी नाम के कई राजा थे। गोरिस ने इसकी समानता रकाई पतुग्पलन से की है और इसकी तिथि उन्होंने ७९७ ई रखी है।[21]

केदु-लेख की सूची में उल्लिखित ४ ६ शासक श्री महाराज रकाई वरक, श्री महाराज रकाई गरुंग और श्री महाराज रकाई पिकतन के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं है।[22] सप्तम शासक श्री महाराज रकाई क्युवंगि का नाम तीनों लेखों में मिलता है जो मगेलम के निकट गाबिएन में मिलते हैं। इसकी तिथि ८७९, ८८ तथा ८८२ ई है।[23] अन्तिम लेख से पता चलता है कि शासक का राज्य कीय नाम सज्जनोत्सवतुग था। विएंग के निकट एक स्थान था जिसका उल्लेख

२० बु इ फा भाग ४६ (१) नं ७, पृ २६ २७ और नोट।

२१ मजुमदार, सुवर्णद्वीप भाग १ पृ २३८।

२२ रकाई पिकतन का उल्लेख ८६४ ई के अर्गपुर के लेख में मिलता है, इसे कोई राजकीय उपाधि नहीं दी गयी है। इसका नाम मंगू भी उसी लेख में है जिसका उल्लेख पेरोत के ८५३ के लेख में भी है और उसे रकाई पतपान कहा गया है। इन दोनों की समानता दिखाना कठिन है। (मजुमदार, सुवर्णद्वीप पृ २३८)।

२३ श्रोम हि ज वे पृ १७९ (मजुमदार सुवर्णद्वीप पृ २३८)। दमे, जावानी लेखों का अध्ययन नं ५३ ५४ ५८ बु इ फा भाग ४६ (१) पृ ४२ ४३। ८८७ ई के एक लेख में श्री महाराज रके गुरुनवंगि का उल्लेख है जो कदाचित् क्युवंगि का दूसरा नाम रहा होगा। नं ६३ बु इ फा पृ ४३।

८६६ ई० के एक लेख में है।[24] इसलिए 'सम्बनोसवर्णुन' से 'स्वामि क्पुर्वी' का संकेत होता है। इस शासक का नाम धुक था जिसका उल्लेख ८६१ ई०[25] के एक और लेख में भी मिलता है। संजय के नाम के बाद यह दूसरा संस्कृत नाम मिलता है। ८८ ई० के लेख में सलिंगसिंगन के भटार पर एक चाँदी का छत्र चढ़ाने का उल्लेख है। यह संस्कार कदाचित् मृतक शासक को देवता स्वरूप प्रमाण करने के लिए किया जाता था।

आठवाँ शासक रकाई वतुहुमलंग था जिसका उल्लेख ८८६ ई० के एक लेख में मिलता है (क्रमे के अनुसार ८९६ ई०)।[26] उपर्युक्त शासकों के लेख प्रायः केदु और प्रमब नामक घाटी में मिले इसलिए यह शासक वर्तमान बकाली (बोम्य-कर्ता) क्षेत्र में मतराम के पूर्व और मध्य भाग में राज्य कर रहे थे। उपर्युक्त केदु की सूची में उल्लिखित नामों के अतिरिक्त कुछ और शासकों के नाम भी मिले हैं जिनके लेख इसी क्षेत्र में पाये गये। इनमें सिमुल ग्रम देवेन्द्र जो शक सं० ८१२ (८९ ई०)में[27] कदाचित् पूर्वी क्षेत्र में राज्य कर रहा था। ८वीं–९वीं शताब्दी के अन्त तक मध्य जावा क्षेत्र राजनीतिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व का मुख्य केन्द्र रहा। पर इसके बाद से पूर्वी जावा राजनीति का क्षेत्र बन गया।

वतकुर-वलितुंग

केदु सूची के अन्तिम शासक वतकुर के बहुत-से लेख[28] मिले हैं जो समय

२४ मजुमदार, पृ० २१९। कई अन्य लेखों में भी इसका उल्लेख है, जैसे पु रकरयान् कयुवंगि पुलोलमान (नं० २७ तथा २८, बु० इ० ब्ला० ४६, पृ० १५)। एक अन्य लेख (वही, नं० १८) में रकरयान इ सिरिकन पु रकप का उल्लेख है तथा शासक श्री महाराज रकाई क्पुर्वंगि का भी नाम है।

२५. ओ० जे० ओ० नं० ७। मजुमदार, सुवर्णद्वीप पृ० २१९।

२६. मजुमदार, सुवर्णद्वीप पृ० २४ । सिडो बु० इ० ब्ला० भाग ४६ (अ) सिडो वेडे पृ० २१५।

२७. बु० इ० ब्ला० भाग ४६ (अ) नं० ६२, पृ० ४३। मजुमदार और सिडो के अनुसार इस लेख की तिथि ८१४ है। सुवर्णद्वीप, पृ० २४ । ए० हि० पृ० २१५।

२८ क्रोम पृ० १८२। सिडो, पृ० २१५। मजुमदार पृ० २४ ।

८९८ ई से ९१   ई तक के हैं और मध्य तथा पूर्वी जावा में पाये गये हैं। इनमें सम्राट् को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है। बतकुर के अतिरिक्त उसे बलितुंग तथा संस्कृत नाम उत्तुंगदेव ईश्वरकेश्योत्सवतुग ईश्वरकेशव समरोत्तुंग और धर्मोदय महाशंभु नाम भी दिये गये हैं। सम्राट् को श्री बलितुंग और श्री गरुडमुख नामक नाम तथा रकैवतुकुर और रकैयतु (अथवा हसु) उपाधियां भी प्रदान की गयी हैं।[११] इसके एक पदाधिकारी रकरयान ई मतुहतिहुंग श्री दक्षोत्तम बुधेश्वर का उल्लेख तभी (पानरण) पूर्वी जावा के एक लेख[१२] में मिला। उसी वर्ष में उसका उल्लेख मतराम के पश्चिम में बगेलेन के करवेनगह के लेख में भी मिलता है तथा ९ २ और ९ ६ ई के मध्य जावा के लेखों में भी इसका उल्लेख है।[१३] कहा जाता है कि बलितुंग ने मतराम वंश में विवाह करके मध्य जावा का राज प्राप्त कर लिया था और उसका राज्य मध्य तथा पूर्वी जावा तक फैला था। मन्त्यासिह (केदु) का ९ ७ ई का लेख विशेष रूप से महत्त्व रखता है। मध्य जावा पर अपना वैधानिक अधिकार दिखाने के लिए इस लेख की वंशावली प्रथम मतराम शासक संजय से दी गयी है।

१९. रके वतुकुर दा बलितुंग श्री धर्मोदय महाशंभु। शक सं ८९ (८९८) बु इ ग्रा भाग ४६ (अ) नं ६५। श्री महाराज रके वतुकुर दः बलितुंग श्री धर्मोदय महाशंभु। शक सं ८२२ (९ १ ई) बु इ ग्रा भाग ४६, नं ६७। श्री महाराज रके वतुकुर दः बलितुंग। शक सं ८२३ नं ६८। महाराज रके वतुकुर दः बलितुंग श्री ईश्वर केशवोत्सव तुंगव। शक सं ८२४ (९ २ ई) वही नं ७१। श्री महाराज रके वतुकुर दः बलितुंग श्री धर्मोदय महाशंभु। शक सं ८२५ (९ ४ ई) वही नं ७४ शक सं ८२९ नं ८२, ८३ ८४ शक सं ८३१ (९ ९ ई)। श्री महाराज रके वतुकुर दः बलितुंग श्री ईश्वरकेशव समरोत्तुंग ८२९। (९ ७ ई नं ८७)। श्री महाराज रके गरुड़ दः श्री धर्मोदय महाशंभु। शक सं ८३२ (९१ ई) नं ८९।

११ बु इ ग्रा ४६, नं ६८।

११ ओ ज ओ नं २२। ओ वी १९२५, पृ ४१९। ओ बे ओ नं २५। मजूमदार, सुवर्णद्वीप पृ २४२।

१२ लिखो ए हि पृ २१६।

(९२१ ई) के मिले हैं। प्रथम लेख किन्तकन में मिला और इसमें उसे श्री महाराज रकाइयंग वा तुलोडोंग श्री सज्जन सन्मतानुरगतुगदेव और दूसरे लेख मे श्री महाराज रके कयंग वा तुलोडोंग कहा गया है। यद्यपि ये दोनों लेख पूर्वी जावा में प्राप्त हुए हैं, पर इस शासक का अधिकार मध्य जावा पर भी था।[18] इसके बाद वबा सिंहासन पर बैठा। क्रोम के मतानुसार उसकी समानता रकर्यंग मप तिह् हिनो महामंत्री श्री केतुवर से की जा सकती है, जिसका उल्लेख ९८९ ई के एक लेख में है[19] और वह दक्ष तथा तुलोडोंग के शासन काल में एक उच्च पदाधिकारी था। इसके समय के चार लेख मिले हैं।[20] प्रथम लेख मलंग के उत्तर पश्चिम में सोमदत्त में मिला और इसकी तिथि ९२४ ई है। इसमें इसे श्री महाराज रकइ पंकज वा वबा श्री विजयलोकनामोत्तुग नाम से सम्बोधित किया गया है। दूसरा लेख वेबेक (कडिरी) के निकट मिला और इसकी तिथि ९२७ ई है। तीसरे की तिथि कदाचित् ९२६ ई है। इन तीनों लेखों में उच्च पदाधिकारी रकरयन मपतिह् इ हिनोम्य सिन्डोक श्री ईशानवर्मा का उल्लेख है जो वबा

१८. डमे बु इ फ्रा भाग ४६ (२) पृ ५४ नोट १। मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ २४६, नोट १।

१९. बु इ फ्रा भाग ४६ (अ) नं ९८, पृ ५५। रकर्यान् मततिह् इ हिनो पु केतुविजय। इस लेख में केतुवर द्वारा एक दान की पुष्टि का उल्लेख है जो पहले दक्षोत्तम ने किया था और उसमें मध्य जावा के कुछ स्थानों का उल्लेख है। इसकी तिथि ९१९ ई का कार्तिक मास है जब कि तुलोडोंग शासक हो चुका है। संभवतः ९११ ई में केतुवर ने दक्षोत्तम तथा तुलोडोंग के राज्य-काल में किसी उच्च पद को सुशोभित किया और इसके बाद वह पूर्वी जावा में शासक बन बैठा। (देखिए, मजुमदार, सुवर्णद्वीप भाग १ पृ २३९, नोट २)।

२० मजुमदार, सुवर्णद्वीप पृ २४७। ओ जे ओ नं ३१। नं ३२ नं ३३ की श्री भाग ७, पृ १७९ से। डमे की सूची में वबा के तीन लेख ९२८ ई के हैं (नं १ ४ १ ५, १ ६)। एक लेख (नं १ ५) में रके सुम्प का भी उल्लेख है और दूसरे (नं १ ६) में श्री महाराज के पंकज दा वबा श्री विजय-लोकनामोत्तुग नाम मिलता है। पुंड और पंकज वबा के दो नाम थे अथवा वे अलग अलग व्यक्ति थे कहना कठिन है।

का उत्तराधिकारी हुआ। चौथे लेख में बला को भी महाराज रके मुम्बक बला कहा है। बला के सब लेख पूर्वी जावा में मिले हैं अतः उनका मध्य जावा से कोई सम्बन्ध नही प्रतीत होता। डा मजूमदार के मतानुसार[४१] बला के ९२७ ई के लेख म अन्तिम बार मतराम का उल्लेख है, जहाँ लेख में सम्राट् के प्रासाद (क्रतो) की रक्षा की प्रार्थना की गयी है, और इसलिए यह मतराम का अन्तिम शासक था। सिण्डोक के ९२९ के लेख में मतराम का नाम नही है और केवल मेडंग की मृतक आत्माओं के प्रासादों (क्रतो) का उल्लेख है। ९२७ में बला ने वागीश्वर नाम धारण कर लिया था और सिडो के मतानुसार[४२] ९२९ तक वह नाम-मात्र के लिए शासक रहा क्योंकि उसके उत्तराधिकारी सिण्डोक का प्रथम लेख ९२९ ई का है।

मध्य जावा के अन्य राज्य

लगभग दो शताब्दी (७१२–९२७ ई) तक के लम्बे काल में मध्य जावा में मतराम के शासक अपना आधिपत्य स्थापित किये हुए थे। कुछ समय के लिए उन्हें पूर्वी जावा जाना पड़ा पर वे पुनः वापस आ गये। मतराम के अतिरिक्त मध्य जावा में कुछ अन्य राज्य भी थे जिनका उल्लेख हमे मिलता है। दिनाय के लेख में[४३] जो मलंग के उत्तर मे मिला है देवसिंह और उसके पुत्र गजयान का जिसे लिमवी कहा गया है, उल्लेख है। गजयान की पुत्री उत्तेजना का विवाह प्रद पुत्र के साथ हुआ था और उसके पुत्र ने अगस्त्य के मन्दिर का निर्माण कराते समय यह लेख लिखवाया था। इस शासक का नाम मिटा हुआ है पर इसने अगस्त्य की एक पत्थर की मूर्ति भी बनवायी[४४] जो उसके पूर्वजों द्वारा स्थापित की गयी थी। इस मूर्ति का अभिषेक

४१ सुवर्णद्वीप, पृ २४८।

४२ ए हि पृ २१७।

४३ मु इ आ जा ४६ नं ३ पृ २२-२३। बोश ने इस लेख को सम्पादित तथा संशोधित किया। टी बी जी भाग ५७, पृ ४१ ४४। जाग ६४ (१९२) पृ २२७, २९१। चटर्जी और चक्रवर्ती।

४४ अगस्त्य ऋषि का उल्लेख मध्य जावा के शक सं ७८५ के परेंग के लेख में भी मिलता है। इसी लेख में अगस्त्य द्वारा भद्रलोक के मन्दिर निर्माण का भी

७९ ई में वैदिक पण्डितों द्वारा हुआ था। दिनाय के लेख से मध्य जावा में आठवीं शताब्दी के सजय और शैलेन्द्र वंशों के अतिरिक्त एक अन्य राजवंश का भी संकेत होता है। 'ठगवंश के इतिहास' के अनुसार उस काल में हों लिग से ६ बार राजदूत जो क्रमश: ६४८, ६६६, ७६७ ७६८, ८१३ और ८१८ ई चीन भेजे गये। दो राजदूत ८२ और ८३१ ई में को पो से गये।[44] संगवंश के नवीन इतिहास में ९वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में ८६ और ८७१ ई के बीच म जावा की ओर से भेजे गये एक राजदूत का उल्लेख है। उस समय जावा में २८ छोटे-छोटे राज्य थे। जावा की राजधानी भी जावा थी किन्तु उसकी वर्तमान तद्रूपता बताना कठिन है। सुंग वंश के इतिहास में इसके विषय में दिशाओं का संकेत है। राजधानी से पूर्व में समुद्र एक मास की यात्रा की दूरी पर था पर पश्चिम में ४५ दिन की यात्रा की दूरी पर, तथा दक्षिण में वहाँ से समुद्र तीन दिन की दूरी पर था और उत्तर में समुद्र तक पहुँचने के लिए पाँच दिन लगते थे।[45] इस संकेत से जावा राजधानी की तद्रूपता वर्तमान सुकारता से की गयी है, जहाँ पर बहुत-से लेख भी मिले हैं। मतराम जावा का मुख्य राज्य था और उससे प्राचीन कई अन्य राज्य थे। ९२७ ई से जावा के इतिहास में पूर्वी जावा का स्थान प्रधान हो जाता है और सिंदुक ने ९२७ ई में दोनों क्षेत्रों मे अपना राज्य स्थापित किया।

उल्लेख है और लेख की अन्तिम पंक्तियों में कदाचित् अगस्त्य के वंशजों के प्रति शुभ कामनाएँ प्रकट की गयी हैं। बोश के मतानुसार जिस प्रकार कम्बुज में जयवर्मन् द्वितीय और हिरण्यदाम द्वारा देवराज मत चलाया गया चम्पा में राजकीय शैव मत उरोज द्वारा चलाया गया उसी प्रकार जावा में अगस्त्य के विषय में किंवदन्तियाँ हैं। कदाचित् इन सब का स्रोत एक ही था और यह स्कन्द पुराण के कैवरीय माहात्म्य में मिलता है। चटर्जी और चक्रवर्ती, भारत और जावा भाग २, पृ ११।

४५. मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ २५१।

४६. वही पृ २५१। बु इ का भाग ४ पृ १५३।

पूर्वी जावा का उत्कर्ष

मध्य जावा-राज्य का पतन और पूर्वी जावा का उत्कर्ष सिंडोक से आरम्भ होता है जो मता के समय में सर्वोच्च पदाधिकारी था और उसका नाम श्री ईशानविक्रम था। उसके समय के लेख ९२८ ई० से लेकर ९४८ ई० तक के मिले हैं।[1] मध्य जावा की राजनीतिक अवनति तथा पूर्वी जावा का उत्कर्ष एक महत्त्वपूर्ण घटना है जिसके विषय में विद्वानों के विचारों में मतभेद रहा है। एक विचारधारा के अन्तर्गत पूर्वी जावा के सामन्त ने मध्य जावा के शासक के प्रति विद्रोह किया और इस संघर्ष के कारण मध्य जावा की राजनीतिक और सांस्कृतिक शक्ति क्षीण हो गयी एवं यही उसके पतन का कारण बनी। इसके विपक्ष में यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक शक्ति भले ही क्षीण हो जाय पर मध्य जावा का सांस्कृतिक स्तर वैसा ही रहा और वहां के मन्दिरों से अवनति का संकेत नहीं मिलता है। मध्य जावा के बहुत से उच्च पदाधिकारी पूर्वी जावा में काम करते रहे और मतराम

१ देखिए—दमें, 'हिन्दनेशी लेखों का अध्ययन' नं० १०७, १२८। इन लेखों में इसे 'श्री ईशानविक्रमधर्मोत्तुंगदेव' नाम से संबोधित किया गया है। दो लेखों में इसकी सम्राज्ञी रक्रयान विनिहृवि श्री परमेश्वरी दयाह केबि (श्री वर्धनी पुस्वी) का भी उल्लेख है (नं० १११ ११८, पृ० ५८-५९)। उपर्युक्त उपाधि के अतिरिक्त इसे 'विक्रमधर्मोत्सह' 'विजयधर्मोत्तुंग' तथा 'श्लोकपदेव' (नं० १२५) भी कहा गया है। इसके अतिरिक्त इसे रके हुनु (नं० १०७) तथा रके हिनो (नं० १०९ ११० १११ ११२ आदि) उपाधियां भी प्रदान की गयी हैं।

२ वेव जावा भाग १ (१८९९) पृ० ७५। मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ० २५५। इस सम्बन्ध में कम्बुज द्वारा फूनान राज्य पर पूर्णतया अधिकार करने का उदाहरण दिया जा सकता है।

के शैलेन्द्रों का सिंहासन में आवाहन होता रहा। मध्य जावा के लेख किसी भी महाकारण परिस्थिति का संकेत नहीं करते हैं। यह कहना और भी कठिन है कि भूचाल अथवा महामारी के प्रकोप से मध्य जावा से लोगों ने पूर्वी क्षेत्र की ओर प्रस्थान किया हो। क्रोम के मतानुसार[3] जावा के शासकों को सुमात्रा के शैलेन्द्र राजाओं की ओर से भय था क्योंकि वे वहाँ राज्य भी कर चुके थे और उनके लिए उन पर पुनः अधिकार करना कठिन न था। अतः मध्य जावा के शासक या तो राजनीतिक अथवा प्राकृतिक परिस्थिति-वश मध्य जावा को छोड़कर पूर्वी जावा की ओर चले गये। ९२९ ई के बाद का मध्य जावा में कोई लेख नहीं मिलता है। सांस्कृतिक क्षेत्र में भी धीरे-धीरे मध्य जावा ने पीछे हटना आरम्भ किया और पूर्वी क्षेत्र राजनीतिक उत्कर्ष के साथ-साथ लगभग पाँच सौ वर्ष तक भारतीय संस्कृति और सभ्यता का मुख्य केन्द्र रहा।

सिंडोक (सिंडोक)

तुलोडोंग के ९१९ ई के लेख में सिंडोक का नाम पहली बार मिलता है। सिडो के मतानुसार[4] कदाचित् यह दक्ष का पौत्र था। श्री ईशान विक्रमधर्मोत्तुंगदेव के नाम से पूर्वी जावा में इसने अपना शक्तिशाली राज्य स्थापित किया। इसका नाम ११वीं शताब्दी के आरम्भ तक चलता रहा। इसकी वंशावली के विषय

३ इ ब ए पृ २८, बी बी १९२८, पृ ६४। सिडो ए हि पृ २१७-८। मजुमदार, सुवर्णद्वीप पृ २५९। इबेरमन के मतानुसार महामारी का प्रकोप मध्य जावा पर आ चुका था और इसलिए वहाँ के निवासियों को उधर से पूर्व की ओर भागना पड़ा (ए हि पृ २१७)।

४ ए हि पृ २१७।

५ पूर्वी जावा के इतिहास में सिंडोक का नाम बहुत काल तक चलता रहा। ऐरलंग ने अपनी प्रशस्ति में उसका उल्लेख किया है तथा अपने को उसका वंशज माना है (बी बी ७ पृ ८५ से)। चटर्जी और चक्रवर्ती, 'भारत और जावा' पृ ६४। १४वीं शताब्दी के 'स्मरदहनकाव्य' के रचयिता के अनुसार तत्कालीन कामेश्वर ने भी ईशानधर्म अथवा सिंडोक द्वारा अपना जीवन प्राप्त किया। बी बी ५८ (१९१९) पृ ४०२। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ २५८।

में कई विचारधाराएं रही हैं। एक मत के अनुसार इसने बवा की पुत्री से विवाह किया था और उसके बाद यह सिंहासन पर बैठा। इसके विपक्ष में स्टटरहाइम का मत है कि यह बवा का पौत्र था। तुलोडोंग और बवा श्री परमेस्वरी व नेकमी एवं दंग के पुत्र थे और उनके बाद सिंडोक सिंहासन पर बैठा।[७] इसके अनेकानेक ताम्रपत्र (९२९ ई से ९४७ ई तक के) मिले हैं जिनके आधार पर इसका राज्य ब्रन्तास नदी की घाटी बेलहन गुनुग सेमेसिर, मुराबाया के दक्षिणी भाग मेरिपी के उत्तरी भाग तथा सम्पूर्ण मलंग प्रदेश तक विलिस और स्मेरु के बीच में फैला हुआ था।

ताम्रपत्रों में सम्राट् द्वारा दिये गये दानों का ही उल्लेख मिलता है जिसका शैव मत से सम्बन्ध है। उस समय में जावा में शैव मत और इससे मिश्रित वैष्णव मत ही प्रधान थे। बौद्ध धर्म का उल्लेख किसी भी लेख में नहीं है पर इस मत के तंत्रवाद सम्बन्धी श्री सम्भरसुर्यावरण द्वारा लिखित अथवा सम्पादित ग्रन्थ 'संग ह्यं कमहायानिकन्' की रचना इसी के समय में हुई। रचयिता का सम्बन्ध सिंडोक से था और उसने 'सुभूतितन्त्र' का सम्पादन भी किया था। सम्राट् सिंडोक के समय में अथवा थोड़े समय बाद जावानी रामायण की भी रचना हुई।

श्री ईशानतुंगविजया लोकपाल तथा श्री मकुटवंश-वर्धन

सिंडोक के बाद उसकी पुत्री श्री ईशानतुंगविजया सिंहासन पर बैठी जिसका विवाह लोकपाल से हुआ था। पेनंग गुगन से प्राप्त एरलंगदेव की प्रशस्ति से श्री

६. टी बी जी ११३ पृ १८२ ३। १९१२, पृ ६१८ ६२५। मजुमदार, सुवर्णद्वीप। तुलोडोंग के शासनकाल में इसका उल्लेख रके हुलु श्री सिंडोक के नाम से मिलता है और बवा के समय में 'रकयन मपतिह् हिनो पु सिंडोक श्री ईशान-विक्रम' सब से उच्च पदाधिकारी था। बवा के बाद उसका सम्राट् होना स्वाभाविक था। ओ जे ओ नं२१ ११। मजुमदार पृ ९५८।

७ सिडो थेटे, पृ २१८।

८. वही।

९. तस्यात्मजाब्जमुखमत्तवातरम्या हंसी यथा सुगतपक्षसहामवद् या।
सा राजहंसमुदेव विवर्द्धयन्ती श्रीशानतुंगविजयेति ररास राज्ञी॥
५ ६ भारत और जावा, पृ ६६

ईशानतुंगविजया की उपमा मानस झील की राजहंसी से की गयी है और उसके बौद्ध होने का उल्लेख है। उसका विवाह श्री लोकनाथ नामक नृप से हुआ था जो क्षीरसमुद्र की भांति था।[1] लोकनाथ के कई लेख[11] मिले हैं, पर यह कहना कठिन है कि इनमें से किसी भी लेख का उपयुक्त लोकनाथ से सम्बन्ध है जो सिडोक का जामाता था। हो सकता है कि ईशानतुंगविजया तथा लोकपाल ने मिलकर राज्य किया हो। एरलंग की प्रशस्ति में ईशानतुंगा और लोकपाल के पुत्र श्री मकुट वर्धन के सिंहासनारूढ़ होने का उल्लेख है। उसकी तुलना विष्णु से की गयी है और सूर्य की भांति वह अपने शत्रुओं के नाश के लिए सदैव तैयार रहता था जिनके हाथियों के मस्तक उसके लिए मिट्टी के घड़े के समान थे। शासकों का वह अधिपति था अपने धैर्य के कारण वह श्री ईशानवंश का सूर्य था। मकुटवंशवर्धन के विषय में और कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। उपर्युक्त लेख में उसकी कन्या महेन्द्रदत्ता अथवा गुणप्रियधर्मपत्नी का उल्लेख है जिसका विवाह उदयन से हुआ जो एक राजवंशीय था। महेन्द्रदत्ता को मगधराजलक्ष्मी भी कहा गया है और उसके पुत्रों की कीर्ति अन्य द्वीपों में भी फैली थी। इन दोनों के राज्य करने का उल्लेख इस लेख में नहीं है, पर बालि में मिले कुछ लेखों में 'गुणप्रियधर्म

१ मन्दाकिनीमिव तदात्मसमां समुद्र्या, क्षीरार्णवप्रथितशुद्धगुणान्तरात्मा।
तामब्धिरोत्पलिनीमयमात्मनिन्दी श्रीलोकपालनृपतिर्नरनायकाम॥

११ भ्रोम के मतानुसार यह लेख शाक सं ८७२ का है। (देखे पृ २१५)। दैमिट, सिरी बेर्दे, पृ २११। इस लेख में इसे 'श्री भुवनेश्वर विष्णुसकलात्मक दिग्विजयपराक्रमोत्तुंगदेव' कहा गया है। अन्य दो लेख शाक सं ८ २ अथवा ८११ (८८ अथवा ८९ ई) तथा ७७८ शाक सं (८५६ ई) के हैं जिनके आधार पर इस लोकपाल ने ८५६ से ८९ तक राज्य किया होगा और उसका मतराम वंश के राजाओं से सम्बन्ध रहा होगा। अतः अन्य दो लेख किसी और लोकपाल के होंगे।

१२ ताभ्यामिवद्युम्नयुम्भवल्ले पुत्रः प्रभुर्नृपुमान्।
श्रीमकुटवंशवर्धन इति प्रथितो गुणान्गुरर्मेद्रः।
श्रीशानवंशतपनस्तताप शुभन्मतापेन॥

१३ द्वीपान्तरेष्वपि भुवमन वसूर्वचित्र, नाम्ना हता यान गुणप्रियधर्मपत्नी।

पत्नी' और उसके पति धर्मोदयनवर्मदेव का उल्लेख है। डा मजुमदार के विचार में[14] गुणप्रियधर्मपत्नी का नाम पहले मिलना यह संकेत करता है कि बालि में वह अपने पिता की ओर से शासन कर रही थी और उदयन भी वहीं उसके साथ रहता था। इनके संयुक्त लेख ९८९ और १ १ ई के बीच काल के मिलते हैं और उसके बाद १ २२ ई तक केवल धर्मोदयन के ही लेख मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि १ १ ई मे महेन्द्रदत्ता की मृत्यु के पश्चात् केवल उदयन ने ही बालि में शासन किया।[15]

धर्मवंश-ऐरलग

ऐरलंग की प्रशस्ति के अनुसार महेन्द्रदत्ता अथवा गुणप्रियधर्मपत्नी और उदयन की सन्तान ऐरलंग था जिसका विवाह पूर्वी जावा के शासक धर्मवंश की कन्या से हुआ था। धर्मवंश कदाचित् मकुटवंशवर्द्धन का उत्तराधिकारी था। क्रोम के मतानुसार' उसने मकुटवंशवर्द्धन की ज्येष्ठ कन्या के साथ विवाह किया था और इसी अधिकार से वह मकुटवंशवर्द्धन के बाद सिंहासन पर बैठा। ऐरलंग ने इसकी कन्या से विवाह कर जावा तथा बालि के राजवंशों का एकीकरण किया

१४ सुवर्णद्वीप पृ २६४।

१५ उदयन का नाम शक सं ८९९ (९७७ ई) के बतुर[illegible] की समाधि पेनंगुंगन के पश्चिम ओर स्थित लेख में भी है। पर यह उदयन महेन्द्रदत्तापति उदयन से भिन्न है। क्रोम के मतानुसार दोनों एक ही थे और यह समाधि उदयन के जीवन-काल में ही बनी (इ व पे पृ २१४-५)। स्टुटरहाइम ने उदयन को बालि-निवासी माना है (मजुमदार, सुवर्णद्वीप, पृ २६१ नोट १)। आठवीं और नवीं शताब्दी में बालि द्वीप राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में जावा से स्वतंत्र होकर अपना अस्तित्व बनाये हुए था। जावा अथवा सुमात्रा का भारतीय प्रभाव यहाँ के बौद्ध धर्म पर मिलता है। सिंडोक के समय से बालि के राजनीतिक इतिहास का भी पता चलता है। उग्रसेन नामक कुमार ने ९१५-९४२ तक सिंहमण्डप अथवा सिंहपुर में राज्य किया। उसने जावा से स्वतंत्र हिन्दू-बालिनी समाज का निर्माण किया तथा शैव और बौद्ध मत को प्रोत्साहन दिया। सिडो, ए हि पृ २११।

१६ मजुमदार, सुवर्णद्वीप पृ २६२।

इसलिए उसे ब्राह्मणों द्वारा जावा पर राज्य करने का आमंत्रण मिला। धर्मवंश के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। प्रशस्ति से केवल इतना प्रतीत होता है कि वह जावा के पूर्वी भाग का शासक था। शक सं. ९१६ के दो लेखों[17] में भी धर्मवंशतगुह का उल्लेख है। हो सकता है कि इसकी समानता धर्मवंश से की जाय। धर्मवंश को 'शिवशासन' और 'महाभारत' के पुरानी जावानी भाषा में अनुवाद कराने का भी श्रेय दिया गया है। इसके आधार पर इसका पूरा नाम भी धर्मवंशतेगुह अनन्तविक्रमोत्तुंगदेव था। ९९१ ई. के एक लेख में 'शिवशासन' ग्रन्थ का उल्लेख है। उस समय धर्मवंश राज्य कर रहा होगा। दूसरे वर्ष जावा से एक राजदूत चीन गया।[18] उसने बताया कि उसके देश का सन-फो-त्सि के साथ संघर्ष जारी था। ९९२ ई. में जावा ने उस पर आक्रमण किया था और उसे सफलता भी मिली थी। सन-फो-त्सि के साथ जावा का संघर्ष उसके लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। १००३ ई. में शैलेन्द्र शासक ने जावा के आक्रमणकारियों को पीछे हटने के लिए बाध्य किया और १००६ ई. में जावा के ऊपर आक्रमण कर उसने उनकी राजधानी को जला दिया जिसका उल्लेख ऐरलंग की प्रशस्ति में है।[20] वहाँ के सम्राट् की मृत्यु १००७ में हो गयी।

१७. डमी एट्रूर्ण १३१ १३२। बु. इ. फ्रा. भाग ४६ (१) पृ. ६२ ६१।

१८. ओ. जे. ओ. नं० ५७। मजुमदार सुवर्णद्वीप, पृ. २६४।

१९. वही, पृ. २६५।

२०. यत्र भस्मसादगमदाशु कलुरम्बुधूततराद्रुमिव योयतं चिरम्। चटर्जी और चक्रवर्ती, भारत और जावा पृ. ६७, पद १४।

कोम के मतानुसार पूर्वी जावा पर आक्रमण करने में शैलेन्द्रों का हाथ भले ही रहा हो पर उन्होंने एक तीसरी शक्ति को ऐसा करने के लिए प्रोत्साहित किया। किन्तु शैलेन्द्र ९९२ ई. में धर्मवंश के समय में किये गये आक्रमण को भूल नहीं सके थे। अतः उन्होंने स्वतः आक्रमण किया और कुछ काल तक वे जावा पर अधिकार भी जमाये रहे। १०१६ ई. में चोल द्वारा राजधानी पर आक्रमण होने के कारण उन्हें जावा छोड़ना पड़ा। इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है (मजुमदार, सुवर्णद्वीप पृ. २६७-८)। क्रिश के मतानुसार मुख्य आक्रमणकारी वनारी का राजकुमार था जो मलाया का रहनेवाला था (प. हि. पृ. २४४)।

ऐरलंग का राज्यकाल

उपर्युक्त वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि विवाह के पश्चात् ऐरलंग अपने श्वसुर के साथ पूर्वी जावा में रहता था और जब १ ६ ई में देश पर आक्रमण हुआ तो उसे भी भागना पड़ा। प्रशस्ति के अनुसार शक सं ९१२ के माघ मास की अमावस्या चंद्रवार के दिन मुख्य ब्राह्मण और प्रजा प्रतिनिधि ऐरलंग के पास आये और उससे राज्य करने का अनुरोध किया।[21] उस समय जावा की राजनीतिक परिस्थिति ठीक न थी और बहुत-से स्थानीय शासक स्वतंत्र बने हुए थे (भूपालो भवभूतये भुभुजिरे पृथ्वीमनेकार्थिनः पद १७)। ऐरलंग ने उनको दबाया। कवि की वाणी में सिंहासन पर बैठने पर उसके चरण सामन्तों के शीश पर रखे गये थे (भूभृन्मस्तक-समस्तपादयुगलसिंहासने संस्थितः पद १८)। इससे प्रतीत होता है कि पूर्वी जावा के शासन की बागडोर लेने और सम्राट् बनकर अभिषेक कराने में कुछ समय लगा होगा और इस काल में उसने विपक्षी शक्तियों को दबाया। उसका अभिषेक १ १९ ई में हुआ और तब उसने रके हलु श्री लोकेश्वर धर्मवंश ऐरलंग अनन्त-विक्रमोत्तुंगदेव नाम और उपाधि धारण की। उस समय उसका राज्य उत्तरी किनारे के सुराबाया और पसुरुहन के बीच में ही था।[22] दस वर्ष तक उसे अपनी दिग्विजय के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ी और उसी समय १ २५ ई में श्रीविजय पर चोलों का आक्रमण हुआ जिससे उसे अपना राज्य विस्तृत करने का अवकाश मिला। स्टुटरहाइम के मतानुसार[23] जावा पर आयी हुई १ ६ ई की प्रलय का बालि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था पर यह निश्चय नहीं है। उसके अनुसार १ २२ में ऐरलंग अपने पिता की मृत्यु के बाद बालि का भी शासक हो गया, किन्तु १ १२

२१ शाकेन्द्रेऽब्ज विलोचनाग्निवदने याते मधुत्वत्सरे
माघे मासि सितप्रयोदशतिथौ वारे शशिन्युत्सुकैः।
आगत्य प्रणतैर्महर्द्धिकवरैस्तात्वाससम्प्रार्थितः
श्रीलोकेश्वरनीरलंपनृपतिः पाह्नीत्युपत्नाङ्घ्रितिम् ॥१५॥

२२ ऐरलंग का सबसे प्रथम लेख शक सं ९४१ (१ २१ ई)का (भले) सुराबाया में मिला है। इसमें, बु इ का भाग ४६ (१) नं ११५७ पृ ६२-१। १ २१ के लेख में भी सुराबाया के किनारे के स्थानों का ही उल्लेख है (नं ११७)।

२३ विव, १२, १९१४ पृ २ ०-२ १। तिडी प हि पृ २४५।

और १०२५ ई॰ के बीच के धर्मवंश धर्मम् मरकट पंकज स्थानात्तुंगदेव का उल्लेख यहां के कई लेखों में मिलता है जो ऐरलंग से भिन्न था। हो सकता है यह उसकी ओर से बालि में शासन कर रहा हो।

दिग्विजय[24]

१०२८ ई॰ तक ऐरलंग अपना राज्य विस्तृत करने के लिए पूर्णतया शक्तिशाली हो गया। कुछ शासकों ने उसके अधीन रहना स्वीकार कर लिया। १ २९ ई॰ म उसने भीष्मप्रभाव को युरतन में हराया। १ १ ई॰ में वेंकेर के कुमार विजय की शक्ति को थोड़े समय के लिए नष्ट कर दिया। १ ११ ई॰ में अधमापपुर के ऊपर पूर्णतया विजय प्राप्त कर उसकी राजधानी तथा अन्य नगरों को जला दिया (नरपतित्तिरदीयतनयराज्यवदहात, पद २५)। १ १२ ई॰ म दक्षिण की एक शक्तिशाली सम्राज्ञी को हराया जो राक्षसीस्वरूप थी (अमवदरि भुवि स्त्री राक्षसीवोग्रवीर्या)। उसी वर्ष उसका वुरवरि के शासक के साथ संघर्ष हुआ जो जावा के विध्वंस का कारण बना था। वुरवरि का शासक पूर्णतया परास्त हुआ। यह स्थान जावा में ही रहा होगा। वेंकेर के शासक की ओर से ऐरलंग को अब भी भय था क्योंकि वह बड़ा शक्तिशाली था और उसकी शक्ति नष्ट नहीं हो सकी थी। १ १५ ई॰ मे उसने वेंकेर के विरुद्ध एक बड़ी सेना लेकर आक्रमण किया और उसे पूर्णतया हरा दिया। दो मास बाद विजय को उसी की सेना ने बंदी बना लिया

२४ पेनंग-गुंगेन (सुरावाया) से प्राप्त शक सं॰ ९६३ (१ ४१ ई॰) का ऐरलंग का लेख जो इस समय कलकत्ते के संग्रहालय में है, उपर्युक्त शासक की दिग्विजय तथा पूर्वी जावा के इस वंश के इतिहास के लिए विशेषतया महत्वपूर्ण है। लेख संस्कृत तथा प्राचीन जावानी कविभाषा में है। संस्कृत लेख घटर्जी और चक्रवर्ती ने अपने ग्रन्थ 'भारत और जावा' में छपाया है (पृ॰ ६३-७४)। इस लेख तथा कवि लेख के आधार पर विद्वानों ने इसकी दिग्विजय का विवरण दिया है। उपर्युक्त वर्णन मजुमदार के 'सुवर्णद्वीप' तथा सिडो के ग्रन्थ 'हिन्द चीन और हिन्दनेशिया के हिन्दू राज्य (फ्रांसीसी में) के आधार पर है (पृ॰ क्रमशः २९९ से तथा २७५ से)। तिथियों के विषय में मूल रूप से संस्कृत लेख तथा क्रमे के 'हिन्दनेशिया के लेखों का अध्ययन' पृ॰ ८ मध्य भाग ४६ (१) में ११५ १४१ का आश्रय लिया गया है।

और फिर उसका वध कर दिया। यह ऐरलंग की कूटनीति से हुआ था जो उसने विष्णुगुप्त (चाणक्य) की पुस्तक से सीखी थी।[२५] ऐरलंग के सम्मुख अब कोई विरोधी नहीं रहा और उसका मार्ग पूर्णतया साफ हो गया। वह जावा का सम्राट् बन गया। अपने विस्तृत राज्य के सुचारु रूप से शासन के लिए ऐरलंग ने अपनी राजधानी पूर्व में कहुरिपन में रखी जिसकी पहचान अभी तक नहीं की जा सकी है। उसकी प्रशस्ति में उसकी शासनव्यवस्था का भी संकेत मिलता है। मंत्रियों द्वारा परामर्श प्रत्येक दिन होता था और वे राजकार्य में व्यस्त तथा तटस्थ रहते थे (मन्त्रालोचनतत्परैरहरहस्सम्यक्स्थितो मन्त्रिभिः पद १८)। केलगन लेख से पता चलता है कि ब्रन्तस नदी में वरिंगिन सप्त (वर्तमान वुंगिनपितु) के पास बड़ी क्षति पहुंचाती थी और सम्राट् ने उसके बहाव को रोकने के लिए एक बड़ा बांध बनवाया था।[२६]

वैदेशिक सम्बन्ध

जावा की आन्तरिक राजनीतिक परिस्थिति सुगठित होने के कारण उसका विदेशों के साथ सम्पर्क स्थापित करना स्वाभाविक था। ट्रलेंग के एक लेख में[२७] 'परद्वीप परमडल' के उल्लेख से कुछ विद्वानों ने विचार में ऐरलंग के विदेशों में जाकर संघर्ष करने का संकेत मिलता है पर इसकी किसी अन्य स्रोत से पुष्टि नहीं होती है। उसके लेखों में[२८] उन विदेशियों का अवश्य उल्लेख है जो व्यापार अथवा किसी अन्य कार्य के लिए जावा आते थे। जैसे किलिंग (भारतीय कलिंग निवासी)

२५ मिळकतकृतिसूत्रितो वैष्णुगुप्तेस्यामरस्तपदि विजयनामा पार्थिवो नाम गच्छत्। 'अर्थशास्त्र' नामक ग्रन्थ का रचयिता चाणक्य विष्णुगुप्त अथवा कौटिल्य (कौटल्य) नाम से विख्यात था। ग्रन्थ के अन्त में उसके रचयिता का नाम विष्णुगुप्त दिया गया है। (हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ ४५८)।

२६ ओ जे ओ नं ६१ सुवर्णद्वीप, पृ २७२। इस बांध के निर्माण से विदेशी व्यापारियों को भी बड़ी सुविधाएँ हो गयी थीं।

२७ ओ जे ओ नं ६४।

२८ ओ जे ओ नं ५८, ५९ और ६४। सिडो ए हि पृ २४७। मजुमदार, 'स्वर्णद्वीप, पृ २७१।

आर्य (भारतीय आर्यावर्त) गौड (बंगाल के गौड़) सिंघल (लंका निवासी) कर्णाटक निवासी चोलिक (कारोमंडल के चोल) मलयल (मलाबार निवासी) पण्डिकिर (पाण्डर और चेर) द्रविड़ (तामिल) चम्पा के चम रैमेन मों अथवा रामनी के मन तथा विमर ख्मेर को बन्तस नदी के मुहाने पर तुबन के निकट उत्तर में व्यापार के लिए आते हैं।

ऐरलंग के प्रारम्भिक लेखों में रकरयान महामंत्री ह्निो श्री संग्रामविजय धर्मप्रसादोत्तुंगमहादेवी का भी उल्लेख है, जिसने १ १७ ई तक उच्च पदों को सुशोभित किया और उसे ऐरलंग की कन्या माना जाता है।[११] इसी वर्ष के एक दूसरे लेख में उसी पद पर एक दूसरे व्यक्ति के नाम का उल्लेख है।[१२] कदाचित् उसकी मृत्यु के उपरान्त १ ४१ में उसने पुचग्यन में एक विहार का निर्माण कराया वहां उसने अपना अज्ञातवास काल व्यतीत किया था। जावा की एक किंवदन्ती के अनुसार कहुरिपन वंश की किलि सुचि नामक एक भिक्षुणी के लिए इस विहार का निर्माण हुआ और इसे एरलंग की कन्या माना जाता है। सिडो के मतानुसार[१] इस विहार का निर्माण उस कन्या की मृत्यु के बाद हुआ जिसका उल्लेख १ १०-४१ के बीच के लेखों में मिलता है और वह उच्च पदों पर शोभायमान रह चुकी थी।

धार्मिक प्रवृत्ति

ऐरलंग एक कुशल और योग्य शासक था। उसके समय में सभी धर्मों ने उन्नति की। लेखों में शैव सौगत (बौद्ध) तथा ऋषियों (यतियों) का उल्लेख है। शैव मत ने उस समय में हिन्द-चीन तथा हिन्दनेशिया में प्रधान स्थान प्राप्त कर लिया था। एरलंग को भी स्वयं विष्णु का अवतार माना गया है। गरुड पर आसीन विष्णु और उनके दोनों ओर लक्ष्मी की मूर्ति से सम्राट् और उसकी दो रानियों को सकेतित किया गया है।[१३] एक किंवदन्ती के अनुसार वृद्धावस्था में पन्ग्यु ऋषि के नाम से सम्राट् यति हो गया था। १ ४२ ई के बाद का इसका

१९. मजुमदार, सुवर्णद्वीप पृ २७२। सिडो, ए हि पृ २४६।
१ ओ वि १९१९, पृ ७ । मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ २७२।
११ ए हि पृ २४६।
१२ वही, पृ २४८।

कोई लेख नहीं मिला है और १ ४९ ई में इसकी मृत्यु हुई। सात वर्ष तक सम्राट् ने अपना समय धार्मिक कृत्यों में व्यतीत किया और सुचारु रूप से शासन किया। ऐरलंग का शासन-काल साहित्यिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। जावा में भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद हुआ तथा उनके आधार पर ग्रन्थ लिखे गये। 'शिवशासन' प्राचीन स्मृतियों पर आधारित जावानी ग्रन्थ है। महाभारत के आदि, विराट और भीष्म पर्व का भी जावानी भाषा में अनुवाद हुआ तथा कन्व द्वारा १ १५ में 'अर्जुन-विवाह' लिखा गया जिसमें वास्तव में ऐरलंग के सुमात्रा की राजकुमारी के साथ विवाह का उल्लेख है।[13]

मृत्यु से पहले ऐरलंग ने अपने साम्राज्य को दो भागों में विभाजित कर दिया था जिससे मृत्यु के बाद उसके पुत्रों में उत्तराधिकार के लिए संघर्ष न हो। जंगल और पंजलु नामक दो राज्यों के बीच की सीमाएं बड़ी दीवार बनाकर निर्धारित कर दी गयीं। उसके अंश ब्रन्तस नदी के किनारे कवी पहाड़ और द्वीप के समुद्री किनारे पर मिलते हैं। जंगल की राजधानी कुहुरिपन थी जो ऐरलंग की भी राजधानी थी और इसमें मलंग का प्रान्त ब्रन्तस नदी का मुहाना तथा सुराबाया रेमबंग और पसुरुहन के बन्दरगाह भी थे। पश्चिम राज्य पंजलु थी जो केडिरी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है राजधानी दह (वास्तव में केडिरी) थी। इसमें केडिरी तथा मदियुन थे और सुराबाया की खाड़ी से समुद्र में प्रवेश का मार्ग था। जंगल का राज्य बहुत समय तक स्थापित न रह सका। इसका कुछ भाग पंजलु अथवा केडिरी के राज्य में मिला लिया गया और कुछ भाग में कहीं-कहीं पर स्वतंत्र या सामन्त शासन करने लगे। बाद के (१ ४९ १ ७७ ई के) लेखों से ज्ञात होता है कि वहां ऐरलंग का सहोदर राज्य कर रहा था।[14]

जावा के इतिहास में ऐरलंग का स्थान विशेष महत्त्व का है। इसने देश को वैदेशिक शक्ति से छुड़ाकर एकता प्रदान की और एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित

१३ विशेष अध्ययन के लिए हिमांशुभूषण सरकार का 'जावा और बालि का साहित्य पर प्रभाव' (अंग्रेजी) ग्रन्थ देखिए। सिडो, ए हि पृ २४८, नोट ७।

१४ ओ वी १९१६ पृ १ ६। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ २०८।

१५ सिडो ए हि पृ २४९।

किया। कुशल शासक के रूप में उसने देश का शासन सुचारु रूप से किया तथा उसके विकास में योगदान दिया। इसी लिए उसके यहाँ विदेशों से भी व्यापारी आते थे जैसा कि उसके लेखों से प्रतीत होता है। जीवन के अन्तिम वर्षों में उसकी धार्मिक प्रवृत्ति अधिक बढ़ गयी थी जिसके फलस्वरूप उसके शासन में शिथिलता आ गयी और उसे अपने पुत्रों के लिए अपने राज्य को दो भागों में विभाजित करना पड़ा जो जावा के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। जावा का आगे का इतिहास कदिरी राज्य से ही संबन्धित रह जाता है।

अध्याय ५

कडिरी और सिंहसारि के राज्य (११५०-१२९२)

कडिरी का राज्य (११५ -१२२२ ई०)

सम्राट् ऐरलंग ने अपने जीवनकाल में ही विस्तृत साम्राज्य का विभाजन कर दिया था जिससे उसकी सन्तानों में संघर्ष की सम्भावना न हो। 'नागर कृतागम'[1] के अनुसार उसका यह कार्य प्रेमवश ही हुआ था और यह कार्य शाक्ति भरड़ को सौंपा गया था। जंगलु और पंजल के नाम से दो राज्य बने जिनकी सीमाएं निर्धारित हो चुकी थी। जंगल राज्य का वृत्तान्त बहुत कम मिलता है। १ ५१ ई के एक ताम्रपत्र[2] में मपञ्जि अमर सुंग बहुये का उल्लेख है, पर इसकी सत्यता सन्देहजनक है। सुराबाया के एक लेख में[3] 'रके हलु पु पुरों श्री समरोत्साह कर्णकेशन धर्मवंश कीर्तिसिंह जयान्तक तुंगदेव का उल्लेख है, जो उपाधियों तथा ऐरलंग की गरुड़मुख मुद्रा का चिह्न अपनाने के कारण इसी सम्राट् का वंशज प्रतीत होता है। डा मजुमदार के मतानुसार इस लेख की तिथि ९८२ (१ ६ ई) माननी चाहिए। डमें के अनुसार इसकी तिथि शक सं ९८१ (१ ५९ ई) है। उपर्युक्त प्रमाण के अतिरिक्त जंगल राज्य का इतिहास अथवा वहां के शासकों का कहीं उल्लेख नहीं है। हो सकता है कि जावा के दोनों राज्य

१ ९८१ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ २७६। इसका उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है।

२ अग्रकामित, जीम इ ज मे पृ २८१। ओ वो० १९१८ पृ ९४ ७। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ २७९।

३ वही पृ २७९। 'हिन्देनेशी लेखों का अध्ययन' पृ ? भाग ९५ (१) नं १५२, पृ ९९-९७।

४ ११ १ ई में जावा द्वारा चीन भेजे गये राजदूत, वहां के सम्राट् के द्वारा

पुन: एक में मिला लिये गये हों अथवा कुछ भाग पर सामन्त या स्वतंत्र शासक राज्य कर रहे हों। १२वीं शताब्दी के कडिरी सम्राट् कामेश्वर प्रथम की एक रानी जंगल की थी पर उसके पिता या वहां के शासक का उल्लेख नहीं है। १२वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में मलंग के निकट तुमपेल में एक नवीन राज्य की स्थापना हुई और इससे यह प्रतीत होता है कि उस समय तक अथवा उससे पहले ऐरलंग द्वारा स्थापित जंगल राज्य नष्ट हो चुका था। कडिरी का राज्य प्रधान था क्योंकि १२वीं शताब्दी के बहुत-से लेख वर्तमान कडिरी में मिले हैं जिनसे उस समय की जावा की राजनीतिक तथा सांस्कृतिक स्थिति का पता चलता है।

कडिरी के शासक

कडिरी के प्रथम शासक श्री जयवर्ष दिग्जय का उल्लेख ११ ४ ई के एक लेख में मिलता है।[५] इसमें इसे शास्त्रप्रभु और जयप्रभु की उपाधियां भी प्रदान की गयी हैं और कदाचित् इसी की संरक्षकता में कवि त्रिगुण ने प्रसिद्ध जावानी काव्य 'कृष्णायन' की रचना की[६] जिसमें कृष्ण की लीला का वर्णन है और उसका चित्रण पैनीजनो तथा पनतरन म भी मिलता है। यह कहना कठिन है कि इसने किस समय से कब तक राज्य किया। ११७१ ई से कडिरी में बहुत-से लेख मिलते हैं जिनमें से ११३ ई के कदाचित् एक ही शासक के हैं यद्यपि शासकों का नाम भिन्न है। इनको बामेश्वर, परमेश्वर तथा कामेश्वर पढ़ा गया है। क्रमें के

११२९ ११३२ ई के बीच में जावा के शासक का सम्मान प्राप्त करना और चवमी वृत्तान्तों में १०वीं शताब्दी में जावा के साथ व्यापार का उल्लेख मुख्यतया कडिरी राज्य से सम्बन्धित है पर यह नहीं कहा जा सकता कि जंगल राज्य उस समय नष्ट हो चुका था अथवा उपर्युक्त वृत्तान्तों में से किसी का भी जंगल राज्य से संबंध न था। मासपेरो, चम्पा राज्य पृ १९७। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ९८ ।

५. सिडो ए हि पृ २९८। जीम इ चा पे पृ २८८।

६. सरकार, 'जावा के साहित्य पर भारतीय प्रभाव' (अंग्रेजी) पृ ११२-२१

७. वरहल चन्डी जागो पृ ७७। बल्लेम कौसल-लिख ६४ १९२९, पृ १९१। सिडो वेटे, पृ २९८।

मतानुसार[८] ११२७ ११२ ११२८, ११२९ तथा १११ के लेख भी महाराज एके सिरिकन श्री कामेश्वर सकलभुवन तुष्टिकारणानिवार्यवीर्य पराक्रम दिग्जयो-तुंगदेव के हैं। सिडो[९] ने इसे कामेश्वर पढ़ा है और आगे चलकर भी इस नाम के कई लेख मिले हैं जिसे कामेश्वर द्वितीय मान सकते हैं। प्राचीन जावानी काव्य 'स्मरदहन' में जिसे धर्मज ने लिखा था सम्राट् कामेश्वर का उल्लेख है। कवि ने जावा को 'मध्य मध्यदेश' कहा है जिसके चारों ओर समुद्र था। उसने सम्राट् को काम का अवतार माना है और उसका निवासस्थान दहन कहा गया है। श्री ईशानधर्म को इस वंश का संस्थापक कहा गया है। ऐरलंग की भाँति कदिरी के शासक भी अपने को विष्णु-वंशज मानते थे। कामेश्वर की रानी श्री किरण-रत्नदेव की कन्या थी और जंगल की सबसे श्रेष्ठ सुन्दरी स्त्री थी। यह नहीं कहा जा सकता कि जंगल का उस समय स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व था अथवा यह कदिरी के अधीन हो चुका था। इस दम्पति को लेकर बहुत-सी दन्तकथाएं गठित हुईं जो कि थाई और कम्बुज देश तक पहुँचीं। कामेश्वर ने लगभग ११३५ ई० तक राज्य किया।

जयभय

धर्मेश्वर या जयभय कामेश्वर का कदाचित् पुत्र था जिसने ११३५ ११५७ ई० तक राज्य किया। इसके ११३५, ११३६, ११४४ के लेख मिले हैं।[११] इसे श्री महाराज संग मपञ्जि जयभय श्री वर्मेश्वर मधुसूदनावतारानिन्दित सुहृत्सिंहपराक्रम दिग्जयोत्तुंगदेव नाम से सम्बोधित किया गया है। सम्राट् का नाम भी एक स्थान पर संग मपञ्जि जयभय और दूसरे स्थान पर जयभयलञ्छन दिया

८ जु इ भा ५५ (१) नं १४५-१४६, पृ ६६-६७।

९ प हि० पृ २८३।

१ जावा में इन्हें पंजि कथाएं कहा गया है और इनाओं अथवा जावनी हिन्दी नाम से ये प्रसिद्ध रही हैं। इसी आधार पर एक नाटक १५वीं शताब्दी के आरम्भ में थाई सम्राट् म-पुत्र-लोत-ल द्वारा लिखा गया। सिडो प हि० पृ २८४ और २ ३।

११ इसे जु इ भा ५५ (१) नं १५१ १५४ पृ ६६ ६७।

गया है। सेडह द्वारा शक सं १ ७९ (११५७ ई) में लिखित 'भारतयुद्ध'[12] नामक ग्रन्थ में जिसमें महाभारत के युद्ध का वर्णन है सम्राट् को विष्णु का अवतार माना है तथा उसे जावा का निर्णायक शासक कहा है। उसके सम्मुख सभी राजा शीश झुकाते थे जिनमें 'हेमभूपति' (कदाचित् सुवर्णभूमि) का भी शासक था। कवि के इस प्रकार के वाक्य को किसी प्रकार का ऐतिहासिक महत्त्व देना ठीक नहीं है। इस ग्रन्थ को पनुलुह नामक व्यक्ति ने समाप्त किया और उसने एक और ग्रन्थ[13] 'हरिवंश' (विष्णु की अवतार सम्बन्धी कथाएं) भी लिखा जिसमें जयभय को भी वर्मेश्वर दिग्विजय नाम से सम्बोधित किया गया है जो लेखों में भी मिलता है। उसके तीसरे ग्रन्थ 'घटोत्कचाश्रय' में भी जयाकृत का उल्लेख है जो जयभय का उत्तराधिकारी प्रतीत होता है, पर लेखों के अनुसार ११५९ ई० में सर्वेश्वर राज्य कर रहा था।

सर्वेश्वर से कामेश्वर द्वितीय तक

११५९ तथा ११६१ ई के दो लेखों में[14] 'श्री महाराज रके सिरिकन श्री सर्वेश्वर जनार्दनावतार विजयाग्रजसमसिंहनादानिवार्यवीर्य पराक्रम दिग्जयोत्तुंगदेवनाम' शासक का उल्लेख है। यह कहना कठिन है कि इसने कब तक राज्य किया। ११६९ और १०७१ के दो लेखों में[15] श्री महाराज रके हिनो श्री आर्य्येश्वर मधुसूदनावतारारिजय मुख सकल भुवन विनर्ज्य पराक्रमो त्तुंग देवनाम के राजा के शासन करने का उल्लेख है। इसके बाद ११८१ ई के लेख[16] में श्री महाराज श्री कोञ्चार्यदीप हण्डभुवनपालक पराक्रमानिन्दित दिग्जयोत्तुंगदेव नामक शासक का नाम मिलता है। इस लेख में सेनापति सर्वजल अथवा कलसेनापति का भी उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि कदिरी राज्य की रक्षा

१२ कर्निम द्वारा सम्पादित १९ १। देखिए, सरकार, 'जावा और बालि के साहित्य पर भारतीय प्रभाव' पृ २६१।

१३ सरकार वही।

१४ दमे 'हिन्देसैयी लेखों का अध्ययन' (फ्रांसीसी में) पृ ह भा ४५ (१) नं १६५, १६६, पृ ६८६९।

१५ वही, नं १७० १६८, पृ ६८६९।

१६ वही नं १६६ पृ ६८६९।

के लिए सामुद्रिक बेड़ा भी रहा होगा।[१७] ११८९ ई के लेख में पादुक श्री महाराज श्री कामेश्वर त्रिविक्रमावतार अनिवार्यवीर्य पराक्रम दिग्जयोत्तुंगदेव नाम शासक का उल्लेख है। क्रोम के मतानुसार[१८] धर्मज के 'स्मरदहन' में जिस शासक कामेश्वर का उल्लेख है वह वास्तव में यही था और इसके बाद ही तम्गुल ने अपने ग्रन्थ 'वृत्तसंचय' की रचना की जो कडिरी के १२२२ ई के पतन के थोड़े ही समय पहले लिखा गया था। सिडो[१९] क्रोम के मत से सहमत नहीं है। 'वृत्तसंचय'[२०] की रचना इसी कामेश्वर द्वितीय के समय में हुई। कामेश्वर के बाद के लेखों म शृंग का नाम आता है जिसके पाच लेख मिले हैं।[२१] इनमें इसे श्री सर्वेश्वर त्रिविक्रमावतारानिन्दित शृंग लंछन दिग्विजयोत्तुंग देव नाम से सम्बोधित किया गया है। ११९ ई के सपु के लेख मे कृतजय नाम भी मिलता है और १२ २ के लेख मे भी शृंग के नाम के साथ इसका नाम आता है। क्रोम के मतानुसार[२२] यह दोनो एक ही व्यक्ति थे। पर डा मजुमदार के अनुसार[२३] इसकी समानता अन्तिम शासक कृतजय से की जानी चाहिए और ११९ के लेख के समय यह केवल राजकुमार था। इसके अतिरिक्त ग्रन्थों में दो और नाम मिलते हैं पर यह कहना कठिन है कि वे कडिरी के शासक थे। सम्राट् कामेश्वर (द्वितीय) के समय के एक ग्रन्थ म श्री गर्मेश्वरराज पादुक भटार जयनगर अलवंग इप भगत का नाम मिलता है तथा बालि से प्राप्त 'ब्रह्माण्डपुराण पर आधारित 'पृथ्वीविजय' में प्रकृतिवीर्य का उल्लेख है पर इन दोनों के न तो कोई लेख ही मिले हैं और न अन्य किसी स्रोत से

१७. वही नं ११२ पृ १८ ११।

१८. इ ला गी पृ २९८-९। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ २८६, नोट।

१९ ए हि पृ १ २।

२ फ्रायडेरिक द्वारा संपादित देखिए सरकार, 'जावा साहित्य पर भारतीय प्रभाव' पृ ११५ ११७।

२१ ओ जे डू इ का ३५ (१) नं ११३ ११४ ११६ ११७ १७० पृ ७०-७१। ७१-७३।

२२ वही नं ११९, पृ ७०-७१।

२३ वही पृ ७ नोट १।

२४ 'सुवर्णद्वीप' पृ १८७।

इनके विषय में जानकारी प्राप्त है। अतः इन्हें कडिरी का शासक नहीं माना जा सकता है। कृतजय यहाँ का अन्तिम शासक था। वतेस कुकोन का १२ ५ ई का लेख[२५] जिसमें शृंग का नाम भी है, इसी का माना जाता है पर इसका १२१६ ई का भी एक लेख है[२६] जिसमें नागरी अक्षर में सम्राट् का नाम है और उसकी गरुडमुख मुद्रा भी है। इसके विषय में 'नागरकृतागम' तथा 'परारतोन' में भी उल्लेख मिलता है।[२७] प्रथम में उसे अधम और धार्मिक ग्रन्थों में पारंगत कहा गया है। दूसरे ग्रन्थ मे शासक का नाम डम डंग गोडिस कहा गया है। भिक्षुओं का अनादर उसके लिए घातक सिद्ध हुआ। तुम्पेल के शासक के यहाँ उसने शरण ली। १२२२ ई में उसने कडिरी पर आक्रमण कर दिया और कृतजय ने भागकर एक विहार में शरण ली तथा कडिरी का राज्य समाप्त हो गया।

चीनी वृत्तान्त

'सुंगवंश का इतिहास' तथा 'चाऊ-जु-कुआ' ने जावा के लगभग ११७५ १२२५ ई के बीच काल के इतिहास पर प्रकाश डाला है।[२८] उस समय जावा में तीन राजनीतिक शक्तियाँ थीं शो-पो और सिन-तो जो सन-फो-त्सि के अधीन थी और शुकितन जो शो-पो की एक शाखा थी पर वहाँ का शासक दूसरा था और वहाँ के लोगों की चालढाल शो-पो के निवासियों से कुछ भिन्न थी। शो-पो की समानता कडिरी से मान ली गयी है और शुकितन से जावा के ऐरलंग द्वारा स्थापित दूसरे राज्य जंगल का संकेत है। सन-फो-त्सि के विषय मे लिखते हुए

२५. इमे पु इ भा ४५ (२) नं १७ पृ ७२।

२६. ओ वी १९२८, पृ २७९। मजुमदार, पृ २८७।

२७. मजुमदार 'सुवर्णद्वीप' पृ २८७।

२८. चाऊ जु कुआ फुकियन में वैदेशिक व्यापार का निरीक्षक था। १२वीं और १३वीं शताब्दी के व्यापार का उल्लेख उसने अपने चाऊ फन चे नामक ग्रन्थ में किया है। हर्थ और राकहिल ने उसका अनुवाद किया। उनके मतानुसार उसकी रचना १२४२-५८ के बीच में हुई थी, पर पेलियो ने उसकी तिथि १२२५ रखी है। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ १९३-४। सिडो के मतानुसार यह वृत्तान्त लिंग वै तै त नामक ११७८ ई में लिखित ग्रन्थ पर आधारित है (प हि पृ ३०)।

चीनी लेखक का कहना है कि इसके अधीन चिन-लो अथवा सुन्द था पर पूर्व में इसकी सीमा जंगल से मिलती थी। उस समय जंगल केवल स्वतंत्र ही न था, वरन् उसमें कडिरी का राज्य भी मिल चुका था।[२९] चाउ-जु-कुआ का बाकी सम्बन्धी अन्य वृत्तान्त सांस्कृतिक है जिसका भाग आगे चलकर उल्लेख किया जायगा। राजनीतिक दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि अब कडिरी के स्थान पर दूसरे राज्य की प्रधानता होती है और जावा एक शक्तिशाली राष्ट्र का रूप धारण कर लेता है।

सिंहसारि का राज्य (१२२२ से १२६८ तक)

तुमपेल राज्य की स्थापना का श्रेय अंग्रोक नामक एक अज्ञात व्यक्ति को था जिसका जावा के किसी भी राजवंश से सम्बन्ध न था। प्रपंच के 'नागर-कृतागम'[३०] (१३६५) और १५वीं शताब्दी में लिखे 'परराटोन'[३१] नामक जावा के शासकों की जीवनियों में इस शासक का वृत्तान्त मिलता है। यह व्यक्ति पंगकुर के एक कृषक परिवार में जन्मा था और इसका प्रारम्भिक जीवन लूट-मार में बीता था। तुम-पेल के प्रान्तीय शासक तुङ्गुल अमेतुंग के यहां इसने नौकरी की और फिर समय पाकर अपने स्वामी का वध कर डाला। सम्राट् की विधवा रानी देदेस से विवाह कर यह कवि पहाड़ के पूर्वी भाग का शासक हो गया। इस के पश्चिम में कडिरी का राज्य था और दोनों में संघर्ष होना स्वाभाविक था। कृतजय द्वारा भिक्षुओं का अपमान इसी के लिए घातक सिद्ध हुआ। भिक्षुओं ने अंग्रोक के यहां जाकर सहायता मांगी। उन्होंने उसे राजस के नाम से सम्राट् घोषित किया और उसने कडिरी के शासक कृतजय के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। १२२२ ई० में गन्टेर

२९. सिडो ए हि पृ ३११।

३० क्रोम द्वारा संपादित और कर्न द्वारा अनूदित। इस ग्रन्थ के ऐतिहासिक महत्त्व पर क्रोम ने प्रकाश डाला है। सरकार, भारतीय जावानी इतिहास, क्रोम के जब भाषा में लिखित ग्रन्थ का अंग्रेजी में अनुवाद क ग्रे इ सो भाग १६ १९४६, पृ १८ से। नागरकृतागम में इसे गिरीन्द्र-पुत्र की संपह राजस कहा है। गिरीन्द्र भी शैलेन्द्र की भांति है। सिडो, पृ ११४।

३१ ब्रन्डेस द्वारा सम्पादित और क्रोम द्वारा पुन संपादित सरकार, पृ १२ से।

में इस्तजय की सेना परास्त हुई तथा शासक ने एक विहार में जाकर शरण की। कविरी की लड़ाई में बची हुई सेना पुनः हारी और वहाँ का राज्य अंग्रोक के हाथ में आ गया। दोनों राज्य एक में मिल गये और कदाचित् सम्राट् की ओर से वहाँ सामन्त के रूप में शासन करने लगा। राजस ने अपने नवीन राज्य का नाम तुमपेल रखा पर आगे चलकर यह सिंहसारि के नाम से प्रसिद्ध हुआ। राजस ने देश में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित की और इसके समय से जावा के सांस्कृतिक जीवन में एक नयी स्फूर्ति का प्रवेश हुआ।

'परराटों' के अनुसार अंग्रोक का वध उसके सौतेले पुत्र सम्राज्ञी डेडेस और तुंगुल अमेतुंग के पुत्र अनूशनाथ अथवा अनूपपति के आदेश से हुआ जिसने अपने पिता के वध का बदला उससे चुका लिया। इस वध में पेमकसन नामक एक उच्च पदाधिकारी का हाथ था। इसकी तिथि 'नागरकृतागम' के अनुसार ११२७ और 'परराटों' के अनुसार १२४७ ई० है। अनूपपति अथवा अनूपनाथ उसके बाद सिंहासन पर बैठा और उसने १२४८ ई० तक राज्य किया। उस समय उसका सम्पूर्ण जावा राज्य पर अधिकार था। परराटों के अनुसार उसके सौतेले भाई तोहजय ने उसका वध कर डाला पर वह स्वयं भी कुछ ही मास तक राज्य कर सका। उसका मृत्यु-स्मारक चण्डीकंडल है जो मलंग के दक्षिण-पूर्व में है। उसके दो भतीजों रंग वुनि जो अनुपनाथ का पुत्र था तथा महीश चम्पक (राजस के पौत्र) ने क्रमशः विष्णुवर्धन और नरसिंहमूर्ति के नाम से राज्य किया। विष्णुवर्धन ने १२४८-१२६८ तक राज्य किया और उसके समय की मुख्य घटना लिंगपति द्वारा विद्रोह था जो दबा दिया गया।[१३] इसका स्थान महिबित था जो बाद के नगर मजपहित से थोड़ी दूरी पर वर्तमान बतेटुंग के निकट था। १२५४ ई० में उसने अपने पुत्र और उत्तराधिकारी कृतनगर का अभिषेक किया और उसी समय से कुटराज राजधानी का नया नाम सिंहसारि पड़ा।[१५] विष्णुवर्धन की मृत्यु

१२ परराटों, पृ० ६४ ६५, सिडो पृ० ३१५।

१३ कोम : हि० जा० गे० भाग २, पृ० ५५।

१४ इन दोनों के एक साथ शासन का उल्लेख मिलता है। वास्तव में विष्णुवर्धन शासक था और नरसिंहमूर्ति उपशासक था।

१५. नागर कृत ४१-२ पर, पृ० ७० ; सिडो, पृ० ३१५।

१६. सिंहसारि में प्राचीन अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। चण्डेल चण्डी सिंहसारि

१२६८ ई० में हो गयी। मण्डेरि (सिंहसारि के निकट मण्डेरि) में उस शिव का रूप दिया गया और जगोनाग (बौधिसत्व) अवलोकितेश्वर के एक रूप के नाम से वह जजघु (चण्डी जागो) में पूजा जाने लगा। जयविष्णुवर्धन के समय के दो लेख शक सं० ११८६ और ११८८ (१२६४ ई० और १२६७ ई०) के मिले हैं। प्रथम लेख में[१७] इसे 'श्री सकलकलंकमुक्त मधुमर्दन कमलेक्षण नामाभिषेक श्री जयविष्णुवर्धन' कहा है। दूसरे लेख में[१८] श्री महाराज श्री लोकविजय प्रशस्त जगदीश्वरानिन्दित पराक्रमानिवार्यवीर्यानिन्दितनीय कृतनगर नामाराजाभिषेक का उल्लेख उसके पिता श्री सकल राजाभय श्री विष्णुवर्धन नाम देवाभिषेक के साथ मिलता है। विष्णुवर्धन के साथ 'देवाभिषेक' के प्रयोग से प्रतीत होता है कि उसकी सांसारिक व्यक्तियों से परे देवताओं की श्रेणी में गिनती होने लगी थी।[१९]

कृतनगर

जावानी सम्राट् कृतनगर जिसे बाद में भट्टार शिवबुद्ध नाम से भी सम्बोधित किया गया है, जावा के संयुक्त राज्य जंगल और पंजल का शासक था। उसके लगभग ४ वर्ष के राज्यकाल में जावा की शक्ति इतनी बढ़ गयी कि उसका अधिकार मलाया सुमात्रा तथा बालि तक हो गया और उसने मंगोलों की शक्ति को भी तुच्छ समझा। उसका आचरण तथा नीच व्यक्तियों को बढ़ावा देना उसके पतन का कारण बना। 'नागरकृतागम' के अनुसार उसका अधिकार पहंग,

१६. क्रोम इण्डजावानिश, पृ० ६८-९३। क्रोम सिंहसारि के मन्दोल १९१६ तिज्डो, पृ० ११९ नोट ७।

१७. दमे हिन्दूजावी लेखों का अध्ययन। बु० इ० का० ३५ (१) नं० १०१ पृ० ७९-७३।

१८. वही, नं० १ २, पृ० ७२ ३३।

१९. वही नोट ४। नागरकृतागम के अनुसार (४१ ४) विष्णुवर्धन की मृत्यु १२६८ में हुई थी। परारतों के अनुसार यह १२७२ में हुई थी। १२६९ ई० के एक लेख में केवल कृतनगर का ही नाम मिलता है। बु० इ० का० ३५ (१) नं० १०१ पृ० ७९-७३।

मलयु, गुरुन बकुलपुर, सुंड और मदुरा तक सीमित था।[४०] विदेशों में सेना भेजने से पहले उसे अपने देश में मय राजके विद्रोह को १२७० ई में दबाना पड़ा। फिर दस वर्ष बाद एक दूसरा विद्रोही महीप रंग कहू खड़ा हो गया पर उसे भी कृतनगर ने दबा दिया। १२७५ में श्रीविजय की क्षीण होती शक्ति से कृतनगर ने लाभ उठाना चाहा और उसने एक सेना पश्चिम में भेजी जिसने जावानी आधिपत्य मलयु, तथा सुंड मदुरा तथा मलाया द्वीप के एक भाग पर स्थापित किया। 'नागर कृतागम' के अनुसार पहंग कृतनगर के अधीन था।[४१] सुमात्रा के ऊपर इस प्रकार अपना अधिकार जमाने के बाद कृतनगर बालि की ओर मुड़ा और वहां के शासक को बन्दी बना लिया। सुमात्रा पर जावा के अधिकार का प्रमाण एक लेख में भी मिलता है[४२] जो जाम्बी में सुंगई के निकट पदंग रोको में मिला। इसके अनुसार १२८६ में अमोघपाश की एक मूर्ति उसके १ अनुयायियों सहित जावा भूमि (जावा) से सुवर्ण भूमि लायी गयी और सम्राट् महाराजाधिराज श्री कृतनगर विक्रम धर्मतुंगदेव के आदेश पर चार उच्च पदाधिकारियों द्वारा वहां स्थापित की गयी। इस मूर्ति की उपासना मलयु की समस्त प्रजा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र तथा वहां के शासक श्रीमत् त्रिभुवनराज मूलवर्म देव द्वारा होती थी। सुमात्रा में कृतनगर ने अपनी सेना छोड़ रखी थी।

'नागर कृतागम' के आधार पर कृतनगर ने मलाया के कुछ भाग को भी जीता जिसका संकेत लेख में उल्लिखित पहंग से होता है।[४३] बकुलपुर से बोर्नियो के दक्षिण-पश्चिमी भाग को संकेतित किया गया है। गुरुन से पूर्वी क्षेत्र का उद्देश्य है।[४४] 'नागर कृतागम' के वृत्तान्त के अनुसार कृतजय की विजयपताका मलाया के पहंग से बोर्नियो के दक्षिणी भाग तक फहरायी जिसके अन्तर्गत सुमात्रा और

४ ४१४ पृ १७ सिडो, पृ ३३२।

४१ पृ १७ सिडो, वही। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ २९८।

४२ मजुमदार, पृ २९९।

४३ पहंग (व हो अंग अथवा पो हु आंग) का उल्लेख मान यि तथा 'प्रथम सुंग वंश का इतिहास' में मिलता है। (सुवर्णद्वीप पृ ७०)। वजपहित काल में भी पहंग नाम से मलाया में जावा-अधिकृत प्रदेशों का संकेत किया गया है। वही पृ २९९।

४४ वही।

बोनियो का कुछ भाग पुंग बासि तथा मदुरा द्वीप भी संमिलित थे। सम्पूर्ण जावा पर उसका अधिकार हो ही चुका था और इसी लिए स्थानीय विद्रोह धीमता से दबाये जा सके। इसी समय में चम्पा के एक लेख के अनुसार जावा की एक राजकुमारी तपसी का विवाह वहां के शासक जयसिंहवर्मन् चतुर्थ के साथ हुआ था।[४५] यह वैवाहिक सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से कदाचित् मंगोलों के विरुद्ध मैत्री स्थापित करने के लिए हुआ था। मंगोल शासक कुबलेखान ने जावा के शासक को कई बार चीन बुलाया पर इसने वहां जाना अपनी मानप्रतिष्ठा के विरुद्ध समझा। १२८९ ई में उसने जावा के विरुद्ध एक सैनिक बेड़ा भेजा पर जावा में उस समय राजनीतिक विद्रोह उठ खड़ा हुआ था और कृतनगर का शासन समाप्त हो चुका था।[४६] कृतनगर ने १२७ तथा १२८ ई में मयराज और महीप रंगकहू के विद्रोहों को दबा दिया था पर कडिरी के प्रान्तीय शासक ने उसके राज्य का अन्त कर दिया। सम्राट् ने अरागनी और वीरराज नामक दो व्यक्तियों को आज्ञा देकर अपने शासन में ढील डाल दी। अरागनी मंत्री का कार्य केवल सम्राट् को अच्छा भोजन और मदिरा पान कराना ही था। आर्य वीरराज एक नीच जाति का व्यक्ति था और उसे पहले राज्यसभा में उच्च पद मिला और फिर वह सुमेनेप (पूर्वी मदुरा) का प्रान्तीय शासक नियुक्त हुआ। 'पररतों' के अनुसार इन दोनों ने कुटिल नीति को अपनाया। अरागनी ने जावा की सेना का बड़ा भाग मलयु भिजवा दिया और वीरराज कडिरी के प्रान्तीय शासक जयकटवंग से मिल गया। उत्तर से एक सेना राजधानी की ओर बढ़ी जिसे सम्राट् की सेना ने जो उसके जामाता विजय के सेनापतित्व में थी लड़कर हरा दिया पर दूसरी सेना दक्षिण में लड़कर सिंहसारि पहुंच गयी और उसने राजधानी पर अधिकार कर लिया। कृतनगर और उसके मंत्री का वध कर दिया गया।

'पररतों' में कृतनगर के चरित्र को कलुषित रूप दिया गया है, पर 'नगर

४५. मजुमदार, चम्पा लेख नं ११ पृ ९९।

४६. इस युग के जावा और मंगोलों के सम्बन्ध पर देखिए राकहील, चीन के सम्बन्ध और व्यापार पर टिप्पणियां (अंग्रेजी) टूंगपाओ १५, १९१४ पृ ४४४-४४५।

४७. पृ ७१। सिडो पृ ३३४।

कृतागम' के अनुसार[47] वह पद राजनीतियों में पारंगत था तथा ज्ञान के सभी क्षेत्रों में कुशल था और उसके आचार-विचार भी पवित्र थे। उसे 'राजपतिगुण्डल' नामक ग्रन्थ का लेखक भी माना जाता है। उसका बौद्ध धर्म के प्रति अति अनुराग था और वह बौद्ध ग्रन्थों तथा तर्क और व्याकरण शास्त्र का विशेष ज्ञाता था। उसने 'सुभूतितंत्र ग्रन्थ' का अच्छी तरह से अध्ययन किया था। उसकी 'योग और समाधि' में भी रुचि थी तथा उसने बहुत-से धार्मिक दान दिये थे। उसने ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य की मूर्ति स्थापित करके बौद्ध धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित की।[48] यह बौद्ध धर्म में 'कालचक्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और बंगाल में पालवंश के अन्तिम काल में इसके मत की वृद्धि हुई थी तथा यह नेपाल तिब्बत और सुदूर पूर्व के द्वीपों तक पहुंचा। शिव-भैरव की उपासना शिव-बुद्ध के रूप में होने लगी।[49]

४८. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ १ १।

४९. देखिए, सिंगस (सुराबाया) में 'महाक्षोभ्य' की मूर्ति पर अंकित लेख (चटर्जी) और चक्रवर्ती 'भारत एण्ड जावा' (पृ ७५ से)। यह लेख शक सं १२२१ (१२८९ ई) का है। इसमें कृतनगर को श्री ज्ञान शिववज्र नाम से सम्बोधित किया गया है। महाक्षोभ्य की मूर्ति की स्थापना नरब नामक धार्मिक विषयों के सचिव ने की थी। 'नागर कृतागम' के अनुसार कृतनगर संन्यासी था और इस लेख के अनुसार उसने अपने जीवनकाल में धार्मिक क्षेत्र में सम्मान प्राप्त कर लिया था। देखिए—

अशेषतत्त्व सम्पूर्णो धर्मशास्त्रविदां वरः।
जीर्णोद्धारक्रियोद्युक्तो धर्मशासनदेशकः ॥११॥
श्रीज्ञानशिव च (वज्र) चिवतरत्नविभूषण
प्रतारसिमविशुद्धांगसम्बोधिज्ञान पारगः ॥१२॥

५ शिव-बुद्ध की संयुक्त रूप में उपासना का उल्लेख जावा के बहुत-से प्राचीन लेखों में मिलता है। सबसे पहले पेरलंग के ९५१ शक सं (१ १४ ई)के सिरंग के लेख में इसका उल्लेख है। १३-१४वीं शताब्दी के कुंजरकरण नामक ग्रन्थ में शिव और बुद्ध के एकीकरण का विवरण है। बुद्धपद को महादेव का निवासस्थान कहा गया है और सुगत या पांच ध्यानी बुद्धों की समानता शैव कुशिकों से की गयी है। 'परराटों' में कृतनगर को शिव-बुद्ध कहा है और 'नागर कृतागम' के

'नागर कृतागम' के अनुसार इसका संस्कार शिव बुद्ध मन्दिर में हुआ'' और शिव-बुद्ध की मूर्ति की उपासना होने लगी। कृतनगर में धर्म वीरता धर्मनिष्ठा तथा विद्वत्ता का सम्मिश्रण था। 'परराटों' ने उसकी कमजोरियों को बढ़ा-चढ़ा कर लिखा है। कुछ भी हो उसने अपने ४ वर्ष के राज्यकाल में जावा को शान्ति और सुव्यवस्था प्रदान की और उसकी शक्ति जावा के बाहर मलय सुमात्रा और बोर्नियो तक प्रदर्शित हुई। आत्मसम्मान के कारण उसे मंगोलों की ओर से भय हो गया पर देश की आन्तरिक परिस्थिति उसके मंत्रियों की कुटिलता से बिगड़ गयी, जिन्होंने जावा के साम्राज्य को धक्का पहुँचाया। सिंहसारि राज्य नष्ट हो गया और उसके स्थान पर मजपहित राज्य स्थापित हुआ।

अनुसार मृत्यूपरान्त वह शिव-बुद्ध लोक में गया। देखिए, सरकार इस 'प्राचीन जावानी' लेखों में शिव-बुद्ध (अंग्रेजी में) इंडियन कल्चर भाग १ पृ २८४ से। कर्न जावा बालि और सुमात्रा में बौद्धधर्म (अंग्रेजी) इंसायक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स' भाग ७, पृ ४९५ से।

५१ इस मन्दिर की समानता चण्डी-जावा से की जाती है। क्रिमे पृ० ११३। क्रोम इ का ग्रे (पृ १२८ १२९)। इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ १ ७।

अध्याय ६

मजपहित की स्थापना और विशाल जावा साम्राज्य

१

कृतनगर की मृत्यु, कडिरी की सेना का सिंहसारि में प्रवेश और उसका राज्य-प्रासाद पर अधिकार कर लेना जावा के इतिहास में एक विशेष घटना है। कडिरी के जयकत्वन ने (अल्पकाल के लिए) अपने प्राचीन राजवंश के गौरव को पुनः स्थायी रूप देने का प्रयास किया पर वह विफल रहा और १२९४ ई० में कृतनगर के जामाता विजय ने चीनी सेना की सहायता से कडिरी की सेना को हराकर अपना राज्य स्थापित किया पर राजकीय केन्द्र अब सिंहसारि के स्थान पर मजपहित[1] हो गया। विजय का लेख शक सं० १२१६ (१२९४ ई०) का मिला है जिसमें इसे श्री महावीरत्वमत्यन्तनिन्दित पराक्रमोत्तुंग कृतराजसजयवर्द्धन नाम राजा-

१ ८४ ई० के एक लेख में 'मजपहित में लिखा गया' वाक्य संकेत करता है कि मजपहित की स्थापना पहले हो चुकी थी। १०वीं शताब्दी के एक अरबी ग्रन्थ का भी वाक्य में 'मजआबिद' नामक एक नगर का उल्लेख मिलता है। परन्तु इस लेख ११वीं शताब्दी का है और फेरन्ड के मतानुसार अरबी ग्रन्थ में नगर का नाम मरकावन्द था (जू ए २११ (१९१९) पृ ११)। अतः १२९२ ई० से पहले इस नगर की स्थापना नहीं हुई थी। 'पररतों' के अनुसार इसकी स्थापना विजय ने की थी जिसका पूरा नाम 'नरस्य संग्रामविजय' था (पृ ९८) त्रिवी ए हि पृ ३१४। इस नगर के अवशेषों का उल्लेख कुछ पुरातत्त्व वैज्ञानिकों ने किया है और यह वर्तमान मजुलन में जो मजकेतो के दक्षिण-पश्चिम में है स्थित था। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ११२, नोट १।

२ डमे 'हिन्दजेजी लेखों का अध्ययन' में १७७। बु इ स्म ४५ (१) पृ ७४-७५।

अभिषेक कहा है। कृतनगर का अन्तिम लेख शक सं० १२१४ (१२९२ ई०) का सिंहसारि में मिला। इससे प्रतीत होता है कि इन दो वर्षों में कृतनगर की मृत्यु, कदिरी के शासक जयकत्वंग का सिंहसारि पर अधिकार, विजय का जावा से भाग कर बाहर शरण लेना तथा पुनः प्रवेश कर राज्य प्राप्त करना इत्यादि घटनाएं हुईं। विजय के लेख में इन घटनाओं का उल्लेख है तथा 'नागर कृतागम' और 'पररतों' में भी इनका विवरण मिलता है। इन स्रोतों के आधार पर इन दो वर्षों की घटनाओं पर सूक्ष्म रूप से प्रकाश डाला जा सकता है। इसके अतिरिक्त हमें चीनी सूत्रों से भी बहुत कुछ वृत्तान्त मिलता है क्योंकि इस काल में जावा से कई राजदूत चीन भी गये थे।

विजय के लेख के अनुसार जब कदिरी की सेना जसुनभुंकल पहुंची तो विजय और अर्धराज अपनी सेनाओं सहित सिंहसारि से लोहा लेने चले। केदुंगपेन्दुक के युद्ध में कदिरी की सेना हारी और विजय ने उसका पीछा किया तथा रेणपंगुन की पहाड़ी के नीचे कपुसुन्यन के निकट तथा उसके उत्तर-पूर्व में रबुतवरस के निकट दो बार फिर उनकी सेना को हराया। इधर अर्धराज के राजपक्ष को त्याग कर विजय से अलग होने एक दूसरी कदिरी सेना के पश्चिम की ओर से सिंहसारि पहुंचकर उस पर अधिकार कर लेने और कृतनगर के वध ने विजय की जीत को पराजय में परिणत कर दिया। ६ सैनिकों सहित वह ब्रन्तस नदी के पार उत्तर की ओर भागा। कदिरी की सेना ने उसका पीछा किया। उसे तुरायाया नदी पार करनी पड़ी और कुडडु नामक गांव में वहां के शासक के यहां उसे शरण मिली। 'पररतों' और 'पंजिविजयक्रम'[४] में विजय की हार तथा भागने का उल्लेख दूसरे ढंग से हुआ है। यह मानना पड़ेगा कि विजय उत्तर की ओर भागा और उसे मदुरा द्वीप में शरण लेनी पड़ी जिसका उल्लेख इन दोनों ग्रन्थों में है। मदुरा के शासक वीरराज से जो पहले जयकत्वंग से मिल चुका था विजय ने सम्पूर्ण जावा राज्य को आपस में बांटने का समझौता किया। १२९३ ई० में विजय ने उत्तरी जावा पर अपना

३ वही नं० १७६।

४ 'नागर कृतागम' ४४ (१) ४। पररतों पृ० ९ से। पंजिविजयक्रम ७ १ १७। मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ० ११९।

५ मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ० ११।

छोटा-सा राज्य मजपहित में स्थापित कर लिया था। उसी समय जावा के विरुद्ध कुबलईखान का बेड़ा शे-पि चि-को-मु-सु तथा काउ-शिंग की अध्यक्षता में जावा पहुँच चुका था।[1] विजय ने अपने प्रधान मंत्री को १४ अन्य अधिकारियों सहित चीनी सेना से मिलने के लिए भेजा। सुराबाया नदी के मुहाने पर चीनी बेड़े को जावा के विरुद्ध पहली सफलता मिली और विजय की सहायता के लिए चीनी सेना जयकतंग के विरुद्ध बढ़ी। कुछ दिन के संघर्ष के पश्चात् कडिरी की सेना भाग खड़ी हुई और वहां का सम्राट् अपने प्रासाद में आत्म-समर्पण के लिए रह गया। चीनी सेनापति उसे सकुटुम्ब अपने साथ ले गये। चीनी वृत्तान्त के अनुसार सम्राट् और उसके पुत्र का वध कर दिया गया पर 'परराटों' के अनुसार चीनियों के जावा से जाने के बाद भी वह जीवित रहा और उसने 'वुकिरपोलमन' नामक पद्य रचना की। इधर विजय चीनियों से मुक्त होना चाहता था। दो सौ चीनी सैनिकों और दो अंगरक्षकों सहित वह मजपहित लौटा और फिर एक बड़ी सेना एकत्रित कर उसने अपने रक्षकों तथा चीनी सेनानियों का वध कर डाला और कडिरी से लौटती हुई विजयी चीनी सेना पर आक्रमण कर दिया। इसमें ३ चीनी सैनिक मारे गये और बाकी बचे चीनी अपने देश लौट गये। चीनी सेना के जावा पर आक्रमण का

१. 'युवानवंश के इतिहास' में इस सम्पूर्ण घटना का उल्लेख है और इस प्रकार इन तीन सेनापतियों की जीवनी से भी कुछ प्रकाश पड़ता है। इन सबके आधार पर विस्तृत रूप से चीनी बेड़े का प्रस्थान, जावा में प्रवेश कडिरी के शासक के विरुद्ध युद्ध तथा विजय, मजपहित के शासक विजय की कूटनीति और उसकी सफलता तथा चीनियों का जावा से लौटने का सम्पूर्ण वृत्तान्त लिखा गया है। इसका अनुवाद ग्रोएनेवेल्ट ने किया। देखिए, मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ३११। उपर्युक्त स्रोतों के अनुसार १२९२ ई के अन्तिम मास में चीनी बेड़ा चुवान-चाओ से चला और पूर्वी जावा के उत्तरी किनारे के बन्दरगाह टुबन पहुँचा जहाँ सेना दो भागों में विभाजित की गयी। एक समुद्रतट के किनारे किनारे स्थल पर चली और दूसरी शे-पि की अध्यक्षता में सुगलु (सोलो) नदी के मुहाने पर सामुद्रिक मार्ग से पहुँची और वहाँ से प-चिए-कन (सुराबाया) नदी की ओर बढ़ी। चीनियों द्वारा प्राप्त जावा की राजनीतिक स्थिति का वृत्तान्त भी इन स्रोतों में मिलता है।

२. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ३१८।

फल केवल यह हुआ कि कडिरी के शासक जयकटवंग के जिसने सिंहसारि पर अनधिकृत रूप से अधिकार कर लिया था स्थान पर विजय जावा का शासक हो गया और एक विस्तृत जावा साम्राज्य के निर्माण का बीज बो दिया गया।

विजय का शासन काल

कृतराजस जयवर्द्धन के नाम से विजय मजपहित में सिंहासन पर बैठा और अपने को 'समस्तयवद्वीपेश्वर' घोषित किया। अपने श्वसुर कृतनगर के सिंहसारि राज्य पर इसका अधिकार पहुंचता था। 'नागर कृतागम' के अनुसार कृतनगर के चार कन्याएं थीं और ये चारों कृतराजस की रानियां थीं। इनमें से चौथी गायत्री राजपत्नी थी और उससे दो कन्याएं हुईं। कृतराजस से एक मलयकुमारी भी ब्याही थी जिससे उसका एक पुत्र हुआ जिसका नाम जयनगर था और वही उसका उत्तराधिकारी था। विजय का जीवन संघर्ष में ही बीता था और जावा का सम्राट् होने के बाद भी उसका शासन-काल शान्ति से नहीं बीता। 'पररतों' के अनुसार रंगलवे द्वारा तुबंग क्षेत्र में एक विद्रोह उठ खड़ा हुआ। उसके बाद युद्ध बीरराज ने लुमजंग में अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया जो मदुरा द्वीप के निकट दक्षिण में जावा का भाग था। १२९८ और १३ ई के बीच का समय सोरा नामक एक विद्रोही सैनिक को दबाने में लगा। इसके बाद १३ २ ई में बीरराज के पुत्र नम्बि ने लेम्बह जाकर वहां गढ़ बनाया जिससे वह अपनी रक्षा कर सके। १३ ९ ई मे सोरा के एक साथी पेरपेगुस ने विद्रोह खड़ा कर दिया। कृतराजस ने सभी विद्रोहियों को दबाकर शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित की।[*] जैसा कि सम्राट्

८. ७५ : २७७। मजुमदार वही, पृ ३१९।
९. पृ १९५। सिदो ए हि पृ १८७।
१ सम्राट् के १२९४ ई के लेख में इसे श्री महाराज श्री जयभुवन परमेश्वर रक्ष्याण् मंत्री संग्रामविजय श्री कृतराजस जयवर्द्धन नाम राज्याभिषेक कहा गया है। (पु इ का ७५ (१) नं १७८ पृ ७४-७५) १ १५ ई के लेख में श्री महाराज नराम्य संग्रामविजय श्री कृतराजस जयवर्द्धन अनन्तविक्रमोत्तुंग लिखा है (वही नं १७९) 'जयभुवनपरमेश्वर' उपाधि का अभाव उसके राज्य-विस्तार की कमी का संकेत नहीं करता है।

के शक सं १२२७ (१३ ५ ई) के मत्र से प्रतीत होता है। कृतराजस की मृत्यु १३ ९ में हो गयी। सिंपिंग में उसकी अन्त्येष्टि क्रिया हुई और वहाँ निर्मित शैव मन्दिर से प्राप्त हरिहर की एक सुन्दर मूर्ति जो इस समय बटाविया के संग्रहालय में है, सम्राट् की आकृति का प्रतीक है। रिम्बी के मन्दिर से मिली पार्वती की मूर्ति जो कला की दृष्टि से हरिहर की मूर्ति से मिलती-जुलती है, सम्राट् की एक पत्नी की मूर्ति प्रतीत होती है।[११]

जयनगर

जयनगर श्री सुन्दर पाण्ड्यदेवाधीश्वर[१२] विक्रमोत्तुंगदेव के नाम से अपने पिता की मृत्यु के बाद सिंहासन पर बैठा। उसकी अवस्था उस समय अधिक न थी। नव राज्य में अशान्ति का वातावरण होना स्वाभाविक था। कृतनगर को भी कई विद्रोहियों को दबाना पड़ा था तथा वृद्ध वीरराज अब भी युवक सम्राट् को कष्ट देने के लिए जीवित था। सोरा तथा उसके सहायक भी मौजूद थे। पुररसन नरक के मतानुसार[१३] रंगलव का विद्रोह भी इसी शासक के समय में हुआ था पर इसका उल्लेख पहले ही हो चुका है। सिंहासन पर बैठने के दो वर्ष बाद वृद्ध वीरराज जिसने राज्य को बड़ा कष्ट पहुँचाया था मर गया। १३१२ ई में उसने अपने मामा कृतनगर की मृत्यु के २ वर्ष बाद मृतक-समाधि पूर्ण धूमधाम से मनायी। इसके बाद के कई वर्ष विद्रोहियों को दबाने में लगे। १३१४ ई में सोरा के साथी गजह बीरु ने उपद्रव खड़ा कर दिया था। १३१६ ई में वीरराज के पुत्र नम्बि की मृत्यु के बाद लमजंग प्रदेश ने आत्मसमर्पण कर शान्ति स्थापित करा दी।

११ सिदो ए हि पृ ३८७।

१२ सुन्दर पाण्ड्यदेवाधीश्वर से जावा सम्राट् के वंश के दक्षिण भारत के साथ प्राचीन सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है। जावा के कुछ लेखों के संजय संवत् इसकी पुष्टि करते हैं। शास्त्री 'अगस्त्य' तिज ७६ १३६, पृ ५ २। सिदो ए हि पृ ३८७। सम्राट् की राजकीय मोहर में मीनद्वय जो आकृतियाँ थीं, जो पाण्ड्य देश के प्रथानुसार थीं। देखिए, ए औ भाग ११ (२) पृ १११।

१३ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ३२२।

१४ बरग्रो पृ १२६ १२७। नागरकृतागम (कर्न) पृ ३४। सिदो ए हि पृ ३८८।

१३१९ ई० में कुटि ने विद्रोह कर दिया और 'पररतों' के अनुसार जयनगर तथा २५ रक्षकों के साथ जयनगर को राजधानी छोड़नी पड़ी।[१५] पर कुटि के वध के बाद पुनः शान्ति हो गयी। सम्राट् राजधानी लौट आया। १३२१ ई० में औडोरिक डि पोर्डिनोन नामक एक यात्री जावा आया और उसने इसका वृत्तान्त लिखा है।[१६] उसके कथनानुसार जावा के सम्राट् का आधिपत्य अन्य राजा स्वीकार करते थे, यहाँ की भूमि बड़ी उपजाऊ थी तथा मसाले पैदा होते थे। सम्राट् का प्रासाद सुवर्ण, चाँदी तथा बहुमूल्य मणियों से आभूषित था। १३२१ ई० के लेख में[१७] जावा के अधीन राज्यों में मदुरा तथा तंजुमपुर (बोर्नियो) भी थे। जावा का चीन के साथ भी राजनीतिक सम्पर्क था और १३२२, १३२५, १३२६ तथा १३२७ ई० में यहाँ से राजदूत चीन भेजे गये। १३२८ ई० में वहाँ से चीन के सम्राट् की ओर से भेंट लेकर अन्तिम दूत लौटा। जावानी सम्राट् का नाम य-य-न-को-ने लिखा है जिसकी समानता जयनगर से की जा सकती है।

'पररतों' के अनुसार सम्राट् के शासन-काल के अन्तिम वर्ष कष्ट से बीते। तंच नामक राजवैद्य द्वारा उसका वध कर दिया गया और गजमद ने उसे भी मार डाला। इस शासक के समय में पनतरम के कई मन्दिर बनवाये गये।[१८]

जयनगर के उत्तराधिकारी

जयनगर के कोई पुत्र न था इसलिए उसके बाद कृतनगर (१२६८-१२९२) की पुत्री और कृतराजस जयवर्धन की प्रथम पत्नी गायत्री को नवद्वीप का शासक

१५. पृ० १२७-८।

१६. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ० १२५।

१७ ए० इ० भा० भाग ४५ (१) में १८ पृ० ७४-७५।

१८. सम्राट् के वध के सम्बन्ध में कई कथाएं प्रचलित हैं। यह कहा जाता है कि वह अपनी सौतेली बहिन के साथ विवाह करना चाहता था जिससे राजसभा में असन्तोष था। जावा की एक किंवदन्ती के अनुसार इस वध में गजमद का हाथ था। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ० १२६।

१९. कोम, हि० जा० कु० प० पृ० २७५-२८४। सिडो, ए० हि० पृ० १८९।

घोषित किया गया। 'नागरकृतागम' के अनुसार[20] वह पहले ही भिक्षुणी हो गयी थी इसलिए उसकी पुत्री त्रिभुवना अपनी माँ की ओर से त्रिभुवनोत्तुंगदेवी जयविष्णुवर्द्धनी के नाम से राज्य करने लगी।[21] १३२९ ई में उसने चक्रधर नामक एक कुलीन व्यक्ति से विवाह कर लिया[22] जिसे कृतवर्द्धन का नाम तथा सिंहसारि के कुमार की पदवी मिली। १३३४ ई मे उनके ह्यमवुरुक नामक पुत्र हुआ जो १३५० में अपनी नानी गायत्री की मृत्यु के पश्चात् सिंहासन पर बैठा।[23] त्रिभुवना की संरक्षकता के काल में गजमद नामक व्यक्ति 'मजपहित का पति' अथवा मुख्य मंत्री था। इसने पहले भी जयनगर के समय में विद्रोह को दबाया था। १३३१ में सदेंग और केट के विद्रोहों को भी इसने दबाया। 'परर्तों' के अनुसार[24] इसने गुरुन सेरन तंजुंगपुर, हरु पहंग दोम्पो बालि सुन्द पलेमबंग और तुमसिक को जीता था। इनमें से गुरुन तंजुंगपुर तथा पहंग कृतनगर के समय में ही उसके साम्राज्य के अंग थे। कुछ अन्य स्थानों को गजमद ने जीता होगा। 'नागरकृतागम'[25] के अनुसार १३४३ में एक सेना बालि भेजी गयी जहां १२८४ ई में कृतनगर के समय में भी आक्रमण हुआ था। इस समय से जावा का बालि पर पूर्णतया अधिकार हो गया और स्थानीय राजवंश का अन्त हो गया।

'यवन वंश के इतिहास' में १३३२ ई में जावा से एक राजदूत के चीन जाने का उल्लेख है जिसका नाम सेंग किय लो था। १३५ ई में वंग-त युवन ने चाओ-व (जावा) को एक समृद्ध देश लिखा है जिसकी आबादी घनी

२० पृ २५७। सिडो, प हि पृ १८९।

२१ क्रोम, हि जा गे पृ १८१। नागरकृत वही। सिडो वही। १३२९ और १३१ के दो लेखों में इसे श्री त्रिभुवनोत्तुंगदेवी लिखा गया है। बु इ ध्य ८५ (१) पं १८१ १८२, पृ ७४-७५। प्रथम लेख में इसे श्री महाराज पर मेश्वर श्री सकलभुवनमण्डल मधुरार्यद भी लिखा है।

२२ परर्तों पृ १२९। सिडो वही।

२३ वही, पृ १३९।

२४ क्रोम, हि जा गे पृ १८७।

२५ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ १९७।

२६ पृ १७। क्रोम, पृ ३९१। सिडो पृ १८९।

थी।[२७] १३५ में राजपत्नी गायत्री की मृत्यु के पश्चात् उसका दौहित्र ह्यमवुरुक राजस-नगर[२८] के नाम से सिंहासन पर बैठा।

राजसनगर (१३५ –१३८९ ई)

इस सम्राट् का राज्यकाल जावा के इतिहास में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। मजपहित के राज्य ने एक विस्तृत साम्राज्य का रूप धारण कर लिया था जिसके अन्तर्गत हिन्दनेशिया के सभी द्वीप (सेलिबीज के उत्तरी भाग को छोड़कर) तथा मलाया का अधिक भाग उसके अधीन हो गया था। जिस समय यह राज्यसिंहासन पर बैठा उसकी उम्र केवल १६ वर्ष की थी पर गजमद और उसके पिता कृतवर्धन ने राज्य-शासन में शिथिलता नहीं आने दी। इस सम्राट् के राज्यकाल की प्रथम घटना १३५७ ई में सुंड के शासन के साथ वादविवाद के रूप में हुई। इसका कारण सुंड महाराज का अपनी पुत्री को लेकर राजसनगर के साथ विवाह करने के लिए आना था। सुंड का शासक जो १३३३ ई के एक लेख के अनुसार[२९] पजजरन नामक सुंड राज्य का स्थापक था अपने को मजपहित सम्राट् के समान समझता था पर गजमद उसे मजपहित के अधीन समझते थे। वादविवाद का परिणाम सुंड शासक और उसके रक्षकों का नाश तथा कुमारी की मृत्यु हुआ। सम्राट् ने पैमेकर परमेश्वरी (नागरकृतागम के अनुसार सुषुमादेवी) के साथ विवाह कर लिया। सुंड शासक के साथ संघर्ष के बाद से मजपहित राज्य ने साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया। 'नागरकृतागम'[३०] में सम्राट् के अधीन राज्यों का उल्लेख है

२७. राफल्स ड्रॉग-चाको १९ (१९१४) २२६-२३०।

२८. 'नागरकृतागम' के अनुसार इसके अन्य नाम भी थे भटारप्रभु रोमतैतेप तिवित भु वनेश्वर तथा संपर्य वेकस। चीनी स्रोतों में भटारप्रभु का नाम पी-ह-त-ल-पो और प-त-न-प-न-वु मिलता है। मजुमदार, पृ १२८। सम्राट् के १३५८ और १३६७ ई के दो लेखों में 'पादुक श्री तिक्तविल्वनगरेश्वर श्री राजसनगर नामाराजाभिषेक गर्भोत्पत्तिनाम च श्री हयमवुरुक' मिलता है। जु इ आ ७५ (१) न १८८, १९१ पृ ७६-७७।

२९. त्रिरो ए हि पृ ३९८ नोट १।

१ पृ १४ (१) २७८-२७९ (वर्न)।

और इससे यह प्रतीत होगा कि सेलिबीज के उत्तरी भाग को छोड़कर सम्पूर्ण हिन्देशिया के द्वीपों और मलाया प्रायद्वीप के अधिक भाग पर उसका अधिकार था। 'नागरकृतागम' की रचना इसी शासक के समय में हुई थी और इसमें अधीन राज्यों को मलयु, तंजुगनगर (बोर्नियो) पहंग (मलाया) तथा पूर्वी द्वीपों की श्रेणियों में रखा गया है। नागरकृतागम में उल्लिखित सूची को चाहे बढ़ा चढ़ा कर लिखा भी माना जाय पर अन्य स्रोतों से विस्तृत मजपहित साम्राज्य और उसके अधीन राज्यों का संकेत मिलता है। बालि के विषय मे ११४८ का बतुर का लेख तथा सम्राट् के मामा श्री विजय राजस का ११८४ का लेख उल्लेखनीय है। ११९८ के एक अन्य लेख में इसी बेंगिरकुमार की विष्णुभवन में मृत्यु का उल्लेख है। इसी विजय राजस की पुत्री परमेश्वरी का विवाह राजसनगर के साथ हुआ था और कदाचित् वह मजपहित सम्राट् की ओर से वहा शासन कर रहा था। संभव है कि वह स्वतंत्र भी रहा हो किन्तु बालि पर जावा का अधिकार निस्सन्देह रूप से था। चीनी स्रोतों के अनुसार जावा का पु-नि (बोर्नियो

११ सम्पूर्ण सूची के लिए देखिए, मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ११ से।

१२ बु इ व्रा ७५ (१) नं १६, पृ ९६-९७।

इस लेख में शासक का नाम 'पादुक श्री महाराज राजपरमेश्वर श्री सकल-भुवनाक्रमकरव पादुक परमेश्वर श्री विजय राजस नामदेवाभिषेक संभ अपंजि वानि ग्मुन कर्मोदयनाम चंबु कुलमूल इनविच्छन तिरे नगरे बेंगकेर' लिखा है। इसे के मतानुसार रदेन कुडमृत (परवर्ती २१७) जावा में बेंगकेर के लिए सहायता प्राप्त करने जावा था और इस लेख के अनुसार वह बालि का शासक महाराज था। लेख की लिपि जावानी है और इसी लिए यह जावानी प्रतीत होता है। बु इ व्रा ७५ (१) पृ ९७ नोट ५।

१३ बु इ व्रा ७५ (१) नं १६, पृ ९६ ९७। इसमें 'पादुक भट्टार श्री परमेश्वर सिरसंग मोक्त रिंग विष्णु भवन' नाम मिलता है जो रदेन कुडमेरत का मृतक नाम था। (नोट ६, देखिए जावानी लेख नं १९६, यही, पृ ७८-७९)। यह लेख शक सं १३१३ का है और इसमें शासक का नाम पादुक भटार श्री परमेश्वर सिर संग मोक्त रिंग विष्णु भवन है।

१४ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ११४।

नागरकृतागम के तंजुमनगर) पर भी अधिकार था। ११७ ई में जावा का इस पर अधिकार था। इसी प्रकार सन-फो-त्सि (श्रीविजय) पर भी जावा का अधिकार था और चीनी आधिपत्य का प्रयास विफल रहा।[१५] इसके अतिरिक्त सुमात्रा द्वीप में मिले एक जावानी लेख में ' मजपहित का पूर्वी द्वीपों तक अधिकार विदित है। यह लेख कवि लिपि में है। इसी प्रकार सिंगापुर से प्राप्त एक लेख' भी इसी लिपि में है। इन दोनों से जावा का इन द्वीपों पर अधिकार होना संकेतित होता है। इन स्रोतों से यह प्रतीत होता है कि १३६५ ई तक जब 'नागरकृतागम' की रचना हुई, जावा साम्राज्य राजनीतिक पराकाष्ठा पर पहुंच चुका था और उसका मलाया प्रायद्वीप तथा हिन्देशिया के द्वीपों पर अधिकार था। 'नागर-कृतागम'[१६] के अनुसार जावा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी अन्य देशों के साथ मित्रता बनाये हुए था। जिन देशों का मजपहित के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार था वे स्यंम कायोध्यपुर (स्याम तथा अयुध्या) धर्मनगरी (लिगोर) मरुम (मर्तबन्) राजपुर (सिंहनगरी) चम्पा काम्बोज तथा यवन (अनम) थे।

'मिंग का इतिहास'[१७] में राजसनगर के चीन के साथ सम्पर्क का उल्लेख है। उसके अनुसार प-त-न-प-न-वु भटार प्रभु की ओर से १३७०-१३८१ के बीच में कई राजदूत चीन भेजे गये। वे पश्चिमी और पूर्वी जावा से भेजे गये। पश्चिमी जावा के शासक का नाम वु लाओ पो वु कदाचित् भरत अथवा भ्रप्रभु था और दूसरे का नाम वु प्वन लाओ वंग किए था।[१८] सिदो के मतानुसार दूसरा भ्रे वेंगर्न अथवा विजयराजस था जिसका १३८४-१३८६ ई के शक्ति के लेखों में उल्लेख है। यदि मिंग-वंश के इतिहास के जावा सम्बन्धी वृत्तान्त को ठीक मानें तो जावा साम्राज्य

१५ जू ए २-१२ (१९२२) पृ ९५-९६।
१६ सिदो ए हि पृ ३६०। मजुमदार, पृ ३३५।
१७ मजुमदार, वही।
१८ १९(१) कर्न, पृ २७२।
१९ सिदो ए हि पृ ३६०।
४ इन दोनों नामों की समानता किसी भी शासक से नहीं की जा सकती है। क्रोम के मतानुसार वंग की से भ्रेकिर का संकेत है और यह वीरराजस था। सिदो पृ ४ ।

के पूर्वी भाग पर सम्राट् की ओर से विजय राजस और बाकी भाग पर राजसनगर राज्य कर रहे थे।

राजसनगर का राज्यकाल जावा के इतिहास में सुव्यवस्था तथा साहित्यिक प्रगति का युग था। प्रपंच ने इसी समय में 'नागरकृतागम' नामक ऐतिहासिक काव्य की रचना की।[४१] इससे शासन व्यवस्था पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। केन्द्र में सम्राट् की सहायता के लिए उसका पिता कृतवर्द्धन और मामा विजय राजस था। उच्च कुलीन मंत्रियों की एक परामर्श-समिति थी जिसका महापति वृद्ध गजमद था जिसने ५ वर्ष तक जावा के इतिहास में महत्त्वपूर्ण भाग लिया।[४२] १३६४ ई में उसकी मृत्यु हो गयी। 'नागरकृतागम' के अतिरिक्त कवि तंतुलर ने 'अर्जुन विवाह' तथा 'पुरुषादशान्त' (अथवा सुतसोम) ग्रन्थ लिखे।[४३] दूसरा ग्रन्थ बौद्ध धार्मिक संतुलन के भाव के लिए बहुत ही उपयोगी है। इस शासक के समय में बहुत-से धार्मिक दान दिये गये। पनतरम का प्रसिद्ध मन्दिर, जिसमें रामायण और कृष्णायन के सुन्दर दृश्य चित्रित हैं, जिसकी नींव १३४७ ई से रखी गयी थी पूर्णतया बनकर तैयार हो गया था।[४४] राजनीतिक दृष्टिकोण से राजसनगर का शासनकाल विशेषतया महत्त्वपूर्ण है पर साहित्यिक और कला के क्षेत्रों में भी इस युग का बड़ा योगदान रहा।

विक्रमवर्द्धन

राजसनगर का उत्तराधिकारी उसका भांजा तथा जामाता विक्रमवर्द्धन (ह्यांग विशेष) १३८९ ई में मजपहित के सिंहासन पर बैठा। इसके समय से साम्राज्य अवनति की ओर अग्रसर होता है। यह अवनति उसके उत्तराधिकारियों के

४१ कर्न द्वारा सम्पादित तथा अनूदित। सरकार ने भी जावा के साहित्य पर भारतीय प्रभाव दिखाते हुए इसका उल्लेख किया है (पृ १८५)। सरकार ने फ्रोम की डच भाषा में लिखे 'भारतीय जावा के इतिहास' के अनुवाद में भी इसका उल्लेख किया है। ज ग्रे इ सो १२ (१९४५) पृ १६।

४२ फ्रोम हि जा जे पृ १९६। सिदो, ए हि पृ ४ ।

४३ सरकार, पृ २१ ११८ १२२। सिदो, वही।

४४ बरनर्वे, पृ १२८ १२९। सिदो, पृ ४ १।

समय में बड़ी तेजी के साथ होने लगी। इसका मुख्य कारण मलाक्का का व्यापारिक क्षेत्र में प्रभाव स्थापित करना तथा इस्लाम का जव सामुद्रिक किनारे द्वीप के अन्दर बढ़ना था। १४११ ई० का ग्रेसिक में मलिक इब्राहिम के मकबरे का लेख[४५] इस्लाम के जावा के आन्तरिक भाग में प्रवेश का प्रमाण है। इसके अतिरिक्त सिंहासन प्राप्ति के लिए विक्रमवर्धन और राजसनगर की दूसरी रानी के पुत्र वीरभूमि के साथ संघर्ष भी अवनति का एक कारण था।[४६] वीरभूमि ने विजयराजस की भाँति पूर्वी भाग पर अधिकार कर लिया था। संघर्ष १४०१ से १४०६ ई० तक चलता रहा और इसका अन्त वीरभूमि की मृत्यु से ही हुआ। जावा में पुनः राजनीतिक एकता स्थापित हो गयी पर उसका शौर्य तथा मजपहित पर से अधिकार जाता रहा और उसके स्थान पर चीन का आधिपत्य स्थापित हो गया। १५वीं शताब्दी के आरम्भ से जावा का हिन्दू राज्य गिरने लगा। 'परराटों' में इस युग का राजनीतिक इतिहास असम्बद्ध रूप में मिलता है। इसमें सम्राट् विक्रमवर्धन की पुत्री देवी सुहिता को 'प्रभु स्त्री' कहा गया है (अध्याय १०) और उसके बाद भट्टार स्त्री प्रभु अथवा स्त्री शासक का उल्लेख है (१२) इसके बाद में विक्रमवर्धन की मृत्यु तथा १४२९ ई० में प्रभु स्त्री की मृत्यु का उल्लेख है (१२) १४३७ ई० में बहू के शासक होने का उल्लेख है। प्रभु स्त्री की मृत्यु का पुनः उल्लेख मिलता है

४५. सिदो, पृ० ४०१।

४६. 'मिंगवंश का इतिहास' के अनुसार १४०३ ई० में साम्राज्य के दो भाग हो गये थे। पश्चिम में तु-मा-पान तुमपेल शासक था और पूर्व में पु-लिंग-ता-हु जैन (अथवा पुमेन) वहू था। चेंग-हुमी नामक वजीर पूर्वी भाग के शासक की ओर से चीन सम्राट् के पास गया था। सिदो स० हि० पृ० ४०२, नोट १।

डा० मजूमदार के मतानुसार राजसनगर ने वृद्धावस्था में अपनी पुत्री कुसुमवर्धनी का जो साम्राज्ञी परमेश्वरी की सन्तान थी, विवाह अपनी बहिन पवोर के पुत्र विक्रमवर्धन से कर दिया था तथा उसकी बहिन नागरवर्धनी का विवाह अपनी दूसरी रानी से उत्पन्न पुत्र वीरभूमि से कर दिया तथा उसे पूर्वी भाग का शासक नियुक्त कर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि वह मजपहित के अधीन न था। भविष्य में गृह-युद्ध का बीज राजसनगर ने ही बोया था (सुवर्णद्वीप, पृ० ३३१)।

पर यह घटना १४४७ ई में रखी गयी है।[४७] यह वृत्तान्त भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होता है। क्रोम के मतानुसार[४८] विक्रमवर्द्धन ने १४२९ ई तक शासन किया और उसके बाद उसकी पुत्री सुहिता ने १४४७ ई तक राज्य किया। सिदो भी इस मत से सहमत है।[४९] विक्रमवर्द्धन की पुत्री सुहिता ने १४४७ ई तक राज्य किया पर इसके समय का कोई वृत्तान्त नहीं मिलता।

मजपहित के अन्तिम शासक

सुहिता के बाद उसके भाई भ्रेतुमपेक ने कृतविजय के नाम से ४ वर्ष (१४४७-१४५१) तक राज्य किया। इसके समय का एक लेख[५०] मिला है जिसमें इसे 'पादुक श्री महाराज श्री सकल यव-राजाधिराज परमेश्वर श्री भट्टार प्रभु विजय पराक्रमवर्द्धन नाम राजाभिषेक गर्भप्रसुतिनाम च कृतविजय' के नाम तथा उपाधियों सहित सम्बोधित किया गया है। 'परराटों' में इसे भ्रेतुमपेक तृतीय कहा गया है। इस युग में इस्लाम के प्रवेश से हिन्दू धर्म के साथ स्थानीय धार्मिक विचार धाराओं का अधिक सन्तुलन हो गया था। जिन धार्मिक स्मारकों का इस युग में निर्माण हुआ उनमें पेनन्गुग्गन (१४१४ ४२) सिरिंग (१४४९) मेरबबु (१४३८) और १४४९ तथा सेबु (१४३७-१४५७) के अवशेष उल्लेखनीय हैं।[५१] अन्तिम शासकों में राजसवर्द्धन (१४५१ १४५३) पूर्वविशेष (१४५६ १४६६) तथा सिंहविक्रमवर्द्धन (१४६६ १४७८) का नाम 'परराटों' में मिलता है। पर न तो इनके विषय में और कुछ वृत्तान्त उपलब्ध है और न ठीक से वंशावली

४७. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ १४।

४८. हि जा मे पृ ४२८ से।

४९. ए हि पृ ४ १। सिपर्वंश के इतिहास के अनुसार जावा के शासक ने १४१५ ई में येग-वि-सि-स-नाम धारण किया, और एक स्रोत के अनुसार वह १४१६ तक शासन करता रहा। इस नवीन नाम की समानता कुछ विशेष से की जा सकती है जो विक्रमवर्द्धन का दूसरा नाम था। (डूंम पाओ १९१४ पृ ३ १-२) मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ १४१-२।

५० पु इ का ५५ (१) नं २०७ पृ ८०-८१।

५१ सिदो, ए हि पृ ४ १। क्रोम हि जा पृ २, पृ ३२५।

का ही पता चलता है। १४७३ और १४७९ ई० के दो लेखों में सुप्रभाव और रणविक्रम का नाम मिलता है,[५१] पर इनके विषय में अन्य ज्ञान नहीं प्राप्त है।

१४७८ ई० में मजपहित पर एक आक्रमण हुआ पर यह पता नहीं है कि आक्रमणकारी कौन था। १४८६ ई० में गिरीन्द्रवर्द्धन वंश का शासक राज्य कर रहा था। इस्लाम जावा में बड़ी तेजी से बढ़ रहा था। १५१३-१५१८ ई० के बीच में मजपहित के हिन्दू राज्य का सदा के लिए अन्त हो गया। हिन्दू संस्कृति पूर्वीय प्रान्त तथा बालि द्वीप तक ही सीमित रह गयी। बालिद्वीप हिन्दू संस्कृति का आज भी प्रतीक बना हुआ है और भारतीय साहित्य तथा धर्म को यहां सुरक्षित रखा जा सका है।

५१ प्रथम लेख में शासक का पूरा नाम 'पादुक श्री महाराज राजाधिराज प्रभुन्नाथ श्रीलक्ष्मी भट्टार प्रभु सर्वप्रभुसिनाम का सुप्रभाव श्री सिंह विक्रमवर्द्धन नाम देवाभिषेक' मिलता है। 'श्री महाराज राजाधिराज' की उपाधि से प्रतीत होता है कि जावा के अधीन अब भी कई सामन्त या शासक रहे होंगे (पु० १ भा० ४५ (१) नं० १ ९ पृ० ८०-८१)। दूसरा लेख श्री महाप्रभु गिरीन्द्रवर्द्धन सर्वोपरिनाम का रणविक्रम है। (वही नं० २१ पृ० ८०-८१)। इस लेख से प्रतीत होता है कि उस समय गिरीन्द्र वंश का शासक राज्य कर रहा था।

अध्याय ७

शासन, संस्कृति और साहित्य

अन्य द्वीपों की भाँति हिन्देशिया में भी भारतीय सांस्कृतिक परम्परा ने अपनी छाप पूर्णतया डाल दी थी। भारतीय शासन-पद्धति को भी शैलेन्द्र तथा जावा के अन्य शासकों ने अपनाया पर लेखों में तो केवल कुछ पदों का नाम ही मिलता है जिनके आधार पर शासन प्रणाली का केवल खाका ही खींचा जा सकता है। इन लेखों साहित्य और कला के आधार पर सामाजिक आर्थिक साहित्यिक तथा धार्मिक व्यवस्थाओं पर सूक्ष्म रूप से प्रकाश डाला जा सकता है। अतः इन स्रोतों के आधार पर हिन्देशिया के सांस्कृतिक जीवन के प्रत्येक अवयव को चित्रित किया जा सकेगा। इस सम्बन्ध में इस्लाम धर्म का प्रवेश और प्रवाह भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की भित्ता को उखाड़ने में असफल रहा और आज भी वहां के जीवन में प्राचीन परम्परा का आभास मिलता है। बालि अभी भी हिन्दू सभ्यता और धर्म का केन्द्र है, अन्य द्वीपों में इस्लाम धर्म ही प्रधान है। भारतीय संस्कृति के अन्तर्राष्ट्रीय वाङ्मय के अन्तर्गत सुदूरपूर्व में हिन्देशिया अपने प्राचीन गौरव की याद दिलाता है। बोरोबुदुर का प्रसिद्ध स्तूप प्रम्बनम का विशाल मन्दिर तथा वहां से प्राप्त ब्राह्मण तथा बौद्ध धर्म सम्बन्धी देवी-देवताओं की मूर्तियां रामायण महाभारत तथा अन्य भारतीय साहित्य और वयांग नामक प्राचीन परम्परा पर आधारित सामूहिक नृत्य प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं। अतः उस संस्कृति के प्रत्येक अवयव का सूक्ष्म रूप से अध्ययन आवश्यक है। इस समय धर्म को छोड़कर अन्य विषयों पर विचार किया जायगा।

शासन-प्रणाली

जावा में भारतीय शासन-सिद्धान्त का ज्ञान कामन्दक इन्द्र लोक तथा नीति धर्म नामक शब्दों से प्राप्त होता था। इन तीनों की प्रतिलिपियां प्राचीन जावा भष

१ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' भाग १ पृ० ४४१।

साहित्य में मिलती है। ऐरलंग के प्रसिद्ध लेख में विष्णुगुप्त (चाणक्य) के ज्ञानों का उल्लेख है 'वैष्णुगुप्तस्वामिनः) ।[1] सम्राट् ही राष्ट्र का प्रतीक था और राजकीय शासन-व्यवस्था ही प्रचलित थी तथा शासक के असीमित अधिकार थे। अन्य देशों की भाँति जावा में भी शासक को देवस्वरूप माना जाता था[2] और मृत्युपरान्त उसकी देवताओं के रूप में मूर्तियां स्थापित की गयीं। जैसे ऐरलंग की विष्णु की मूर्ति बनी। राज्य को विभिन्न भागों में बांटा जाता था और कभी-कभी तो राज्य को शासक के पुत्रों में बराबर विभाजित कर दिया जाता था जिससे बाद में पारस्परिक कलह न हो। मध्य जावा में पंजलु और जंगल के राज्य इसी प्रकार बने थे। शासक के अधीन सामन्त थे। कंबस क प्रसिद्ध लेख में संजय के पुत्र सम्राट् के विषय में लिखा है कि उसका विद्वानों की सभा में आदर होता था उसे शास्त्रों का मर्म ज्ञात था। (मान्यनीयो बुधजननिकरैशास्त्रसूक्ष्मार्थवेदी) और रघु की भाँति उसने अनेक सामन्तों को जीता था (सौम्यादिः पृथ्वी रघुरिव विजितानेकसामन्तचक्र)। उच्च पदाधिकारी आदेश शास्त्रेषु कहलाते थे। दिनाय के लेख में वेदों क ज्ञाता पुरोहितों (ऋत्विजैः वेदविद्भिः) तथा मन्त्रिमुख्य का उल्लेख है। ऐरलंग के लेख में मंत्रियों क सम्राट् से परामर्श लेने का उल्लेख है और वे मंत्री राज्य कार्य में संलग्न रहते थे (मंत्रालोचनतत्परैः रहस्यम्नापितो मन्त्रिभिः)। शासन के अधिकारी रक् (रक्यान्) कहलाते थे और इस उपाधि का प्रयोग शासक के लिए भी होता था। पूर्वी जावा के लेखों में मंत्री के अतिरिक्त सेनापति तथा सेनापति सर्वजक का उल्लेख है। सम्राट् की सहायता के लिए मापतिहिनो मंत्रीसिरिकन और मंत्री-हुनु होते थे और उनके नीचे रक्र्यान् मपति रक्र्यान् देमुंग और रक्र्यान् कनकहन् थे, पर

२ चटर्जी और चक्रवर्ती, 'इंडिया एण्ड जावा' पृ ७ पद २१।

३ इतानपर को धर्म का अवतार और जयनपर को विष्णु का अवतार माना गया है। (ज ये ई सो भाग पृ ५६, १८५)। मृत्युपरान्त देवता के रूप में उनकी मूर्ति भी स्थापित की जाती थी।

४ चटर्जी और चक्रवर्ती पृ १२ पद ११।

५ वही, पृ ४ पद ७, ८।

६ वही पृ ६८, पद १७।

७ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ४११।

इनके अधिकारों तथा कर्तव्यों का कहीं उल्लेख नहीं है। आगे चलकर दो और अधिकारी इसी वर्ग में बढा दिये गये। गजमद का नाम पूर्वी जावा के इतिहास में विशेष स्थान रखता है और वह बड़ा शक्तिशाली था जिसकी १३६४ में मृत्यु के बाद एक प्रधान व्यक्ति के स्थान पर चार-छ व्यक्तियों की नियुक्ति हुई। कदाचित् इसी ने 'कुटारमानव' नामक राजनीतिक ग्रन्थ लिखा। धार्मिक स्थानों की रक्षा और प्रबन्ध के लिए धर्माध्यक्षों की नियुक्ति की जाती थी। चूमचय के इतिहास के अनुसार (९६०-१२७९) शासक का भार सम्राट् के पुत्रों के अतिरिक्त सा-कि-किङ्स (रक्र्यन्) पर था और उनके नीचे कोई ३ अधिकारी थे। 'नागरकृतागम' के अनुसार सम्राट् के ही हाथ मे राज्य-शासन की बागडोर थी।

सामाजिक जीवन

भारतीय परम्परा के अनुसार वर्णाश्रम धम ही समाज की पृष्ठिभूमि रहा है। हिन्दएशिया के कला म भी चतुर्वर्ण का उल्लेख मिलता है। साहित्य और कला में भी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रों का बराबर उल्लेख मिलता है। एरलग के पैगग गुमंग लेख में श्रेष्ठ ब्राह्मणो और मूर्तियों के बीच में सम्राट् की कीर्ति का उल्लेख है (द्विजपतिमुनिमध्ये कीर्तिमेवाहरत्त)। भारतीय जाति आज भी बालि मे पायी जाती है और यह पुरानी परम्परा का द्योतक है। जावानी साहित्य और इतिहास म ब्राह्मणो और क्षत्रियों का उल्लेख है। 'तत्व निग व्यवहार' नामक प्राचीन जावानी ग्रन्थ में जाति सम्बन्धी कुछ नियम दिये हुए हैं। वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मस्तक बाहु जाँघ और पैरों से हुई। इसमें विभिन्न जातियों के लिए वर्जित भोजन का भी उल्लेख है जैसे कुत्ते चूहे बन्दर, साँप का मांस खाना

८ वही, पृ ४१४।

९ वही पृ ४१५।

१ वही भाग २, पृ ४ । चतुर्वर्ण का उल्लेख पूर्वी जावा के बोमन वतर लेख ८७१ ई (ओ जे ओ भाग १) सिडोकर लेख ११२१ ई (ज दे इ लो भाग २ पृ १११) तथा इतनगर के सुभाषा से प्राप्त बडग-सीसो लेख में है।

११ चटर्जी और चक्रवर्ती पृ ६९, पद २७।

वर्जित है।[१२] चतुर्वर्ण के व्यवसायों का उल्लेख भी किसी-किसी ग्रन्थ में मिलता है। चीनी स्रोतों के अनुसार मलयेशिया समाज में दो वर्ग के व्यक्ति थे राजकीय जिन्हें उच्च स्थान प्राप्त था और साधारण। प्रथम वर्ग वाले दूसरे वर्गों से श्रेष्ठ थे और आनन्दमय जीवन व्यतीत करते थे। चाउ-जू-कुआ के अनुसार सम्राट् के मरने पर प्रजा शोक से अपना सिर मुड़वा देती थी और कुछ लोग आग में कूद कर अपने प्राण देते थे। विवाह का आदर्श भी भारत की भाँति एक संस्कार की पूर्ति होना था। प्रायः विवाह एक ही जाति में होते थे पर उच्च वर्ग वाले अपने से नीचे वर्ग की स्त्री के साथ भी सम्बन्ध स्थापित कर लेते थे जैसा कि आज भी बालि में है। जावा में सम्राटों का ब्राह्मण वर्ग की कन्या के साथ विवाह नहीं हो सकता था जैसा कि कम्बुज और चम्पा में था। अन्तर्देशीय विवाह भी होते थे और जावा का मतराम तथा सुमात्रा के राजवंशों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने का उल्लेख हमें लेखों में मिलता है।[१३] विवाह का आदर्श बहुत ऊँचा था इसी लिए सतीप्रथा भी प्रचलित थी।[१४] साथ ही साथ विधवाओं के विवाह का भी चलन था। केन-अंग्रोक अथवा शासक राजस ने तुम्पेल के शासक तुंगुल की विधवा से विवाह कर लिया था। ऐरलंग के लेखों से पता चलता है कि श्री संग्रामविजय-धर्म प्रसादोत्तुंगदेवी का शासक के ऊपर बड़ा अधिकार था और उसे 'रकयान महामन्त्रिहिनो' की पदवी प्राप्त थी।[१५] कदाचित् यह शैलेन्द्र शासक संग्रामविजय-तुंग की पत्नी थी और उसने ऐरलंग से पुनः विवाह किया था। स्त्रियों को समाज और राजनीतिक क्षेत्र में भी उचित तथा उच्च स्थान प्राप्त था। परदा प्रथा न थी। ऐरलंग के पेनपथुंगेन लेख में सम्राट् का अपनी रानियों के साथ राजसभा में बैठने

१२ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' भाग २ पृ ४५। पतंजलि ने भी अपने महाभाष्य में 'पंच पंचनख' पशुओं के मांस खाने की अनुमति दी है। अन्य पशुओं का मांस वर्जित था (भक्ष्याभक्ष्य) देखिए (१ १ १ पृ ५ पंक्ति १६)।

१३ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ४७।

१४ नालन्दा लेख के शैलेन्द्रवंशज बाल पुत्रदेव की माँ तारा धर्मसेतु की पुत्री थी (पृ सं)।

१५ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ४८।

१६ वही।

का उल्लेख है (वास्तव्यमिर्लक्ष्मान्वित)।[17] जयमगर के बाद राजपत्नी सिंहासन पर बैठी और उसकी ज्येष्ठ पुत्री ने उसके स्थान पर शासन किया। इसी प्रकार विष्णुवर्धन के बाद उसकी दुहिता सुहिता सिंहासन पर बैठी। स्त्रियों को स्वतंत्रता प्राप्त थी और वे अपना पति भी चुन सकती थीं। जैसे कदूरिपण ने अपना स्वयंवर किया था।[18] भवि जयनगर ने अपनी सौतेली बहिन के साथ विवाह किया था जिससे प्रतीत होता है कि कदाचित् यह वर्जित न था। विवाहोत्सव का भी वर्णन मिलता है। बराती तीन दिन तक वधू के घर ठहरकर, ढोल बजाते हुए वर के घर लौटते थे और कई दिनों तक उत्सव होते रहते थे। उनके पारस्परिक प्रेम का ऊंचा आदर्श था।

वेश भूषा अलंकार, मनोरंजन इत्यादि

कलाकृतियों तथा अन्य स्रोतों से जावा और मलाया के निवासियों की वेश भूषा तथा अलंकारों का भी पता चलता है। 'पुगवंस का इतिहास' के अनुसार जावा का शासक लम्बे बालों का जूड़ा बांधता था कौशेय वस्त्र का लम्बा चोगा तथा चमड़े के जूते पहनता था।[19] पुरुष तथा स्त्रियों के शरीर का केवल निचला भाग घुटनों तथा इससे नीचे तक ढका रहता था जैसा कि अंकित चित्रों से प्रतीत होता है। बुद्ध की मूर्ति संघाटी अथवा उत्तरासंग से ढकी हुई दिखायी गयी है। सिर पर मुकुट अथवा मौलि रखने की भी प्रथा थी। अलंकारों का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता था। करण्डमुकुट के अतिरिक्त हार, अनन्त कटिमेखला तथा नूपुर पहने जाते थे। चित्रों में पुरुष तथा स्त्रियों को आभूषण पहने दिखाया गया है। यहां के निवासियों का मुख्य भोजन चावल था जिसके लिए जावा प्रसिद्ध था (जावीधुरीप्रवरं यवाख्यमतुलम्धान्या)।[20] वे मदिरा का भी प्रयोग करते थे और पान भी खाते थे।[21] आमोद प्रमोद के साधनों की भी कमी नहीं थी। वाद्यवादन

१७. चटर्जी और चक्रवर्ती, पृ ९८, पद १८।
१८. मजुमदार, पृ ७५।
१९. वही, पृ ४८।
२ चटर्जी और चक्रवर्ती, पृ ११ पद ७।
२१ मजुमदार, पृ ५ ।

नृत्य तथा मुर्गों की लड़ाई वहां के निवासियों के प्रमोद के साधन थी। वीणा मृदंग तथा सितार और बांसुरी चित्रों में भी दिखायी गयी है। नृत्य करती स्त्रियों के चित्र जावानी सांस्कृतिक जीवन का आभास प्रदान करते हैं और आज भी बर्याग नामक नृत्य सामूहिक रूप से उनके जीवन का अंग बन गया है। गमेलन जिसमें बहुत-से वादन-यंत्रों का प्रयोग होता है, और बर्याग प्राचीन परम्परा के स्मृतिचिह्न हैं। 'सुई वंश का इतिहास' में भी बांसुरी मृदंग तथा लकड़ी के वादन यंत्रों का उल्लेख है और नृत्य का भी विवरण है। सन फो-त्सि के निवासी पचीसी या शतरंज खेलते थे और मुर्गों की लड़ाई पर दांव लगाते थे। इनके अतिरिक्त लोग सैर के लिए पहाड़ या नदी किनारे भी जाते थे। नाटक भी खेले जाते थे और पात्र बड़े चेहरे को अपने मुख पर लगाते थे। कठपुतलियों का नाच भी मनोरंजन का साधन था।

बोरोबुदूर तथा जाव के अन्य मन्दिरों में अंकित चित्रों में गृहस्थी के भाजन, मकानों का रूप तथा वस्त्र इत्यादि भी दिखाये गये हैं। ऊंचे प्रासाद मंडप मकान तोरण तथा प्राकार का स्वरूप चित्रों से मिलता है। वर्ष के ६ महीनों तक वर्षा होने के कारण मकानों की छत ढालू तथा निकली हुई बरसाती बनायी जाती थी। गृहस्थी के भाजनों में 'भृगार' या पानी रखने का घड़ा थाली तथा कटोरा और यतियों का कमण्डलु विशेषतया उल्लेखनीय है। पूर्ण कलश कई चित्रों में दिखाया गया है।

आर्थिक व्यवस्था

मलाया से प्राप्त महानाविक बुद्धगुप्त के लेख से पता चलता है कि मलाया तथा हिन्दनेशिया सदा से ही व्यापार के केन्द्र रहे हैं। फाहियान ही समुद्री मार्ग से व्यापारियों के बड़े जहाज में भारत आया था और उसी प्रकार वह वहां से वापस भी गया। समुद्र यात्रा की असुविधाएं व्यापारियों के उत्साह को न तोड़ सकीं। चीनी यात्री इत्सिंग ने भी अपनी तथा ३ अन्य चीनी यात्रियों की भारतयात्रा का उल्लेख किया है। पारसी व्यापारियों के जहाज में बीस दिन की यात्रा के बाद वह श्रीविजय पहुँचा था और वहां से वह राजकीय जहाज से मलयु (जाम्बी) तथा

२२ वही तथा पृ ५३।
२३ चरजी और चक्रवर्ती पृ ७।

कच (केश) होता हुआ पूर्वी भारत के बन्दरगाह ताम्रलिप्ति पहुँचा।[२४] श्रीविजय व्यापार का प्रसिद्ध केन्द्र था। व्यापार और सामुद्रिक मार्ग का उल्लेख किय तन (७८५-८०५ ई०) के वृत्तान्त में भी मिलता है। मलाया में भी कलह प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था। अरब लेखकों ने भी इस व्यापारिक केन्द्रों का उल्लेख किया है। जावा के महाराज के अधिकृत क्षेत्रों में कलह का नगर व्यापार का प्रसिद्ध केन्द्र था जहाँ अरब और चीन के व्यापारी जाते थे। चाऊ-जू-कुआ ने अपने वृत्तान्त में व्यापारिक पदार्थों का भी उल्लेख किया है। इनमें चाँदी, कपूर, अगुरु, इलायची, मसाले, मोती, हाथीदाँत, बिल्लौर, अम्बर, मूगा, गुलाबजल, कपड़ा इत्यादि रहता था।[२५] इन स्थानीय पदार्थों के बदले में व्यापारी सोना, चाँदी, लोहा, शक्कर, रेशम इत्यादि देते थे। किसी नियमित मुद्रा का चलन न था, चाँदी के टुकड़े काट कर दे दिये जाते थे। सन-फो-त्सि के व्यापार का उल्लेख ताओ चि-लिओ ने भी किया है पर उसके समय में इस का व्यापारिक गौरव कम हो गया था। व्यापारिक दृष्टिकोण से समुद्र नामक एक छोटा राज्य महत्वपूर्ण स्थान था। यहाँ पर सोना, चाँदी और रेशम बहुतायत से होता था और यहाँ के कारीगर भी कुशल थे। १७वीं शताब्दी तक इसकी महत्ता रही। यहाँ केवल चावल की उपज होती थी पर गेहूँ या जो नहीं पैदा होता था। सिर्फ गन्धक के अतिरिक्त यहाँ रेशम के कीड़े भी पाले जाते थे। दि-न-र अथवा दिनार नामक मुद्रा का यहाँ प्रयोग होता था। चीनी यात्रियों ने सुमात्रा के बहुत-से अन्य राज्यों का भी उल्लेख किया है।

जावा (चो-पो) का वृत्तान्त चाऊ-जू-कुआ ने लिखा है। मुख्य रूप से यहाँ खेती होती थी और चावल, पस्मन, सन, बीन और ज्वार पैदा की जाती थी। यहाँ सोना, चाँदी, हाथी-दाँत, बारहसिंगा, मोती, कपूर, कछुए की पीठ की हड्डी, चन्दन, इलायची इत्यादि भी पैदा होती थी। रेशम के कीड़े भी पाले जाते थे। इसके बदले में व्यापारी सोना, चाँदी, रेशम के पदार्थ, सिन्दूर, फिटकरी

२४. मेमायर, पृ० ५१-५७, ६१-६४ इत्यादि। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ० २७।

२५. चिलिओ, भू० ६, भा० ४ पृ० १११ से। मजुमदार, पृ० २९।

२६. मजुमदार पृ० ३१।

२७. वही, पृ० ३४।

तथा हरी और सफेद चीनी मिट्टी के बरतन इत्यादि देते थे। चाऊ-जु-कुआ ने मिर्च के व्यापार का विशेष रूप से उल्लेख किया है और चीनी व्यापारी इससे विशेष लाभ उठाते थे। जावा में चावल की उपज इतनी अधिक होती थी कि वह बाहर भी भेजा जाता था।[28] जावा के तोते भी प्रसिद्ध थे जिनका उल्लेख चाई-हिसिन (१४१६ ई) ने किया है। यहाँ व्यापारिक सुविधा के लिए ताँबे चाँदी तथा टीन के सिक्कों का प्रयोग किया जाता था जो काटकर बनाये जाते थे। लिन-चाई-ताई-त के अनुसार (११७८ ई) मिले हुए ताँबे चाँदी सफेद ताँबा और टीन के सिक्के काटकर बनाये जाते थे। ६ सिक्कों का मूल्य एक तोले सोने के बराबर होता था। चाऊ-जु-कुआ के अनुसार इन पर फन-कुवन या व्यापार निरीक्षक की मोहर रहती थी। इस प्रकार के चाँदी और ताँबे के बहुत-से सिक्के जावा में मिले हैं जिनसे उपर्युक्त वृत्तान्त की पुष्टि होती है।

शिक्षा और साहित्य

जावा में भारतीय शिक्षा और साहित्य का प्रवेश ईसवी की पाँचवीं शताब्दी में ही हो चुका था जैसा कि पूर्णवर्मन् के लेखो से प्रतीत होता है जिनके रचयिताओं को भाषा तथा व्याकरण का अच्छा ज्ञान था। चांगल के लेख क संजय के विषय में लिखा है कि सन्नाह के पुत्र का पण्डितों द्वारा आदर होता था और उसे ग्रन्थों का मर्म ज्ञात था (श्रीमान् यो मान्नीयो बुधजननिकरैश्शास्त्रसूक्ष्मार्थवेदी)[30] दिनाय के लेख में अगस्त्य की मूर्ति स्थापना के सम्बन्ध मे वेदों के पारंगत पुरोहितों, यति स्थापक इत्यादि का उल्लेख मिलता है (वेदविद्भिर्यतिवर्यैस्थापकैः)।[31] गुनामा के अमोघपाश की मूर्ति पर अंकित शक सं १२६९ के लेख मे आदित्य वर्मन् का उल्लेख है जो शास्त्रों का ज्ञाता था (शास्त्रप्रवृद्धि) चम्पा और कम्बुज के लेखों की भाँति यहाँ के लेखों से शिक्षा विषय परिपाटी तथा अन्य ज्ञान सम्बन्धी

२८ वही, पृ १७।
२९. बरुआ एण्ड चक्रवर्ती पृ २१।
३० वही पृ १२, पद ११।
३१ वही, पृ १७ पद ९।
३२ वही पृ ८१ पद २।

विषयों पर प्रकाश नहीं पड़ता है। हां प्राचीन जावानी साहित्य में भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद हुआ तथा मूल रूप से इन्हीं विषयों को लेकर ग्रन्थ लिखे गये। इसीलिए कहीं-कहीं पर ये ग्रन्थ भारतीय ग्रन्थों से कुछ भिन्न हो गये पर इनका उद्गम एक ही था। मध्य जावा के इतिहास में 'अमरमाला' नामक ग्रन्थ सर्वप्रथम लिखा गया जो अमरकोष पर आधारित था और शैलेन्द्र शासक जितेन्द्र की संरक्षकता में लिखा गया। महायान ग्रन्थ 'कमहायनिकन' भी इसी काल में लिखा गया। हिन्द जावानी साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ 'रामायण' की रचना भी लगभग इसी काल में हुई किन्तु इसमें अग्नि-परीक्षा के बाद राम-सीता का पुनर्मिलन होता है। सीता के त्याग की कथा नहीं है और अन्तिम दो सर्ग वाल्मीकि रामायण से नहीं मिलते हैं। विद्वानों में इस ग्रन्थ के रचयिता के संस्कृत तथा भोज ज्ञान के एवं तिथि के विषय में मतभेद है। महाभारत का भी अनुवाद गद्य में धर्मवंश के समय में हुआ।' आदि पर्व विराट पर्व और भीष्मपर्व निश्चयरूप से इसी सम्राट् के समय में लिखे गये किन्तु आश्रम पर्व मौसल पर्व प्रास्थानिक पर्व और स्वर्गारोहण पर्व बाद के समय के हैं। उद्योग पर्व की रचना अशुद्ध संस्कृत में है और विराट पर्व धर्मवंश तथा उसके साम्राज्य के नष्ट होने से १ वर्ष पहले ९९६ ई. में लिखा गया। महाभारत की कथा के आधार पर जावा में अन्य ग्रन्थ भी लिखे गये जो उच्च कोटि के हैं। इनमें अर्जुन-विवाह नामक ग्रन्थ एरलङ्ग (१ १९ १ ४२) की संरक्षकता में म्पुकण्व द्वारा लिखा गया। कडिरी राज्य काल में त्रिगुण द्वारा 'कृष्णायन' की रचना हुई जिसमें कृष्ण द्वारा रुक्मिणी के हरण तथा जरासन्ध के साथ युद्ध का उल्लेख है। पनतरम के मन्दिर में इसी विषय को लेकर कई चित्र भी अंकित हैं। दूसरा ग्रन्थ 'सुमनसान्तक' दशरथ के पिता अज की रानी इन्दुमती की पुष्प द्वारा मृत्यु पर आधारित है जिसका उल्लेख कालिदास ने अपने 'रघुवंश' में किया है। इस ग्रन्थ की रचना म्पु मोनगुण ने की थी और इसमें भी वर्षऋतु का उल्लेख है। क्रोम के मतानुसार इन दोनों ग्रन्थों की रचना १२वीं शताब्दी में हुई थी।[१४]

१३ जावा में 'रामायण' और 'महाभारत' के सम्बन्ध में डा. चटर्जी के दो लेख उनके 'भारत एवं जावा' ग्रन्थ में प्रकाशित हैं। पृ. २९ से रामायण सम्बन्धी लेख स्टटरहाइम के लेख पर आधारित है।

१४ सिमा सम्बन्धी वृतान्त डा. मजुमदार के 'सुवर्णद्वीप' भाग १, अध्याय

महाभारत के उद्योग भीष्म द्रोण कर्ण और शल्य पर्वो पर आधारित भारत युद्ध[15] नामक ग्रन्थ की रचना जयमय (११३५ ११५० ई) के समय में हुई थी। इसका लेखक म्नु सेदह था। इस ग्रन्थ में बहुत-सी स्थानीय कथाओं का मिश्रण भी है और इसको म्नु पनुलह ने किया था। इसी लेखक ने हरिवंश तथा घटोत्कचाश्रय भी उसी समय लिखा। प्रथम ग्रन्थ में रुक्मिणीहरण और बाणासुर-युद्ध का उल्लेख है और दूसरे में शिशिसुन्दरी के लिए घटोत्कच की सहायता से अभिमन्यु द्वारा लक्ष्मणकुमार के साथ युद्ध करने का उल्लेख है। इसी कथा पर आधारित वयाग नृत्य की कई कथाएं भी प्रचलित हैं।

कामेश्वर द्वितीय (११८५ ई) के समय 'स्मरदहन' की रचना हुई, जिसका आधार कालिदास का 'कुमारसम्भव' था। रामायण के रचयिता मार्गीश्वर के कदाचित् धर्मज और तनकुंग नामक दो पुत्र थे जिनमें से प्रथम 'स्मरान्तक' और 'वृत्तसंचय' नामक पद्य काव्यों का रचयिता था। प्रथम ग्रन्थ शिवरात्रि पर आधारित है और दूसरा संस्कृत छन्द शास्त्र से सम्बन्ध रखता है। कामेश्वर द्वितीय के समय में 'भौमकाव्य' की भी रचना हुई। इसमें पृथ्वीपुत्र भौम अथवा नरक द्वारा इन्द्र तथा अन्य देवताओं की पराजय और अन्त में कृष्ण के हाथ से उसकी मृत्यु का उल्लेख है। १३वीं शताब्दी के ग्रन्थों में 'कृष्णान्तक' भी है जिसमें कृष्णपक्ष के अन्त की कथा है।

१४वीं शताब्दी में मजपहित राज्य का उत्कर्षकाल युग था और इसमें प्रपञ्च द्वारा 'नागरकृतागम' की रचना १३६५ ई में हुई। यह मजपहित शासक हयम वुरुक की जीवनघटनाओं पर आधारित है। प्रपञ्च ने अपने समकालीनों में बौद्ध लेखक मुनम्बुलर का भी उल्लेख किया है। इसने अर्जुन सहस्रबाहु तथा 'सुतसोम'

४ पर आधारित है। इसलिए संकेतचिह्नों का देना आवश्यक नहीं है। पुष्टि के लिए सिडो के 'ऐंद हिन्दुआ' का आश्रय लिया गया है। इस सम्बन्ध में हिमांशु भूषण सरकार का ग्रन्थ 'इंडियन इन्फ्लुएन्स आन दि लिट्रेचर आफ जावा' विशेषतया उल्लेखनीय है।

१५. ए हि पृ २८४।

१६. सिडो के मतानुसार इसकी रचना कामेश्वर प्रथम (१११५ ११३ ई) के समय में हुई। ए हि पृ २८३।

अथवा 'पुरुषारथान्त' काव्यों की रचना की। दूसरे काव्य में सु-सोम और पुरुषाद राक्षस के बीच युद्ध का उल्लेख है और शैव तथा बौद्ध धर्मों के बीच कुछ भी अन्तर नहीं रखा गया है। उपर्युक्त काव्य प्रायः भारतीय विषयों को लेकर लिखे गये। इनके अतिरिक्त और काव्य जिनकी तिथि नहीं निर्धारित की जा सकती है निम्नलिखित थे—'वृत्रविजय' जिसमें वृत्र की विजय तथा मृत्यु और नहुष का थोड़े समय के लिए इन्द्र होना वर्णित है 'पार्थयज्ञ' जिसमें अर्जुन के तप द्वारा शिव से अस्त्र प्राप्त करने का उल्लेख है विष्णोत्सव प्रायः हरिविजय जिसमें मन्दर पर्वत की मथानी से समुद्र मन्थन का विवरण है 'कालयवनान्तक' जिसमें कंस के वध का बदला लेने के लिए कालयवन का द्वारका पर आक्रमण मुचुकुन्द द्वारा उसका भस्म होना और अर्जुन द्वारा सुभद्रा के हरण की कथा है तथा राम विजय रत्नविजय पार्थविजय इत्यादि काव्य ग्रन्थ हैं।[17]

इन पौराणिक तथा धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त धर्मशून्य' धर्मसचित' 'कुञ्जर किरण' 'व्रतसंचय तथा 'वृत्तायन' और 'नीतिशास्त्र'—कविनपहित काल की रचनाएं हैं। नीतिशास्त्र कविन् मे नीतिसार, पंचतंत्र चाणक्यशतक इत्यादि के श्लोकों का संकलन है। अनुशासनपर्व पर आधारित सर्वसमुच्चय' में धर्मानुशासनों का संग्रह है। बालि के ग्रन्थ नवरुचि' में भीम के पराक्रम की कथाओं का उल्लेख है। पुराणों में 'ब्रह्माण्ड पुराण' सबसे प्रमुख है और भारतीय ग्रन्थ की भांति है। अगस्त्यपर्व मे ऋषि द्वारा अपने पुत्र दृढस्यु को संसार की रचना का वृत्तान्त सुनाया गया है।[18]

मध्य भाषा का साहित्य भी विस्तृत है यहां इस काल के ऐतिहासिक ग्रन्थ गद्य तथा पद्य में लिखे गये। पद्यों में किडुग नामक छन्द का प्रयोग किया गया। ऐतिहासिक ग्रन्थों में 'पररतों' सबसे प्रसिद्ध है जिसमें जावा के सिंहसारि और मजपहित राजाओं का इतिहास दिया गया है। इसकी रचना १६१३ ई० में हुई। 'उसनजव' नामक ग्रन्थ में बालि के इतिहास से सम्बन्धित किंवदन्तियां हैं। पद्य रचनाओं में पवि' से सम्बन्धित बहुत-सी रचनाएं हैं। 'हितोपदेश' और 'पंचतंत्र'

१७. प हि पृ ३ २।
१८. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ ७२ से।
१९. वही।

पर आधारित बहुत-सी कथाएं भी जावा के सेमि साहित्य में मिलती हैं। इस प्रकार का साहित्य जावा के अतिरिक्त बालि स्याम और काम्बोज की भाषाओं मे भी है। किदुंग छन्द वाले 'संग सत्यवान' में सावित्री के जीवन की प्रसिद्ध घटना का विवरण है।

धार्मिक जावानी साहित्य के अन्तर्गत भारत से आयी मूल रचनाओं उनके अनुवाद तथा स्वतंत्र रूप से जावानी धार्मिक ग्रन्थों को रखा जा सकता है। यजुर्वेद से नारायणाथर्वशीर्षोपनिषद' का संकेत है जो बालि में प्रचलित है। 'वेद परिक्रम सार संहिता किरण' में दैनिक उपासना सम्बन्धी मंत्रों का संकलन है। 'स्तोत्रों' मे शिव विष्णु बुद्ध सूर्य वायु, वरुण तथा यम की प्रार्थना की गयी है। बुद्धवेद में बुद्ध के साधना-सम्बन्धी मंत्र है। आध्यात्मिक जीवन बिताने के लिए बहुत-से मंत्रों का संकलन भी किया गया है।

मूल धार्मिक संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद में 'भुवनकोश' 'भुवन-संक्षेप' 'तत्त्व-संग' 'हयंग महाज्ञान' एक दार्शनिक ग्रन्थ 'बृहस्पति तत्त्व' जिसमें बहुत-से धर्मों का उल्लेख है इत्यादि हैं। ये ग्रन्थ मूल संस्कृत से अनुवाद किये हुए हैं। स्वतंत्र रूप से लिखित जावानी ग्रन्थों में सप्तभुवन ऋषिशासन देवशासन हैं।

उपर्युक्त वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि जावा का प्राचीन साहित्य भारतीय ग्रन्थों के मूल रूप उनके अनुवाद तथा स्वतंत्र रचनाओं से ओतप्रोत है। यह साहित्य धार्मिक लौकिक न्याय तथा अन्य विषयों से सम्बन्धित है। मलाया में मुसलमान काल से पहले की रचनाओं का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है पर बाद के समय में भी भारतीय साहित्य पर आधारित रचनाएं हुईं, जिनमें महाभारत तथा रामायण की कथाएं ली गयी हैं।

जावा तथा मलाया के प्राचीन शासन संस्कृति तथा भौतिक क्षेत्रों में भारतीय अवदान पूर्णरूप से मिला और इसकी छाप हिन्दुओं के राज्यकाल तक ही सीमित न रही। इस्लामी व्यापारियों ने देश को अपने धर्म में रंगा पर भारतीय सांस्कृतिक परम्परा को वे वहां के निवासियों के जीवन से अलग करने में सफल न हुए। यह परम्परा धार्मिक क्षेत्र में भी कायम रही जिसका उल्लेख विस्तृत रूप से अगले अध्याय में किया जायगा।

अध्याय ८

धार्मिक जीवन

सुदूर पूर्व में भारतीय संस्कृति के प्रवाह में धर्म ने पूर्ण रूप से अपना योगदान दिया। ब्राह्मण धर्म जावा सुमात्रा बोर्नियो तक ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में फैल चुका था और इसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। फाहियान के समय से ब्राह्मण धर्म ही प्रधान था और बौद्ध धर्म बहुत क्षीण था। सातवीं शताब्दी के बाद के युग में भी ब्राह्मण धर्म ही प्रधान रहा जिसका मुख्य अंग शैव मत था। पर बौद्ध धर्म ने भी उन्नति की यह स्पर्द्धालु रूप मे नहीं रहा बुद्ध को भी शैव मत मे स्थान दिया गया। इस समय में धार्मिक सहिष्णुता और उदारता की भावना ने दोनों ही मतों को पूर्णतया विकसित होने का अवकाश दिया और वे दोनों एक दूसरे के निकट होते गये। बंगाल से महायान मत ने प्रवेश किया जैसा कि केलुरक के लेख से पता चलता है जिसमे कुमार घोष द्वारा मञ्जुश्री की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है।[1] यह राजगुरु गौड़ निवासी था और इसने वहां के शैलेन्द्र शासक का आतिथ्य स्वीकार किया था। जावा का प्रसिद्ध बोरोबुदूर मन्दिर बौद्ध धर्म का प्रतीक है। मन्दिरों के फलक पर खुदे धार्मिक और पौराणिक कथाओं से उद्धृत चित्र ब्राह्मण देवी-देवताओं की मूर्तियां और साहित्य भारतीय धर्मों—ब्राह्मण तथा बौद्ध—के हिन्देशिया और मलाया म पूर्णतया विकसित होने का प्रमाण है। इस अध्याय में वहां के ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों के विभिन्न अंगों के परिचय देने का प्रयास किया जायगा।

ब्राह्मण धर्म

ब्राह्मण धर्म के वैदिक स्वरूप का जिसके अन्तर्गत यज्ञ और यूपों की स्थापना

१ गौड़ द्वीप-गुरु-क्रमाम्बुज रजः कुमारघोष स्थापितवान् मञ्जुघोषं इमम्। केलुर लेख पद ५ ११।

बोर्नियो में की गयी उल्लेख पहले ही हो चुका है। आठवीं शताब्दी से पौराणिक ब्राह्मण विचारधारा जावा तथा अन्य द्वीपों में प्रवाहित होने लगी। सृष्टि-रचयिता ब्रह्मा रक्षक विष्णु और नाशक शिव व्यक्ति रूप से तथा सामूहिक रूप से पूजे जाने लगे और इनके साथ में अन्य छोटे देवी-देवताओं को भी मान्यता प्राप्त हुई। शैव मत ही ब्राह्मण धर्म का प्रधान अंग रहा और शिव की लिंग तथा पार्थिव रूप में बहुत-सी मूर्तियां भी बनीं जिनका विस्तृत रूप से उल्लेख 'कला' के अध्याय में किया जायगा। लेखों से प्राप्त सामग्री के आधार पर चंगल के लेखानुसार श्री सञ्जय द्वारा शिव-लिंग की स्थापना एक पहाड़ी पर की गयी थी। शिव की उपासना विस्तृत रूप से की जाती थी। कवि गंगावतरण से भी परिचित था जैसा कि लेख से प्रतीत होता है। लेख में ब्रह्मा की भी आराधना कही गयी है और उन्हें धर्म अर्थ और काम का स्रोत माना गया है। विष्णु की स्तुति शेष-नाग की शय्या पर लेटे लक्ष्मीसहित स्वरूप में की गयी है। शिव को प्रधान स्थान दिया गया है और यही भावना हिन्दनेशिया में शताब्दियों बाद तक जागृत रही जैसा कि ऐरलंग के लेख से भी प्रतीत होता है जिसमें शैव (माहेश्वर) सौगत (बौद्ध) और ऋषि (महा-ब्राह्मण ब्रह्मा से सम्बन्धित) सम्प्रदायों का उल्लेख है।[1] 'अमरमाला' 'अमरकोष' पर आधारित ग्रन्थ में भी शिव को गुरु और ईश्वर कहकर सम्बोधित किया गया है और इसकी पुष्टि चंडि लोरो जोग्रंग के मन्दिरों से भी होती है, जिनमें प्रधान मन्दिर शिव का है और दोनों ओर विष्णु एवं ब्रह्मा तथा सामने नन्दी का मन्दिर है। चंगल के लेख में शिव को संसार का नाशक माना है किन्तु उनके करुण और कोमल स्वरूप से भी जिसमें वे प्रसन्न होकर भक्त को वरदान देते हैं, जावानी अपरिचित न थे। महादेव और महाकाल के नामों से उनकी उपासना की जाती थी। महादेव की मूर्तियों में प्रायः स्वतंत्र रूप से एक मुखवाली भी मिली जिसमें माथे पर त्रिनेत्र मौलि में चन्द्र और कपाल तथा उपवीत के स्थान पर सर्प और चार हाथ दिखाये गये हैं जिनमें पुस्तक कमल कमंडलु और त्रिशूल हैं। दो हाथों वाली मूर्तियों में चामर और अक्षमाला है। बेमरड् से प्राप्त शिव-पार्वती की मूर्ति दक्षिण

२ बी बी ७, पृ ११५। मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' भाग २, पृ १ ।
३ वही पृ १ १।
४ केम्पर, 'अर्ली इंडोनेशियन आर्ट' नं १५७।

भारत की कला की मूर्तियों से मिलती-जुलती है। भैरव या महाकाल रूप में शिव की मूर्ति भी जावा में मिली है और इसमें उनके मुख पर रौद्र भाव प्रदर्शित है। इसका सबसे सुन्दर प्रतीक सिंगसारि के निकट एक मन्दिर की मूर्ति है।[5] लेख में इस देवता का नाम चक्र दिया हुआ है। देवता कुत्ते पर बैठे हैं और नग्नावस्था में हैं। उनके हाथों में खड्ग कपाल त्रिशूल और डमरू हैं। मौलि में कपाल बँधे हुए हैं तथा वे रुंड-मुंड की माला पहने हुए हैं।

शान्त तथा सौम्य स्वरूप में शिव के अन्य रूप महादेव और भैरव की शक्तियों की मूर्तियाँ भी जावा में मिली जिनसे ज्ञात होता है कि वहाँ के निवासी इनसे अनभिज्ञ न थे। महादेव की शक्ति देवी महादेवी पार्वती अथवा उमा नाम से प्रसिद्ध थी। इन शक्तियों में महिषासुरमर्दिनी की मूर्ति विशेषतया उल्लेखनीय है जो ६, ८ १ अथवा १२ हाथ वाली दिखायी गयी है और बैल के रूप वाले असुर को मार रही है।[6] महाकाली के रूप में भैरव की शक्ति भैरवी मृतक के शरीर पर बैठी दिखायी गयी है और मनुष्य के कपाल ही उनका शृंगार हेतु अलंकार हैं। उनके एक हाथ में त्रिशूल है और दूसरे में रक्त रखने के लिए पात्र है। इन दोनों के अतिरिक्त अर्द्धनारीश्वर के रूप में भी शिव और दुर्गा की संयुक्त मूर्तियाँ मिली हैं। दाहिना भाग शिव का है और बायाँ दुर्गा का है।

शिव और पार्वती तथा दुर्गा के अतिरिक्त उनके पुत्र गणेश और कार्तिकेय को भी जावा में देवत्व-स्थान प्राप्त हुआ और उनकी मूर्तियाँ मिली हैं। गजमुखी गणेश को विघ्ननाशक के रूप में जावा में पूजा जाता था और प्रतिमा-लक्षण के अनुसार उनके चार हाथ हैं। चड़ी बनोन के गणेश की मूर्ति सबसे सुन्दर है।[7] रणदेवता कार्तिकेय की मूर्ति भी जावा में मिली और वह मोर पर सवार है।

जावा में लिंग रूप में भी शिव की उपासना की जाती थी। स्टुटरहाइम के मतानुसार इसका पूर्वजों की उपासना से सम्बन्ध रहा है जो भारतीयों के आगमन

५. वही, नं १४२।
६. हलाड आर्ट्स दु इण्डिया ओं सिएन, भाग १, चित्र नं ९ ९।
७. कैम्पर, चित्र नं ३९।
८. मजूमदार, 'सुवर्णद्वीप' भाग २, पृ १ १।

से पहले भी जावा में प्रचलित थी[9] पर वास्तव में लिंग-स्थापना का सम्बन्ध शैव मत से ही हो सकता है और इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। इन दोनों के अतिरिक्त शिव की उपासना भट्टारगुरु के रूप में भी की जाती थी जिसका सम्बन्ध अगस्त्य ऋषि से था। चंडी-सारि से प्राप्त अगस्त्य की मूर्ति[10] इसी भावना का सबसे बड़ा प्रतीक है।

शिव के अतिरिक्त विष्णु और ब्रह्मा की भी उपासना यहां की जाती थी जैसा कि यहा से प्राप्त मूर्तियों से प्रतीत होता है। विष्णु का स्थान शिव के बाद था और उनकी चतुर्बाहु की मूर्ति शंख चक्र गदा और पद्म धारण किये हुए मिली है। उनकी शक्ति श्री या लक्ष्मी भी कमल चमर, माला लिये दिखायी गयी है। 'अनन्त-शयन' अवस्था में भी विष्णु को शेषनाग की शय्या पर लेटे दिखाया गया है, जिसका विवरण चंगल-लेख में मिलता है। कृष्ण राम मत्स्य वराह और नृसिंहावतार रूप में उनकी मूर्तियां बनायी गयी जिससे प्रतीत होता है कि जावानिवासियों को पौराणिक कथाओं के आधार पर उनके विभिन्न अवतारों का ज्ञान था। सम्राट् ऐरलंग की वराहावतार के रूप में मूर्ति विशेषतया उल्लेखनीय है। विष्णु की मूर्ति के साथ-साथ दो अन्य छोटी मूर्तियां भी हैं जो लक्ष्मी तथा सत्यभामा प्रतीत होती हैं। यद्यपि वैष्णव मत और इसको माननेवालों की जावा में कमी नहीं थी पर शैव मत उसके देवताओं और अनुयायियों के जैसा इसका प्रसार न था। जिस विचारधारा के अन्तर्गत शिव और बुद्ध को एक दूसरे के निकट लाया गया जिसमें शिव की ही प्रधानता रही उसी के अनुसार विष्णु का भी स्थान शिव के बाद ही रहा। साहित्य तथा कला के क्षेत्रों में शिव की ही प्रधानता रही।

ब्रह्मा की उपासना की जाती थी। चतुरानन के रूप से हंस पर आरूढ़, माला चमर, कमल और कमंडलु लिये उनकी कई मूर्तियां मिली हैं।[11] उनकी शक्ति सरस्वती भी मोर पर बैठी हुई दिखायी गयी है। व्यक्तिगत मूर्तियों के अतिरिक्त

९. टी बी जी ६४ (१९२) पृ ११७ से। मजुमदार, वही।
१ केम्पर, नं २१८।
११ वही नं २ २।
१२ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' (२) पृ १ ४।
१३ हलाद नं २४७।

ब्रह्मा विष्णु और महेश की संयुक्त त्रिमूर्ति भी जावा में मिली। बीच में शिव का मुख है और अन्य दो ओर ब्रह्मा और विष्णु हैं। इनके अतिरिक्त जावा में अन्य ब्राह्मण देवी-देवताओं का भी ज्ञान था जिनकी मूर्तियां मिली हैं। जैसे यम वरुण अग्नि इन्द्र, कुबेर और सूर्य को उसी अवस्था में दिखाया गया है जैसे कि भारतीय ब्राह्मण और बौद्ध कला में निकली हुई तोंद तथा धन के थैले के साथ उनको चित्रित किया गया है।[१४] उनकी स्त्री हारीती से भी जावानी अनभिज्ञ न थे। सात घोड़ों द्वारा खींचे हुए रथ पर सूर्य तथा ध्वज लिये हुए चन्द्र और मकर-आरूढ़ धनुष-बाण लिये कामदेव की मूर्तियां भी जावानी कलाकारों ने धार्मिक विचारधारा के अन्तर्गत बनायीं। मूर्तियां पत्थर या कांसे की बनीं पर उनके निर्माण में यह धार्मिक प्रेरणा थी जिसने साहित्यिक क्षेत्र में भी अपना अवदान दिया। धार्मिक साहित्य में पुराणों की भांति 'तन्तु' नामक साहित्य है जिसमें देवी-देवताओं का नाम उनसे सम्बन्धित कथाएं तथा विश्व-भूगोल इत्यादि का उल्लेख है। इसके अध्ययन से यह ज्ञात होगा कि किस प्रकार से भारतीय पौराणिक विचारधारा ने जावा में प्रवेश कर अपना स्थान बना लिया था।

अन्य द्वीपों में ब्राह्मणधर्म

जावा के अतिरिक्त सुमात्रा बालि तथा मलाया प्रायद्वीप में भी हिन्दू धर्म ने अपना स्थान बना लिया था। इसका प्रमाण वहां से प्राप्त ब्राह्मण देवी-देवताओं की मूर्तियां तथा बालि में हिन्दू संस्कारों का आज भी प्रचलन है। सुमात्रा के श्रीविजय क्षेत्र में बौद्धधर्म के प्रवेश से पहले ब्राह्मण धर्म का ही मुख्य स्थान था जैसा कि चीनी यात्री इत्सिंग का कथन है। पलमबग-जाम्बी क्षेत्र से शिव गणेश नन्दी ब्रह्मा अथवा त्रिमूर्ति की पत्थर की मूर्तियां तथा गणेश और कुबेर की कांसे की मूर्तियां मिलीं।[१५] इनके अतिरिक्त सुमात्रा के कई अन्य स्थानों में भी कहीं-कहीं कुछ ब्राह्मण मूर्तियां मिलीं। मलाया के पाया क्षेत्र तथा मलोम श्री धमरट में ब्राह्मण मूर्तियां मिलीं।

१४ मजुमदार, पु सं पृ १ ५। कुबेर की मूर्ति के लिए देखिए—हलाद चित्र सं २४१। विस्तृत रूप से इन ब्राह्मण मूर्तियों का उल्लेख 'कला' के अध्याय में किया जायगा।

१५ मजुमदार, पु सं पृ १४५।

लाजोंकिए के मतानुसार बंडो की खाड़ी के उत्तर में एक मन्दिर के अवशेष मिले जिसकी मुख्य देवमूर्ति शिव अथवा विष्णु की रही होगी जैसा कि वहां के अवशिष्ट पुष्पों से प्रतीत होता है। वहां पर १२ १३वीं शताब्दी की दो बुद्धमूर्तियां मिलीं और ५ मील दक्षिण में विष्णु की मूर्ति मिली।[१] मकोल की चमरट में भी कई ब्राह्मण मूर्तियां मिलीं जिनमें नटराज शिव की मूर्ति सबसे सुन्दर है। बोनियो में भी ब्राह्मण मूर्तियां मिलीं जिनमें नन्दी गणेश लिंग दुर्गा की मूर्तियां प्रमुख हैं। सेलिबीज में शिव की एक सोने की मूर्ति मिली और वहां ब्राह्मण धर्म का प्रवेश पूर्णतया प्रमाणित होता है।[१] बाकि तो अब तक हिन्दू धर्म और संस्कृति का सुदूर पूर्व में गढ़ है, जिस पर जावानी प्रभाव मजपहित साम्राज्य के पतन के बाद जावानी शरणार्थियों ने जाकर डाला।

बौद्ध धर्म

ईसा की सातवीं शताब्दी तक सुदूरपूर्व में बौद्ध धर्म ने पूर्ण रूप से अपना स्थान बना लिया था। गुणवर्मन् की कथा से ज्ञात होता है कि पांचवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म ने जावा में प्रवेश कर लिया था। वह मूल सर्वास्तिवादी था और उसने धर्मगुप्त सम्प्रदाय सम्बन्धी किसी ग्रन्थ का अनुवाद किया था।[१४] चीनी यात्री इत्सिंग के वृत्तान्त का उल्लेख पहले ही हो चुका है। उसके मतानुसार बौद्ध धर्म हिन्दनेशिया के द्वीपों में दूर दूर तक फैल चुका था और १ से अधिक देशों में मूलसर्वास्तिवाद मत मान्य था पर कहीं कहीं पर महायान मत के अनुयायी भी थे। इनमें से श्रीविजय भी एक स्थान था। आठवीं शताब्दी से बौद्ध धार्मिक क्षेत्र में महायान मत की प्रधानता हो गयी और यह मलाया के अतिरिक्त सुमात्रा और जावा में भी बड़े वेग से प्रसारित हुआ जिसमें शैलेन्द्र शासकों का बड़ा हाथ था। इनके अन्तर्गत जावा के प्रसिद्ध बोरोबुदूर विहार का निर्माण हुआ तथा पूर्वी जावा में चण्डी-मेन्दुत तथा अन्य बौद्ध मन्दिर बने। जावा-सुमात्रा को बौद्ध धर्म के कारण

१६. जु इ स्ट्र ११ पृ १७३ से।
१७ मजुमदार, पृ र्व पृ १५२।
१८. जू ए ९-८ (१९१६) पृ ४६, मजुमदार, पृ १४१।
१९ तकुसु, पृ ६१।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी ख्याति प्राप्त हुई। कोर्ची से ईसा की ७वीं शताब्दी में धर्मपाल गया था[20] और ११वीं शताब्दी में अतिश दीपंकर नामक बौद्ध विद्वान् सुवर्ण-द्वीप गया। अभिलेख के लेख में कुमार घोष नामक बौद्ध विद्वान् के जावा जाने का उल्लेख है। उसने मंजुश्री की मूर्ति का अभिषेक किया था। बौद्ध ब्राह्मण मत के सम्मिश्रण का उल्लेख आगे किया जायगा। बौद्ध साहित्य और कला के आधार पर बौद्ध धर्म के प्रसरण और इसके मुख्य अंगों पर भी पूर्णतया विचार हो सकेगा। आदि बुद्ध प्रज्ञापारमिता ध्यानी बुद्ध मानुषी बुद्ध बोधिसत्व और तारा की प्रतिमाएं और उनके नामकरण जावा में भी मिलते हैं। बोधिसत्वों में मैत्रेय तथा मंजुश्री की प्रतिमाएं अधिकतर मिली हैं।[21]

उपर्युक्त प्रतिमाओं के अतिरिक्त महायान मत के अन्तिम अस्तित्व का प्रतिबिम्ब भी जावा में मिलता है, जिसके अन्तर्गत हिन्दू देवताओं को बौद्ध मत में स्थान मिला छोटे-छोटे बहुत-से नये देवताओं का प्रवेश हुआ और इस मत में तंत्रवाद का प्रादुर्भाव हुआ जिसने महायान और ब्राह्मण मत के बीच की खाईं को बिल्कुल पाट दिया। प्रथम दो भावनाओं को लेकर ब्रह्मा शिव गणेश और इन्द्र को स्थान दिया गया। नवीन देवताओं में त्रैलोक्यविजय हेवज्र भृकुटी हेरुक मारीची हयग्रीव तथा कुबेर थे। इनमें से कुछ का रूप भयानक जैसा और डरावना है, यथा हयग्रीव और हेरुक का।[22] इस प्रकार के देवताओं का प्रवेश जावा में तंत्रवाद के गिरे हुए स्तर का सूचक है जो ब्राह्मण तथा बौद्ध धर्म में प्रवेश कर चुका था। इसके अन्तर्गत पंचतत्व या पंच मकारा—मद्य मांस मत्स्य मुद्रा और मैथुन-पूजा तथा चक्र का पालन करना आवश्यक था। कर्न के मतानुसार[23] ब्राह्मण तंत्रवाद का ध्येय धन सांसारिक सुख तथा मुक्ति प्राप्त करना था जो शिव की शक्ति दुर्गा की उपासना तथा महायान मत की प्रज्ञा की मंत्रणा समाधि इत्यादि से हो सकता था। जावा

२० कर्न मैनुअल आफ बुद्धिज्म, पृ ११३ ।

२१ मजुमदार, पू सं पृ ११७।

२२ बौद्ध मूर्तियों का विस्तृत रूप से उल्लेख 'कला' के अध्याय में किया जायगा।

२३ पू सं पृ १२ ।

२४ पू सं पृ १३३।

और सुमात्रा में काल-चक्र नामक तंत्र भी प्रचलित था जिसका सम्बन्ध कृतनगर मत से था।[25] तारानाथ के मतानुसार पूर्वी भारत में पाल-काल में तंत्रवाद फैला और वहीं से यह सुदूर पूर्व में भी गया।[26] कम्बुज और चम्पा ने भी इसके प्रसरण में पूर्ण रूप से योगदान दिया। बौद्ध ग्रन्थ 'संग ह्यंग कमहायानिकन' में तंत्रवाद के सिद्धान्त और क्रियाओं का उल्लेख है और इसकी रचना सिंदोक काल में हुई थी तथा संपादन सम्भरसूर्यावरण ने सिंदोक के समय में किया था। इसी लेखक ने 'सुभूतितंत्र' की भी रचना की जिसका कृतनगर मुख्य रूप से अध्ययन करता था। ११वीं और १२वीं शताब्दी में ऐरलंग और जयभय के समय में तंत्रवादियों ने जावा के धार्मिक क्षेत्र में प्रमुख भाग लिया। १३वीं शताब्दी में इसके दो प्रमुख शासक अनुयायी थे—जावा के कृतनगर और सुमात्रा के आदित्यवर्मन्। कृतनगर के विषय में कहा जाता है कि वह 'पंच-मकार' और 'साधन चक्र' क्रियाएं करता था और मृत्यु के उपरान्त उसे भैरव की मूर्ति के रूप में प्रदर्शित किया गया जो इस समय लाइडेन के संग्रहालय में है। इसमें शासक को बीभत्स रूप में दिखाया गया है। सुमात्रा का आदित्यवर्मन् भी भैरव मत का अनुयायी था और कापालिक क्रियाएं किया करता था।

संयुक्त मूर्तियाँ

तंत्रयान के अतिरिक्त महायान मत में हिन्दू और बौद्ध देवताओं को एक रूप में संयुक्त करने की भावना ने भी जोर पकड़ा। जिस प्रकार से शिव-विष्णु की हरिहर के नाम से संयुक्त मूर्ति बनायी गयी और इन दोनों देवताओं का एकीकरण किया गया उसी प्रकार से शिव और बुद्ध को भी एक दूसरे के अति निकट लाने की भावना ने जोर पकड़ा। उनके साथ विष्णु को भी रखा गया। तंत्रवादी कृतनगर अपने को नरसिंह-मूर्ति भी कहता था और मरने के बाद उसकी शिव बुद्ध के संयुक्त रूप में मूर्ति बनी। उसके पिता विष्णुवर्धन की भी शिव और

२५ सिदो, ए हि पृ १११।
२६ देखिए, बी आर चटर्जी, माडर्न रिव्यू जनवरी १९३१ पृ १४६ से
२७ मजूमदार, सु सं पृ १२२ से।

बुद्ध की प्रतिमाएं बनी।[२८] प्रभावस की हरिहर की मूर्ति बनी।[२९] इन ब्राह्मण देवताओं को बौद्ध धर्म में स्थान ही नहीं दिया गया वरन् बुद्ध के साथ इनकी संयुक्त मूर्तियां भी बनी। तन्त्रवादी साहित्य में तीनों देवताओं को भैरव के रूप में माना गया है। 'डाकार्णव' के अनुसार जनार्दन बुद्ध के रूप में देव हैं और वही काल-भैरव कहलाते हैं। भैरव की मूर्तियां भी जावा और सुमात्रा में मिलीं और इनमें इन तीनों देवताओं का सम्मिश्रण माना गया है। कला के अतिरिक्त साहित्यिक क्षेत्र में भी यही भावना मिलती है। 'संग ह्यंग कमहायानन मन्त्रनय' और 'संग ह्यंग कमहायानिकन्' नामक दो महायान ग्रन्थों में सबसे पहले यह भावना मिलती है। इन बौद्ध ग्रन्थों को शैव स्वरूप दिया गया। मन्त्रनय अथवा मन्त्रयान बौद्ध धर्म के योगसिद्धान्त-गुह्य पर आधारित था जिसमें गुह्य मंत्रों की मुक्ति दी गयी है और इसके अनुसार काय चित्त और वाक् के गुह्य ज्ञान से ही बुद्धावस्था प्राप्त हो सकती है।

विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय

ब्राह्मण और बौद्ध धर्म के अन्तर्गत विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का उल्लेख भी कुछ धार्मिक ग्रन्थों में मिलता है, जिनकी तालिका बनाने का प्रयास कुछ विद्वानों ने किया। वे निम्नलिखित थे—शैव अथवा सिद्धान्त या सिद्धान्त शैव शैव सिद्धान्त पाशुपत भैरव वैष्णव बौद्ध अथवा सौगत ब्राह्मण और ऋषि अलेपक

२८. शिव-बुद्ध के एकीकरण पर कई विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। विद्रो ए हि पृ १११। सरकार ने अपने एक लेख में शिव बुद्ध सम्प्रदाय के अस्तित्व पर प्रकाश डाला है। इसका उल्लेख कई लेखों में मिलता है और जावा में पात्रों की मूर्तियां भी मिली हैं जो अर्द्धशैव और अर्द्धबौद्ध हैं। 'परराटों' में कृतनगर को शिव-बुद्ध कहा है, 'नागर कृतागम' में मृत्युपरान्त उसकी 'शिव बुद्धलोक' प्राप्ति का उल्लेख है। जावा में तो शिव बुद्ध मत था ही, बंगाल में भी इसी प्रकार के सम्प्रदाय होने में सन्देह नहीं है। इंडियन कल्चर १ पृ १८९। इसीलिए यह धारणा है कि जावा में इसका प्रवेश बंगाल से ही हुआ था।

२९. मजुमदार, पू सं पृ १२४।

३ पोरिस पृ १ १४। मजुमदार, वही पृ १३२।

का लेखक। एक शैव सम्प्रदाय में योगिन् थे। नेन्दोसारि लेख में भैरव सोर और बौद्ध सम्प्रदायों का उल्लेख है। सोर से सिद्धान्त अथवा सौर (सूर्य-उपासकों) का संकेत प्रतीत होता है। तन्तु पंगोलरण' में बहुत-से भिक्षु (भिक्षु) मठों का उल्लेख है जो विभिन्न पक्षों के थे। इनमें शैव सौगत (बौद्ध) और भैरव सम्प्रदायों का विवरण है। भैरव को माननेवाले बहुतायत से थे और यह शैव, शैव और वैष्णव मतों के एकीकरण का प्रयास था। तंत्रवाद की भावना ने विभिन्न धार्मिक मतों के भेद को दूर कर एक नये मार्ग को प्रदर्शित किया जिसमें अमानुषिक क्रियाओं का समावेश हो चुका था। 'चतुष्पथप्रोपदेश' नामक ग्रन्थ में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और उनकी आचरित क्रियाओं की तुलना मठियों से की गयी है। 'प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी धार्मिक मथि को सबसे सुन्दर समझता है। लोभ और द्वेष से उनकी वास्तविक मणियाँ खो गयीं और वे केवल उन मणियों के ढक्कन से ही सन्तोष करते हैं। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का भेद केवल ऊपरी संस्कारों और कृतियों से ही प्रतीत होता है। 'कौरवाश्रम' नामक ग्रन्थ में सौगत ब्राह्मण और बौद्ध सम्प्रदायों की अलग-अलग रीतियों का उल्लेख है। इसी प्रकार से धार्मिक कृतियों तथा रीतियों का प्रचार बालि में भी था जहाँ गुप्त गृह्यमंत्र इत्यादि किये जाते थे और सूर्यसेवन के नाम से सूर्य के रूप में शिव की उपासना होती थी।

हिन्देशिया के धार्मिक इतिहास में हीनयान शासक तथा मध्य जावा और पूर्वी जावा के शासकों का पूर्णतया अंशदान रहा। यद्यपि ब्राह्मण धर्म मुख्यतया शैव मत-प्रधान था पर विष्णु, ब्रह्मा तथा अन्य ब्राह्मण देवी-देवताओं की उपासना भी धर्म का अंग बन गयी थी। पौराणिक गाथाओं ने कला के क्षेत्र में स्थान पा लिया था। इसीलिए बहुत-से अवतारों राम और कृष्ण की लीलाओं ने कलाकार को अपनी धार्मिक भावनाओं को चिरस्मरणीय रखने के लिए पत्थर पर अंकित करने के लिए प्रेरित किया। साहित्यिक क्षेत्र में भी धर्म का प्रमुख स्थान था। ब्राह्मण धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म भी तन्त्रवाद विचारधारा में सम्पूर्ण जावा सुमात्रा को अपने रंग में रंग लिया। बंगाल में महायान धर्म के शिष्टमंडल जावा धर्म और सुमात्रा में श्रीविजय इसका प्रमुख केन्द्र था। तन्त्रवाद ने ब्राह्मण और बौद्ध

११ मजुमदार वही, पृ० १४ ।

धर्मों को एक दूसरे के निकट ला दिया। देवताओं का एकीकरण केवल ब्राह्मण देवताओं तक ही सीमित न था। शिव और बुद्ध का संमिश्रण हुआ और उनकी एक मात्र मूर्ति बनी। यह ठीक है कि तंत्रवाद के प्रसरण से कुत्सित रीतियों का धर्म के क्षेत्र में प्रवेश हुआ और भैरव सम्प्रदाय के अन्तर्गत 'पंच मकार' और 'साधन चक्र' क्रियाओं का पालन अनिवार्य हो गया पर सुदूर पूर्व के अन्य क्षेत्रों की भाँति मलाया और हिन्दनेशिया में भी उदारता तथा विशालता की भावना धार्मिक क्षेत्र में बराबर ही रही। आज यहां बालि को छोड़कर अन्य द्वीपों में हिन्दू धर्म तथा बौद्ध मत लुप्त हो चुका है, पर विरोध का आभास नहीं है। प्राचीन धार्मिक परम्परा की स्मृतियाँ हिन्दनेशिया के धार्मिक और सामाजिक जीवन में अब भी पायी जाती हैं।

अध्याय ९

कला

कला के दृष्टिकोण से हिन्देशिया में जावा द्वीप ही प्रधान क्षेत्र है। सुमात्रा में श्रीविजय साम्राज्य की राजधानी श्रीविजय (पलमबंग) रही और यह स्वाभाविक है कि यहां भी अंकोरवाट अथवा बोरोबुदूर की भांति विशाल मन्दिरों अथवा स्तूपों के भग्नावशेष मिलते पर खेद का विषय है कि सुमात्रा की प्राचीन कला के भग्नावशेष उपलब्ध नहीं हैं। जावा द्वीप में भी केवल मध्य और पूर्वी जावा ही कला के मुख्य केन्द्र रहे जहां बोरोबुदूर का बौद्ध स्तूप और महाभारत के पात्रों के नाम पर बहुत-से मन्दिर (चण्डि) आज भी अपनी प्राचीन कीर्ति और कला का प्रतीक बनकर खड़े हैं। जावा में भारतीय अग्रगामी दल ईसा की पहली शताब्दी में पहुंच चुका था और पूर्णवर्मन् के पल्लवलिपि में लेख से वहां भारतीय हिन्दू उपनिवेश की स्थापना का पता चलता है, पर सातवीं शताब्दी के पहले किसी मन्दिर की स्थापना का उल्लेख नहीं है। केदु के चंगल नामक स्थान से प्राप्त ७३२ ई० के प्रसिद्ध लेख में कुंजरकुञ्ज से लाये गये लिंगम् का उल्लेख है जिसकी स्थापना की गयी थी और ७६० ई० के दिनाय के लेख में 'पूतिकेश्वर' का उल्लेख है जिसका सम्बन्ध बोश तथा कुमारस्वामी के मतानुसार[1] कम्बुज और चम्पा के देवराज मत से था। मुख्य रूप से जावा में शैव मत प्रधान था और उसी देवता के सम्बन्धी मन्दिरों का निर्माण हुआ। इस काल के मन्दिरों में भारतीय प्रभाव ही मुख्य है और स्थानीय प्रभाव के आने में बड़ी देर थी। जावा के मन्दिरों को स्थान तथा परिपाटी के अन्तर्गत केवल दो अथवा तीन भागों में बांटा जा सकता है। मध्य जावा के मन्दिर ८वीं शताब्दी के अन्दर बनाये गये और इसके बाद कला का प्रवाह पूर्वी जावा की ओर हुआ और भारतीय प्रभाव का लोप सूचने लगा। १५वीं शताब्दी में इस्लाम ने जावा पर अधिकार कर लिया और कला इस द्वीप को छोड़

१ हिस्ट्री आफ इंडियन एण्ड इंडोनेशियन आर्ट पृ० २०१।

कर शक्ति बनी गयी। जावानी स्थापत्य और शिल्प कला का अध्ययन विभिन्न कलाकेन्द्रों में स्थित मन्दिरों तथा वहां पर खुदे चित्र और प्राप्त मूर्तियों से ही हो सकता है।

डिएंग के मन्दिर

जावा की प्रारम्भिक स्थापत्य और शिल्प कला का केन्द्र डिएंग क्षेत्र है जो किसी समय में तीर्थयात्रा का स्थान था। यहां पर केवल ८ मन्दिर हैं जिनमें चंडि अर्जुन श्रीकंडी पुन्तदेव सेमभद्र और चंडि घटोत्कच एक स्थापत्य कला की परिपाटी के अन्तर्गत बनाये गये। ये मन्दिर गुप्तकालीन मन्दिरों की भांति छोटे और स्वतंत्र तथा वर्गाकार आकृति के हैं जिनमें समतल (हारीजान्टल) और खड़बल (वर्टीकल) विभाजन स्पष्टता से दिखाया गया है। गर्भगृह में केवल एक ओर से प्रवेशद्वार है और अन्य तीन ओर प्रत्येक दीवार मे तीन पाइलस्टर (चौकोर खम्भे) बने हैं जिनके बीच में आले हैं। मन्दिर के ऊपर की छत चौरस है जो सेढ़ी के आकार की है और ऊपर छोटी होती जाती है। यह कारबेल्ड परिपाटी से ऊपर पहुंचकर केवल एक बड़े पत्थर से ढकी जा सकती थी। द्वार और आलों के ऊपर कीर्तिमुख (काल मकर) प्रमुख हैं जो जावा के मन्दिरों की प्रथा रहा है और कम्बुज तथा चम्पा म भी इनका प्रवेश मिलता है। अलङ्कृति हेतु मकर भी जावा के मन्दिरों में मिलता है। पूर्वोक्त चार मन्दिर एक तरह के हैं। चंडि भीम इनसे कुछ भिन्न है। दक्षिणी भाग अन्य मन्दिरों की भांति है पर ऊपरी भाग सुम्बाकार (पिरामिडल) है जिसके समतल भाग ऊपर बढ़ते हुए छोटे होते जाते हैं। छत का प्रथम चौरस भाग सेढ़ी की तरह है और उसके ऊपर चैत्याकार आले हैं। दूसरी और तीसरी पंक्ति मे तीन-तीन आले हैं जिनमें कीर्तिमुख हैं। चौथी और छठी पंक्ति के किनारों पर आमलक है और सबसे ऊपर भी यह पूर्ण

२ वही, चित्र नं १३५। प्रस्तुत चित्र नं १५ जावा के मन्दिरों के नाम के आगे चंडि शब्द जुड़ा रहता है।

३ इण्डाइ आर्कस् इ एशिया ओरिएन २, नं २१६, २५४ २५८, २६ । पेमोल के कलक में नं ३ १। प्रसात चयन १२ ।

४ कुमारस्वामी, पृ २ २।

रूप से दिखाया गया है। कुमारस्वामी ने इसकी समानता भुवनेश्वर मन्दिरों के आमलक से की है।[५]

डियंग पहाड़ी के पूर्व और दक्षिण की ओर इसी प्रकार के छोटे अलंकृत मन्दिर हैं जिनमें शैव चंडि भिमपुस (लगभग ८५ ई.) और सुंबिंग पहाड़ के निकट चंडि सलभिम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त गेडोंग-संग नामक मन्दिर जिसके अन्तर्गत ९ छोटे-छोटे मन्दिर हैं उन्गरन पहाड़ पर अपनी विशालता के लिए प्रसिद्ध हैं। ये दोनो पहाड़ी के दो ओर हैं और यह कहना कठिन है कि ये सब एक ही वर्ग और काल के हैं अथवा अलग-अलग समय में बनाये गये। इनकी बनावट एक ही परिपाटी के अनुसार हुई। इनमें से कुछ शैव और कुछ वैष्णव मन्दिर हैं।

डियंग पहाड़ी पर स्थित मन्दिरों में अथवा उनके निकट कई मूर्तियां मिलीं जिनमें शिव दुर्गा गणेश ब्रह्मा और विष्णु की मूर्तियां हैं। त्रिमूर्तियों के वाहन भी दिखाये गये हैं पर मुख को छोड़कर वाहका मानुषिक स्वरूप है। गेडोंग-संग के एक मंदिर से प्राप्त मूर्तियों में दुर्गा की मूर्ति विशेषतया उल्लेखनीय है। वह बैल पर बैठी है और असुर की गर्दन पकड़े है। इन मूर्तियों और इनसे सम्बन्धित मन्दिरों से प्रतीत होता है कि यह सब ब्राह्मण मत के थे। डियंग जावा के शासकों की राजधानी न थी। यह एक तीर्थ केन्द्र था और इसीलिए यहां के मन्दिर ब्राह्मण मत के थे। मध्य जावा में उस समय बौद्ध धर्म भी प्रगति कर रहा था जिसका श्रेय उन शैलेन्द्र शासकों को है जिन्होंने महायान मत फैलाया।

बौद्ध कलाप्रतीक

७७८ ई. के चांडी कलसान से प्राप्त लेख में शैलेन्द्र शासक पनमकरण द्वारा मन्दिर में तारा की मूर्ति स्थापना का उल्लेख है। उस मूर्ति का पता नहीं है, पर लेख मन्दिर के निकट मिला और मन्दिर भी महायान बौद्ध मत के मध्य जावा का

५ वही, पृ. २ ३। इसके विषय में डा. मजुमदार ने अपना मत प्रकट किया है। 'सुवर्णद्वीप' भाग २, पृ. १७५।

६. मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ. १७८। कैम्प एल एन्शियण्ट इंडोनेशियन आर्ट, चित्र नं. २१७।

प्राचीन प्रतीक है। उस मूर्ति के लिए बनाया गया सिंहासन यह संकेत करता है कि तारा की मूर्ति भी बड़ी विशाल रही होगी। यह मन्दिर समकोण है तथा उसी वेदी पर बना है। इसके चारों ओर १५ फुट खुला स्थान प्रदक्षिणा के लिए छोड़ दिया गया है। क्रासनुमा आकृति के इस मन्दिर के चारों ओर बाहर निकले भाग प्रार्थना करने के लिए बनाये गये थे और भूमि से वेदी तक का एक सोपान और दूसरा वेदी से प्रवेश द्वार तक बनाया गया था। केवल पूर्वी भाग में प्रार्थना स्थान से गर्भगृह तक प्रवेश मार्ग है अन्य तीन स्वतंत्र रूप से बने हैं। प्रवेश द्वार के ऊपर काल मुख अपना भयानक स्वरूप प्रदर्शित कर रहा है। मन्दिर के ऊपरी भाग में कार्निस के ऊपर छोटे-बड़े आले बने हैं जिनमें चार ध्यानी बुद्ध की मूर्तियां हैं जो क्रमशः अक्षोभ्य रत्नसम्भव अमिताभ और अमोघसिद्ध हैं। तीसरी पंक्ति के मध्य से एक घंटाकार स्तूप आरम्भ होता है।

चंडि सारि सेवू तथा सवू

चंडि कलसन से कोई आध मील उत्तर में तत्कालीन चंडि सारि का मन्दिर है। दो मंजिल की इस इमारत की लम्बाई १९ गज (उत्तर से दक्षिण) और चौड़ाई ११ गज है। ऊंची वेदी पर यह बनी है तथा पूर्वी ओर का प्रवेश द्वार काल-मकर से अलंकृत है। नीचे का भाग मन्दिर था और कदाचित् ऊपरी भाग रहने के लिए था। यह मन्दिर तथा विहार का काम देता होगा। इसके पूर्व में ईसा की ९वीं शताब्दी का चंडि सेवू है जो बोरोबुदुर के बाद सबसे विशाल मन्दिर है। २ गज लम्बे और १८ गज चौड़े क्षेत्र में २५ मन्दिर हैं। बीच में मुख्य मंदिर है जो कलसन के मन्दिर से मिलता-जुलता है पर किनारे के प्रार्थना गृह जुड़े हुए हैं और इनके आले मूर्तियों से अलंकृत हैं। मुख्य मंदिर में कदाचित् बुद्ध की बैठी हुई अवस्था में मूर्ति रही होगी। यह अनुमान किया जाता है कि इनने मन्दिरों का एक ही क्षेत्र में एक साथ निर्माण कराने का उद्देश्य भूमंडल के समस्त देवताओं को एक ही स्थान पर बैठाना रहा होगा। चंडि सवू की बनावट और घंटी नुमा स्तूपशिखर द्रविड़ परिपाटी के अन्तर्गत मानी जाती है पर सम्पूर्ण मंदिरों

७ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ १७८। आर्य भाग १ (४) पृ ५५।
८ रावलैंड, आर्ट आफ इंडिया, पृ २५९।

का क्रासनुमा रूप में निर्माण पहाड़पुर के पाल मन्दिर से मिलता-जुलता है। बंगाल के तंत्रवाद का जावा में भी प्रवेश हुआ है जिस पर विशेष रूप से आगे विचार किया जायेगा। वज्रयान मत के अन्तर्गत जावा के अन्य मन्दिरों का भी निर्माण हुआ जिसमें बोरोबुदूर अपनी विशालता तथा सुन्दरता के लिए संसार भर में प्रसिद्ध है।

बोरोबुदूर

केदू मे बोरोबुदूर का मन्दिर एक पहाड़ी को काटकर बनाया गया है और स्थापत्य कला के क्षेत्र में यह अद्वितीय है। जैसा ही इसका नाम रहस्यमय है वैसा ही यह मन्दिर भी है। पाल मुस ने इसे 'गुप्त विहार' कहा है। इसकी खोज १८८९ में सर टामस रैफेल्स ने की थी। एक समकोण चतुर्भुज मेढ़ी पर पांच दीवारों से घिरी वीथियां क्रमशः दर्शक को ऊपर ले जाती हैं। ऊपर पहुंचने पर तीन गोल पंक्तियों में चबूतरे बने हैं जिन पर ७२ स्तूप हैं। सबसे ऊपर मध्य भाग में एक स्तूप है जिसकी मेढ़ी छिपी हुई है। यह स्तूप नवीं मंजिल पर बनाया गया। स्थापत्य कला के दृष्टिकोण से यह किसी परिपाटी के अन्तर्गत नहीं बनाया गया और कुछ विद्वानों का विचार है कि वास्तव में यह एक समय मे ही नहीं बना। ऊपर के प्रमुख स्तूप की रक्षा के लिए ही नीचे तीन गोल चबूतरे और उन पर स्तूपों की पंक्तियां बनायी गयी। सबसे नीचे दीवारों से घिरी वीथियों में 'ललितविस्तर' 'दिव्यावदान' आर्यशूर की 'जातकमाला' तथा 'गण्डव्यूह' से उद्धृत बुद्ध की जीवनी पत्थरों पर उत्कीर्ण की गयी है जिसका विस्तृत रूप से उल्लेख किया जायगा। चारों दिशाओं के बीच मे ऊपर चढ़ने के लिए सोपान हैं। बोरोबुदूर के स्तूप के विषय में विद्वानों मे मतभेद रहा है। सबसे ऊपर के भाग में स्तूप ही केन्द्र में है और अन्य तीन पंक्तियों मे भी स्तूप हैं किन्तु बनावट और आकार इनके केवल स्तूप होने मे संदेह प्रकट करते हैं।[१] स्टुटरहाइम के मतानुसार इसकी नौ मंजिलें ध्यान की नौ अवस्थाएं हैं। वास्तव में नीचे का भाग मन्दिर के आकार का है और ऊपरी भाग बौद्ध स्तूप हैं। यह भी कहा जाता है कि इन स्तूपों का निर्माण 'महापरिनिब्बान सुत्त और दिव्यावदान' के अनुसार ही हुआ। चौकोर मेढ़ी पर दर्शा

९. कुमारस्वामी, पृ २ ४
१ मजुमदार, 'सुवर्णद्वीप' पृ १९६।

के स्तूपों की भाँति यह मूल रूप से बना। बाद में भूचाल अथवा अन्य किसी प्राकृ-तिक भय की शंका से नीचे की पत्थर की दीवारों की पांच वीथियां बनायी गयीं जिससे मूल स्तूप सुरक्षित रह सके और इन वीथियों में बुद्ध की धर्मचक्रप्रवर्तन अवस्था तक के जीवन-सम्बन्धी चित्र अंकित किये गये। आलों में ध्यानी बुद्ध की मूर्तियां बैठायी गयीं।[11] प्रत्येक वीथी के द्वार को काल मकर से अलंकृत किया गया है। ऊपर की तीन मंजिलें नीचे की छ मंजिलों से पूर्णतया भिन्न हैं। ये खुली हुई हैं तथा इनमें किसी प्रकार की शिल्प कला का चित्रण नहीं किया गया है। गोल वेदी पर तीनों पंक्तियों में क्रमश: १२ २४ और १६ स्तूप बने हैं। प्रत्येक स्तूप में ध्यानी बुद्ध की मूर्ति है जो कदाचित् वज्रसत्त्व है। मुख्य स्तूप सबसे ऊपर दोहरी कमलाकार गद्दी पर है जो नीचे चौकोर है और ऊपर अष्ट भुजाकार है। स्तूप की ऊँचाई २३ फुट है। बोरोबुदुर के निर्माण की तिथि लगभग ८वीं शताब्दी का अन्तिम भाग निर्धारित की जाती है। यहां की शिल्पकला का विवरण आगे दिया जायगा।

चडि मेन्दुत

बोरोबुदुर से निकट और सम्बन्धित चडि मेन्दुत है[12] जो मध्य जावा के अन्य मन्दिरों की भाँति ऊँची गद्दी पर बना हुआ है और ऊपर चढ़ने के लिए पूर्व ओर से सोपान है। ३ गज लम्बी और २६ गज चौड़ी तथा १२ फुट ऊँची वेदी पर यह मन्दिर १५ गज चौकोर घेरे में स्थित है। मन्दिर की दीवारें बाहर कुछ निकले हिस्से द्वारा तीन भागों में विभाजित हैं जिनमें बीच वाला बड़ा है और यह भाग निम्नरूप के सुन्दर प्रतीकों से अलंकृत है। बोधिसत्त्वों में सर्वनिवरण विष्कम्भी मैत्रेय समन्तभद्र क्षितिगर्भ वज्रपाणि मंजुश्री पद्मपाणि और आकाशगर्भ की मूर्तियां दीवारों में बनी हैं। मन्दिर का प्रवेशद्वार बहुत बड़ा है और इसके दोनों ओर कल्पद्रुम तथा कुबेर और हारीती हैं। चडि मेन्दुत के निकट और भी बहुत-से मन्दिरों के अवशेष मिले हैं।

११ चित्र नं १६
१२ कुमारस्वामी, पृ २ ५।
१३ चित्र नं १७। हैम्परल, चित्र नं ३६, ४१।

चंडि लोरो जोंग्रग

शैलेन्द्रकालीन अन्य मन्दिरों में चंडि बनोन का शिवमन्दिर, जहाँ अगस्त्य की तथा विष्णु की मूर्तियां मिलीं उल्लेखनीय है। मध्य जावा में तांबे तथा सोने की छोटी बौद्ध और तन्त्रवादी मूर्तियां भी मिली। लगभग ८६ ई में पूर्वी जावा से जावा के शासक प्रामबाम मे आ गये और उन्होंने बौद्ध तथा शैव मन्दिर स्थापित किये। इनमें चंडिलोरो जोंग्रग[17] बोरोबुदूर तथा चंडि सब की भांति बड़ा विशाल है। इसके अन्तर्गत आठ मन्दिर है जो एक मेढी पर हैं और वे छोटे प्रार्थना-गृहों तथा दो बड़ी दीवारों से घिरे हैं। तीन बड़े मन्दिर ब्रह्मा विष्णु और शिव के निमित्त बनाये गये हैं। शिव का मन्दिर सबसे बड़ा और केन्द्र में स्थित है। इसके चारों ओर कोई १५ प्रार्थना-स्थान हैं। अलंकृत पुष्पाकार मेढी पर यह बना है और ऊपर पहुँचने के लिए चारों ओर सोपान हैं। अन्य मन्दिरों की भांति यह भी क्रासनुमा है और इसके चारों भाग बाहर निकले हुए हैं। मेरु पर्वत मन्दिर की भांति यह भी पर्वत-मन्दिर है। ऊपर के भाग में दीवारों पर रामायण-कथा से सम्बंधित चित्र अंकित हैं जो कि ब्रह्मा के मन्दिर में भी पाये जाते हैं। विष्णु के मंदिर में कृष्ण-लीला सम्बन्धी चित्र खुदे हुए हैं। ये मन्दिर निर्माण होने के थोड़े ही समय बाद छोड़ दिये गये और ९५१ ई मे किसी प्राकृतिक दुर्घटना के फलस्वरूप मध्य जावा त्याग दिया गया और अब कला भी पूर्वी जावा के क्षेत्र में विकसित हुई।

पूर्वी जावा की स्थापत्य कला

पूर्वी जावा की स्थापत्य कला पर भी मध्य जावा की कला का प्रभाव पड़ा। बुर्बेन मंदिर (९७० ई) बेलहन के तोरण चंडि गुम्बेर ममह तथा चंडि सवरित मध्य-जावानी परिपाटी के अन्तर्गत बनाये गये।[18] प्रसिद्ध सम्राट् एरलग द्वारा निर्मापित चंडि बलाबुंग तथा उसमें ऐरलंग को विष्णु के रूप में गरुड़ पर आसीन दिखाना जावानी कला के प्रतीक हैं जो भारतीय परम्परा से भिन्न है। ऐरलग के समय के स्थापत्य कला के कोई प्रतीक नहीं मिले हैं, पर १२वीं शताब्दी

१७ विज में १८। वही में ११९१।
१८ कुमारस्वामी पृ २७।

से पूर्वी जावा की स्थापत्य कला ने प्रगति की। १३वीं शताब्दी में सिंहसारि और मजपहित के शासकों ने जावानी कला को बड़ा प्रोत्साहन दिया और यह पूर्णतया देशीय थी जिससे भारतीय परम्परा लुप्त हो गयी। सिंहसारि के प्रसिद्ध मन्दिरों में चंडि किडल चंडि जगो चंडि जवी चंडि सिंहसारि उल्लेखनीय हैं। शैव और बौद्ध धर्म का संतुलन भी इस काल की मुख्य घटना है और इसका प्रमाण मन्दिरों से प्राप्त मूर्तियां हैं। चंडि किडल शैव है जिसकी समतल पृष्ठभूमि कई भागों में बँटी हुई है और ऊपर शृंगाकार छत है। चंडि जगो के बौद्ध मन्दिर में कृष्णायन चित्रित है और चंडि जवी में शिव की प्रतिमा के ऊपर बुद्ध भी हैं। चंडि सिंहसारि में दुर्गा महिषासुरमर्दिनी और गणेश की मूर्तियां मिली। इनका उल्लेख आगे किया जायगा।

चंडि जाबुंग[१६] गोलाकार है और बहुत ऊंचा रहा होगा। इसकी मेढी भी बहुत ऊंची है और ऊपर चढ़ने के लिए सोपान है। वर्गाकार मेढी का गोल शिखर में परिणत होना विशेषता रखता है। ऊपरी भाग में बाहर निकले भाले हैं जिनके ऊपर काल मकर अलंकृत है। मन्दिर की ऊंचाई लगभग ५२½ फुट है। भालों के बीच में बड़ी अलंकृत ईंटों के फलक छोड़ दिये गये हैं।

पनतरन के शिवमन्दिर

पूर्वी जावा की कला का अन्तिम प्रतीक पनतरन का शिवमन्दिर है जो कला की दृष्टि से अद्भुत है। इसके साथ कई असम्बन्धित स्थान भी हैं जिनमें कदाचित् मुख्य शासकों की राज और दृढ़ियां रखी जाती थीं। ये स्थान १४ १५वीं शताब्दियों में बनाये गये। मन्दिर का क्षेत्र १९६ गज लम्बा और ६५ गज चौड़ा है और इसका प्रवेशद्वार पश्चिम में है। मुख्य मन्दिर की अब केवल मेढी ही बची है और यह पिछले भाग में है। सामने की ओर एक छोटा मन्दिर (१३६९ ई) पूर्वी जावानी देशीय कला का सुन्दर प्रतीक है। समकोण मेढी पर यह सीधा बना है। एक ओर द्वार है और अन्य तीन ओर आले हैं। इसकी पुरानी छत अब नहीं है। पनतरन के प्राचीन मन्दिर के निचले भाग में (जो अब बचा है) रामायण तथा कृष्णायन के चित्र अंकित किये गये हैं।[१७]

१६ चित्र नं १९। केम्परस चित्र नं २९१।

१७. केम्परस, चित्र नं २७१-२८५।

जावानी स्थापत्य कला के अन्तर्गत १५वीं शताब्दी में पहाड़ियों पर शिव के मन्दिर बनाये गये पर उनके साथ में स्थानीय धार्मिक विचारधारा भी संयुक्त हो गयी थी। इससे सम्बन्धित जो मन्दिर बने उनके सेल केकिर, पेनमपिकन सुकुह तथा सेतु उल्लेखनीय स्थान हैं। जावानी स्थापत्य कला पूर्णतया स्वतंत्र हो चुकी थी। इस कला के सम्पूर्ण इतिहास में यह विशेषता है कि इसमें न तो स्तम्भ और न चूने के पलस्तर का ही कहीं पर प्रयोग किया गया है। वास्तव में यह कला भारतीय होते हुए भी अपना स्वतंत्र स्वरूप बनाने में सफल हुई। ऊंची मेढ़ी सोपान गर्भगृह क्रासनुमा स्वरूप कारवेल्ड छत तथा शिखर भारतीय परिपाटी के अन्तर्गत बने पर जावानी कलाकारों ने धीरे-धीरे अपना स्वतंत्र मार्ग अपनाया। पनतरन के मन्दिर से यह प्रतीत होता है कि आगे चलकर उन्होंने मन्दिरों को नियमित रूप न देकर इच्छानुसार बनाना आरम्भ किया। चम्पा और कम्बुज की भाँति जावानी स्थापत्य कला क्षेत्रों के अनुसार अपना स्वरूप जल्दी नहीं बदल सकी। जावानी कलाकार प्रगतिवादी थे पर उनमें रूढ़िवादिता का भी आभास था। इसीलिए उनकी स्थापत्य कला केवल दो मुख्य भागों—हिन्द जावानी तथा पूर्णतया जावानी—में ही बाँटी जा सकती है।

शिल्पकला

जावा की शिल्पकला भी भारतीय परिपाटी के अन्तर्गत फूली-फली। भारतीय विषयों—जातक कथाओं अथवा रामायण और महाभारत की कथाओं—को लेकर कलाकारों ने मन्दिरों की दीवारों पर चित्र अंकित किये। स्वतंत्र रूप से ब्राह्मण देवी-देवताओं तथा बुद्ध और बोधिसत्व एवं तारा और प्रज्ञापारमिता की मूर्तियाँ पत्थर तथा धातुओं की बनी। कलाकारों ने इनके निर्माण में अपनी प्रतिभा तथा कुशलता का परिचय दिया। कथाओं के चित्रण में कहीं-कहीं स्थानीय धर्मों के आधार पर उद्धृत चित्रों के कारण भेद भी आ गया है पर उनका मूल स्रोत भारत ही था। इस कला में दक्षिण की अमरावती पल्लव तथा चालुक्य और उत्तर भारत की गुप्त एवं पाल शिल्पकला का प्रभाव पूर्वकालीन कलाकृतियों में मिलता है पर आगे चलकर कला पूर्णतया जावानी ही रह गयी। जावा की शिल्पकला का अध्ययन क्रमानुसार ब्राह्मण मूर्तियों तथा पत्थर पर अंकित चित्रों और बौद्ध मूर्तियों को लेकर ही किया जा सकता है। यहाँ पशु-पक्षी तथा अन्य प्राकृतिक विभूतियों को भी कला प्रदर्शन में स्थान दिया गया था।

ब्राह्मण-मूर्तियाँ

मध्य भारत की शिल्परचना अलंकृति-हेतु (मोटिव) मालाओं कमल की पंक्तियों इत्यादि को लेकर खुदी हुई मूर्तियों तथा स्वतंत्र रूप से निर्मापित मूर्तियों को लेकर हुई। यह प्राय सभी कालो में प्रस्तुत की गयी। काल मकर का चित्रण सम्पूर्ण भारत कला में मिलता है। ब्राह्मण-मूर्तियों में मध्य भारत से शिव दुर्गा गणेश ब्रह्मा और विष्णु की मूर्तियां प्राप्त हुई। अपने वाहनों सहित ये मूर्तियां निर्मित हैं। दुर्गा की मूर्ति महिषासुर को मारते हुए दिखायी गयी है। इसमें वह बैठे हुए बैल पर खड़ी है। अष्टभुजा मूर्ति में देवी महिषासुर का बाल पकड़े उस पर अस्त्र उठाये दिखायी गयी है।[१८] यदि नीम के आलों में बैठी मूर्तियां न तो बुद्ध और न नीम का ही संकेत करती हैं वे केवल अलंकृति हेतु बैठायी गयी थीं।[१९] इन मूर्तियों के निर्माण और भाव प्रदर्शन में कलाकार ने अपनी बुद्धि और कुशलता का परिचय दिया है। केबु के मैदान में यदि बनोन के मन्दिर से भी शिव ब्रह्मा और विष्णु की मूर्तियां मिली हैं। ब्रह्मा की मूर्ति विशेषतया उल्लेखनीय है। चतुर्मुखी ब्रह्मा के मुख पर गम्भीरता और उनका वेश पूर्णतया भारतीय है।[२०] मुकुट ऊंचा है। सिङ्गसारि (अब लाइडेन के संग्रहालय) से प्राप्त ब्रह्मा की मूर्ति किसी शैव मन्दिर से सम्बन्धित है। चतुर्मुख तथा चतुर्भुज मूर्ति बड़ी विशाल है। उदर के सामने दोनों हाथों में कमल है। दोनो ओर हाथो में कमंडल स्फटिक रहा है और चमर है। श्मश्रु (दाढ़ी) और ऊंचा मुकुट विशेषतया उल्लेखनीय हैं और मुख पर गम्भीरता का भाव है। ये कवच कुंडल मेखला तथा जनेऊ पहने दिखाये गये हैं।

भारत के शिव की भी कई मूर्तियां मिली। एक कांसे की मूर्ति में व पार्वती के साथ भी हैं। डिएग से प्राप्त शिव की मूर्ति पद्मासन में है।[२०] गेमेरङ्ग से प्राप्त शिव और पार्वती की मूर्ति[२१] दक्षिण भारतीय कला की कांस की मूर्तियों से मिलती-

१८. हुलाड चित्र नं २४९।
१९. फोगेल, बे आर ए एस १९१७, पृ ३७१।
२ हुलाड पृ सं चित्र नं २४७।
२१ केम्पर्स चित्र नं २८।
२१ वही नं ३३।

सुन्दरी है। दोनों शिव-मूर्तियों में त्रिनेत्र दिखाया गया है। लोरा जोन्ग्रंग के मन्दिर की बड़ी चतुर्भुजी शिव-मूर्ति के[23] जिसके हाथों में माला और चमर है। यह सर्प का जनेऊ भी पहने है और माथे पर त्रिनेत्र तथा मौलि में कपालमाला दिखायी गयी है। आभूषणों से मूर्ति अलंकृत है और मुख पर शान्ति और सौम्यता का भाव प्रदर्शित है। इसी प्रकार की एक और मूर्ति कदाचित् चण्डि किडल से प्राप्त हुई है। इसमें मूर्ति के निचले भाग के दोनों ओर से दो कमल निकलते दिखाये गये हैं। ये दोनो मूर्तियां अनिरुद्ध तथा सिंहसारि के अधिपति की मृत्यु के पश्चात् शिव में लीन होने तथा उन्हीं का स्वरूप प्राप्त करने के हेतु बनायी गयी। सिंहसारि के निकट एक मन्दिर से शिव की रौद्र रूप में एक मूर्ति मिली।[24] इस देवता का नाम चक्रचक्र दिया हुआ है। कुत्ते पर देवता बैठे है और अलंकारों को छोड़कर वे पूर्णतया नग्न हैं। नीचे कपालों के ऊपर वे पैर रखे हैं। उनके हाथों में चार कपाल त्रिशूल और डमरू है। मौलि में भी कपाल बंधे है तथा गले में मुंडों की माला भी है। इस मूर्ति को भैरव भी कहा गया है। भट्टार गुरु के नाम से शिव[25] की एक मूर्ति चण्डि बनोन (बकार्ता संग्रहालय) से मिली है। इनको अगस्त्य नाम से भी सम्बोधित किया गया है जिन्होंने दक्षिण भारत से आकर इन्डोनेशिया मे भारतीय संस्कृति फैलायी। इनकी मोटी-सी दाढ़ी और निकली तोंद विशेषतया उल्लेखनीय है। चण्डि सारि से अगस्त्य की एक अन्य मूर्ति मिली पर कला की दृष्टि से प्रथम मूर्ति अधिक सुन्दर है।

जावा मे वैष्णव मत प्रधान नहीं रहा और इसी लिए विष्णु के बहुत-से मन्दिर नहीं मिले।[26] कृष्णलीला (कृष्णायन) से सम्बन्धित कई चित्र मिले हैं। चण्डि पनतरम् में रुक्मिणीहरण चित्रित है।[27] चण्डि बनोन से गरुड़ के साथ विष्णु की मूर्ति

२३ वही, नं १५७।
२४ वही, नं २१६-७।
२५ वही, नं १४२ चित्र नं ।
२६. वही नं ४१ चित्र नं ।
२७. वही, नं ५३८।
२८. देखिए, बेम्पारत चित्र नं १५९।
२९. वही नं २८१।

मिली।[११] इसके हाथ टूटे हैं, पर आभूषणों से आयुक्त सुन्दर मौलि से अलंकृत यह सौम्य मूर्ति कला की दृष्टि से सुन्दर है। दूसरी मूर्ति बेलहन से प्राप्त हुई और यह विष्णु के रूप में प्रसिद्ध सम्राट् ऐरलंग की मूर्ति है। विष्णु गरुड़ पर आसीन हैं गरुड़ दो सर्पों को अपने पंजे में पकड़े है। विष्णु ध्यानमुद्रा में हैं और ऊपर के हाथों में चक्र और शंख है। गरुड़ का मुख बहुत बड़ा और खुला है।

जावा की शिल्पकला में गणेश और कुबेर को भी प्रधान स्थान मिला और उनकी मूर्तियाँ बनायी गयीं। चंडि बनोन के गणेश[१२] की मूर्ति साधारण पर सुन्दर है। यह पालथी मारे बैठे हैं। ऊपर के हाथों मे माला और चमर है नीचे के दाहिने हाथ में दाहिने दाँत का टुकड़ा है और बायें हाथ में मोदक है जिसे वे अपनी सूँड़ से उठाने का प्रयास कर रहे हैं। मुख पर शान्ति का भाव है। बार से प्राप्त गणेश की मूर्ति शक सं[१४] ११११ (१२१९ ई०) की है। विघ्ननाशक गणेश कपाल की वेदी पर उसी अवस्था में बैठे हैं और उनके पिछले भाग में विशाल काल-मुख स्वयं उनकी विघ्नों से रक्षा के लिए है। सिंहसारि के गणेश (लाइडन के संग्रहालय में) भी कपालों की वेदी पर बैठे हैं। ऊपर के हाथों में फरसा और माला है और निचले बाँये हाथ वाले लड्डू के प्याले में वे अपनी सूँड़ डाले हैं। धन-देवता कुबेर की काँसे की मूर्ति जावा में मिली जो इस समय पेरिस के म्यूजियम में है।[१३] हाथी और सिंह के ऊँचे सिंहासन पर यह बैठे हैं। हाथ में धन का थैला और नीबू है और यह थैला दाहिने पैर के नीचे भी है।

रामायण और महाभारत के चित्र

स्वतन्त्र रूप से निर्मित मूर्तियों के अतिरिक्त जावानी कलाकारों ने रामायण तथा महाभारत से उद्धृत चित्र भी मन्दिरों के फलकों और चौकोर खम्भों (पाइलस्टर) के बीच के भाग में अंकित किये। लोरो जोंग्रंग के मन्दिर में रामायण

१० वही, नं० ४२।
११ वही, नं० ९ २, चित्र नं० ।
१२ वही, नं० ३९।
१३ वही नं० २१२।
१४ वही, नं० १६७।

की कथा लंका में वानरसेना के प्रवेश तक चित्रित की गयी। बाली और सुग्रीव का युद्ध राम द्वारा ताड़का का वध कुंभकरण का उसकी गाढ़ी नींद से उठाया हनुमान का लंका में प्रवेश इन्द्रजित से युद्ध रावण को संदेश इत्यादि चित्रित है।[१५] इनके अतिरिक्त महाभारत व कृष्णायन से उद्धृत चित्र भी जावा के कलाकारों ने अंकित किये हैं। स्थानीय प्रभाव तथा साहित्य के अन्तर्गत व भारतीय कथाओं से कहीं-कहीं पर भिन्न भी हों पर उनका स्रोत एक ही है। वर्तमान जवाब नृत्य भी इसी से उद्भूत है और प्राचीन परम्परा का द्योतक है।

बौद्ध मूर्तियां

जावा की बौद्ध शिल्पकला भी बौद्ध मन्दिरों के फलकों पर अंकित जातक-कथाओं बुद्ध की जीवनी तथा स्वतंत्र रूप से बुद्ध और बोधिसत्व तारा प्रज्ञा पारमिता पंचक और हारीती इत्यादि मूर्तियों के रूप में विकसित हुई। जावा में महायान मत का प्रवेश बंगाल से हुआ था और यहां वज्रयान-तंत्रवाद का भी प्रसरण हुआ पर अश्लील चित्र कहीं नहीं मिलते हैं। बुद्ध की मूर्तियों में सबसे प्राचीन मूर्ति पश्चिमी सेलिबीज द्वीप से प्राप्त हुई। यह कांसे की है और इस समय जकार्टा (जकार्ता) के संग्रहालय में है। उत्तरासंग की चुनट, मुख का भाव तथा उष्णीष अमरावती परिपाटी से मिलते-जुलते हैं।[१६] इसी प्रकार की पत्थर की एक बुद्धमूर्ति बुकित—सुगतम (पलमबंग) से प्राप्त हुई।[१७] यदि मेगुत के

१५ देखिए, केम्परस चित्र नं ९१ १५३ १५४ १६ २०८, २०६ २८ इत्यादि तथा पुस्तक चित्र नं ।

१६. केम्परस चित्र नं २४।

१७ वही नं ११। पलमबंग से प्राप्त बुद्धमूर्तियों के आधार पर डच विद्वान् बोस तथा भारतीय विद्वानों में देवप्रसाद घोष और डा मजुमदार ने श्रीविजय की कला पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। पलमबंग और उसके निकट से केवल चार मूर्तियां मिली हैं। एक बुद्ध का धड़, कांसे की बुद्ध की मूर्ति बुद्ध का कांसे का शीष और पत्थर की अवलोकितेश्वर की मूर्ति। वह सब मानते हैं कि यह जावानी कला से भिन्न है। घोष के मतानुसार इन पर मगध कला का प्रभाव है, पर डा मजुमदार इन्हें गुप्तकला का प्रतीक मानते हैं। इनकी तिथि ४-७ शताब्दी के बीच कालमें

मन्दिर के अन्दर की बुद्ध की मूर्ति धर्मचक्र प्रवर्तन अवस्था में है और इसमें वे पीछे पर पैर रखे दिखाये गये हैं।[38] इसी आसन में बुद्ध की कांसे की मूर्ति जो इस समय जावा के संग्रहालय में है, हिन्दू-जावानी कला का सुन्दर उदाहरण है।[39] बोरोबुदुर में भी बुद्ध की पद्मासन में बैठे धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा की मूर्ति सुन्दर सौम्य और शान्तिमय अवस्था का प्रतीक है।[40] अभयमुद्रा में बुद्ध की एक बड़ी मूर्ति बोर्नियो के कोटाबग्गून से प्राप्त हुई[41] जिसमें सेकेन्दीज से प्राप्त बुद्ध की मूर्ति की भाँति उत्तरासंग में चुन्नत नहीं है। यह साधारण है और चेहरे पर प्रसन्नता का भाव है। चंडि सेवु की बुद्ध की मूर्ति[42] भी धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्रा और पद्मासन में है, पर इसमें ओढ़ने का वस्त्र दिखाया गया है। दोनों के उष्णीष एक ही प्रकार के हैं।

बोधिसत्व

बुद्ध के अतिरिक्त बोधिसत्वों में अवलोकितेश्वर, लोकेश्वर अथवा लोकनाथ[43] की भी मूर्तियां बनायी गयी। अवलोकितेश्वर की दस बाहुओं वाली कांसे की मूर्ति इस समय म्यूजेमिजें में है। इन मूर्तियों के कमल और उष्णीष में अमिताभ उपर्युक्त बोधिसत्व का संकेत करते हैं। सेमरांग से प्राप्त बोधिसत्व मंजुश्री की एक चांदी की मूर्ति बड़ी ही सुन्दर है[44] और जावानी कला का श्रेष्ठ नमूना है। बोधिसत्व

रखी जाती है। देखिए, जरनल आफ दी इंडियन सोसायटी आफ ओरियंटल आर्ट जून १९३५। इसमें पूर्वोक्त लेखों का संकेत है।

३८. केम्पर्स, नं ६।

३९. वही नं ९२।

४०. वही नं ९६।

४१. वही, नं ९७।

४२. वही नं १२८।

४३. वही नं १४

४४. वही, नं ५८, ५९।

४५. वही नं १९७।

४६. वही, नं ११ पुस्तक चित्र नं

शिखाधर है। बायें हाथ में नीलकमल (उत्पल) है जिस पर पुस्तक है। कर्ण-कुंडल हार, बाजूबन्द कड़े तथा मेखला से आभूषित इस मूर्ति की दोनों हथेलियों में स्वस्तिक चिह्न बने हुए हैं। क्रिमरस के मतानुसार यह मूर्ति सम्भवतः पाल राज्य से आयी है। बोधिसत्व पद्मपाणि[४७] वज्रपाणि[४८] तथा मैत्रेय[४९] की मूर्तियां भी मिली। इनके अतिरिक्त हरीती[५०] और यक्ष अटवक चंडि मेन्दुत के अन्दर अंकित किये गये हैं और उनके साथ में बहुत-से बच्चे भी हैं। बौद्ध देवियों में प्रज्ञापारमिता[५१] और तारा की कई मूर्तियां मिली।[५२] अवलोकितेश्वर की शक्ति श्यामतारा नीले कमल (उत्पल) सहित वरमुद्रा में दिखायी गयी है। कांसे की एक बौद्ध देवी की मूर्ति भी मिली है।[५३]

बोरोबुदूर चित्र

बोरोबुदूर में फलकों तथा स्तम्भों के बीच मे जातकों एवं 'ललितविस्तर' से उद्धृत कथाएं चित्रित हैं। ये सब बुद्ध के सारनाथ में धर्मचक्र-प्रवर्तन तक का वृत्तान्त ही बतलाती हैं। ये चित्र इतने अधिक हैं कि यदि एक साथ लगा दिये जायें तो इनकी लम्बाई साढ़े तीन मील तक की हो जाती है।

कलाकार ने गाय किन्नर, यक्ष राक्षस काल मकर, कल्पवृक्ष पंजात (पारिजात स्वर्ग का वृक्ष) हंस तथा अन्य पशु-पक्षियों का भी चित्रण किया।[५४] इनकी कला का स्रोत भारत ही था[५५] पर स्थानीय कलाकारों ने अपनी बुद्धि और कुशलता

४७. वही नं १७२।
४८. वही नं ११ १७३।
४९. वही नं १७४।
५ वही, नं ५६।
५१ वही नं ५३ २२२।
५२ वही नं १२ १२१ १६४ १६८।
५३ वही, नं ११९।
५४ देखिए, पुस्तक चित्र नं
५५ हलाड चित्र नं २६४ २७३।
५६ इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण के लिए देखिए, कोसेल, दि आर्ट आफ इंडिया एण्ड जावा।

का परिचय दिया। कुछ विद्वानों का विचार है कि बौद्ध कला के प्रसार में बंगाल का बड़ा हाथ था और यह माना भी जा सकता है कि शिल्पकार को उस क्षेत्र से सहायता मिली हो पर कलाकारों ने भारतीय-जावानी कला को आगे चलकर केवल जावानी कला का रूप दे दिया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है जावा की कला को केवल दो ही भागों में बाँटा जा सकता है एक में भारतीय प्रभाव ही श्रेष्ठ है, दूसरी में स्थानीय कला ने भारतीय विषय को अपने रंग में रँगा है। यह बात विशेषतया विचारणीय है कि जावानी कला उस समय पूर्ण रूप से विकसित हुई जब उत्तर भारत में विदेशियों के आक्रमण और आगमन से राजनीतिक अशान्ति का वातावरण था। इन कलाकारों ने केवल पूर्व कृतियों से ही प्रेरणा ली क्योंकि भारत की ओर से मध्य युग में किसी प्रकार का आदान मिलना कठिन था। जावा में ब्राह्मण और बौद्ध कला स्पर्द्धा के रूप में नहीं वरन् एक दूसरी के सहायक रूप में विकसित हुई और इसी भावना ने प्रकृति की सहायता से यहाँ की कला कृतियों को सुरक्षित रखा।

अध्याय १०

सुदूर पूर्व के अन्य उपनिवेश

द्वारवती सुखोदय आयुथ्या श्रीक्षेत्र अनोरथपुर

सुदूरपूर्व में हिन्दएशिया हिन्द चीन तथा मलाया के अतिरिक्त स्थल मार्ग का अनुसरण करते हुए भारतीय पुरुषार्थियों ने अन्य स्थानों में भी अपने उपनिवेश स्थापित किये जिन्होंने छोटे-छोटे राज्यों का रूप ग्रहण किया। ये राज्य वर्तमान स्याम में द्वारवती सुखोदय और आयुथ्या तथा ब्रह्मा में श्रीक्षेत्र अनोरथपुर नाम से प्रसिद्ध हुए। इनका इतिहास ईसा की सातवीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक का है और प्राचीन काल के भग्नावशेष तथा कुछ लेख और कला के प्रतीक उनके स्मृतिचिह्न के रूप में पर्याप्त हैं। इस अध्याय में इन पाचों राज्यों का इतिहास संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया जायेगा।

द्वारवती का मों राज्य

चीनी यात्री श्वान-चांग के मतानुसार[1] ईसा की सातवीं शताब्दी में ईशान पुर (कम्बुज) के पश्चिम में ठो-लो-पो-टि नामक राज्य था जिसकी समानता द्वारवती से की गयी है और इसका उल्लेख स्यामी वृत्तान्तों में मिलता है। यह आयुथ्या (११५) और बैंकाक (१०८१) से पहले स्याम की राजधानी थी। कदाचित् आयुथ्या की स्थापना मुख्य क्षेत्र में उसी प्राचीन नगरी के अवशेषों पर हुई थी और द्वारवती का नाम मीनम के मुहाने पर स्थित अन्य राजधानियों के रूप मे चलता रहा। सिदो के मतानुसार द्वारवती राज्य का क्षेत्र लोपबुरि से लेकर दक्षिण मे रत्नबुरि तक और पश्चिम में रखा जाता है जहां प्राचीन पुरा-

१ बील, बुधिस्ट रेकार्ड भाग २। सिदो, ए हि पृ ११२।
२ बैल, ज से इ सो ५, पृ २४ से।

लिक अवशेष और लेख मिले हैं। लोपबुरि से प्राप्त प्राचीन भाषा के एक लेख से यह ज्ञात होता है कि यहां के प्राचीन निवासी मों थे। एक किंवदन्ती के अनुसार लवो (लोपबुरि) से एक बौद्धधर्मावलम्बी कन्या राजी चम्मदेवी के साथ आया था जिसने हरिपुंजय (लम्पुन) की स्थापना की थी जैसा कि १२वीं शताब्दी के मों लेखों से प्रतीत होता है।[३] उपर्युक्त स्रोतों के आधार पर कहा जा सकता है कि द्वारवती में मों राज्य ७वीं शताब्दी में अवश्य था जैसा कि च्वान च्वांग के वृत्तांत से प्रतीत होता है और यह उत्तर में लोपबुरि तक था जहां से उत्तर-पश्चिम में एक कस्बा हरिपुंजय गया।

द्वारवती के प्राचीन इतिहास का कुछ पता नहीं है। इस भाग पर फूनान का अधिकार तीसरी शताब्दी से रहा होगा। मेकांग नदी के मुहाने पर स्थित फूनान राज्य ने हिन्द-चीन के सामुद्रिक मार्ग पर अधिकार कर लिया होगा। ईसा की छठी शताब्दी में फूनान के अधीन यन सा का इस क्षेत्र पर अधिकार था। द्वारवती और फूनान के बीच सम्बन्ध का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। ७वीं शताब्दी से प्रथम बार इसका उल्लेख चीनी स्रोतों में मिलता है। 'टंग-वंश का इतिहास' के अनुसार चेंग-कुआन काल (६२७-४९ ई.) में पो-कि-लो-म-से-किन-पि (चम्पा) के राजदूतों के साथ यहां के राजदूत चीन गये। उसके अनुसार टे-हुअन-लो-पो-टि वहां के अधीन था। चीनी यात्री च्वान-च्वांग ने दक्षिण पूर्व के देशों में चिलि-चां-लंग-किय उसके पूर्व में टो-ल-पो-टि इसके पूर्व में इ-शांग-न-पु-लो और उसके भी पूर्व में मो-हो-चम-पो का उल्लेख किया है जिन पर विस्तृत रूप से पहले ही विचार किया जा चुका है। इत्सिंग ने टु-हो-लुओ-पो-टि का उल्लेख किया है जहां कामरूप से एक युवक आया था। उपर्युक्त चीनी नाम पो-कि-लो-म टे-हुअन-लो-पो-टि, टो-लो-पो-टि अथवा टो-हो-लुओ-पो-टि वास्तव में द्वारवती के ही नाम हैं। च्वान

३. ए. हि. पृ. १११।

४. बु. इ. का. १ पृ. २२-८९।

५. सिदो, ए. हि. पृ. ११२।

६. जे. ए. ओ. एस. ६५, पृ. १ २। जिन्होंने अपने इस लेख में द्वारावती के इतिहास को लिखने का प्रयास किया है।

७. तक्कुसु पृ. ९।

थांग के वृत्तान्त के आधार पर द्वारवती का क्षेत्र श्रीक्षेत्र (प्रोम) और मेन म के बीच में था और इसमें ईरावदी और सितांग के मुहाने का क्षेत्र सम्मिलित था जिसे मों के रमञ्ञदेश के नाम से सम्बोधित किया जाता था।

जैसा पहले कहा गया है एक पालि लेख के अनुसार कुछ लोगों ने चमदेवी की अध्यक्षता में लोपबुरि से जाकर हरिपुंजय की स्थापना की और देश पर अधिकार करने के लिए उनका लवों के साथ संघर्ष हुआ। चमदेवी लोवो के राजा की पुत्री थी और कदाचित् रमञ्ञदेश के शासक की रानी अथवा विधवा थी। इस क्षेत्र में थटोन से भी बहुत-से व्यक्ति आये और यहाँ हरिपुंजय नाम से राज्य की स्थापना हुई। संग-कितअन-महु-तोनि के इतिहास के अनुसार चमदेवी के बाद अनेक राजाओं ने राज्य किया और यहाँ से हरिपुंजय का इतिहास आरम्भ होता है। द्वारवती और लोपबुरि में कुछ लेख मिले हैं। गुप्तकालीन ईंटों पर लिखे एक लेख में 'ये धम्मा' लिखा है। यही लेख प्र पठम के चेतिय से मिली ईंट पर भी लिखा मिलता है। राजपुरि के निकट थम-रुसि के लेख में एक बुद्धमूर्ति की स्थापना का उल्लेख है जिसे श्री समाधिगुप्त ने स्थापित किया था। सिदो के मतानुसार इस लेख के अक्षर ईसा की ६-७वीं शताब्दी के हैं। लोपबुरि से प्राप्त लेखों में एक अकोर युग के पहले का संस्कृत में है जो खड़ी हुई बुद्ध की मूर्ति पर अंकित है। यह मूर्ति वत मह धतु से प्राप्त हुई और इस मुनि (बुद्ध) मूर्ति का निर्माण नायक अरजव ने किया था जो तौम्बुर निवासी था और धम्मुक के शासक का पुत्र था। इस लेख की लिपि (अक्षर) भी सबसे प्राचीन है। एक और लेख लोपबुरि के निकट वट सोम से प्राप्त बुद्धमूर्ति पर अंकित मिला पर इसे पढ़ा नहीं जा सकता है। एक और बौद्ध लेख एक खम्भे पर अंकित मिला जो सबसे प्राचीन प्रतीत होता है और इसके अक्षरों की समानता लिगोर (मलाया) के ७७५ ई के लेख से की जा सकती है।

थाई वृत्तान्तों के अनुसार लोवो (जिस नाम से द्वारवती का राज्य ७वीं शताब्दी के बाद कहा जाता था) और हरिपुंजय (जो मों राज्य था) के बीच आरम्भ

८. बे ए ओ से ३५, पृ १ ९।
९. प हि पृ १११।
१ विस्तृत वृत्तान्त के लिए सिग्स का लेख देखिए, पृ के।

से ही वहां के शासकों का पारस्परिक संघर्ष चलता रहा। शिन्स के मतानुसार[11] वन का राज्य का अधिकार सिमुन की घाटी पूर्वी स्याम और लाओस तक रहा वह भाग ख्मेर शासकों के अधीन भी रह चुका था। पर लावो (द्वारवती) और हरिपुंजय के राज्य जिनमें पश्चिमी स्याम और स्याम की खाड़ी के उत्तर में मेंकांग तक का भाग था स्वतंत्र थे। १ वी शताब्दी से लवो और हरिपुंजय के बीच पुनः संघर्ष आरम्भ हो गया। लोवो के शासक की अनुपस्थिति में तम्ब्रलिंग के शासक जीवक ने एक बड़ी सेना लेकर उस पर धावा कर दिया और उस राज्य पर अधिकार कर लिया। जीवक का पुत्र लोपबुरि से कम्बुज जाकर वहां का शासक बन बैठा। यही सूर्यवर्मन् था। पालि स्रोतों के अनुसार लोवो पर अधिकार के बाद कम्बुजराज नामक शासक ने हरिपुंजय पर अधिकार करना चाहा पर वह विफल रहा। ख्मेर लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कम्बुज राज्य लोवो तक फैला हुआ था। उसके समय के तीन लेख भी लोपबुरि में मिले हैं। ११-१३वी शताब्दी तक लोवो कम्बुज राज्य के अधीन रहा।[12] द्वारवती भी इसी के अधीन थी पर हरिपुंजय बहुत के निकट होने के कारण स्वतंत्र था। १३वीं शताब्दी के मध्य भाग म थाई लोगो ने मीनम के उत्तरी भाग में सुखोथई नामक राज्य स्थापित किया और इस शताब्दी के अन्त तक उनका मलाया के लिगोर तक के भाग पर अधिकार हो गया। चीनी स्रोतों के अनुसार १२८९ १२९१ १२९६, ९७ और ९९ में लो-हो (लो-वो) तथा सिएन (सुखोथई) से मंगोल शासक के यहां दूत भेजे गये। १४वीं शताब्दी में लोवो का राज्य सदा के लिए लुप्त हो गया। १३५ में आयुथ्या में नयी राजधानी बनायी गयी।

द्वारवती की कला

द्वारवती क्षेत्र से प्राप्त मूर्तियों के अध्ययन द्वारा विद्वानों ने वहां की भारतीय शिल्पकला पर अपने विचार प्रकट किये हैं।[13] ये शिल्पकला के प्रतीक गुप्तकालीन

११ वही, पृ० १ ४।
१२ सिडो, पृ हि पृ २३१।
१३ ग्रिस्स पृ र्थ ।
१४ सिडो इ आ १ ले १९१ पृ २९। इंडियन इन्फ्लुएंसेज अपान स्यामीज आर्ट, भाग ९, पृ ३ से।

परिपाटी के अन्तर्गत बनाये गये और ये प्र-पतोम ओपवुरि और प्रावन से प्राप्त हुए हैं। मीनम की घाटी और मलाया प्रायद्वीप के उत्तरी भाग में भी ऐसी मूर्तियां मिली हैं। इन बौद्ध मूर्तियों की ऊपरी वेशभूषा और मुकुट गुप्त कला की मूर्तियों से मिलती है। सिदो ने इन मूर्तियों को दो भागों में रखा है। प्राचीन कला की मूर्तियां पैर लटकाये हैं और बाद की ख्मेर कला की मूर्तियां पैर नहीं लटकाये हैं। प्राचीन मूर्तियों के मुख की बनावट आर्य है बाद की मूर्तियों की नाक चपटी और चेहरा चौड़ा है। पुरानी मूर्तियों का काल ईसा की ४-५वीं शताब्दी रखा जा सकता है और बाद की दो मूर्तियों पर अंकित लेख ईसा की छठी शताब्दी के प्रतीत होते हैं। द्वारवती शिल्पकला लगभग ११वीं शताब्दी में आरम्भ हुई जब ख्मेरों ने इस पर अधिकार कर अपना प्रभाव कला के क्षेत्र में भी डाल दिया। बौद्ध मूर्तियों के अतिरिक्त ब्राह्मण मूर्तियां भी बनीं किन्तु उनका भारतीय परिपाटी के साथ सम्बन्ध दिखाना कठिन है।

सुखोथाई राज्य

स्याम में ख्मेर साम्राज्य को धक्का १२१८ में लगा जब दो थाई सरदारों ने ख्मेर सेनापति को हराकर सुखोथाई में एक स्वतंत्र राज्य कायम किया जिसने आगे चलकर एक विशाल साम्राज्य का रूप धारण किया। इसका श्रेय रमखमहेंग को था जिसने अपने पिता के बाद १२८१–१३१७ ई० तक राज्य किया। इसके समय में सुखोथाई सभ्यता का केन्द्र था और थाइयों ने मो के अधिकृत प्रान्तों पर मीनम की घाटी और मलाया प्रायद्वीप के बीच के भाग पर अधिकार कर लिया। उत्तर में मेंग्रे नामक एक थाई कुमार ने हरिपुंजय के मों राज्य पर अधिकार कर लिया था और चियेंगमाई को अपनी राजधानी बनाया।[15] इसके और रमखमहेंग के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहा और उन्होंने कुबलईखान के साथ भी मित्रता रखी जिसने १२५१ ई० में नान-चाओ राज्य पर अधिकार कर लिया था। १३वीं शताब्दी में स्याम पूर्णतया ख्मेर अधिकार से मुक्त हो चुका था। उस समय जब कि ख्मेर राज्य का पश्चिमी भाग थाइयों के अधिकार में जा रहा था उन्होंने स्वतंत्र हो गया और उसने राजदूत चीन भेजे। इसी लिए यह रमखमहेंग के अधि-

१५ सिदो ए हि० पृ ३२७। हाल, हिस्ट्री आफ साउथ ईस्ट एशिया, पृ १९५।

कार में न आ सका यद्यपि उसकी प्रजा में अधिकतर मों और ख्मेर लोग थे। थाई भाषा को लिखने के लिए उसने उन्हीं व्यक्तियों की लिपि को १२८३ ई० में अपनाया। १२९२ ईसवी के प्रसिद्ध लेख में इसके राज्यकाल की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख है। इसी लेख में लिखा है कि रमखमहेंग सब थाइयों का शासक है और उसने बहुत-से शत्रुओं पर विजय पायी। लेख में उल्लिखित बहुत-से प्रान्तों की समानता दिखाना कठिन है। पर सिडो का कथन है¹ कि ये वे देश थे जिन पर पहले ख्मेर शासकों का अधिकार था और दक्षिण मलाया में प्रायद्वीप तक इसका श्रीविजय की अधिकृत देशा पर भी अधिकार हो गया। मलाया की विजय १२९४ ई० के लगभग हुई होगी। १२८५ में इसने सिसचनलै (श्री सज्जनालय) सवनकलोक के स्तूप का निर्माण किया जिसके बनने में छः वर्ष लगे। मंगोल युग चाऊ-जु-कुआ के अनुसार १२९९ तक स्याम के साथ हुए ख्मेरों के युद्ध से देश को बड़ी क्षति पहुँची थी।

चीन के साथ में रम-खम्हेंग का राजनीतिक सम्बन्ध अच्छा रहा और चीनी सम्राट् ने स्याम के दूत के हाथ उसके सम्राट् के पास एक सन्देश भेजा जिसमें उससे मन-लि-यू-चुक (मलयु) को कोई क्षति न पहुँचाने का आग्रह किया गया था। युआन-वंश के इतिहास के आधार पर सुखोथई से १२९२, १२९४ १२९५, १२९७ और १२९९ में राजदूत चीन भेजे गये। किंवदन्तियों के आधार पर यह कहा जाता है कि रमखमहेंग स्वयं चीन गया था और अपने साथ से चीनी कलाकारों को लाया था जिन्होंने सुखोथई और सवनखलोक में कारीगरी की कृतियाँ रचीं। चीनी इस राज्य को 'सियन' नाम से सम्बोधित करते थे और ख्मेर में इसको स्याम कहा गया है। रम खमहेंग १३१८ ई० के पहले तक राज्य करता रहा। वह स्वयं बौद्ध था और स्याम में थारि बौद्ध धर्म जिससे हीनयान का संकेत है, प्रचलित था। उसके पुत्र लो-टाई के समय (१३१७-१३४१) में सुखोथई राज्य का बड़ी शीघ्रता से पतन आरम्भ हो गया। लो-टाई का पुत्र लू-ठै बड़ा विद्वान् था और १३६१ में सिंहासन को छोड़-

१६. ए हि पृ ३२६। हाल, पृ १४९।
१७. सिडो ए हि पृ ३४३।
१८. बु इ फ्रा ४ पृ २४०-३। सिडो, ए हि पृ० ३४५।

कर वह भिक्षु हो गया। दक्षिण के एक थाई कुमार ने जिसका मेंग्रे से सम्बन्ध था मों शासक यू-टोंग की पुत्री से विवाह कर एक नये वंश की स्थापना की। पहले उसने लवो के प्राचीन राज्य पर अधिकार किया और फिर ख्मेरों को आत्मसमर्पण के लिए बाध्य करना चाहा। हैजे की महामारी के प्रकोप ने उसे अपने नगर को छोड़ कर दक्षिण जाने को बाध्य किया। ५ मील दक्षिण में मीनम के किनारे द्वारवती के बजाय अयोध्या नाम से उसने नयी राजधानी की स्थापना की। १३५० ई० में रमधिपति नाम से वह स्याम का प्रथम शासक घोषित हुआ। इस समय में सुखो-थाई राज्य प्रायः अस्त हो चला और स्याम के नवीन राज्य का जिसकी राजधानी आयुध्या थी निर्माण हुआ।

आयुध्या

आयुध्या अथवा अयुथिया नामक नवीन राज्य धीरे-धीरे शक्तिशाली बनने लगा इसका मीनम की घाटी के मध्य और निचले भाग तथा मलाया प्रायद्वीप के अधिक भाग पर अधिकार हो गया था। रमधिपति ने कम्बुज राज्य को भी दबाने का प्रयास किया पर स्याम को सुखोथाई और चिएगमई राज्यों के उपद्रवों को दबाने में भी अपनी शक्ति लगानी पड़ी। स्याम के इतिहास में रमधिपति का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। १३६९ में उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र रमेसुएन जो उसकी ओर से लोपबुरि मे शासक था सिंहासन पर बैठा पर शीघ्र ही उसे अपने चाचा के पक्ष में हटना पड़ा जो बोरोमोरज प्रथम के नाम से सिंहासन पर बैठा। इसके राज्यकाल का प्रथम भाग उत्तरी मीनम घाटी पर पुनः सत्ता स्थापित करने में लगा। सुखोथाई स्वतन्त्र होना चाहता था। उसने कई आक्रमण किये और १३७८ में वहां के शासक धम्म रज द्वितीय को अपने राज्य का पश्चिमी भाग तथा स्वतंत्र अस्तित्व अयोध्या के राजा को सौंपने पड़े। अब चिएंगमई के साथ संघर्ष बाकी था जो कई शताब्दियों तक चला। १३८८ ई० में बोरोमोरज का देहान्त हो गया। उसका १५ वर्ष का पुत्र सिंहासन पर बैठा पर पुराने शासक रमेसुएन ने सत्ता अपने हाथ में ले ली और उसने १३९५ तक राज्य किया। 'पोंगसवदंन' के अनुसार उसने चिएंगमई पर अधिकार कर लिया था[19] पर इसमें सत्यता नहीं है।

१९. हाल पृ १५१।

११९५-१४ ८ का समय स्याम के इतिहास में कोई महत्व नहीं रखता है क्योंकि इसके बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। रमेसुएन का पुत्र रामराज वहां राज्य कर रहा था। १४ ८ में वह सिंहासन से उतार दिया गया और बोरोमोरज प्रथम का एक पुत्र इन्द्रराज (१४ ८ २४) वहां का शासक हुआ। उसकी मृत्यु के बाद सिंहासन के लिए गृहयुद्ध हुआ और कनिष्ठ पुत्र बारोमोरज द्वितीय के नाम से वहां का शासक हुआ। इसने १४२४-४८ ई तक राज्य किया और यही अंकोर-विजेता था पर वहां पर स्यामी शासन स्थापित करने का प्रयास विफल रहा और स्यामियों को कोई लाभ न हुआ। इसके बाद का स्याम का इतिहास वास्तव मे वर्तमान युग से सम्बन्ध रखता है जिससे पारस्परिक संघर्ष मुख्य रूप से था। दूमार्वे फेरनेन्डेज के १५१ मे आयुथ्या आने के समय भी यह युद्ध जारी था।[१]

श्रीक्षेत्र

बर्मा में सबसे प्राचीन हिन्दू उपनिवेश की स्थापना प्रोम में हुई जहां का राज्य श्रीक्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। भारत से सबसे निकट होने के कारण यहाँ स्थल और जलमार्ग से पहुंचना सरल था और कदाचित् ईसा से पहले यहां भार तीय उपनिवेश स्थापित हो चुका था। किंवदंतियों के आधार पर यह कहा जाता है[११] कि कपिलवस्तु के शाक्यवंश का कुमार अभिराज एक सेना लेकर उत्तरी बर्मा आया था और इरावदी के उत्तरी भाग पर उसने सेंकिस्सा (तगौंग) नामक नगर बसाया। उसकी मृत्यु के बाद उसका राज्य दो भागों में बांट दिया गया। उत्तरी भाग अराकान था वहां बड़ा भाई राज्य करता था और दक्षिणी भाग तगौंग पर छोटे भाई का अधिकार था। इसके बाद ३१ पीढ़ियों तक इस वंश का राज्य चलता रहा। बुद्ध के समय में क्षत्रियों का दूसरा दल गंगा की घाटी से उत्तरी बर्मा आया और दशराज ने प्राचीन राजधानी पर अधिकार कर लिया। १६ पीढ़ियों के राज्य के बाद तगौंग पर विदेशी आक्रमणकारियों का अधिकार हो गया। राजा गद्दी से उतार दिया गया और उसके ज्येष्ठ पुत्र ने वर्तमान प्रोम के

१ सिडो, ए हि पृ १७२, १९१।
११ मजुमदार, श्री क्षेत्र भारतकीपुरी पृ २११ से।

निकट नये राज्य की स्थापना की। उसके पुत्र दुत्तबौंग ने बेर-खेत्तर (श्रीक्षेत्र) की स्थापना की और यहीं उसका राज्य हुआ। उसके बाद १८ राजाओं ने ८४ ई तक राज्य किया जब गृहयुद्ध आरम्भ हो गया जिनमें प्यू, कनरन और म्रम जातियां थीं। श्रीक्षेत्र पर प्यू का अधिकार रहा। प्राम के निकट ह्माजा की खुदाई ने भी क्षेत्र राज्य के इतिहास पर प्रकाश डाला है। एक लेख एक बौद्ध मूर्ति के पीछे पर संस्कृत में लिखा मिला है जो सातवीं शताब्दी के अक्षरों में है।[२२] इस मूर्ति की स्थापना अपने गुरु के आदेश पर जयेन्द्रवर्मन् और उसके छोटे भाई हरिविक्रम के बीच संधि और मित्रता स्थापित रखने के लिए की गयी थी। जयवर्मन् ने दो नगरों की स्थापना की। श्मशान के राख-पात्रों पर पयामी पगोडा के निकट ७ और छोटे लेख अंकित मिले हैं जिनमें हरिविक्रम सिंहविक्रम और सुरिय (सूर्य) विक्रम का नाम मिलता है।[२३] ये लेख प्यू भाषा में हैं और कुछ भारतीय अक्षर पांचवीं शताब्दी के हैं पर इनकी तिथि जो पूर्णतया निश्चित नहीं है ६७३ और ७१८ ई के बीच में रखी गयी है।[२४] एक स्तूप पर अंकित एक प्यू लेख में श्री प्रभुवर्मन् और श्री प्रभुदेवी का नाम है।[२५]

चीनी स्रोतों में भी श्रीक्षेत्र का उल्लेख मिलता है। ह्वान सांग के वृत्तान्त के अनुसार हारवती के पश्चिम में श-लि-च-त-लो (श्रीक्षेत्र) नामक एक राज्य था जो प्रोम का प्राचीन नाम है और इसे पिर्मन् में 'थयेखेत्तय' कहा गया है। प्रोम के निकट मोजा नामक स्थान में इसी प्राचीन राजधानी के अवशेष मिले हैं। अन्तिम गुप्तकालीन मूर्तियां यहां मिली। इत्सिंग के मतानुसार श्रीक्षेत्र में मूल सर्वास्ति वादियों के हीनयान मत का केन्द्र था। पर थोड़े उत्तर में महायान मत ने अपना गढ़ बना लिया था और वह बंगाल के तंत्रवाद के प्रभाव से था।[२६]

प्यू और मूलान के नन-चाओ राजाओं के बीच में संघर्ष आरम्भ हुआ। इस थाई राज्य ने जिसका उल्लेख पहले हो चुका है, ८ वीं शताब्दियों में प्यू राज्य

२२ सिद्धो प हि पृ १५१।
२३ बिहार रे, संस्कृत बुद्धिज्म इन बर्मा, पृ १९।
२४ सिद्धो, प हि पृ १५१। प ह १२, पृ १२७ से।
२५ अ स इ एन री १९२६-२७, पृ १७५।
२६ प हि पृ १५१।

पर दबाव डाला और प्यू राजा को आत्मसमर्पण करना पड़ा। मनचाओ शासक या कोलोफेंग के पौत्र का अनुकरण करके प्यू के शासक ने भी ८०२ ई० से राजदूत चीन भेजना आरम्भ कर दिया। चीनियों को इन्हीं के द्वारा इस राज्य का ज्ञान हुआ। उनके वृत्तान्त के अनुसार इसका क्षेत्र उत्तर से दक्षिण तक ७००-८०० मील लंबा और पश्चिम से पूर्व—५०० मील चौड़ा था। इसके पूर्व में कम्बज और दक्षिण में समुद्र था। दक्षिण-पूर्व में द्वारवती और पश्चिम में भारत था।[27] टंग वंश के इतिहास के अनुसार यहां का शासक महाराज कहलाता था और उसका मुख्यमंत्री महासेन था। नगर के चारों ओर की दीवार का घेरा २७ मील था। यहां कोई १०० बौद्ध मठ थे। यहां के जीवन-वेश भूषा तथा मनोरंजन नृत्य गायन वादन का उल्लेख टंगवंश के नवीन इतिहास में भी मिलता है। श्रीक्षेत्र राज्य के अन्त के विषय में कुछ कहना कठिन है। ८३२ ई० में मनचाओ के शासक ने इस पर आक्रमण किया था। मन-शु के अनुसार आक्रमणकारियों ने प्यू की राजधानी को लूटा और ३००० से अधिक बन्दी बनाये। पिलियो के मतानुसार[28] प्यू राज्य इसके बाद भी स्थापित रहा और यहां से ८६२ ई० में एक राजदूत चीन गया। ९वीं शताब्दी में प्यू राज्य में उत्तरी और मध्य ब्रह्मा था पर ९वीं शताब्दी के बाद से इसके विषय में कोई जानकारी नहीं है यद्यपि प्यू जातियों का उल्लेख १५वीं शताब्दी तक मिलता है।[29]

श्रीक्षेत्र राज्य का राजनीतिक इतिहास अंधकारमय है पर खुदाई से प्राप्त चीजों के आधार पर यहां की संस्कृति के विषय में जानकारी प्राप्त है। प्रोम से ५ मील पूर्व में ह्मवजा स्टेशन के निकट मयेम्यो स्थान में १९०७ ई० से बराबर खुदाई हुई है। मिट्टी के टुकड़ों पर लिखे लेखों में 'ये धर्मा हेतुप्रभवा' सूत्र भी अंकित मिला है और बुद्ध तथा बोधिसत्त्व की मूर्तियां भी मिली हैं। मुख्य लेखों का उल्लेख पहले ही हो चुका है। पालि बौद्ध मत के सूत्र भी दो सोने के पत्रों पर अंकित मिले हैं। मूर्तियों में बुद्ध की दो सोने की मूर्तियां विशेषतया उल्लेखनीय हैं। ब्राह्मण मूर्तियों में एक त्रिवक्रिम विष्णु की अनन्तनाग और गरुड पर आसीन मूर्ति भी मिली है

२७. वही पृ० १६४। मजुमदार, भारत कौमुदी, पृ० ४१७।
२८. मजुमदार, पू० सं० पृ० ४१९।
२९. अ० स० इ० एन० रि० १९१०-११ पृ० १९। १९३४-५, पृ० ४१।

जो भारतीय परम्परा पर बनायी गयी है। प्रूमका के सम्पूर्ण क्षेत्र में बौद्ध स्तूप मिले जिनमें एक चांदी का भी स्तूप है। मन्दिरों के अवशेषों में सेम्यत हा और बे बे में ईंटा के बने मन्दिरों के अवशेष मिले। इन पुरातात्विक अवशेषों से प्रतीत होता है कि यहां भारतीय संस्कृति और साहित्य अच्छी तरह फैल चुका था तथा महायान हीनयान वैष्णव और शैव मत विकसित था। श्रीक्षेत्र ब्रह्मा में सबसे प्रथम भारतीय उपनिवेश था।

हंसावती

टंग-वंश के नवीन इतिहास के अनुसार ९वीं शताब्दी के आरम्भ में प्यू के अधीन कुछ राज्य थे जिनमें मि येन की ओर से एक राजदूत ८ ५ ई में चीन गया।[११] मि येन इरावदी के मुहाने पर स्थित था। अरब भौगोलिकों ने इस समय के राज्यों का उल्लेख किया है। इनमें से एक रह्मा था जिसकी समानता रमण्णदेश से की जा सकती है और यह विमर्नी के मों के अधीन था। इब्न खोरदादबे (८४४-४८) के अनुसार यहां के शासक के पास १५, हाथी थे और यहां कपास की पैदावार अधिक होती थी। एक स्रोत के अनुसार हंसावती (पेगू) की स्थापना ८२५ ई में समल और विमल नामक दो भाइयों ने की थी जो थटोन निवासी थे। इसका इतिहास अधिक नहीं मिलता है। सुखोथई के राम खम्हेंग के अधीन यह १३वीं शताब्दी में था।

अनोरथपुर

८४९ और १ ४४ ई में पगान राज्य की स्थापना होने से पहले का उसका इतिहास अंधकारमय है। अनवरथ ने १ ४४ में सर्वप्रथम बर्मा को राजनीतिक एकता प्रदान की और उसने अपने देश पर अपनी महत्ता और कृत्यों की गहरी छाप डाल दी। उसने थटोन के मों राज्य को जीतकर उस पर अधिकार कर लिया। ब्रह्मा के धार्मिक इतिहास में पालि और हीनयान बौद्ध मत ने अपना प्रभाव स्थापित किया पर इसमें स्थानीय महायान मत का भी सम्मिश्रण था। इसके समय में ब्रह्मा का सीलोन के साथ भी राजनीतिक सम्बन्ध था। चोलों के विरुद्ध उसने

१ मजुमदार, पृ सं ।
११ सिडो ए हि पृ १८२।

सीलोन के विजयबाहु की सहायता की।[१] उसका १ ५९ ई में बनाया हुआ स्वाहबिर्योन पगोडा मुख्य धार्मिक कलाकृति थी। ब्रह्मा के इतिहास में उसका पटेन पर अधिकार पारस्परिक युद्ध का कारण बना जो कई शताब्दियों तक चलता रहा। उसके वंशजों को मों के साथ बराबर युद्ध करना पड़ा। क्यन जिथा (१ ८४ १११२) के समय में ब्रह्मा का राजनीतिक स्तर ऊंचा हो गया। उसने ब्राह्मणों से अपना अभिषेक कराया और चीन राजदूत भेजे। उसी के समय में आनन्द का प्रसिद्ध मन्दिर पगान में बना। इसके राज्यकाल की घटनाओं का उल्लेख उसके पौत्र और उत्तराधिकारी अलौंगसित्थ (१११२ ६७) के लेख में मिलता है।[११] उसके बाद ब्रह्मा में ६ वर्ष तक उपद्रव और विद्रोह रहा। पगान के इतिहास में नरपति सिथु का शासन काल (११७३ १२१) सबसे लम्बा था और इसके समय में बहुत-से पगोडों का निर्माण हुआ। इसके बाद के शासकों में नरथिहपते (१२५४-८७) के समय मे इस वंश का पतन हुआ। उसने मिंगलजेदी पगोडा का निर्माण किया पर अपने आचरणों से उसने अपने वंश का नाश किया। कुबलई खान के राजदूत का वध कर उसने अपने वंश और राज्य के लिए आपत्ति मोल ली। १२८१ में वह अपनी राजधानी छोड़कर बसीन भाग गया। १२८७ में उसी के पुत्र ने उसका वध कर दिया।

सुदूरपूर्व में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना का ब्रह्मा और स्याम में होना स्वाभाविक था। इनका अस्तित्व प्राचीन है पर इनका प्राचीन इतिहास उपलब्ध नही है। हां पुरातात्त्विक अवशेष इनकी प्राचीन संस्कृति पर अवश्य प्रकाश डालते है। यह प्रतीत होता है कि ये बौद्ध धर्म के ही नही वरन् ब्राह्मण मत के भी केन्द्र थे। स्याम का उत्तर म टोंकिन और पूर्व म कम्बुज तथा दक्षिण में मलाया और श्रीविजय राज्यों के उत्कर्ष के कारण अपनी राज्यसीमाओं को बढ़ाने का अवकाश नही मिला। पर १४वी शताब्दी तक यह विशाल रूप ले चुका था। गृह-कलह तथा स्वय स्याम मे कई राज्यों के पारस्परिक सघर्ष ने इसको नष्ट कर दिया। ब्रह्मा में भी श्रीक्षेत्र हंसावती और अनोरथपुर का इतिहास वहां के भारतीय उपनिवेशो की कहानी है जिनका अस्तित्व नष्ट हो गया। पर अवशेष प्राचीन स्मृति के लिए पर्याप्त है।

१२ हाल, हिस्ट्री आफ साउथ ईस्ट एशिया, पृ १२६।
११ वही पृ १२९।
११ मु

अध्याय ११

सारांश

सुदूरपूर्व के लगभग १५ वर्ष के इतिहास में भारतीय उपनिवेशों ने छोटे छोटे राज्यों तथा विशाल साम्राज्यों के रूप में राजनीतिक सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्रों में अपना योगदान दिया। व्यापारी धर्मप्रवर्तक तथा राजवंशों के बहिष्कृत कुमारों ने इन देशों और द्वीपों में प्रवेश किया। वहाँ पर उन्होंने अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित किये स्थानीय निवासियों को अपनी संस्कृति की देन दी और उनको भारतीय धर्मों के अनुसरण में प्रविष्ट किया। उनका ध्येय स्थानीय जनता को जागृत करना था और उन्होंने उन्हीं देशों को अपनी मातृभूमि बना लिया। भारत के साथ उनका सम्बन्ध केवल नाम मात्र का ही था। वहाँ से बसे हुए नये आगन्तुकों का स्वागत होता था। वहाँ के शासकों का किसी भी भारतीय राजवंश के साथ सामन्त अथवा अधीनता के रूप में सम्बन्ध न था। चोल और शैलेन्द्र शासकों के बीच लगभग सौ वर्ष का लम्बा युद्ध इस बात का साक्षी है। उन्हें भारत से प्रेम था पर वे अपनी स्वतन्त्रता को इस प्रेम की वेदी पर बलिदान करने को तैयार न थे। राजनीतिक क्षेत्र में वे पूर्णतया स्वतंत्र रहे। छोटे राज्यों ने आगे चलकर विशाल साम्राज्यों का रूप धारण कर लिया जिनमें हिन्दनेशिया के शैलेन्द्र और हिन्द चीन के अर्मन् साम्राज्य विशेषतया उल्लेखनीय हैं। इन साम्राज्यों का क्षेत्र विशाल था इन्होंने अपनी कृतियों में बोरोबुदूर और अंकोरवाट-जैसे मन्दिर छोड़े जो आज भी उनके वैभव के प्रतीक हैं। राजनीतिक उत्थान और पतन इतिहास का क्रम है। यहाँ साम्राज्यों का भी अन्त हुआ पर दो क्षेत्रों में इनका अन्त विभिन्न कारणों से हुआ। थाइयों ने कम्बुज राज्य का अन्त अंकोर को जीतकर किया और हिन्दनेशिया में हिन्दू राज्यों का अन्त उनके अरब व्यापारियों के प्रयास से हुआ जिन्होंने इस्लाम का प्रचार राजकीय वंशों में कर दिया था। यहाँ एक बात विशेषतया विचारणीय है कि सुदूरपूर्व के देशों में भारतीय धार्मिक सहिष्णुता की भावना सदैव ही व्यापक रही और हिन्दू धर्म के दोनों अंग शैव और

वैष्णव मत तथा बौद्ध धर्म एक दूसरे के निकट रहे। स्पर्धा की मात्रा का अभाव रहा। इस्लाम ने तलवार से उक्त देशों में प्रवेश किया और हिन्दू तथा बौद्ध धर्म को एक दूसरे के निकट ला दिया। भारतीय राजनीतिक अस्तित्व का अन्त हुए सैकड़ों वर्ष बीत चुके हैं। यूरोपियन औपनिवेशिकों ने भी इस क्षेत्र पर बहुत समय तक अधिकार रखा और थोड़े समय से यह क्षेत्र भी स्वतंत्र हुआ है पर आज भी भारतीय संस्कृति के प्रतीक इन देशों के प्राचीन अवशेषों में ही नहीं प्रतीत होते हैं, वरन वे वहाँ के सांस्कृतिक जीवन के अंग बन गये हैं जिसका आभास कहीं-कहीं मिलता है।

सहायक ग्रन्थसूची

(1) *Published Books*

1 Aymonier E.—Histoire de l ancien Cambodge. Paris 1920.
2. Le Cambodge 3 vols. Paris 1900-1904
3. Bagchi. P C. —Pre Aryan and Pre Dravidian India, Cal. 1929
4 Briggs, L. P —The ancient Khmer Empire. Philadelphia 1951
5 Chhabra. B. C.—Expansion of Indo-Aryan culture, Cal. 1935
6. Coedes. G —Inscriptions du Cambodge. 6 vols 1937 onwards
7 " Les Etats Hindouises Indochine et Indonesia Par 1948
8 Pour Mieux Comprendre Angko Paris 1947
9 Chatterj B R.—Hindu nfluences in Cambodia. Cal. 1927
10. " & Chakra artty—India and Java.
11 Coomaras amy A. K.—History of Indian and Indonesian Art London 1947
12. Germ G F —Researches in Ptolemy s Geography London 1909
13 Ghosh. M R —History of Cambodia. Cal 1959
14 Goloubev V —Art t Archeologi de l Indo-ch ne Hanoi 1938.
15 Grous et R.—Histr re d l extreme Orient 2. Vol Paris 1929
16 Hallad Arts de l A ie ancienne Paris 1 & 2. Pari 19 9
17 Krom. N J —Hindoe J aansche Geschiedenis. Gravenhagen 1931
18. Le May R. S —A History of South-east Asia, London 19.8.
19 Hall H G D —A History of South-east Asia. London 1951

20. Majumdar R. C.—Ancient Indian colonies in the Far East.
1 Champa. Lahore 1927
2. Suvarnadripa, Parts I & II Dacca 1935.
22 Kambujadesa. Madras. 1944
23 Indian colonies n the Far East. Cal 1944.
24 Maspero G—Le Royaume de Champa. Paris 1928
25 Mus P—Borobudur les origin de stupa. Paris 1933
26 Parmentier H.—L Art Khmer Primitif. 2 vols. Paris 1939
27 " L. 8 Art Khmer Classique 2 vols. Paris 1939
28 " Inventaire descriptiv des monuments Chams de l' nam
29 Quartisch Wales—The making of greater India, London 1951
30 " Towards Angkor London 1959
31 Remusat. G de. coral—L Art Khmer Paris 1951
32. Rowland. B—The Art and Architecture of India.
33 Sastri K. A. N—S Indian influences in the Far East, Bombay
34 Schnichter F M. –Forgotten ki gdoms of Sumatra, Leiden 1939
35 Stern. P—Le temple Khmer formation et development, Saigon 1939
36 Stern. P—L Art de Champa. Paris 1927
37 Stutterheim, W F Indian influences in old Balinese Art. London, 1935
38 Zimmer The art of Indian Asia.

(B) *List of Published Papers*

1 Bachofer L—Influx of Indian Sculpture in Fu-nan. JGIS. IIp 122 ff
2 Briggs L. P—On the Sailendras JAOS 70. pp 70ff.
3 " Dvaravati JAOS 65 pp 98ff.
4 Chhabra. B. C—Kunjarakunja and the Changal nscriptions. JGIS VII.
5 Chatterji. B. R. Recent advances in Kambuj studies, JGIS VII p. 42
6. Tantrism in Cambodia, Sumatra and Java, MR XLVII

Coedes. G —Etudes Cambogiannes BEFEO XXIX pp 289ff
8 " Date of Isanavarman II JGIS III. pp 65ff.
9 " A New inscription from Fu-nan. JGIS IV p. 117ff
10 " On the origin of Sailendras of Indonesia. JGIS I PP 61
11 " La Royaume de Srivijaya. BEFEO XVIII (b)
12 Les Inscriptions Malane de Srivijaya. BEFEO XXX. pp 29ff
13 Dame.—Etuies Int ripuons de Indonesia. BEFEO Vol. XLV
14 Ganguly O C. Relations between Indian and Indonesian culture JGIS. VII pp. 51ff.
15 On some Hindu relics in Borneo. JGIS III pp 97ff.
16 Ghosh. D —Migration of Ind an decorative motifs. JGIS. II 37ff.
17 Ghoshal. U N —Some Indian parallels of Loke.vara type JGIS V 147
18 Karpales. S A Khmer image of the Bodhisattva Maitreya. IA&L. I 113ff
19 Kats. J —The Ramayana in Indonesia. BSOAS IV 579ff.
20 Majumdar R. C.—The Sailendra Empire. JGIS. I. 1ff.
21 The Struggl between the Sailendras & the Ch las JGIS X I 71ff.
22 Note on the Sailendra Kings. E. I XIII 281ff
23. " The rise of Sukhodaya. JGIS IV 1ff.
24 Le May R.—Sculpture in Siam. IA&L. V 82ff.
25. Mus P —Etudes indiennes et indochinoi e BEFEP XXIX. 331ff.
26 Parmentier H. L8 Art pseudo-Khmer JGIS. V IV 1ff.
27 Pelliot. P —Le-Funan. BEFEO III 248ff
28. Przyluski. J—Terminal tupa of Borabudur JGIS. III 158ff
29 " The shadow theatre in Greater India. JGIS. VIII 83ff.

30. Quartisch Wales—A newly explored route of ancient Indian cultural expansion. IA&L. IX 1ff.
31 „ Some note on the kingdom of Dvaravati. JGIS V 24f
32 Rangacharya. V—Suvarnabhumi and Suvarnadvipa. Aiyangar Vol 462
33 Sarkar H. B.—An old Javanese inscription of S. 801 JGIS. I 39ff
34 „ Literary and Epigraphic notes. JGIS IV.36ff.
35 „ Indo-Javanese History JGIS. XIII 1ff
36. Glimpses of Hindu-Javanese society JGIS VIII 104ff.
37 Sastri K. A. N—Kataha. JGIS. V 128ff.
38. „ Note on the Historic geography of the Malay Peninsula & Archipelago JGIS. VIII 15ff.
39 „ Srivijaya. BEFEO XL. 239ff.
40. „ Origin of the Sailendras. Tech. Bat. Ge. LXXV 605ff.
41 Schnitger F M.—Three Indo-Javanese Ganga images. JGIS IV 121ff.
42. „ Indo-Javanese images in Berlin, Amsterdam & London Museums. JGIS V 22ff.
43 Stein, Callen. P V Van—Recent discoveries of skulls of Pleistocenes stone implements in Java MAN XXXVI.
44 Stutterheim. W F—Indian influenes n th lands of the Pacific. Rev JRAS 1930 p. 664
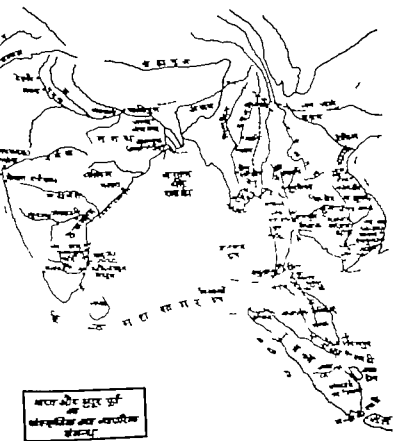
१—भारत और सुदूरपूर्व का सांस्कृतिक तथा व्यापारिक संबंध

९—मलाया तथा कम्बुज (कम्बोडिया)

१--चम्पा कम्बुज और थाई राज्य

शैलेन्द्र-श्री विजय राज्य
बोर्नियो द्वीप
कुटेई

चित्रसंख्या १—माहलोन का मन्दिर (पृ १५६)

चित्रसंख्या २—पो-रोम का मन्दिर (पृ १६)

चित्रसंख्या १—पो-क्लौंग का मन्दिर (पृ १११)

चित्रसंख्या ४—विष्णु—अनन्तशायन अवस्था में, मातसीन (पृ १९३)

चित्रसंख्या ५—विष्णु की खड़ी मूर्ति (पृ० १६४)

चित्रसंख्या ७—नर्तकी बूरेम से प्राप्त (पृ १६६)

चित्रसंख्या ८—संबोर का मन्दिर (पृ १२६)

चित्रसंख्या ९—प्रह्-को (पृ १२९)

चित्रसंख्या १८—प्राम्बनम का मन्दिर (पृ ४१)

चित्रसंख्या १ —पिपावक (पृ ३३३)

चित्रसंख्या ११—बेयोन मन्दिर—शिवमुख (पृ ११४)

चित्रसंख्या १२—बन्ते स्राई का मन्दिर (पृ ११५)

चित्रसंख्या १३—बन्ते भाई— इन्द्र की वर्षा (पृ १३७)

चित्रसंख्या १४—बन्ते भाई—रावण कैलास उठाता हुआ (पृ १४१)

चित्रसंख्या १५—हम्पी पुरातत्व छाया (पृ ४५५)

चित्रसंख्या १६—चण्डी बोरोबुदूर (पृ ४५८)

चित्रसंख्या १७—चण्डी मेंदुत (पृ ४५९)

चित्रसंख्या १९—चण्डी जाइंग (पृ ४६१)
[चित्र १८ चित्र के नीचे है]

चित्रसंख्या २ —वराहावतार (पृ ४५८)